इकाई 1 राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की प्रकृति, क्षेत्र और उपयोगिता

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन: प्रकृति और क्षेत्र

- 1.2.1 तुलना : संबंधों की पहचान
- 1.2.2 तुलनात्मक राजनीति और तुलनात्मक सरकार

1.3 तुलनात्मक राजनीति : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

- 1.3.1 राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की शुरुआत
- 1.3.2 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध
- 1.3.3 द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके बाद
- 1.3.4 1970 का दशक और विकासवाद की चुनौतियां
- 1.3.5 1980 का दशक : राज्य की वापसी
- 1.3.6 20वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध: भूमंडलीकरण और उभरती प्रवृत्तियां

1.4 राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की उपयोगिता

- 1.4.1 सैद्धांतिक निरूपण के लिए तुलना
- 1.4.2 वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तुलना
- 1.4.3 संबंधों की व्याख्या के लिए तुलना

1.5 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS

इस इकाई में हम राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की प्रकृति, क्षेत्रा और उपयोगिता पर विचार-विमर्श करेंगे। इससे आप कुछ प्रश्नों पर विचार कर सकेंगे जैसे :

- तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति क्या है अर्थात तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण की खासियत क्या है: इसकी विशिष्टताएं, तत्व, संघटक, दृष्टिकोण, उद्देश्य और उस सैद्धान्तिक संरचनात्मक संदर्भयुक्त ढांचे की जानकारी जिसके तहत यह अध्ययन किया जाता है।
- इसका क्षेत्र क्या है इसके अन्तर्गत इसके कार्य क्षेत्र और विस्तार की चर्चा की जाएगी।
- इसकी उपयोगिता के अन्तर्गत इस बात पर विचार कि राजनैतिक वास्तविकता के समझने में इसका क्या योगदान है। यह बताने की कोशिश की जाएगी कि किस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन इस वास्तविकता को बेहतर ढंग से समझने में मददगार साबित होता है।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि इन पक्षों पर अलग-अलग खानों में विचार नहीं किया जा सकता। राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की प्रकृति, क्षेत्र और उपयोगिता को सही ढंग से समझने के लिए इसके ऐतिहासिक विकास को समझना होगा और यह देखना होगा कि किस प्रकार बदलते संदर्भों और सरोकारों में इसका स्वरूप बदलता गया है।

इस इकाई को विभिन्न भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग के अन्त में प्रश्न पूछे गए हैं। इकाई के अन्त में अतिरिक्त अध्ययन के लिए एक सूची दी गई है । कुछ प्रश्न भी पूछे गए हैं जिससे आपको अपनी समझ बढ़ाने में मदद मिलेगी। शब्दावली के अन्तर्गत तुलनात्मक राजनीति विश्लेषण से सम्बद्ध परिभाषित शब्दावली के अर्थ दिए गए हैं।

1.1 प्रस्तावना

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है तुलनात्मक राजनीति में राजनैतिक परिघटना की तुलना की जाती है। इसमें जांच पड़ताल अर्थात तुलनात्मक अध्ययन की विधि के साथ-साथ जांच पड़ताल के विषय अर्थात राजनैतिक परिघटना पर विचार किया गया है। इकाई 2 तुलनात्मक विधि और तुलना की विधियों में बताया जाएगा कि यह तुलनात्मक अध्ययन केवल तुलनात्मक राजनीति में हीं नहीं किया जाता बल्कि मनोविज्ञान और समाजशास्त्र जैसे विषयों में भी इस प्रविधि का उपयोग किया जाता है। तुलनात्मक राजनीति की विशिष्टिता इसके विषय, शब्दावली और दृष्टिकोण में निहित है। इसी कारण इसकी प्रविधि और अध्ययन-क्षेत्र में विशिष्टता आती है। तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र में लगातार विकास और बदलाव होता रहा है। इसकी विषयवस्तु, शब्दावली और राजनैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होता रहा है। यह समझने के लिए कि यह परिवर्तन कहां, कैसे और क्यों हुआ है हमें यह जानना होगा कि एक खास समय में अध्ययन का केंद्र बिन्दु क्या था। उस समय अध्ययन के लिए किन उपकरणों, शब्दावलियों और अवधारणाओं का इस्तेमाल किया गया और जांच पड़ताल का उद्देश्य, दृष्टिकोण और प्रस्थान बिंदु क्या था ? इस प्रकार आने वाले भागों में हम तुलनात्मक राजनीति के विकास की निरंतरता और अनिरंतरता पर विचार करेंगे। हम यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि यह विकास क्यों और कैसे हुआ ? इसके अलावा उन ऐतिहासिक संदर्भों और सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियों की भी चर्चा की जाएगी जिनमें इनका विकास हुआ। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए भूमंडलीकरण और इस समय हुए मूलभूत परिवर्तनों के कारण तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में भी तेजी से परिवर्तन हुआ।

1.2 राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन : प्रकृति और क्षेत्र

पिछले भाग में हमने बताया है कि अन्य विषयों में भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। हम यह भी जान चुके हैं कि तुलनात्मक अध्ययन उन अन्य विषयों से अलग है जो तुलनात्मक विधि भी अपनाते हैं। यह अलगाव विषय, भाषा और दृष्टिकोण के कारण पैदा होता है। अत: यहां यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक है कि क्या तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण एक अलग विषय है या राजनीति विज्ञान का ही एक अंग है। हमें याद रखना चाहिए कि विषय, भाषा, शब्दावली और दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति विज्ञान के तहत तुलनात्मक अध्ययन की विशिष्टता स्थापित करना मुश्किल है क्योंकि तुलनात्मक राजनीति में भी राजनीति विज्ञान के विषय और सरोकारों पर विचार किया जाता है जैसे प्रजातंत्र, संविधान, राजनैतिक दल, सामाजिक आंदोलन आदि। राजनीति विज्ञान विषय के अन्तर्गत तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण की खासियत इस बात में निहित है कि इसके अन्तर्गत प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सोच समझकर तुलनात्मक विधि का उपयोग किया जाता है ताकि राजनीति वैज्ञानिकों को मदद मिल सके।

MAADHYAM IAS

1.2.1 तुलना: संबंधों की पहचान

कुछ विद्वान तुलनात्मक राजनीति के संबंध में फैली भ्रांतियों को दूर करने के लिए और तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण की प्रकृति और क्षेत्र को परिभाषित करने के लिए इस तुलनात्मक विधि पर बल देते हैं। यह आम धारणा है कि विदेशों अर्थात अपने देश से अलग किसी देश का अध्ययन करना ही तुलनात्मक राजनैतिक अध्ययन है। इस प्रकार की समझ के अनुसार यदि आप अपने देश के अलावा किसी दूसरे देश का अध्ययन कर रहे हैं (उदाहरणस्वरूप यदि कोई अमेरिकी ब्राजील की राजनीति या कोई भारतीय श्रीलंका की राजनीति का अध्ययन कर रहा है) तो आप तुलनावादी कहे जाएंगे। एक गलत धारणा यह भी है कि जिस देश का आप अध्ययन कर रहे हों उसके बारे में सूचना इकट्ठी करना ही प्रमुख कार्य है। इसमें थोड़ी बहुत और अप्रत्यक्ष तुलना से काम चल जाता है। अधिकांश तुलनावादियों के अनुसार तुलनात्मक राजनीति की विशिष्टता दो या दो से अधिक देशों के अध्ययन और उनकी सप्रयत्न तथा सुनियोजित तुलना में निहित होती है जिसमें दो या दो से अधिक देशों की विशेषताओं की पहचान की जाती है और विश्लेषण की जाने वाली विशेष परिघटना के संदर्भ में उनके बीच की समानता और अंतर को स्पष्ट किया जाता है। काफी लम्बे समय से तुलनात्मक राजनीति समानताओं और असमानताओं , वर्गीकरण, राजनैतिक परिघटना के ध्रुवीकरण या द्विभाजन तक सीमित रही। परंतु तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण समानताओं और असमानताओं को पहचानने तक ही सीमित नहीं है। कई विद्वानों का यह मानना है कि तुलना का उद्देश्य केवल समानता और असमानता या तुलना और अन्तर बताना ही नहीं है बल्कि इनका उपयोग संबंधों के बड़े ढांचों में राजनैतिक परिघटना के अध्ययन के लिए करना है। ऐसा माना गया कि इससे हमारी समझ बढ़ेगी और राजनैतिक परिघटना की व्याख्या करने और सोचने समझने के दायरे में बढ़ोत्तरी होगी। (देखिए **मनोरंजन, मोहंती,** *'कम्पेरेटिव पोलिटीकल थ्योरी ऐंड थर्ड वर्ल्ड सेंसिटिविटी,' टीचिंग पोलिटिक्स, 1 ऐंड 2 1975)*

1.2.2 तुलनात्मक राजनीति और तुलनात्मक सरकार

रोनाल्ड शिलकोट के अनुसार यह कहना कि तुलनात्मक राजनीति में सरकारों का अध्ययन किया जाता है एक अवधारणात्मक भ्रांति है। तुलनात्मक सरकार का अध्ययन सरकारों के तुलनात्मक अध्ययन तक सीमित है जबकि तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत सरकारी और गैर सरकारी सभी प्रकार की राजनैतिक गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के अन्तर्गत राजनीति से जुड़े सभी क्षेत्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक राजनीति का दायरा काफी विस्तृत है और इस विस्तृत अवधारणा को आधार बनाकर ही यह तय किया जा सकता है कि इसके अन्तर्गत क्या शामिल किया जाए और क्या शामिल नहीं किया जाए। इसका दायरा संकुचित करने से इसमें बाधा उत्पन्न हो सकती है **(रोनाल्ड शिलकोट,** *इन्ट्रोडक्शन, थ्योरिज ऑफ कम्पेरेटिव पोलिटिक्स पृ. 4)* यहां इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि काफी लम्बे समय तक तुलनात्मक राजनीति का संबंध सरकारों और भिन्न प्रकार के शासनों के अध्ययन और पश्चिमी देशों के अध्ययन तक सीमित रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनौपवेशीकरण की प्रकिया आरंभ हुई और 'नए देशों' के अध्ययन की दिशा में भी रुचि जागृत हुई। तुलना के लिए कई इकाइयां/मामले सामने आए और इनकी तुलना की दिशा में प्रयास किया जाने लगा। राजनैतिक परिघटना और प्रक्रियाओं को समझने और समझाने के लिए नई इकाइयों का अध्ययन किया जाने लगा। राजनीति को एक पूरी व्यवस्था के रूप में समझने के लिए तुलनाएं की जाने लगीं। नए देशों के अध्ययन के साथ-साथ अध्ययन के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। इसके तहत न केवल राज्य और इसकी संस्थाओं का अध्ययन किया जाने लगा बल्कि व्यक्तियों, सामाजिक संगठनों, राजनैतिक दलों, हित समूहों, सामाजिक आंदोलनों आदि का भी अध्ययन आरंभ हुआ। राजनैतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए संस्थाओं और राजनैतिक प्रक्रियाओं के कुछ खास पक्षों पर बल दिया गया जैसे राजनैतिक

MAADHYAM IAS

बल दिया गया जैसे राजनैतिक समाजीकरण, राजनैतिक संस्कृति की पद्धतियां, हितों को प्रस्तुत करने की तकनीक और हितों को बढ़ा चढ़ा कर सामने रखना। राजनैतिक नियुक्ति की शैलियां, राजनैतिक क्षमता का विस्तार और राजनैतिक उदासीनता, शासकीय संभ्रांत वर्ग आदि। ये सुनियोजित अध्ययन अक्सर राष्ट्र निर्माण अर्थात किसी जनसंख्या की राजनैतिक, सांस्कृतिक पहचान बनाना, राज्य निर्माण अर्थात संस्थागत संरचना पैदा करना तथा आधुनिकीकरण अर्थात विकास के पश्चिमी ढर्रे पर परिवर्तन करने के सरोकारों से जुड़ा हुआ था। विश्व राजनीति में अलग-अलग वैचारिक धारणाओ नें (पश्चिमी पूंजीवाद और सोवियत समाजवाद) अधिकांश नए आजाद हुए देशों द्वारा पश्चिमी साम्राज्यवाद को खारिज करना, गुट निरपेक्ष आंदोलन के द्वारा अपनी अलग पहचान बनाना और अधिकांश देशों का समाजवादी विकास के ढर्रे के प्रति आकृष्ट होने जैसी नई परिघटनाओं के कारण विश्व स्तरीय या बड़े पैमाने पर तुलना करने के लिए अधिकांश आधुनिकीकृत मॉडलों को अप्रासंगिक बना दिया। जहां 50-60 के दशक में बड़े पैमाने के मॉडल के निर्माण के द्वारा राजनैतिक स्थिति को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया वहीं 70 के दशक में तीसरी दुनिया की बात चल पड़ी और ये मॉडल पृष्ठभूमि में चले गए। 80 के दशक में तुलना का मापदंड बदला जिसमें क्षेत्र या छोटी इकाइयां प्रमुख हो गईं। हालांकि भूमंडलीकरण के साथ बड़े पैमाने की तुलना का महत्व फिर बढ़ा और तुलना का क्षेत्र विस्तृत हुआ जिसमें गैर राज्य और गैर सरकारी क्षेत्रों को भी शामिल किया गया। इसके तहत बढ़ते आर्थिक संबंधों और सूचना प्रौद्योगिक क्रांति के कारण देशों के बीच बढ़ते संबंध का भी अध्ययन किया जाने लगा। अगले भाग में तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में हुए इन विकासों का अध्ययन करेंगे। इसमें हम इसके बदलते स्वरूप की जांच पड़ताल भी करेंगे।

1.3 तुलनात्मक राजनीति : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

समय के साथ-साथ विषय वस्तु में परिवर्तन आया और इसके साथ-साथ तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र में भी परिवर्तन आया। तुलनात्मक राजनीति की विषय वस्तु का निर्धारण, भौगोलिक स्थल (अर्थात देश, क्षेत्र) जिसने इसके क्षेत्र का निर्धारण किया और प्रमुख विचार जिसमें सामाजिक यथार्थ और परिवर्तन शामिल था, से हुआ (पूंजीवादी, समाजवादी, मिश्रित और देशी)। इस प्रकार इतिहास के करवट लेने के साथ-साथ अध्ययन के सरोकार भी बदले।

1.3.1 राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की शुरुआत

सबसे पहले यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन किया था। अरस्तू ने 150 राज्यों के संविधानों का अध्ययन किया था और उन्हें विभिन्न शासनों में वर्गीकृत किया था। उन्होंने वर्गीकरण करते हुए इसका विवरण और आदर्श भी प्रस्तुत किया था। उन्होंने न केवल शासनों का विवरण और वर्गीकरण प्रस्तुत किया बल्कि इन राजनैतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न प्रकारों का भी ब्यौरा दिया, जैसे प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र, राजतंत्र आदि। उन्होंने अच्छी शासन व्यवस्था के मानदंड के आधार पर भी इनके बीच का अंतर स्पष्ट किया था। इस वर्गीकरण के आधार पर उन्होंने अच्छे और बुरे, आदर्श और विकृत शासनों के बीच का उदाहरण प्रस्तुत किया था। रोम के पॉलिबियस (201-120 ई.पू.) और सिसरो (1064-43 ई.पू.) ने भी अरस्तू के इस वर्गीकरण को स्वीकार किया था। मैकियेवेली ने 15वीं शताब्दी में (1469-1527) में विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया था।

MAADHYAM IAS

1.3.2 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के तुलनात्मक अध्ययनों में 'अच्छी व्यवस्था' या 'आदर्श राज्य' के संबंध में दार्शनिक और काल्पनिक अवधारणा हावी रही और अमूर्त

तथा आदर्शवादी शब्दावली का प्रयोग होता रहा। 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के आरंभ में उदारवाद एक प्रमुख विचारधारा थी और विश्व राजनीति में यूरोपीय देशों का वर्चस्व था। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका पर या तो यूरोपीय उपनिवेश कायम थे या उनके पूर्व उपनिवेश होने के नाते उन पर उनका वर्चस्व था। इस युग में हुए तुलनात्मक अध्ययन में प्रमुखत: संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन, शक्ति का बंटवारा और सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच संबंधों का अध्ययन किया गया जिनमें प्रमुख हैं – जेम्स ब्राइसेस का *मॉडर्न डेमोक्रेसिज* (1921), **हरमन फाइनेर्स** का *थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्नमेंट्स* (1932) और **कार्ल जे. फ्रेडरिक** का *कंस्टिच्यूशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमोक्रेसी* (1932), रोबर्टो माइकल का *पोलिटिकल पार्टी* (1915) और **एम ड्यूवर्गर** का *पोलिटिकल पार्टीज* (1950)। इनमें मुख्य रूप से ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी जैसे यूरोपीय देशों की संस्थाओं, सरकारों और शासन प्रकारों का अध्ययन किया गया है। अत: यह कहा जा सकता है कि ये अध्ययन इस अर्थ में शुद्धत: तुलनात्मक नहीं थे क्योंकि इनके विश्लेषण में बड़ी संख्या में देशों को छोड़ दिया गया था। इन थोड़े देशों के अध्ययन से निकाला गया सामान्य निष्कर्ष शेष दुनिया के लिए सही नहीं होता। यहां यह बात बता देना आवश्यक है कि शेष दुनिया को अध्ययन से अलग रखना विश्व राजनीति में यूरोप के वर्चस्व का परिचायक है। परंतु इस दौरान विश्व पर यूरोप की पकड़ कमजोर होने लगी थी और उत्तरी अमेरिका दुनिया पर हावी होने लगा था। समकालीन इतिहासों में यूरोप को केंद्र बनाया गया और शेष दुनिया (उपनिवेश से आजाद हुए देशों को शामिल नहीं किया गया। यह कहा गया कि इनका कोई इतिहास नहीं है या इनका इतिहास पश्चिम के विकसित देशों से जुड़ा है। ऊपर जिन पुस्तकों का उल्लेख किया गया है उनमें पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्र की आदर्शवादी मूल्यों में आस्था प्रकट की गई है। उनमें नस्ल और सभ्यता के श्रेष्ठता की झलक मिलती है। इन ग्रंथों में उपनिवेशों/पूर्व उपनिवेशों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

1.3.3 द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके बाद

1930 तक आते-आते दुनिया की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया। 1917 में रूस में बॉलशेविक क्रांति हुई जिसने विश्व राजनीति में समाजवाद को शोषितों की विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया। यह पश्चिमी उदारवाद और पूंजीवाद की आलोचना भी थी और विकल्प भी था। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में कई महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं मसलन यूरोपीय (ब्रिटिश) वर्चस्व कम होने लगा, विश्व राजनीति और अर्थव्यवस्था में संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय और विस्तार तथा दुनिया का दो विचारधारात्मक शिविरों अर्थात (पश्चिमी) पूंजीवाद और (पूर्वी) समाजवाद में विभाजित हो जाना। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होते-होते 'शेष दुनिया' के अधिकांश देशों ने अपने को यूरोपीय साम्राज्यवाद से मुक्त करा लिया। उपनिवेशों की समाप्ति के बाद विकास, आधुनिकीकरण, राष्ट्र निर्माण, राज्य निर्माण आदि की अवधारणाओं में परिवर्तन हुआ और 'नए राष्ट्रों' के राजनैतिक संभ्रांतों के बीच 'राष्ट्रीय नारे' लोकप्रिय हुए। सिद्धांतत: ये 'नए राष्ट्र' विकास के पश्चिमी पूंजीवादी ढर्रे पर चलने के लिए बाध्य नहीं रह गए। एक ओर जहां एशिया, अमेरिका और लैटिन अमेरिका के नए शासकीय वर्ग का झुकाव समाजवाद की ओर था वहीं अच्छी खासी संख्या में नए आजाद हुए देशों ने दोनों ही महाशक्तियों से अपने को अलग रखने का प्रयत्न किया और दोनों के प्रति गुट निरपेक्ष रहे। इनमें से कितनों ने अपने विकास का रास्ता खुद तय किया। कुछ ने समाजवादी रास्ता अपनाया जैसे तंजानिया में उज्जमा और भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई गई जिसमें समाजवाद और पूंजीवाद दोनों से सूत्र ग्रहण किए गए। यहां यह बता देना आवश्यक है कि 1940 के दशक तक सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रमुखत: संस्थाओं, उन्हें नियमित करने वाले कानूनी-संवैधानिक सिद्धांतों और पश्चिमी (यूरोपीय) उदारवादी प्रजातंत्रों में उनकी कार्य पद्धति तक सीमित रहा। ऊपर्युक्त विकासों के संदर्भ में 1950 के दशक के मध्य में संस्थागत दृष्टिकोणों की कड़ी आलोचना हुई। इस आलोचना की जड़ें व्यवहारवाद में निहित थीं

MAADHYAM IAS

जिसका उदय राजनीति विज्ञान में एक वैज्ञानिक रुझान पैदा करने और राजनीति विज्ञान का विकास करने के लिए हुआ था। इस व्यवहारवादी आंदोलन में तथ्यों की जांच पड़ताल पर बल दिया गया। इसमें मूल्य निरपेक्ष, गैर आदर्शवादी, वस्तुनिष्ठ सर्वेक्षण और व्याख्या प्रस्तुत की गई। सामाजिक यथार्थ का अध्ययन करने के कम में व्यवहारवादियों ने इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने का प्रयास किया कि लोगों का व्यवहार राजनैतिक क्यों होता है और इसके परिणामस्वरूप राजनैतिक व्यवस्थाएं जन्म लेती हैं ऐसा क्यों होता है? लोगों के व्यवहारों के अन्तर और राजनैतिक प्रक्रियाओं तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं के बारे में 'क्यों संबंधी प्रश्न' में तुलनात्मक अध्ययन का स्वरूप बदल दिया। अब यह संस्थाओं के कानूनी-औपचारिक अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहा। 1955 में रॉय मैक्रिडिस ने मौजूदा तुलनात्मक अध्ययन की यह कहकर आलोचना की कि इसमें गैर औपचारिक राजनैतिक प्रक्रियाओं की अपेक्षा औपचारिक संस्थाओं को महत्व दिया जाता है, इसमें विश्लेषण की जगह वर्णन होता है और इसमें किसी एक खास स्थिति का वर्णन किया जाता है तुलना नहीं की जाती (रॉय मैक्रिडिस, द स्टडी ऑफ कम्परेटिव गवर्नमेंट, न्यूयार्क रैंडम हाउस, 1955)। हैरी इकस्टिन का मानना है कि इस अवधि में तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और क्षेत्रा में एक परिवर्तन दिखाई देता है। यह परिवर्तन बदलती विश्व राजनीति का परिणाम है। इसके द्वारा राजनीति की अवधारणा को बदला गया और तुलना के आधार विकसित हुए। (हैरी इकस्टिन, 'ए प्रस्पेक्टिव ऑन कम्परेटिव पॉलिटिक्स, पास्ट ऐंड प्रेज़ेन्ट' हैरी इकस्टिन ऐंड डेविड एप्टर सम्पादित, कम्परेटिव पॉलिटिक्स: ए रीडर, न्यू यार्क, फ्री प्रेस, 1963)। गैब्रियल एलमोंड और अमेरिकन सोशल साइंस रिसर्च काउंसिल्स कमिटी ऑन कम्परेटिव पॉलिटिक्स (1954 में स्थापित) के उनके सहयोगियों ने उस परम्परागत और केवल पश्चिमी दुनिया पर आधारित विचारधारा को खारिज किया और साथ ही साथ उस भाषा की भी आलोचना की जिसका निर्माण एक संकुचित दायरे में हुआ था। उन्होंने एक ऐसे सिद्धांत और प्रविधि विकसित करने की बात की जिसके द्वारा सभी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाओं-प्रारंभिक या विकसित, जनतांत्रिक या गैर जनतांत्रिक, पश्चिमी या गैर पश्चिमी- का अध्ययन किया जा सके। भौगोलिक या क्षेत्रीय दृष्टि के विस्तार के साथ-साथ राजनैतिक दृष्टि का भी विकास हुआ और औपचारिक राजनैतिक संस्थाओं के परम्परागत और संकीर्ण दायरे वाले अध्ययन को खारिज कर दिया गया। राजनीति की अवधारणा विस्तृत हुई और इसमें 'वास्तविकता' या व्यावहारिक राजनीति पर बल दिया गया। इसमें राजनैतिक दलों, हित समूहों, चुनावों के रुझानों, दृष्टिकोणों आदि जैसे कम औपचारिक और संरचनाकृत प्राधिकरणों का अध्ययन किया गया *(गैब्रियल एलमोंड़*, **पोलिटिकल डेवलप्मेंट, बोस्टन, 1970)**। औपचारिक संस्थाओं के अध्ययन से दूर हटते ही राज्य की अवधारणा पर बल दिया जाना भी कम हुआ। हम पहले बता चुके हैं कि विश्व पटल पर बड़ी संख्या में राष्ट्रों के उदित होने के परिणामस्वरूप एक ऐसे ढांचे के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुई जिसके तहत व्यापक रूप से तुलना की जा सके। इससे राजनैतिक व्यवस्था जैसी सम्मिलित अमूर्त अवधारणाओं का जन्म हुआ। 'व्यवस्था' की इस अवधारणा ने राज्य की अवधारणा का स्थान ले लिया। इससे विद्वानों को औपचारिक कानून से अलग उन सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं पर विचार करने में मदद मिली जो गैर पश्चिमी राजनीति को समझने के लिए महत्वपूर्ण थे। इसके अलावा राजनीति के अध्ययन क्षेत्रा में 'पूर्व राज्य'/'गैर राज्य' समाजों और ऐसे कार्यों तथा पद जिनका राज्य के साथ सीधा संबंध नहीं माना जाता था, को भी शामिल किया गया। संस्थाओं के वास्तविक कार्यों और प्रथाओं पर बल देने के साथ-साथ अनुसंधान की समस्याओं को इन संस्थाओं की कानूनी शक्तियों के संदर्भ में न परिभाषित करके उनके कार्यों और परस्पर संबंध और लोकनीति के निर्माण तथा कार्यान्वयन में उनकी भूमिका के आधार पर परिभाषित किया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप संरचनात्मक-कार्य पद्धति का उदय हुआ जिसमें कुछ कार्यों को सभी समाजों के लिए आवश्यक माना गया और विभिन्न औपचारिक और अनौपचारिक संरचनाओं के बीच इन कार्यों के कार्यान्वयन और निष्पादन की तुलना की गई **(पीटर मेयर,** *'कम्परेटिव पॉलिटिक्स: ऐन ओवरव्यू', पृ. 315)*।

MAADHYAM IAS

एक ओर जहां व्यवस्थाओं और संरचनात्मक कार्य प्रणाली के सार्वभौम ढांचे ने पश्चिमी विद्वानों को एक बड़े क्षेत्र में राजनैतिक व्यवस्थाओं पर संरचनाओं और व्यवहारों के अध्ययन में मदद की वहीं दूसरी ओर 'नए राष्ट्रों' के उदय ने पश्चिमी तुलनावादियों को आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन के अध्ययन का अवसर प्रदान किया। वियारडा के अनुसार मुख्य रूप से 60 के दशक में ही समकालीन विद्वानों ने तुलनात्मक राजनैतिक अध्ययन की शुरुआत की। विडम्बना यह है कि इनमें से अधिकांश विद्वानों के लिए ये 'नए राष्ट्र' सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए 'जीवित प्रयोगशालाएं' बनीं। वियारडा उन 'महत्वपूर्ण समयों' की विस्तार से चर्चा करते हैं जिस समय राजनैतिक परिवर्तन के अध्ययन को अनूठा अवसर मिला और नई प्रविधियों का विकास और उनके अध्ययन के नए दृष्टिकोण से परिचित हुए। इसी अवधि के दौरान तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में नूतन और रोचक, सैद्धांतिक और अवधारणात्मक विचार सामने आए जैसे राजनैतिक संस्कृति का अध्ययन, राजनैतिक समाजीकरण, विकासवाद, निर्भरता और परस्पर निर्भरता, कॉरपोरेट व्यवस्था, नौकरशाही-निरंकुशतावाद और प्रजातंत्र में बाद का संक्रमण आदि। *(हॉवर्ड जे. वियारडा, 'इज कम्परेटिव पॉलिटिक्स डेड? रिथिंकिंग द फिल्ड इन द पोस्ट-कोल्ड वार इरा', थर्ड वर्ल्ड क्वाटरली, वौल्यूम 19, नं. 5)*

इस अवधि में ईस्टन की राजनैतिक व्यवस्था डेश की सामाजिक लामबन्दी और शील की केंद्र और परिधि जैसे सार्वभौमिक मॉडल सामने आए। ऐप्टर, रोक्कन, आइन्सटैट और वार्ड द्वारा प्रतिपादित आधुनिकीकरण के सिद्धांत और ऐलमॉन्ड, कोल मैन, पाई और वर्बा के राजनैतिक विकास के सिद्धांत को दुनिया भर में मान्यता मिली। यह दावा किया गया कि यह सिद्धांत सभी सांस्कृतिक और वैचारिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं और सभी जगह की राजनैतिक प्रक्रिया की व्याख्या में सक्षम हैं। इस चरण में तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में हुए विकास के साथ-साथ संयुक्त राज्य का सैनिक संधियों और विदेशी अनुदान के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय हस्तक्षेप भी सामने आया। इस अवधि में हुए अधिकांश अनुसंधानों को न केवल शोध संस्थाओं से धन प्राप्त हुआ बल्कि इसका उपयोग संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के लिए भी किया गया। लैटिन अमेरिका में कैमेलॉट परियोजना और भारत में हिमालय परियोजना इसका सर्वाधिक प्रतीकात्मक उदाहरण है। इस अवधि में कई महत्वपूर्ण कार्य सामने आए जैसे ऐप्टर का घाना पर किया गया अध्ययन। 1960 में प्रकाशित एलमन्ड और कौलमैन का ग्रंथ पॉलिटिक्स ऑफ डेवेल्पिंग एरियाज में नए ' तुलनात्मक राजनैतिक आंदोलन' की विशेषताओं को परिभाषित किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका से 1969 में प्रकाशित शीर्षक पत्रिका में इसी प्रवृत्ति को दर्शाया गया है। 'विकासवाद' सम्भवतः इस समय की सबसे प्रमुख अवधारणा थी। काफी हद तक 'विकासशील' देशों में पनप रहे मार्क्सवाद-लेनीनवाद को रोकने और वहां गैर साम्यवादी विकास को बढ़ावा देने के लिए अपनाई गई अमेरिकी विदेश नीति के हित में विकासवाद का उपयोग किया गया। *(हॉवर्ड जे वियारडा, 'इज कम्परेटिव पॉलिटिक्स डेड? रिथिंकिंग द फिल्ड इन द पोस्ट-कोल्ड वार इरा,' थर्ड वर्ल्ड क्वाटरली, वौल्यूम 19 नं.5, पृ.937)*

1.3.4 1970 का दशक और विकासवाद की चुनौतियां

1970 के दशक में विकासवाद के अमूर्त मॉडलों की पक्षधरता के लिए आलोचना की गई जिसके तहत एक सार्वभौमिक ढांचे के अन्तर्गत विशेष राजनैतिक/सामाजिक/सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के अन्तर को समाप्त कर दिया गया। इन मॉडलों की जातीयता पर बल दिए जाने की आलोचना की गई और अल्प विकास के सिद्धांत विकसित करने के लिए तीसरी दुनिया पर बल देने की बात कही गई। इन आलोचनाओं में विकासशील देशों के पिछड़ेपन के समाधान पर ध्यान केंद्रित करने पर बल दिया गया। 1970 के दशक के आरंभ में विकासवाद के समक्ष दो चुनौतियां थी जिसकी तरफ सब लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ – क) निर्भरता, ख) कॉरपोरेट सिद्धांत। निर्भरता सिद्धांत ने क) घरेलू वर्ग के कारकों और ख) विकास में अन्तरराष्ट्रीय बाजार और शक्ति कारकों को नजरअंदाज करने के लिए

MAADHYAM IAS

विकासवाद के मॉडल की आलोचना की। इसमें खासतौर पर अमेरिका की विदेश नीति और बहु राष्ट्रीय निगमों की आलोचना थी जिसमें विकासवाद की धारणा के विपरीत यह स्थापित किया गया था कि औद्योगीकृत राष्ट्रों का विकास और विकासशील देशों का विकास एक साथ नहीं चल सकता है। निर्भरता सिद्धांत का यह मानना है कि पश्चिम का विकास गैर पश्चिम के कंधों और कीमत पर हुआ है। **आन्द्रे गुंडरे फ्रैंक** की पुस्तक *कैपीटलिज्म ऐंड अंडरडेवलेप्मेंट इन लैटिन अमेरिका* (1967) **वाल्टर रोडनी** की पुस्तक *हाउ यूरोप अंडरडेवेलप्ड अफ्रीका* (1972) और **मैलकम कैडवेल्स** की *द वेल्थ ऑफ सम नेशन्स (1979)* में यह विचार व्यक्त किया गया कि पूंजीवाद के प्रसार से दुनिया के कई देशों में विकास नहीं बल्कि अल्पविकास हुआ है। मार्क्सवादी आलोचकों ने निर्भरता सिद्धांत की आलोचना करते हुए यह कहा कि शोषण का आधार अधिशेष पर कब्जा जमाने से होता है और इसे राष्ट्रीय सीमा में नहीं बांधा जाना चाहिए। विश्व स्तर पर फैली पूंजीवादी व्यवस्था में मेट्रोपोलिटन बुर्जुआ वर्ग केंद्र में होता है और देशी बुर्जुआ वर्ग परिधि में होता है और इनके बीच एक जटिल गठबंधन होता है जिनकी मदद से ये शोषण करते हैं। कॉरपोरेट सिद्धांत ने यूरोपीय अमेरिकी जातीय केंद्रीयता के लिए विकासवाद की आलोचना की और यह बताया कि राज्य और राज्य-समाज संबंधों को संगठित करने के लिए वैकल्पिक, सुव्यवस्थित, नैगमिक और प्राय: निरंकुशतावादी तरीके भी मौजूद थे।

1.3.5 1980 का दशक: राज्य की वापसी

1970 के दशक के अंत और 1980 के दशक में विकासवाद के खिलाफ मुहिम चलती रही और तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में कई सिद्धांत और विषय सामने आए। नौकरशाही-निरंकुशतावाद, परिवर्तन की स्थानीय अवधारणाएं, प्रजातंत्र में संक्रमण, संरचनात्मक समायोजन, नवउदारवाद और निजीकरण की राजनीति इनमें प्रमुख हैं। कुछ लोगों ने इन गतिविधियों को विकासवाद के वर्चस्व को तोड़नेवाली कार्यवाई के रूप में देखा तो कुछ लोगों ने कहा कि इससे इस क्षेत्र में विविधता आई, नए विकल्प सामने आए और इसका क्षेत्र व्यापक हुआ। **ऐलमंड** ने 1950 के दशक में ही यह धारणा सामने रखी थी कि राज्य का स्थान राजनैतिक व्यवस्था को ले लेना चाहिए जिसकी वैज्ञानिक जांच पड़ताल कर उसे उसके अनुसार परिवर्तित कर दिया जाना चाहिए। इस्टन ने राजनैतिक व्यवस्था की हदों और अवधारणाओं का निर्माण किया और 1980 के दशक तक राजनैतिक अध्ययन के लिए राजनैतिक व्यवस्था के महत्व की चर्चा करते रहे। **गुलीरेमो ओ डॉनेल** ने अपनी पुस्तक *इकॉनॉमिक मॉडरनाइजेशन ऐंड ब्यूरोक्रेटिक आउथोरिटेरिएनिज्म* (1973) में लैटिन अमेरिका और खासकर अर्जेन्टिना में नौकरशाहीपरस्त निरंकुशतावाद का अध्ययन किया और इस प्रकार 60 और 70 के दशक में राज्य की ओर विद्वानों का ध्यान गया। **रैल्फ मिलिबैंड** ने *द स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसाइटी* (1969) में भी इसी विषय पर विचार किया। **निकोस पोलैन्जा** ने *स्टेट, पावर, सोशिएलिज्म* (1978) और राजनैतिक समाजशास्त्री **पीटर इवेन्स, ठेडा स्कॉकपॉल**, और **अन्य** ने *ब्रिंगिंग स्टेट इन* में राज्य को केंद्र में रख कर विचार किया।

1.3.6 20वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध: भूमंडलीकरण और उभरती प्रवृत्तियां

क) **व्यवस्थाओं का अध्ययन:** 1960 से लेकर 1980 के दशक में तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में काफी विकास हुआ। इसका क्षेत्र विस्तृत हुआ और इसमें बड़ी संख्या में देश शामिल किए गए। नीति, विचारधारा, शासकीय अनुभव और इसी प्रकार के कई मानदंडों का उपयोग किया गया। हालांकि 1980 के दशक में सामान्य सिद्धांत से अलग हटकर संदर्भ की प्रासंगिकता पर बल दिया जाने लगा। अंशत: यह सामाजिक विज्ञानों में ऐतिहासिक जांच पड़ताल के फिर से बढ़ रहे प्रभाव को प्रतिबिंबित करता है। यह उस 'ऐतिहासिक समाजशास्त्र' के उदय को भी दर्शाता है जो परिघटनाओं को व्यापक और बृहद संदर्भ में देखने की कोशिश करता है। (**थेडा स्कॉकपॉल ऐंड एम. सोमर्स**, *'द यूज ऑफ कम्परेटिव हिस्ट्री इन मैक्रो-सोशल इन्क्वायरी', कम्परेटिव स्टडीज इन*

MAADHYAM IAS

सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री, नं. 22, 1980 ऐंड **पी. एब्रम्स**, *हिस्टॉरिकल सोशिओलॉजी, इथेका,* 1982)। अब मॉडल की बात न करके किसी खास उद्देश्य या मामले को गहराई से समझने पर ज्यादा बल दिया जाने लगा है जहां आधुनिक गुणात्मक और संदर्भयुक्त आंकड़े का मूल्यांकन किया जा सके और जहां विशेष संस्थागत परिस्थितियों या खास राजनैतिक संस्कृतियों की जानकारी प्राप्त की जा सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति आधारित अध्ययनों का जोर बढ़ा (अंग्रेजी बोलने वाले देश, इस्लाम धर्म को मानने वाले देश) और राष्ट्रीयता आधारित देश (जैसे इंगलैंड, भारत) और यहां तक कि संस्थागत विशिष्ट राष्ट्र (उदाहरणस्वरूप किसी खास शासन के अन्तर्गत भारत) पर विशेष बल दिया जाने लगा। 'बड़ी व्यवस्थाओं' पर बल दिया जाने लगा और मॉडल निर्माण का ह्रास हुआ। विशिष्ट संदर्भ और संस्कृतियों पर बल दिए जाने के कारण तुलना का मानदंड व्यापक किया गया। 'छोटी व्यवस्थाओं' या क्षेत्रों के स्तरों पर तुलना की प्रवृत्ति जारी रही जैसे इस्लाम धर्म को मानने वाले लैटिन अमेरिका के देश, उप सहारा अफ्रीका, दक्षिण एशिया आदि।

ख) **नागरिक समाज और जनतांत्रिक दृष्टिकोण:** सोवियत संघ के विघटन के बाद 'इतिहास का अंत' की अवधारणा सामने आई। **फ्रैंसिस फुक्युयामा** ने *द एन्ड ऑफ हिस्ट्री* (1989) नामक लेख लिखा। बाद में उन्होंने इसी विषय पर *द एन्ड ऑफ हिस्ट्री ऐन्ड द लास्ट मैन* (1992) नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने अपने इस लेख और पुस्तक में कहा कि 'मानव सरकार के अन्तिम स्वरूप' में उदारवादी प्रजातंत्र की स्थापना और विजय से विचारों का इतिहास समाप्त हो गया। 'इतिहास का अन्त' की बात करके वस्तुत: पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्र के वर्चस्व पर ही बल दिया गया। यह 1950 के दशक से चली आ रही 'विचारधारा का अंत' विषय पर हो रही बहस का भी परिचायक है जिसका जन्म शीतयुद्ध की चरम अवस्था में और पश्चिम में साम्यवाद के पतन के संदर्भ में हुआ था। पश्चिमी उदारवादी विद्वानों ने यह बात सामने रखी कि पश्चिम के औद्योगिक समाजों में हुए आर्थिक विकास से राजनैतिक समस्याएं हल हो गईं जैसे आजादी और राज्य शक्ति के मामले, मजदूरों के अधिकार आदि जो औद्योगीकरण के साथ-साथ आगे बढ़े। अमेरिका के समाजशास्त्री **डेनियल बेल** ने अपनी पुस्तक (*द ऐन्ड ऑफ आइडियोलॉजी?: ऑन द इग्जॉशन ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज इन द 1950ज़, 1960ज़*) में बताया कि इस विकास के संदर्भ में एक विचारात्मक सर्व सम्मति थी या राजनैतिक व्यवहार के मुद्दे पर वैचारिक मतभेदों को स्थगित कर दिया गया था। 1980 के दशक में 'इतिहास के अंत' के विचार के साथ-साथ भूमंडलीकरण की नई परिघटना सामने आई। भूमंडलीकरण ऐसी परिस्थितियों, वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का नाम है जो पूरे विश्व को इस प्रकार एक सूत्र में बांधता है कि विश्व के एक कोने में हो रही घटना का असर विश्व के दूसरे कोने में पड़ता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि इस भूमंडलीकृत दुनिया में अभी भी सारी घटनाएं पश्चिमी पूंजीवाद के इर्द गिर्द नाच रही हैं। पूंजीवाद की तथाकथित विजय के संदर्भ में नागरिक समाज और जनतंत्रीकरण के अध्ययन संबंधी दृष्टिकोणों में नागरिक समाज का महत्व बढ़ा और आधुनिक पूंजीवादी विश्व में व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा की बात की जाने लगी।

इसके अलावा दृष्टिकोण में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन आया जिसमें नागरिक समाज और जनतांत्रीकरण के प्रश्न को केंद्र में रखा गया। इस प्रकार एक तरफ जहां बाजार जनतंत्र के विकास के लिए पश्चिमी पूंजीवाद के समकालीन हित से संबंधित अध्ययन हुए तो दूसरी ओर स्वायत्ता प्राप्त करने वाले, जनजातियों के आंदोलन, दलित आंदोलन, निम्न जातियों के आंदोलन, महिलाओं के आंदोलन, पर्यावरण के आंदोलन जैसे जन आंदोलनों को केंद्र में रखकर अध्ययन किए गए। ये आंदोलन पूंजी के हित और जन अधिकारों के बीच होने वाली टक्कर के परिणाम थे। ये अर्थव्यवस्था भूमंडलीय पूंजी के युग में आनेवाले उदारवाद और बदलाव का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में अस्मिता, पर्यावरण, जातीयता, लिंग, नस्ल आदि सरोकारों के नए आयाम जुड़े। (देखिए **मनोरंजन मोहन्ती**, *कन्टेम्प्ररी इन्डियन पॉलिटिकल थ्योरी,* 2000)।

MAADHYAM IAS

ग) **सूचना, संग्रहण और प्रसार:** सूचना और संचार प्रौद्योगिकी में इंटरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब जैसे अभूतपूर्व विकास भूमंडलीकरण के महत्वपूर्ण पक्ष और निर्धारक तत्व हैं। इसके कारण उत्पादन, संग्रहण और आंकड़े का विश्लेषण आसान हो गया है और इसे पूरी दुनिया में तेजी से फैलाया जा सकता है। इससे न केवल आंकड़ों की उपलब्धता सहज हो गई बल्कि कुछ ऐसे नए मुद्दे और विषय भी सामने आए जो राष्ट्र-राज्य की परिधि का अतिक्रमण करते हैं। इन नए विषयों के कारण समकालीन भूमंडलीकृत दुनिया के राजनैतिक परिवेश में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। सामाजिक आंदोलन के संगठनों और कार्यकर्ताओं का पूरी दुनिया में फैला सम्पर्क इसका प्रमाण है। इस प्रकार के सम्पर्क सूत्र के कारण जनतांत्रिक विचार भी तेजी से फैले। शियापास के दक्षिणी मैक्सिकन राज्य के जापासटिस्टा आंदोलन में इंटरनेट का प्रयोग किया गया था और अपने अधिकारों, सामाजिक न्याय और प्रजातंत्र के लिए किए जाने वाले संघर्ष से सबको परिचित कराने के लिए भूमंडलीय जनसंचार का उपयोग किया गया था। समकालीन विषयों में मानवाधिकारों के संवर्धन और सुरक्षा जैसे मुद्दे सामने आए जो सूचना के संग्रहण और प्रसार पर आधारित थे।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) क्या यह कहना सही है कि तुलनात्मक राजनीति केवल सरकारों के अध्ययन की एक प्रविधि है ?

....

....

....

....

2) ऐतिहासिक कालक्रम में बदलते सामाजिक, राजनैतिक सरोकारों के साथ-साथ तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति, क्षेत्र और विस्तार में भी अन्तर आया। इस संबंध में अपना मत प्रकट कीजिए।

....

....

....

1.4 राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की उपयोगिता

MAADHYAMIAS

राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की उपयोगिता का संबंध राजनैतिक यथार्थ को समझने में इसकी उपयोगिता और प्रासंगिकता से है। इसके द्वारा यह जानने की कोशिश की जाती है कि किस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन इस यथार्थ को बेहतर ढंग से समझने में हमारी मदद करता है।

सबसे पहले हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सभी मनुष्यों की एक राजनैतिक रुझान होती है और यह अलग-अलग तरीकों से पूरी दुनिया में अलग-अलग सामाजिक और संस्थागत ढांचों में अभिव्यक्त होती है। यह कहा जा सकता है कि इन्हें समझना और साथ ही साथ विभिन्न राजनैतिक रुझानों और पद्धतियों को जानना राजनीति को समझने के लिए जरूरी है। तुलना करने से हम एक ठोस और व्यापक समझ कायम कर पाएंगे।

1.4.1 सैद्धांतिक निरूपण के लिए तुलना

तुलना जहां हमारी तर्क शक्ति और सोचने समझने के ढंग का एक अन्तरंग हिस्सा है वहीं अधिकांश तुलनावादियों का मानना है कि राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन में विभिन्न पद्धतियों में तुलना कर एक ऐसे सामान्य निष्कर्ष तक पहुंचा जा सकता है जो काफी हद तक कई पद्धतियों पर लागू होता है। इस प्रकार के सामान्यीकरण के लिए केवल विभिन्न देशों की सूचना इकट्ठी कर लेना ही काफी नहीं होता। विभिन्न देशों को केंद्र में रखकर तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण किया जाता है और इसके आधार पर एक सिद्धांत बनाया जाता है और उसका परीक्षण किया जाता है। इसलिए इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि तुलनात्मक अनुसंधान किस प्रकार किए जाए और उनके नियम और मानदंड क्या हों। तुलनात्मक अध्ययन में जो सामान्यीकरण किया जाता है उसमें एक से अधिक परिघटना या विभिन्न परिघटनाओं के आपसी संबंधों का निरीक्षण किया जाता है। यह निरीक्षण जितना ही व्यापक होगा उतना ही सामान्यीकरण सही होगा और इसके आधार पर बने सिद्धांत ठोस होंगे।

1.4.2 वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तुलना

हम अगली इकाई में यह बताएंगे कि तुलनात्मक विधि से इन सिद्धांतों को वैज्ञानिक आधार और रुझान प्राप्त होता है। समाज वैज्ञानिक जो वैज्ञानिक पद्धति, वैधता और विश्वसनीयता पर बल देते हैं, वे सामाजिक विज्ञान में तुलना को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि इससे सामाजिक परिघटना के अध्ययन में 'नियंत्रण' का अनूठा अवसर मिलता है। (**जियोवन्नी सारटोरी**, *'कम्पेयर, ह्वाई ऐंड हाउ' इन मैटेइ डेगन ऐंड अलि काजानसिगिल कम्पेयरिंग नेशन्स, कॉन्सेप्ट्स, स्ट्रेटिजीस, स्बसटेंस, बैकवेल, ऑक्सफोर्ड,* 1994)

1.4.3 संबंधों की व्याख्या के लिए तुलना

लम्बे समय से तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत केवल राजनैतिक परिघटनाओं की समानता और असमानता, वर्गीकरण, द्विभाजन या ध्रुवीकरण किया जाना प्रतीत होता रहा है। हालांकि तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण समानताएं और असमानताएं बताने तक ही सीमित नहीं है। कई विद्वानों का यह मानना है कि तुलना करने का अर्थ केवल समानता या असमानता, तुलना या वैषम्य बताना ही नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य संबंधों के बड़े ढांचों में राजनैतिक परिघटना का अध्ययन करना है। ऐसा महसूस किया गया कि राजनैतिक परिघटना को गहरे और व्यापक रूप में समझने में मदद मिलेगी (देखिए **मनोरंजन मोहंती**, *'कम्परेटिव पोलिटिकल थ्योरी ऐंड थर्ड वर्ल्ड सेंस्टिविटी', टीचिंग पोलिटिक्स*, न. 1 और 2, 1975)।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) आपके अनुसार राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की क्या उपयोगिता है ?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

1.5 सारांश

राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की प्रकृति और क्षेत्र का संबंध इसकी विषय-वस्तु, इसके अध्ययन क्षेत्र, अध्ययन के प्रारंभिक बिन्दु और अध्ययन के उद्देश्य से संबंधित है। परंतु यह कोई स्थिर अवधारणा नहीं है बल्कि इसमें लगातार परिवर्तन होता रहा है। एक ओर जहां आरंभिक अध्ययनों में सरकारों और शासकों का पर्यवेक्षण होता रहा वहीं 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के आरंभ में हुई तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में पश्चिमी देशों में संस्थाओं के औपचारिक कानूनी ढांचों का अध्ययन किया गया। द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त में विश्व पटल पर कई 'नए राष्ट्रों' का उदय हुआ जिन्होंने औपनिवेशिक शासन से अपने को मुक्त किया। उदारवाद के वर्चस्व को साम्यवाद ने चुनौती दी और विश्व पटल पर सोवियत संघ ने अपनी शक्तिशाली उपस्थिति दर्ज की। अभी तक तुलनावादियों के सामने एक मात्र ढांचा उपस्थित था जिसे विद्वानों ने चुनौती दी और राजनैतिक रुझानों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए नई पद्धतियां सामने आईं। 'व्यवस्थाओं' और 'संरचना-कार्य' की अवधारणा सामने आई। पश्चिमी विद्वानों, खास कर अमेरिकी विद्वानों, द्वारा विकासवाद, आधुनिकीकरण जैसी परिघटना का अध्ययन करने के लिए इन ढांचों का अध्ययन किया गया। नए स्वतंत्र राष्ट्रों के राजनैतिक संभ्रांतों ने जहां विकास, राष्ट्र निर्माण और राज्य निर्माण जैसी अवधारणाओं को अपने अध्ययन का विषय बनाया वहीं कई मामलों में उन्होंने अपना वैचारिक दृष्टिकोण विकसित किया और दोनों ही विचारात्मक धड़ों से अपने आप को मुक्त रखा। 1980 के दशक के अन्त में 'व्यवस्था' के ढांचे के अन्तर्गत राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन पर दिए जाने वाले बल में ह्रास आया और क्षेत्रीय व्यवस्थापरक अध्ययनों का महत्व बढ़ा। इन अध्ययनों में राज्य पर बल दिए जाने के कारण नागरिक समाज के भीतर शक्ति संरचना और इसके राजनीतिक रूपों के अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ी।

तुलनात्मक राजनीति में व्यवस्थाओं और संरचना-कार्यों पर आधारित अध्ययन में इसे नजरअंदाज कर दिया गया था। सोवियत संघ के पतन के बाद पश्चिमी इतिहासकारों ने 'इतिहास के अंत' की घोषणा करते हुए उदारवाद और पूंजीवाद के विजय की उद्घोषणा की। 1980 के दशक में पूंजी, प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था और सूचना का भूमंडलीकरण हुआ। इससे तुलनावादी विद्वान भी प्रभावित हुए और उन्होंने 'प्रजातंत्र की ओर संक्रमण', 'भूमंडलीय बाजार', 'नागरिक समाज' जैसे सार्वभौमिक और एकरूप अभिव्यक्तियों का उपयोग किया। इस प्रकार की अभिव्यक्तियों से ऐसा लगता है कि अब कोई मतभेद, अनिश्चितता, प्रतिद्वंद्विता नहीं रह गई जिसकी तुलना करने की जरूरत है। हालांकि इस परिघटना पर अलग दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। हालांकि कुछ विद्वानों ने नागरिक समाज के विकास को भूमंडलीय पूंजीवाद को चुनौती के रूप में देखा है जिसका जन्म पूरे विश्व में हुए जन आंदोलनों और मजदूरों के आंदोलनों से हुआ है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र को निर्धारित करने वाली विशिष्टताएं क्या हैं ?

....

....

....

....

2) 20वीं शताब्दी में तुलनात्मक अध्ययन का विकास निरूपित करें। इसमें निम्नलिखित पक्षों पर विचार करें:

   क) द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले और बाद की अवधि की विशेषताएं, ख) विकासवाद और इसकी आलोचना, ग) 20वीं शताब्दी के अंत में हुई गतिविधियां।

   ....

   ....

   ....

   ....

3) राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन संबंधों के ढांचे में राजनैतिक परिघटना की व्याख्या की जाती है। इस वक्तव्य के आलोक में औपनिवेशिक साम्राज्यों के अंत होने से लेकर शीतयुद्ध तक और भूमंडलीकरण युग तक तुलनात्मक राजनीति अध्ययन के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों पर विचार कीजिए।

....

....

....

....

1.6 शब्दावली

व्यवहारवाद : इस मत के अनुसार सामाजिक सिद्धांतों का निर्माण केवल व्यवहारों के निरीक्षण पर आधारित होना चाहिए। इसी के आधार पर अनुसंधान के लिए आंकड़े प्राप्त करने चाहिए। नागरिक समाज के कई अर्थ हैं। कुल मिलाकर इसे स्वायत्त समूहों और संगठनों का क्षेत्र माना जाता है। यह एक निजी क्षेत्र है जो सार्वजनिक सत्ता से स्वतंत्र है।.

समनरूप स्थिति : किसी भी राजनैतिक परिघटना के लिए अनुकूल परिस्थितियां या पक्ष। यह किसी भी प्रकार की क्रांति या जनतांत्रिक भागीदारी के लिए अनिवार्य और आवश्यक शर्त है।

नियंत्रण : इस नियंत्रण का तात्पर्य एक ऐसे महत्वपूर्ण प्रयोग से है जहां एक समानान्तर प्रयोग या एक समूह की स्थापना (नियंत्रण स्थापना) की जाती है। इसका उद्देश्य दूसरे प्रयोगों के लिए तुलना का मानदंड स्थापित करना होता है। अध्ययन में दृश्य माध्यम के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए किए गए प्रयोग में नियंत्रण समूह को उस परिस्थिति (दृश्य माध्यम) को उपलब्ध नहीं कराया जाएगा जिसके प्रभाव का अध्ययन किया जाना है।

जनतंत्रीकरण : जनतंत्र के उत्थान की प्रक्रिया, खासतौर पर आधारभूत स्वतंत्रता प्रदान करना, जनता की भागीदारी में बढ़ोत्तरी और चुनाव में हिस्सेदारी।

विवरणात्मक : विस्तार से तथ्यों का उद्घाटन, विशेषताओं और योगदानों का वर्णन।

MAADHYAM IAS

द्विभाजन	:	दो मजबूत विपरीत समूहों या वर्गों में विभाजन।
यूरोपीय केंद्रित	:	यूरोपीय मूल्यों, विश्वासों और सिद्धांतों को अन्य संस्कृतियों और समूहों पर लागू करना और पूर्वाग्रह रखना।
भूमंडलीकरण	:	भूमंडलीकरण ऐसा वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवेश है जिसने दुनिया को इस प्रकार एक सूत्र में बांध दिया है कि दुनिया के एक कोने में हुई घटना का असर तुरंत दुनिया के दूसरे कोने में पड़ता है।
विधि	:	आंकड़ों के अनुप्रयोग के लिए सिद्धांतों के संघटन को विधि कहते हैं। इसे 'अवधारणात्मक योजना' भी कहते हैं। तुलनात्मक (एक से अधिक मामलों का उपयोग), एकल (एक उदाहरण का अध्ययन) और ऐतिहासिक; (समय और शृंखला का उपयोग) कुछ विधियां है। विधि 'सोच के बारे में सोच' अधिक है।
प्रणाली विज्ञान	:	अनुसंधान की विभिन्न प्रणालियों का अध्ययन, अनुसंधान के लिए बनाए जाने वाले प्रश्न, घटनाओं और राजनैतिक प्रतिफलनों को व्याख्यायित करने के लिए सिद्धांतों का निर्माण, और अनुसंधान डिजाइन का विकास
मॉडल	:	साधारण शब्दों में एक बौद्धिक प्रयास है जो पुनरावृत्ति, अपरिवर्तन, खासियत पर बल देने के लिए यथार्थ को सरल रूप में प्रस्तुत करता है, जो इसे प्रदेशों या योगदानों के समूह के रूप में पेश करता है। दूसरे शब्दों में मॉडल और प्रकार एक दूसरे के पर्याय हैं
नव उदारतावाद	:	क्लासिकल राजनैतिक अर्थव्यवस्था का अद्यतन रूप, जिसमें बाजार, व्यक्तिवादिता को बढ़ावा देने और राज्य नियंत्राण को कम करने पर बल दिया गया है।
आदर्श	:	मूल्य और आचार संहिता : इसमें 'क्या है' से ज्यादा 'क्या होना चाहिए' पर विचार किया जाता है
उत्तर व्यवहारवाद	:	1970 के बाद का समय और ऐसी प्रविधि जिसके अनुसार राजनैतिक दुनिया का पर्यवेक्षण और विश्लेषण कुछ सैद्धांतिक और मूल्य पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं है। अत: विश्लेषण के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुंचने में परेशानी है।
निजीकरण	:	राज्य संपदा का सार्वजनिक से निजी क्षेत्रा को स्थानांतरण, राज्य उत्तरदायित्व में कमी।
व्यवस्था सिद्धांत	:	इस सिद्धांत के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था आत्म नियंत्रित व्यवस्था है जो मांग और समर्थन के अनुसार निर्णय लेता है।
सिद्धांत	:	दुनिया कैसे 'काम' करती है। इस संबंध में निश्चित और तर्क सम्मत वक्तव्य। इसे सामूहिक तौर पर अनुभववादी सिद्धांत (आदर्श के विपरीत) जाना जाता है, ये वक्तव्य विभिन्न परिवर्तनशील कारकों के बीच के संबंध का दावा करते हैं जिनका व्यवस्था परक तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा परिक्षण किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

लैंडमैन, टॉड, *इश्यूज ऐंड मेथड्स इन कम्परेटिव पॉलिटिक्स: ऐन इन्ट्रोडक्शन,* रूटलेज, लंदन, 2000

मेयर, पीटर, 'कम्परेटिव पॉलिटिक्स: ऐन ओवरव्यू', आर.ई.गुडीन ऐंड एच. क्लिंगमैन संपा. *द न्यू हैंडबुक ऑफ पोलिटिकल साइंस,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1996

मोहंती, मनोरंजन, मूविंग द सेंटर इन द स्टडी ऑफ पॉलिटिकल थॉट ऐंड पॉलिटिकल थ्योरी, *कंटम्परेरी इंडियन पॉलिटिकल थ्योरी,* संस्कृति, नई दिल्ली, 2000

सटोरी, गियोवानी, 'कम्पेयर व्हाई ऐंड हाउ,' मैतेयी डोगन और अलि कजानसिगिल की संपादित पुस्तक *कम्पेयरिंग नेशन्स, कस्पेट्स, स्ट्रेटजी, सबस्टांस,* ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1994

वियारडा, हावर्ड जे., *इज कम्परेटिव पॉलिटिक्स डेड? रीथिंकिंग द फिल्ड इन द पोस्ट कोल्ड वार येरा,* थर्ड वर्ल्ड क्वाटरली, भाग 19 अंक 5

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) नहीं, यह सरकारों के अध्ययन करने की विधि मात्र नहीं है। इसमें सरकार के कामकाज से जुड़े मुद्दों का विश्लेषण किया जाता है तथा अमूर्त सार्वभौम प्रारूपों का निर्माण होता है जिसके द्वारा सभी इकाइयों में होने वाली प्रक्रियाओं और राजनैतिक परिघटना को व्याख्यायित किया जा सके। विस्तार के लिए देखिए भाग 1.2.2

2) भौगोलिक विस्तार के साथ-साथ विचारों और सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक राजनीति की विषय-वस्तु का विकास और विस्तार हो रहा है। अंतः यह कई महत्वपूर्ण चरणों से गुजर चुकी है और इसमें कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए भाग 1.3

बोध प्रश्न 2

1) सिद्धांत बनाने, मुद्दों और समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण करने, परिघटना की व्याख्या करने आदि के लिए तुलनात्मक राजनीति उपयोगी है।

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 1.5

2) देखिए उपभाग 1.3.6

3) भाग 1.3 के आधार पर अपना उत्तर लिखिए।

MAADHYAM IAS

इकाई 2 तुलनात्मक प्रविधि और तुलना के तरीके

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना: तुलना क्या है ?

2.2 प्रविधि संबंधी कुछ विचार

2.3 तुलनात्मक प्रविधि : तुलना क्यों

2.3.1 सामाजिक वैज्ञानिक अनुसंधान

2.3.2 समन्वित सोच

2.4 तुलना की प्रविधियां

2.4.1 प्रयोगात्मक प्रविधि

2.4.2 उदाहरणों का अध्ययन (केस स्टडी)

2.4.3 सांख्यिकी प्रविधि

2.4.4 विषय केंद्रित तुलना

2.4.5 ऐतिहासिक प्रविधि

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

आप सब लोग तुलना से भलिभांति परिचित होंगे। अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में आप निर्णय लेने से पहले तुलना अवश्य करते होंगे; जैसे बाजार में फल, सब्जी, पुस्तक या अन्य कोई भी सामान खरीदने से पहले आप बाजार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुओं की तुलना करते हैं, तब आप सामान खरीदते हैं। इसी प्रकार आपको किस कॉलेज में पढ़ना है, किस प्रकार का कैरियर चुनना है आदि में भी आप तुलना का सहारा लेते हैं। लेकिन जब सामाजिक और राजनैतिक परिघटना की तुलना की जाती है तो तुलना को एक प्रविधि के रूप में अपनाया जाता है जो अन्य प्रविधियों से सटीक और समीचीन होती है। इस पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि तुलनात्मक प्रविधि क्या है और अन्य तुलना करने वाली प्रविधियों जैसे- प्रयोगात्मक और सांख्यिकी से इसकी भिन्नता क्या है? यहां हमें यह समझ लेना चाहिए कि दूसरी प्रविधियों की अपेक्षा तुलनात्मक प्रविधियों का ही प्रयोग क्यों करना चाहिए। इसके अलावा इसकी भी जानकारी होनी चाहिए कि तुलना के लिए कौन सा तरीका अपनाया जाना चाहिए या क्या रणनीतियां अपनानी चाहिए। इस इकाई में हम इन्हीं मुद्दों पर विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे कि :

- प्रविधि क्या है ? तुलनात्मक प्रविधि क्या है ? तुलनात्मक प्रविधि को अन्य प्रविधियों से कैसे अलग किया जा सकता है?
- तुलनात्मक प्रविधि का उपयोग क्यों किया जाता है ? इस प्रविधि से किस प्रकार की परिघटनाओं को बेहतर ढंग से समझा/व्याख्यायित किया जा सकता है ?

MAADHYAM IAS

- राजनीति के अध्ययन में तुलनात्मक प्रविधि का उपयोग किस प्रकार किया जाता है।
- अन्य प्रविधियों की अपेक्षा इस प्रविधि के क्या लाभ और हानि हैं ?
- तुलनात्मक राजनीति में तुलनात्मक प्रविधि का क्या महत्व है ?

इस इकाई के प्रत्येक भाग में बोध प्रश्न दिए गए हैं जिनसे आपको इकाई को समझने में मदद मिलेगी। इकाई के अन्त में शब्दावली के अन्तर्गत कुछ शब्दों की व्याख्या की गई है और उनका अर्थ समझाया गया है। इकाई में इन शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है। इन रेखांकित शब्दों का अर्थ आप शब्दावली में देख सकते हैं।

2.1 प्रस्तावना: तुलना क्या है ?

अभी हमने इस बात की चर्चा की कि किस प्रकार हमारे दैनिक जीवन में कदम-कदम पर तुलना का उपयोग किया जाता है। हम शून्य में नहीं रहते, प्रतिदिन हमारा सामना कई लोगों से होता है। अपने परिवेश को समझने, देखने ओर परखने में हम दूसरों से प्रभावित भी होते हैं। दूसरे शब्दों में जब हम अपने आस-पास की दुनिया को परखते हैं तो हम देखते हैं कि हमारा कई लोगों से संबंध है और हम कई घटनाओं से एक साथ जुड़े हुए हैं। यही संबंध हमें परिवार के साथ जोड़ता है। यही हमारे कामकाज करने के दौरान या कहीं आनेजाने के दौरान (जैसे बस में सफर करता हुआ सहयात्री) हम संबंध स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार के संबंध में एक नियमित पद्धति या एकरसता हो सकती है और यह भी हो सकता है कि उनके कुछ कायदे कानून हों जैसे बस का तयशुदा रास्ता, इसके खुलने -पहुंचने का समय आदि। यहां हम यह बताने की कोशिश कर रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की एक खास दैनिक दिनचर्या होती है। परंतु यदि हम समग्र रूप में देखें तो हम पाएंगे कि अनेक लोग यही दिनचर्या अपना रहे हैं। हम कह सकते हैं कि इन व्यक्तियों की दिनचर्या में एक नियमितता है जिसकी तुलना समानता के लिए की जा सकती है। एक बार समानताओं को एक साथ रखने पर असमानताएं और अनियमितताएं भी उभर कर सामने आएंगी। उनके जीवन में समानताओं और असमानताओं की व्याख्या भी की जा सकती है। आइए, इसे एक उदाहरण से समझें। मान लीजिए आप एक आवासीय परिसर में रहते हैं। यहां रहने वाले अधिकांश पुरुष चाटर्ड बस से सुबह 8 बजे काम को निकलते हैं और शाम 6 बजे काम से वापस आ जाते हैं। कुछ लोग अपनी-अपनी कारों से सुबह 9 बजे घर से निकलते हैं और शाम 5 बजे घर वापस आ जाते हैं। इस प्रकार मोटे रूप से कॉलोनी के निवासियों को दो समूह में बांटा जा सकता है जो दो प्रकार की व्यवहार पद्धतियां अपनाते हैं। प्रत्येक समूहों की समानताओं और असमानताओं की तुलना की जा सकती है, उनमें समानताओं और असमानताओं की खोज की जा सकती है, प्रत्येक समूह में व्यक्तिगत परिस्थितियों और परिवेशों की तुलना की जा सकती है। परिवेश में पाई जानेवाली समानता के आधार पर जहां समानता की व्याख्या की जा सकती है वहीं उस परिवेश की अनियमितता या असमानता की व्याख्या भी की जा सकती है। उदाहरण के लिए जो लोग बस में जाते हैं, उनमें बहुत सी समानताएं मिल सकतीं हैं जैसे–वे एक बस में जाते हैं, उनके पास गाड़ी नहीं है, दफ्तर में वे लगभग एक ही पद पर काम करते हैं, उनका दफ्तर उसी बस रूट पर स्थित है आदि। जो लोग अपनी गाड़ी से दफ्तर जाते हैं उस समूह में भी कुछ समानताएं होंगी। इन दोनों समूहों की विभिन्न पद्धतियों की व्याख्या करते समय उस परिवेश का भी ध्यान रखना होगा जिसके कारण इन दोनों समूहों में समानताएं पाई जाती हैं जैसे – कार से जानेवाले लोग अलग-अलग दफ्तरों में जाते होंगे, जिनके दफ्तर अलग-अलग रूटों पर होंगे, उनके पास अपनी गाड़ियां होंगी, दफ्तर में वे बड़े पद पर होंगे। इस व्याख्या के अनेक आधार ढूंढ़े जा सकते हैं जाति, लिंग, राजनैतिक धारणा आदि। समानता और असमानता को परखते समय कार्य-कारण संबंध का भी ध्यान रखना चाहिए। उदाहरणस्वरूप गाड़ी से जानेवाले महिला/पुरुष ऐसा इसलिए करते हैं कि उनके दफ्तर तक कोई सीधी बस नहीं जाती है, उनके पास अपनी गाड़ियां हैं, इसलिए वे अपनी गाड़ी से जाना पसंद करते

MAADHYAM IAS

हैं। इसी प्रकार उच्च वर्ग की महिलाएं अपने काम पर गाड़ी से जाना पसंद करती हैं। अभी हमने एक सामान्य और सरल सा उदाहरण लिया। अब हम उन जटिल तरीकों को देखें, सामाजिक मनोवैज्ञानिक जिसका प्रयोग तुलना के लिए करते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) अपने आसपास के परिवेश को ध्यान से देखिए और तुलना का एक आसान अभ्यास कीजिए। यह भी बताइए कि कुछ व्यक्ति खास ढंग का व्यवहार क्यों करते हैं ?

....

....

....

....

2.2 प्रविधि संबंधी कुछ विचार

तुलनात्मक प्रविधि के अध्ययन से पहले आइए, हम यह जानने की कोशिश करें कि 'प्रविधि' आखिर है क्या? और उसे इतना महत्वपूर्ण क्यों जाना जाता है ? अपने अनुभवों से हम यह जानते हैं कि प्रविधि किसी भी मामले को समझने के लिए एक उपयोगी मददगार और कारगर तरीका है। उदाहरण के लिए – यह एक ऐसे जोड़कर बनाए गए फर्नीचर की तरह है जिसे उपयोग में लाने से पहले एक-एक कर जोड़ना पड़ता है। किसी परिघटना का अध्ययन करते समय कोई प्रविधि इसे अध्ययन करने के तरीके और साधनों से अवगत कराती है। फर्नीचर में तो हम जानते हैं कि यह कौन सा रूप धरेगा, परंतु अन्य मामलों में परिणाम या अंतिम रूप क्या होगा यह जानना मुश्किल होता है। ऐसा भी हो सकता है कि अंतिम परिणाम जानने के लिए हमारे पास कोई निर्देशिका भी न हो। हमारे पास केवल फर्नीचर के हिस्से और जोड़ने के उपकरण हों, दूसरे शब्दों में 'अवधारणाएं' और 'तकनीक' हों। किसी खास परिघटना को समझने या उसकी व्याख्या करने और उसके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए इन अवधारणाओं (विचारों, सोच, धारणाओं), प्रविधि तकनीकों (आंकड़ा इकट्ठा करने के तरीके) का उपयोग खास तरीके से करना होगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी खास अवधारणाओं और आंकड़ों के बेहतर संयोजन को ही 'प्रविधि' कहते हैं। निश्चित रूप से आंकड़ा संग्रहण के तरीके पर विचार करना होता है। यह भी विचार करना होता है कि किन अवधारणाओं का प्रयोग या अध्ययन करना है। इन सभी में एक संयोजन की जरूरत होती है। ताकि आंकड़ों का स्वरूप ऐसा हो और इसका संग्रहण इस प्रकार किया जाए और अवधारणाओं का प्रयोग इस ढंग से किया जाए कि अध्ययन में एक संगति हो ताकि हम सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन कर सकें। वैज्ञानिक जांच पड़ताल में प्रविधि की सुस्पष्टता और सटीकता पर विशेष बल दिया जाता है। अपनी विषयवस्तु की प्रकृति के अनुसार सामाजिक विज्ञान को उन प्रविधियों पर विचार करना होता है जो प्रयोगशाला में किए जाने वाले वैज्ञानिक प्रयोग की सटीकता या अन्य नियंत्रित परिवेश के नजदीक हो। हालांकि कई विद्वानों का यह मानना है कि तथाकथित 'वैज्ञानिक अनुसंधान' में बंधकर नहीं रहना चाहिए। इस संबंध में विद्वानों का विचार चाहे कुछ भी हो सभी प्रकार के अध्ययनों में सोच, खोज और अनुसंधान की 'प्रविधि' अपनाई जाती है। विद्वान अपने अध्ययन के लिए तुलनात्मक, ऐतिहासिक, प्रयोगात्मक, सांख्यिकी परक, आदि कई प्रकार की प्रविधियां अपनाते हैं। गौर करने की बात है कि इन सभी विधियों में अलग-अलग मात्राओं

MAADHYAM IAS

में तुलना की जा सकती है। तुलनात्मक प्रविधि भी ऐतिहासिक, प्रयोगात्मक और सांख्यिकी विधियों के उपकरणों का उपयोग करती है। यहां यह भी ध्यान रखने की बात है कि तुलनात्मक प्रविधि का तुलनात्मक राजनीति पर एकाधिकार नहीं है। भौतिक, मानवीय और सामाजिक परिघटना से जुड़े सभी ज्ञान के क्षेत्रा में इसका उपयोग होता है। समाजशास्त्रा, इतिहास, नृशास्त्रा, मनोविज्ञान आदि समान अधिकार के साथ इसका प्रयोग करते हैं। इन अध्ययन क्षेत्रों में अध्ययन की तुलनात्मक विधि अपनाई गई है। जिसे कहीं 'पार-संस्कृति' (नृशास्त्रा और मनोविज्ञान में) और 'पार-राष्ट्रीय' (राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्रा में) कहा जाता है जो निश्चित रूप से विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों पर बल देती है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) प्रविधि क्या है ? अनुसंधान के लिए प्रविधि क्यों महत्वपूर्ण है ?

....

....

....

....

2.3 तुलनात्मक प्रविधि: तुलना क्यों

2.3.1 सामाजिक वैज्ञानिक अनुसंधान

'आधारभूत सिद्धांत' का विकास करने के लिए, अनुमान को जांचने के लिए, कार्य-कारण संबंध स्थापित करने के लिए और विश्वसनीय समान्यीकरण करने के लिए तुलनात्मक प्रविधि के जरिए समानताओं और असमानताओं का अध्ययन किया जाता है। कई समाज वैज्ञानिकों का यह मानना है कि अनुसंधान वैज्ञानिक रूप से सुव्यवस्थित होना चाहिए। उनका मानना है कि तुलनात्मक प्रविधि से 'वैज्ञानिक' अनुसंधान की दिशा में मदद मिलती है। इस प्रकार के अनुसंधान में सुस्पष्टता, वैद्यता, विश्वसनीयता होती है और इसका परीक्षण भी किया जा सकता है तथा इसके आधार पर इसमें कुछ हद तक अनुमान भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए अमेरिका के राजनीतिक वैज्ञानिक जेम्स कौल मेन हमेशा अपने विद्यार्थियों को यह कहते थे कि 'तुलना किए बगैर तुम वैज्ञानिक प्रविधि नहीं अपना सकते हो'। इसी प्रकार स्वान्सन का मानना है कि बिना तुलना के ' वैज्ञानिक सोच और वैज्ञानिक अनुसंधान' के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता है। (*गी ई स्वान्सन, 'फ्रेमवर्क्स फॉर कम्परेटिव रिसर्च: इस्ट्रक्चरल ऐंथ्रोपॉलोजी ऐंड द थ्योरी ऑफ ऐक्शन,* इवान वैलियर, संपादन, कम्परेटिव मेथड्स इन सोशिओलॉजी, बर्कले, 1971, पृ.145)।

MAADHYAM IAS

एक ओर जहां भौतिक विज्ञान में सावधानीपूर्वक नियंत्रित परिवेश में, प्रयोगशाला में तुलना की जा सकती है वहीं सामाजिक विज्ञान में प्रयोगशाला में इस प्रकार का नियंत्रित और सटीक प्रयोग करना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई सामाजिक वैज्ञानिक चुनाव व्यवस्थाओं और राजनैतिक दलों की संख्या के संबंध का अध्ययन करना चाहता है तो वह न तो सरकार को चुनाव व्यवस्था बदलने का आदेश दे सकता है और न ही अपने पूर्वानुमान को जांचने के लिए जनता को एक खास तरीके से व्यवहार करने का आदेश दे सकता है। इसके अलावा वह प्रयोगशाला में किसी सामाजिक या राजनीतिक परिघटना का निर्माण नहीं कर सकता जिसकी जांच करनी होती है। अत: जहां एक

ओर सामाजिक वैज्ञानिक तरीके से काम करने के लिए बाध्य हो सकता है वहीं सामाजिक परिघटनाएं उसकी 'वैज्ञानिक' जांच पड़ताल में बाधाएं उत्पन्न करती हैं। इसलिए वह समाज में उपस्थित विभिन्न मुद्दों, मामलों और मसलों का व्यावहारिक अध्ययन कर सकता है। उदाहरण के लिए – वह मौजूदा राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करते हुए अपनी तुलना कर सकता है। पूर्वानुमान करने, निष्कर्ष प्रस्तुत करने और सामान्यीकरण के लिए उनके संबंधों का अध्ययन करना आवश्यक है। हालांकि तुलनात्मक प्रविधि प्रयोगात्मक प्रविधि से वैज्ञानिक दृष्टि से कमजोर होती है परंतु इसे वैज्ञानिक प्रविधि के सबसे करीब माना जाता है जिसके जरिए सामाजिक परिघटनाओं की सर्वाधिक सटीक व्याख्या की जा सकती है, सिद्धांत बनाए जा सकते हैं और सामान्यीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है। अब आपके मन में सवाल उठ रहा होगा कि तुलनात्मक प्रविधि किस प्रकार वैज्ञानिक है। सातोरी का मानना है कि 'नियंत्रित कार्य' के नियंत्रण की व्यवस्था जो वैज्ञानिक अनुसंधान और प्रयोगशाला में होनेवाले प्रयोग का अनिवार्य हिस्सा है कि प्राप्ति सामाजिक विज्ञान में केवल तुलना के द्वारा ही की जा सकती है। उनका यह भी मानना है कि चूंकि तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ही नियंत्रित कार्य किया जा सकता है अत: सामाजिक विज्ञान में यह अवांछनीय है। सैद्धांतिक विचारों की वैधता को नियंत्रित करने या जांचने के अपने कार्य के कारण सामान्यीकरण करने या किसी परिघटना के सैद्धांतिक पक्ष पर विचार करने, पूर्वानुमान करने और उनके अनुसार 'दूसरों के अनुभवों से सीखने' के अपने गुण के कारण तुलनाओं का स्वरूप वैज्ञानिक हो जाता है। इसी संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि तुलनात्मक प्रविधि में जो पूर्वानुमान किया जाता है और जो कार्यकारण संबंध स्थापित किया जाता है उसमें केवल एक संभावना निहित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न संभावनाओं या आगे होनेवाली घटनाओं के अनुमान के आधार पर ही यह अपनी बात कह सकता है। यह बता सकता है कि एक खास परिवेश में काम होने जा रहा है जिसका परिणाम यह हो सकता है। वैज्ञानिक अनुसंधान में जो कार्यकारण संबंध स्थापित किया जाता है, उसमें एक निश्चितता होती है। उसमें यह कहा जा सकता है कि अमुक परिवेश में अमुक परिणाम सामने आएगा।

2.3.2 समन्वित सोच

समन्वित सोच विचार या संबंधों और सम्पर्कों की खोज: अभी हमने अध्ययन करते हुए यह पाया कि कुछ सामाजिक वैज्ञानिक वैज्ञानिक जांच विकसित करने के लिए तुलनात्मक जांच की प्रविधि अपनाते हैं। हालांकि दूसरों के लिए 'तुलना के आधार पर सोचना' किसी खास सामाजिक राजनीतिक परिघटना के विश्लेषण का अनिवार्य हिस्सा है। उदाहरण के लिए स्वान्सन का मानना है कि "तुलना के अभाव में सोच विचार किया ही नहीं जा सकता। उनका मानना है कि किसी को इस बात से आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि किसी भी सामाजिक वैज्ञानिक के कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तुलना मौजूद होती है और यह आरंभ से ही ऐसा होता आया है: मसलन भूमिकाओं, संगठनों, समुदायों, संस्थाओं, समाजों, और संस्कृतियों की तुलना।'' (स्वान्सन, 1971, पृ. 145) प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री **एमेल डर्खिम** भी यह मानते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन से (समाजशास्त्रीय) अनुसंधान 'विवरणात्मक होने से बच जाता है।' (एमेल डर्खिम, *द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी*, 1949, पृ.139) **स्मेलसर** का मानना है कि बिना तुलना के वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे उदाहरण के द्वारा पुष्ट करते हुए कहते हैं कि 'घनी आबादी' और 'जनतांत्रिक' जैसे शब्द भी एक ऐसी सामान्य स्थितियों की ओर इशारा करते है जो कमोबेश आबादी वाला प्रदेश हो या कमोबेश जनतांत्रिक हो, पर ऐसी स्थिति का वर्णन दूसरों से तुलना करके ही किया जा सकता है (नील जे. स्मेलसर, *कम्परेटिव मेथड्स इन द सोशल साइंसेज, इंगलवुड*, 1976, पृ.3। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसमें सामान्य का पूर्वानुमान, कल्पना, और तुलना की जाती है; इससे विश्लेषण में मदद मिलती है। इसीलिए **मनोरंजन मोहंती** किसी परिघटना की समानताओं और असमानताओं को देखने के बजाए संबंधों पर

MAADHYAM IAS

या ध्रुवीकरण हो सकता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के प्रयास से अलग-अलग वर्गों में एक प्रकार के समूहों को डाल दिया जाएगा और तुलनात्मक प्रयास समूहों की समानताओं और असमानताओं तक ही सीमित रह जाएगा। एकता और विरोधों के संबंधों की पहचान के लिए प्रश्न भी अलग ढंग के पूछे जाने चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि प्रश्न इस प्रकार के नहीं होने चाहिए कि जिनका उत्तर समानताएं और असमानताएं बताने में निहित हो बल्कि 'वह उनके बीच के संबंध को उजागर करता हो।' तभी संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम की राजनैतिक व्यवस्थाओं की तुलना की जा सकती है जहां अलग-अलग प्रकार की सरकारें हैं (राष्ट्रपति और संसदीय रूप)।

स्मेल्सर ने भी समानता और असमानता की बजाए संबंधों पर बल दिया है। स्मेल्सर का मानना है कि यहां तक कि एक तुलनात्मक प्रयास में भी 'असमानताओं' या मतभेद का कारण प्रस्तुत किया जाता है और इसकी व्याख्या की जाती है जो अक्सर 'तोड़ा मरोड़ा रहता' है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का यह स्वभाव है कि दूसरों से कुछ अलग सी चीज जो 'नई' और अनूठी' हो, के साथ उसका लगाव या खिंचाव बढ़ जाता है। ऐतिहासिक रूप से यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि इनकी प्रशंसा पुराने युग के 'शुद्ध' अवशेषों के रूप में की जाती है या सामान्य व्यवहार से विचलन के रूप में इसे देखा जाता है। इस प्रकार समानताओं और असमानताओं पर बल देने से समानताओं या एकरूपताओं को मानदंड के रूप में और असमानताओं और विविधताओं को मानदंड से 'विचलन' के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार के विचलनों के लिए की गई व्याख्या न केवल 'तोड़ी मरोड़ी' हो सकती है बल्कि इस प्रकार के वर्गीकरण में अच्छे या बुरे आदर्श और पथभ्रष्ट या दो विपरीत वर्गों या पदानुक्रम में विभाजन कर दिया जाता है। अक्सर जहां संबंध असमान होते हैं वहां असमानता और उसके कारण को इस प्रकार पेश किया जाता है कि अलग दिखने वाले समूह से ताकत छीनने और उन्हें कमजोर बनाने के समर्थन में तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। उपनिवेशवाद के इतिहास को देखने से पता चलता है कि गुलाम देशों से आजादी और खुद सरकार चलाने का अधिकार छीन लिया गया। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने उनसे सत्ता छीने जाने का यह कहकर समर्थन किया और इसे जायज ठहराया कि अपनी सामाजिक संरचना और धार्मिक विश्वासों के कारण वहां की जनता खुद शासन नहीं चला सकती। यहां सत्ता ने अपने आप यह व्याख्या कर ली और अन्तर स्थापित कर दिया। इन परिस्थितियों में पश्चिम और पूर्व का अन्तर दिखाने और विभाजित करने से ऐसे देशों और लोगों की चर्चा सामने आएगी जो एक ही समय में अलग-अलग परिस्थितियों में जी रहे हैं। एक ओर साम्राज्यवादी ब्रिटिश आधुनिकीकृत हो रहे हैं और उसी समय भारत की गुलाम जनता को अपने समय से पीछे धकेला जा रहा था। एरिक वोल्फ के अनुसार हम ऐसे विश्व में जी रहे हैं जिसमें 'अन्त: संबंध' प्रमुख हैं। इसलिए एरिक वोल्फ ने संबंधों के महत्व पर बल दिया है और उन्होंने इस धारणा को सुधारा है कि ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रों की नियति को यूरोपीय राष्ट्रों ने निर्मित किया है जबकि दूसरे राष्ट्र मूक दर्शक बने रहे हैं। वोल्फ का मानना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्यों और राष्ट्रों के बीच अन्त: संबंध रहा है और वह अब भी मौजूद है। (**एरिक वोल्फ,** *यूरोप ऐंड द पिपुल विदाउट हिस्ट्री,* कैलिफ़ोनिया, 1982)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि संबंधों की खोज करना न केवल संभव है, इस प्रकार के अन्त: संबंधों को नजर अंदाज करना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत भी है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) सामाजिक- वैज्ञानिक अनुसंधान के उद्देश्य में तुलना किस प्रकार सहायक है ?

....

....

....

....

2) तुलनात्मक प्रविधि का उद्देश्य द्विभाजन की अपेक्षा संबंधों की खोज है। इस कथन को विस्तार से समझाइए।

....

....

....

....

2.4 तुलना की प्रविधियां

सामाजिक विज्ञान में तुलना की अनेक प्रविधियां अपनाई जाती हैं।

2.4.1 प्रयोगात्मक प्रविधि

प्रयोगात्मक प्रविधि : हालांकि समाज विज्ञान में प्रयोगात्मक प्रविधि का कम ही उपयोग किया जाता है परंतु इससे एक ऐसा प्रारूप तैयार होता है जिसके आधार पर तुलनावादी अपना अध्ययन करना चाहते हैं। साधारण शब्दों में प्रयोगात्मक प्रविधि दो परिस्थितियों के बीच कार्यकारण संबंध स्थापित करती है। दूसरे शब्दों में प्रयोग का उद्देश्य यह स्थापित करना होता है कि एक परिस्थिति से दूसरी का जन्म होता है या एक खास तरीके से वह दूसरे को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई इस बात का अध्ययन या व्याख्या करना चाहता है कि बच्चे अलग-अलग ढंग से अंग्रेजी क्यों बोलते हैं तो उनकी क्षमता को प्रभावित करने वाले कई कारकों जैसे सामाजिक पृष्ठभूमि, भाषा सीखने की क्षमता, आसपास के परिवेश की खोज करनी होगी। अध्ययन करने वाला व्यक्ति इन सभी कारकों या इनमें से किसी एक या कुछ कारकों का अध्ययन कर सकता है। वह प्रभावित करने वाले अलग-अलग कारणों का भी अध्ययन कर सकता है और वह प्रत्येक परिस्थिति की भूमिका पर खास तौर से विचार कर सकता है। जिस परिस्थिति के प्रभाव का मूल्यांकन और व्याख्या अध्ययनकर्ता करता है वह अकेला प्रभावकारी तत्व होता है जैसे सामाजिक पृष्ठभूमि आदि। जिस परिस्थिति पर उसका प्रभाव पड़ता है वह निर्भर कारक होता है। अतः अध्ययन इस प्रकार किया जाता है कि भाषा की अभिव्यक्ति पर सामाजिक पृष्ठभूमि के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए किए गए प्रयोग में सामाजिक पृष्ठभूमि स्वतंत्र कारक और अभिव्यक्ति की क्षमता निर्भर कारक होता है। अध्ययनकर्ता इन दोनों परिस्थितियों के बीच के संबंध के आधार पर एक पूर्वानुमान करता है जिसकी जांच की जाती है। मसलन उच्च सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि से आनेवाले बच्चे अच्छी अंग्रेजी समझ और बोल सकते हैं। इस प्रयोग के परिणाम के आधार पर अध्ययनकर्ता अपनी खोज का सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है और उसकी तुलना पूर्व किए गए अध्ययनों से कर सकता है।

MAADHYAM IAS

2.4.2 उदाहरणों का अध्ययन (केस स्टडी)

केस स्टडी या किसी मामले के अध्ययन में किसी एक केस या मामले का अध्ययन किया जाता है। हालांकि यह प्रविधि तुलनात्मक नहीं होती हैं परंतु यह कुछ आंकड़े जरूर प्रस्तुत करती है जिसे सामान्य पर्यवेक्षण का आधार बनाया जा सकता है। इन पर्यवेक्षणों के आधार पर दूसरे 'मामलों' से इसकी तुलना की जा सकती है और सामान्य व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। इन मामलों के अध्ययन के द्वारा अलग-अलग ढंग से 'विशिष्टता' या 'विचलन' या 'असामान्य' मामले सामने आ

सकते हैं। उदाहरण के लिए तुलनावादियों में एक प्रवृत्ति यह हो सकती है कि वे इस प्रश्न की बजाए कि स्वेडन के साथ अनेक पश्चिमी देशों में समाजवादी पार्टी है की खोज करने की अपेक्षा इस प्रकार के प्रश्न की पड़ताल करें कि संयुक्त राज्य अमेरिका में समाजवादी पार्टी क्यों नहीं है।

यहां हम संक्षेप में एलेक्सिस डे टॉकेविले के 18वीं शताब्दी के फ्रांस (द ओल्ड रेजिम ऐंड द फ्रेंच रेवैल्यूशन, 1856) और 19वीं शताब्दी के संयुक्त राज्य (डेमोक्रेसी इन अमेरिका: वाल्यूम I,) 1835 वाल्यूम II, 1840) के क्लासिकल अध्ययनों में यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार किसी एक मामले को केंद्रित कर तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। परंतु उनके अध्ययनों में अलग-अलग प्रश्न पूछे जा सकते हैं। फ्रांसीसी मामले में यह व्याख्या करने का प्रयास किया गया है कि 1789 की फ्रांसीसी क्रांति क्यों हुई ? अमेरिकी मामले में अमेरिका में सामाजिक समानता की परिस्थितियों के कारणों और परिणामों का अध्ययन किया गया है। हालांकि इन दोनों पुस्तकों में 20 वर्षों का अन्तर है परंतु विषय में समानता है। यह समानता अंशतः टॉकेविले के कुछ दृष्टिकोणों के कारण है। समानता और असमानता, तानाशाही और आजादी, राजनैतिक स्थायित्व और अस्थायित्व, तथा सामाजिक संरचना और बदलाव संबंधी उनके विचार के कारण इन दोनों अध्ययनों में एक समानता है। कुछ लोगों का मानना है कि उनकी ये दोनों पुस्तकें तुलनात्मक अध्ययन का एक उदाहरण है और कुछ लोगों का मानना है कि एक तुलनात्मक अध्ययन है क्योंकि इन दोनों अध्ययनों में अप्रत्यक्ष रूप से या संदर्भ के रूप में दूसरे देशों की चर्चा हुई है। अतः अमेरिकी समाज का उनका विश्लेषण फ्रांसीसी समाज संबंधी उनके दृष्टिकोण से प्रभावित है और फ्रांसीसी समाज के अध्ययन पर अमेरिकी समाज संबंधी उनका अध्ययन हावी है। अमेरिकी मामले का अध्ययन करते समय यह बात सामने आई कि अमेरिका 'जन्म से ही जनतंत्र' है। वहां का समाज लगभग पूरी समानता प्राप्त कर चुका है जिसके परिणामस्वरूप एक राजनैतिक स्थायित्व कायम हो चुका है। यहां के बड़े मध्यवर्ग में अभाव का कोई भाव नहीं है और बदलाव के प्रति उनका रवैया संकीर्ण है। फ्रांसीसी मामले में एक अभिजात तंत्र (पदानुक्रम असमानताओं की एक व्यवस्था) का अध्ययन किया गया है जो 18वीं शताब्दी में संक्रमणकालीन चरण में प्रवेश कर गया था। समाज में असमानता थी परंतु लोग समानता चाहते थे और इसके परिणामस्वरूप अभिजात तंत्र और समानता के दो सिद्धांतों में टकराव हुआ। इसके परिणामस्वरूप तानाशाही की स्थापना हुई और उसके बाद अन्ततः 1789 की क्रांति हुई। इस प्रकार टॉकेविले ने अलग-अलग मामलों का अध्ययन किया परंतु वस्तुतः उसमें राष्ट्रीय वैषम्य और समानताओं को भी शामिल किया गया। फ्रांस और अमेरिका में जो ऐतिहासिक परिवर्तन हुए और जिन ऐतिहासिक ताकतों ने उसमें सहयोग दिया उसकी व्याख्या करने के लिए इसका इस्तेमाल हुआ।

2.4.3 सांख्यिकी प्रविधि

सांख्यिकी प्रविधि में संख्या का उपयोग किया जाता है। इसमें मापे जा सकने वाले और परिवर्तनीय कारकों का उपयोग किया जाता है। उदाहरणस्वरूप मत डालने के रुझान, सार्वजनिक खर्च, राजनीतिक दल, मत देनेवाले मतदाता, शहरीकरण, जनसंख्या वृद्धि जैसी कोटियों और कारकों का संख्या आधारित अध्ययन किया जाता है। इसके द्वारा कई परिवर्तनीय कारकों और उनके संबंधों का एक साथ अध्ययन किया जा सकता है। इसमें ठोस, स्पष्ट और सटीक आंकड़े प्रस्तुत किए जाते हैं ताकि संख्या दिखाकर असमानताएं और समानताएं दिखाई जा सकें। परिवर्तनीय कारकों का एक साथ अध्ययन करने से संबंधों की व्याख्या करना आसान हो जाता है। सांख्यिकी प्रविधि के इस्तेमाल से लंबी अवधि की प्रवृत्तियों और पद्धतियों की तुलना और व्याख्या करने तथा भविष्यवाणी करने में मदद मिलती है। उदाहरण के लिए मतदाताओं के मत देने की उपस्थिति संख्या और आयु वर्गों की सांख्यिकी तालिका का विश्लेषण या उम्र और राजनैतिक भागीदारी के संबंध की व्याख्या की जा सकती है। लंबी अवधि में प्राप्त आंकड़ों की तुलना की जा सकती है या अन्य देशों/राजनैतिक व्यवस्था

MAADHYAM IAS

के तहत इसी प्रकार के आंकड़ों का मिलान किया जा सकता है। धार्मिक समूहों, सामाजिक वर्ग और उम्र के आधार पर मतदाताओं को वर्गीकृत किया जा सकता है। इसके आधार पर यह जटिल सामान्यीकरण किया जा सकता है कि मध्य वर्ग, हिंदू के पुरुष मतदाताओं में 25 और 30 वर्ष के मतदाता अधिक सक्रिय हैं। दूसरे राष्ट्रों से तुलना कर इस प्रकार का निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है। 25 से 30 वर्ष का मध्यवर्गीय महिला मतदाता भारत जैसे विकासशील देशों की अपेक्षा पश्चिमी देशों में अधिक सक्रिय है। इस प्रकार की विधि का यह फायदा है कि इसमें अनेक परिवर्तनीय कारकों को समेटा जा सकता है। इससे संबंधों की बृहद व्याख्या हो सकेगी। संबंधों और बड़े वर्गीकरणों की व्याख्या हो सकेगी जिसका उपयोग संख्या बताने के लिए जा सकता है।

2.4.4 विषय केंद्रित तुलना

इस प्रकार के अध्ययनों में थोड़े देशों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। इसमें अक्सर दो देशों के किसी खास पक्ष पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। दो देशों के सभी पक्षों पर विचार करने के बजाए उनकी राजनीति की तुलना की जाती है। इस विधि के द्वारा विभिन्न देशों में मौजूद सार्वजनिक नीतियों का सफलतापूर्वक तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। लिपसेट ने दो प्रकार के दोहरे और युगमित (जोड़ी) तुलना का अन्तर बताया है - अस्पष्ट और सुस्पष्ट। अस्पष्ट दोहरी तुलना में अध्ययनकर्ता का अपना देश संदर्भ का काम कर सकता है। मसलन डे टॉकेविले द्वारा अमेरिका का अध्ययन इसका उदाहरण है। सुस्पष्ट तुलना में दो देशों की तुलना की जाती है। किसी खास पक्ष को लेकर जैसे भारत और चीन में जनसंख्या नियंत्रण की नीति या उनकी समग्रता में जैसे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के संदर्भ में दो देशों का अध्ययन किया जा सकता है। हालांकि इससे दो देशों का समानांतर अध्ययन तो हो सकता है पर इसमें संबंधों के अध्ययन की गुंजाइश कम है।

2.4.5 ऐतिहासिक प्रविधि

ऐतिहासिक प्रविधि दूसरी प्रविधियों से इस मामले में अलग है कि इसमें कारण कार्य व्याख्या पर बल दिया जाता है जो ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण होता है। ऐरिक वोल्फ का मानना है कि किसी समाज को समझने और मनुष्य के कार्य व्यापारों के कारणों की खोज करना तकनीक अध्ययनों से नहीं हो सकता और उनकी समस्याओं का समाधान भी तकनीकी शब्दावली में नही किया जा सकता। विश्लेषणात्मक इतिहास द्वारा हम आज की समस्याओं के कारणों की खोज अतीत में कर सकते हैं। किसी एक संस्कृति या राष्ट्र, एक सांस्कृतिक क्षेत्र या किसी खास समय में एक महादेश का अध्ययन करने से विश्लेषणात्मक इतिहास का विकास नहीं किया जा सकता बल्कि इसके लिए मानव जन संख्याओं और संस्कृतियों के सम्पर्को तथा अन्तर्संबंधों के अध्ययन की जरूरत होती है। मनुष्यों का यह संसार जटिल है और इसके कई स्तर हैं। इसमें अनेक प्रक्रियाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं जो इसकी सम्पूर्ण तस्वीर पेश करती हैं। इन्हें अलग-अलग टुकड़ों में देखने का प्रयास करने और फिर इन्हें एक साथ जोड़ने के असफल प्रयास से वास्तविक चित्र सामने नहीं आ पाता।

MAADHYAM IAS

ऐतिहासिक अध्ययनों में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक और राजनीतिक परिघटना की व्याख्या करने के लिए एक या उससे अधिक मामलों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, एक मात्र मामले के अध्ययन से सामान्य वक्तव्य बनता है जिसे अन्य मामलों पर भी परखा जा सकता है। थेडा स्कॉपोल का मानना है कि एक या उससे अधिक मामलों का अध्ययन करने वाले तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययनों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: 'तुलनात्मक इतिहास' और 'तुलनात्मक ऐतिहासिक विश्लेषण'। किसी भी राष्ट्र राज्यों, संस्थाओं या सभ्यताओं, किसी भी दो या दो से अधिक ऐतिहासिक पहलुओं की जब चर्चा की जाती है तो इसे आमतौर पर तुलनात्मक इतिहास कह दिया जाता है। **चार्ल्स लुइस और रिचर्ड टिल्जि** के '*द रिवेलियस सेंचुरी* (1830-1930) जैसी पुस्तकों में इसी प्रकार का अध्ययन किया गया है जिसमें

एक ऐसा विशिष्ट ऐतिहासिक प्रारूप बनाने का प्रयास किया गया है जो अलग-अलग राष्ट्रीय संदर्भों में उपयुक्त हो। इसके अलावा **रेनहार्ड बेन्डिक्स** के *'नेशनल बिल्डिंग और सिटिजनशिप'* तथा **पेरी एन्डरसन्स** के *'लिनियज ऑफ द एबसोल्यूस्ट स्टेट'* जैसी पुस्तकों में राष्ट्रों और सभ्यताओं का वैषम्य दिखाने के लिए तुलना की गई है। **स्कॉपोल** दूसरी प्रविधि अर्थात तुलनात्मक ऐतिहासिक विश्लेषण अपनाती हैं जिसका उद्देश्य प्रमुखतः 'राष्ट्र-राज्यों जैसी बड़ी इकाइयों से जुड़ी घटनाओं या संरचनात्मक बनावट के संबंध में एक पूर्व कल्पना का विकास, परीक्षण, कारणों की खोज और व्याख्या करना होता है।' 'इसके लिए तुलना की इकाइयों के रूप में राष्ट्रीय ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का चयन किया जाता है।' खास परिघटना (मसलन क्रांतियों) के कारणों की खोज करने और सामान्य निष्कर्ष निकालने के लिए ऐसा किया जाता है। किसी परिघटना के कारणों की खोज और कार्यकारण संबंधों की व्याख्या दो तरीकों से की जाती है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने अपनी पुस्तक *'ए सिस्टम ऑफ लॉजिक'* में इन विधियों की चर्चा करते हुए दो विधियों का उल्लेख किया है–क) सहमति की प्रविधि, ख) असहमति की प्रविधि। सहमति की प्रविधि में एक समान परिघटनाओं वाले मामलों का एक साथ अध्ययन किया जाता है और कारणों की खोज की जाती है। स्कॉक पॉल ने असहमति की प्रविधि अपनाई है। इसमें दो तरह के मामले लिए जाते हैं– क) सकारात्मक मामले–जिसमें परिघटना और पूर्वानुमानित कारणात्मक संबंध उपस्थित होते हैं और ख) नकारात्मक मामले – जिसमें परिघटना के साथ कारण भी अनुपस्थित रहते हैं। परंतु अन्य मामलों में वे सकारात्मक मामलों के समान ही होते हैं। स्टेट ऐंड सोशल रेवलूशन, *'ए कम्परेटिव एनालिसिस ऑफ फ्रांस, रशिया ऐंड चीन'*, (कैम्ब्रीज, 1979) में उन्होंने फ्रांस, रूस और चीनी क्रांति का तुलनात्मक विश्लेषण किया है। तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए स्कॉक पॉल ने इन तीनों को सफल सामाजिक क्रांति के सकारात्मक मामलों के रूप में लिया है और उनका मानना है कि इनमें अनेक असमानताओं के बावजूद इनके कारणों में काफी समानता है। उन्होंने कई नकारात्मक मामले भी लिए हैं जैसे 1905 की असफल रूसी क्रांति। इसके अलावा उन्होंने इंगलिश, जापानी और जर्मन इतिहास के कुछ मुद्दों की भी चर्चा की है। पहले मामले में कारणात्मक संबंधी अपने तर्क को पुष्ट करने के लिए इस प्रकार का अध्ययन किया गया है।

ऐतिहासिक प्रविधि के आलोचकों का मानना है कि इसमें ज्यादा मामलों का अध्ययन नहीं हो पाता इसलिए इसमें किसी खास परिघटना का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए हैरी एक्सटिन का मनना है कि "कम मामलों के अध्ययन पर आधारित सामान्यीकरण केवल तकनीक रूप से ही सामान्यीकरण होगा।" सामान्यीकरण के लिए ऐसी प्रविधि अपनानी चाहिए जिसमें ज्यादा से ज्यादा मामलों का कड़ा परीक्षण किया जा सके। जैसा कि सांख्यिकी विश्लेषण में किया जाता है। (**हैरी एक्सटिन**, *इन्टरनल वार*, 1964)

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) प्रयोगात्मक प्रविधि से आप क्या समझते हैं ? तुलनात्मक ढांचे में राजनैतिक परिघटना के अध्ययन के लिए यह प्रविधि कितनी उपयुक्त है ?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) सांख्यिकी प्रविधि का उपयोग करते हुए तुलनात्मक राजनीति की समस्या का प्रारूप बनाइए।

....

....

....

....

2.5 सारांश

राजनैतिक और सामाजिक परिघटना को समझने और व्याख्यायित करने के लिए तुलना जरूरी है। तुलनात्मक प्रविधि अपनाने से हम केवल विवरण तक ही सीमित नहीं रहते बल्कि इसमें राजनैतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या की जाती है और इन व्याख्यायों के आधार पर सामान्य सिद्धांतों और पूर्वानुमानों का निर्माण होता है। इसमें हमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिघटनाओं के सम्पर्क सूत्रों और अन्त: संबंधों का पता चलता है जिससे हमें अपने परिवेश की बदलती प्रकृति की बेहतर जानकारी हो पाती है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) तुलना की विभिन्न प्रविधियां क्या हैं ? तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में इनका सापेक्षिक महत्व क्या है ?

....

....

....

....

2) क्या बिना ऐतिहासिक दृष्टिकोण के तुलना की जा सकती है ? इस वक्तव्य के आलोक में ऐतिहासिक प्रविधि की खूबियां और कमियां बताइए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) तुलनात्मक अध्ययन से समन्वित सोच में मदद मिलती है। टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

2.6 शब्दावली

नियंत्रण : नियमन या नियंत्रण प्रयोग का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है जहां एक समानांतर प्रयोग या विषयों का समूह (नियंत्रण समूह) स्थापित किया जाता है ताकि दूसरे प्रयोगों के लिए तुलना का मानदंड स्थापित किया जा सके। सीखने की प्रक्रिया में दृश्य माध्यमों के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए किए जाने वाले प्रयोग में जिस दृश्य माध्यम के प्रभाव का अध्ययन किया जाना है उसका नियंत्रण समूह नहीं बनाया जाएगा। कार्य कारण व्याख्या : इसके अनुसार एक तथ्य दूसरे तथ्यों को जन्म देता है उदाहरण स्वरूप जरूरत से ज्यादा जनसंख्या होने पर घर की समस्या पैदा हो सकती है।

संभाव्य कार्य कारण संबंध : संभाव्य कार्य कारण संबंध उसे कहते हैं जिसके परिणाम और पूर्वानुमान में संभावना व्यक्त की जाती है; जैसे – अमुक परिस्थितियों का अमुक परिणाम होगा।

निश्चयात्मक कार्य कारण संबंध : निश्चयात्मक कार्य कारण संबंध में यह कहा जाता है कि एक निश्चित परिस्थितियों का एक निश्चित परिणाम होगा। इस प्रकार इसमें एक निश्चितता होती है और इसका उपयोग वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए किया जाता है।

सामान्यीकरण : एक ऐसा आम वक्तव्य जो कई मामलों पर लागू होता हो। यह आधारभूत सिद्धांत किसी खास घटनाओं की व्याख्या के लिए एक ढांचा प्रदान करता है या इसमें व्याख्या परक सिद्धांत और विचार होते हैं जिन्हें सुव्यवस्थित अध्ययन और तथ्यों के पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है।

अनुमान : यह एक ऐसा वक्तव्य है जो किसी खास परिस्थिति के अन्तर्गत सत्य होता है ; जैसे यह कहना कि जनसंख्या के बढ़ने से खेतों का आकार छोटा होगा।

प्रविधि : प्रविधि आंकड़ों को लागू करने के लिए सिद्धांतों को सुव्यवस्थित करने का एक तरीका है जिसे 'अवधारणात्मक योजनाएं' भी कहते हैं, तुलनात्मक (एक से अधिक मामलों के लिए), समरूप (केवल एक मामले के अध्ययन के लिए), ऐतिहासिक (समय और अनुक्रम का उपयोग करते हुए) कुछ प्रविधियां हैं। प्रवधि 'सोच के बारे मे सोच' है। प्रारूप : प्रकार और प्रारूप एक दूसरे के पर्याय है। अलग-अलग बिखरते तथ्यों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का यह एक बौद्धिक प्रयास है।

सुनिश्चित : जो बिलकुल निश्चित है।

भविष्यवाणी : जिसके होने का पूर्वानुमान लगाया जा सके।

विश्वसनीयता : साख का परीक्षण–उदाहरणस्वरूप किसी परीक्षण की विश्वसनीयता तब पुष्ट होती है जब यह हमेशा खास परिस्थितियों में एक ही परिणाम देता है।

तकनीक : तकनीक प्रविधि को प्रासंगिक आंकड़े से जोड़ता है। उपयुक्तता, नमूना बनाने, साक्षात्कारों आदि में तकनीक बदलती रहती है।

सैद्धांतिक वक्तव्य : दो परिवर्तनशील कारकों के बीच के संबंध को पुष्ट करने या इनकार करने संबंधी वक्तव्य (सामान्यीकरण की तरह) को सैद्धांतिक कथन कहते हैं। इस प्रकार के वक्तव्य को सभी जगह लागू किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

वैधता : यह भी विश्वसनीयता की जांच है जिसमें विश्वसनीयता या उपयुक्तता की जांच की जाती है– उदाहरण के लिए दबाव के अन्तर का अध्ययन करने के लिए किए गए प्रयोग की वैधता की जांच तभी होगी जब अध्ययन किए गए आंकड़े दबाव के अन्तर को बताएंगे न कि तापमान के अन्तर को।

परिवर्तनीय कारक : यह परिवर्तनशील होता है। प्रयोग करने वाला प्रयोग के दौरान विभिन्न कारकों का उपयोग करता है। परिवर्तनीय कारक कई प्रकार के होते हैं: क) स्वतंत्र परिवर्तनीय कारक या प्रयोग के परिणाम के रूप में, ख) निर्भर कारक, ग) हस्तक्षेप करने वाले परिवर्तनीय

परिवर्तनीय कारक : यह परिवर्तनशील होता है। प्रयोग करने वाला प्रयोग के दौरान विभिन्न कारकों का उपयोग करता है। परिवर्तनीय कारक कई प्रकार के होते हैं: क) स्वतंत्रा परिवर्तनीय कारक या प्रयोग के परिणाम के रूप में, ख) निर्भर कारक, ग) हस्तक्षेप करने वाले परिवर्तनीय **कारक:** ऐसे परिवर्तनीय कारक जो बीच में ही हस्तक्षेप करते हैं या परिणाम को प्राप्त करते हैं।

जांच करने योग्य : जिसकी सत्यता की जांच की जा सकती है।

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

हग, रॉड, मार्टिन हैरप ऐंड शाउन ब्रसलिन, *कम्परेटिव गवर्नमेंट ऐंड पॉलिटिक्स*, मैकमिलन, लंदन, 1993, थर्ड एडिशन, (दूसरा अध्याय)

सरतोरी, गियोवानी, 'कम्परेटिव, व्हाई ऐंड हाउ,' मैटी डेगन ऐंड अली काजानसिगिल (सं.), *कम्पेयरिंग नेशन्स, कॉन्सेप्ट्स, स्ट्रेटज़ीस*, सब्सटैंस, ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1994

स्मेलसर, नील जे., *कम्परेटिव मेथड्स इन द सोशल साइंसेज*, प्रेन्टिस-हॉल, इंगलवुड क्लिस, 1976 (इंट्रोडक्शन)

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) देखिए भाग 2.2

बोध प्रश्न 3

1) अनुमान के परीक्षण, कार्यकारण संबंध स्थापित करने और विश्वसनीय सामान्यीकरण करने के लिए तुलना की जाती है। इसीलिए इसमें वैज्ञानिक शोध के आवश्यक पहलूओं पर विचार किया जाता है जैसे सटीकता, वैधता, विश्वसनीयता और जांच योग्य।
2) देखिए उप-भाग 2.4.1

बोध प्रश्न 4

1) देखिए उप-भाग 2.4.1
2) इस इकाई में जो कुछ भी आपने सीखा है उस आधार पर डिजाइन तैयार कीजिए।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 3 संस्थागत दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 संस्थागत दृष्टिकोण: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

3.2.1 संस्थागत दृष्टिकोण और तुलनात्मक सरकार का उदय: ब्राइस, लॉवेल और औस्ट्रोगोर्स्की का योगदान

3.3 संस्थागत दृष्टिकोण : आलोचनात्मक मूल्यांकन

3.4 समकालीन तुलनात्मक अध्ययन में संस्थागत दृष्टिकोण

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में, क) संस्थागत दृष्टिकोण के प्रमुख घटकों, ख) तुलना करने में इस दृष्टिकोण के महत्व, ग) तुलना की इकाइयों, घ) इस दृष्टिकोण द्वारा विशिष्ट प्रश्नों के दिए जाने वाले उत्तर या वैकल्पिक रूप में, इस दृष्टिकोण द्वारा किन प्रश्नों का संभवत: उत्तर दिया जा सकता है और इसकी आकांक्षाएं और क्षमताएं क्या हैं? ड.) किस प्रकार यह दृष्टिकोण समानताओं और असमानताओं की व्याख्या करता है, की चर्चा की जाएगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित पक्षों की जानकारी हासिल कर सकेंगे :

- इस दृष्टिकोण में तुलना के आधार क्या हैं ?
- इसमें तुलना के उपकरण कहां से प्राप्त किए जाते हैं ?
- इस प्रकार की तुलना से कौन सा उद्देश्य प्राप्त होता है ?
- दूसरे शब्दों में इस दृष्टिकोण के लाभ क्या हैं ?
- इसकी सीमाएं क्या हैं ?
- आज इस दृष्टिकोण का क्या महत्व है और तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में जब इस दृष्टिकोण को पहली बार अपनाया गया था तब इसका क्या महत्व था?

इस इकाई के विभिन्न भागों में उपर्युक्त वर्णित पक्षों पर विचार किया गया है। प्रत्येक भाग के अन्त में बोध प्रश्न दिए गए हैं। इकाई के अन्त में पुस्तकों और लेखों की सूची दी गई है जिसे पढ़कर आप अपना ज्ञान बढ़ा सकते हैं। इकाई के अन्त में बोध प्रश्न दिए गए हैं जिसमें आपको संस्थागत दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। शब्दावली के अन्तर्गत तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में प्रयुक्त विशिष्ट अर्थों का उल्लेख किया गया है।

MAADHYAM IAS

3.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण के संस्थागत दृष्टिकोण द्वारा संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इसलिए इस अध्ययन की प्रकृति (तुलनात्मक) और विषयवस्तु (संस्थाएं) बिलकुल स्पष्ट है। उदाहरण के लिए यदि किसी को संसदीय प्रजातंत्रों में ऊपरी सदन के सापेक्षिक महत्व का अध्ययन करना है तो वह विभिन्न संसदीय प्रजातंत्रों में ऊपरी सदन का अध्ययन करेगा (जैसे भारत में राज्य सभा और यूनाइटेड किंगडम में हाउस ऑफ लार्ड) और प्रत्येक मामले में उनके सापेक्षिक महत्व का मूल्यांकन करेगा। उसके बाद इन संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर संसदीय प्रजातंत्र में उनकी उपयोगिता और प्रासंगिकता से संबंधित सामान्यकृत निष्कर्ष और व्याख्या प्रस्तुत की जाएगी। जैसे - संसद के ऊपरी सदन के संघटन में प्रतिनिधिकता का अभाव है या ऊपरी सदन की वंशानुक्रम प्रवृत्ति विधायिका की प्रजातांत्रिक प्रकृति पर आघात करती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी संसद के ऊपरी सदन का अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप यह देखने के लिए कि यूनाइटेड किंगडम में हाउस ऑफ लार्ड में वंशानुक्रम क्यों चलता आ रहा है, यूनाइटेड किंगडम में संसद के दोनों सदनों के विकास के विभिन्न संदर्भों (सामाजिक और आर्थिक) का परीक्षण किया जा सकता है। इसी संदर्भ में इसके अनुवांशिक स्वरूप को समाप्त किए जाने वाले मौजूदा प्रयासों को भी समझा जा सकता है।

लम्बे समय तक तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण का संबंध मुख्य रूप से संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से रहा है। वस्तुत: यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण की शुरुआत संस्थाओं के अध्ययन के साथ ही हुई थी। इसलिए यदि किसी को अध्ययन की एक शाखा के रूप में तुलनात्मक राजनीति का विकास दर्शाना हो और यह देखना हो कि तुलनात्मक विधि की शुरुआत कहां से हुई थी तो उसके लिए उसे संस्थाओं का अध्ययन करना होगा। संस्थाओं के अध्ययन के दौरान न केवल तुलनात्मक अध्ययन की शुरुआत हुई बल्कि 1950 के दशक तक यह कमोबेश तुलनात्मक राजनीति में एक प्रमुख दृष्टिकोण बना रहा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि परम्परागत रूप से तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित था। इसमें इन संस्थाओं द्वारा शक्ति के बंटवारे के विभिन्न तरीकों और विभिन्न स्तरों के बीच के संबंध और सरकार के अंगों का भी अध्ययन किया जाता है।

प्लेटो के आदर्श राज्य **गणतंत्र** की दार्शनिक खोज के साथ संभवत: संस्थाओं के इतिहास की शुरुआत होती है। अगले भाग में हम संस्थागत दृष्टिकोण के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि डालने जा रहे हैं। चूंकि यहां हम तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण के संदर्भ में मुख्य रूप से इस दृष्टिकोण का अध्ययन करने जा रहे हैं इसलिए हम इस बात पर अपना ध्यान केंद्रित रखेंगे कि किस समय और कैसे संस्थागत दृष्टिकोण का स्वरूप तुलनात्मक हो गया। इस पर विचार करने से पहले हम संस्थागत दृष्टिकोण की महत्वपूर्ण विशेषताओं की चर्चा करेंगे और अन्य दृष्टिकोणों जैसे राजनैतिक व्यवस्था दृष्टिकोण, राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण आदि से इसका अन्तर स्पष्ट करेंगे। आमतौर पर यह माना जाता है कि किसी भी दृष्टिकोण का किसी समस्या के जांच पड़ताल का संबंध उसकी : क) विषय-वस्तु (क्या अध्ययन करना है), ख) शब्दावली (उपकरण या भाषा), और ग) राजनैतिक दृष्टिकोणों के चुनाव (इसी से पता चलता है कि जांच पड़ताल का दिशा पर उद्देश्य क्या है) से निर्धारित होता है। यदि इन तीन बिंदुओं के आधार पर संस्थागत दृष्टिकोण की विशेषताओं पर विचार किया जाए तो निम्नलिखित बातें सामने आएंगी। क) सरकार की संस्थाओं के अध्ययन के प्रति इसका सरोकार और सत्ता के वितरण की प्रकृति जैसे, संविधान, सरकार की कानूनी-औपचारिक संस्थाएं, ख) इसकी कानूनी और उलझी तथा अस्पष्ट शब्दावली तथा 'आदर्श राज्य' और 'अच्छी व्यवस्था' जैसे अमूर्त शब्दों और शर्तों का ऐतिहासिक प्रयोग, ग) दार्शनिक, ऐतिहासिक या कानूनी दृष्टिकोण।

MAADHYAM IAS

जातीय केंद्रियता इस दृष्टिकोण की एक प्रमुख विशेषता है। तुलनात्मक राजनीति में संस्थागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रमुख रूप से पश्चिमी देशों की सरकारों और संस्थाओं का अध्ययन किया गया। इस प्रकार इस दृष्टिकोण के द्वारा पश्चिमी उदारवादी जनतांत्रिक संस्थाओं में इसकी अप्रत्यक्ष आस्था व्यक्त होती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्र सरकार का सर्वोत्तम स्वरूप है। सरकार के इस स्वरूप को 'सार्वभौम', 'मानक' माना जाता है। पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्र की इस 'सार्वभौम' विशेषता के अनुसार सरकार का यह स्वरूप न केवल उत्तम है बल्कि इसे सभी जगहों पर लागू किया जा सकता है। पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्र की 'मानकता' इसी सोच का परिणाम है। यह सरकार चलाने का सार्वभौम तरीका है और उदारवादी प्रजातंत्र उत्तम सरकार का रूप है जिसे सभी जगह अपनाया जाना चाहिए। परंतु इस उदारवादी प्रजातंत्र ने अपने हित में कुछ अपवाद भी रखे। उपनिवेशों में शासन करते वक्त औपनिवेशिक शक्तियां उदारवादी प्रजातंत्र के सिद्धांत को भूल गईं। उपनिवेशों के लिए उन्होंने अलग सिद्धांत बनाया : क) उदारवादी प्रजातंत्र की संस्थाओं का जन्म पश्चिम में हुआ है और वहीं वे कारगर सिद्ध हो सकती हैं, ख) गैर पश्चिमी देश प्रजातांत्रिक स्वशासन के अनुकूल नहीं है और इसके लिए उन्हें पश्चिमी साम्राज्यवादी शासन के अन्तर्गत प्रशिक्षित करना आवश्यक है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) संस्थागत दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं ?

....

....

....

....

2) इसकी प्रमुख विशेषताएं क्या हैं ?

....

....

....

....

3.2 संस्थागत दृष्टिकोण: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

MAADHYAM IAS

सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन संभवत: सबसे पहले **अरस्तू** ने किया था जिसने यूनान के शहर-राज्यों के संविधानों और प्रथाओं का अध्ययन किया था। तथाकथित 'बर्बर' राज्यों की राजनीति से उनका वैषम्य दिखाते हुए अरस्तू ने सरकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया और उन्हें राजतंत्र, कुलीनतंत्र, प्रजातंत्र के रूप में विभाजित किया तथा इन 'आदर्श' सरकारों और उनके 'भ्रष्ट' रूपों का अंतर स्पष्ट किया। इस दौरान तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के तौर पर तथ्यों और मूल्यों के अंत:संबंध पर बल दिया गया। इस समय संस्थानों के अध्ययन में सरकार के 'सिद्धांत और व्यवहार' का विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की गई। **जेम्स ब्राइस** ने उन्नीसवीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध में इसी विश्लेषण पर जोर दिया था जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस समय 'आदर्श' राज्यों और सरकार के प्रकारों की खोज की ओर ज्यादा झुकाव था। दूसरे शब्दों में इस समय अटकलबाजी पर ज्यादा जोर था यानी क्या होना चाहिए जैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता था बजाए इसके कि क्या है या जो है उसका विश्लेषण किया जाए।

सोलहवीं शताब्दी में **मैक्एिवेली** (द प्रिंस) और अठारहवीं शताब्दी के मध्य में **मौन्टेस्यकू** (द स्पीरिट ऑफ लॉ) ने मौजूदा राज्यों और व्यवस्थाओं के अनुभव आधारित विवरण और तथ्यों की प्रस्तुति पर बल दिया। हालांकि मौन्टेस्यकू के अनुयायी मुख्यत: संवैधानिक वकील थे जो अपने पेशे के कारण ज्यादा ध्यान विषय-वस्तु पर देते थे अर्थात उनका ध्यान सरकार के काम काज के ढंग की अपेक्षा सरकार के ढांचे पर होता था। कई मामलों में, **तोक्यूविले** ने सरकारों के 'सिद्धांत और व्यवहार' अध्ययन की आधारशिला रखी जो बाद में हुए तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में संस्थागत दृष्टिकोण का आधार बना। (इकाई 2: तुलनात्मक अध्ययन और तुलना की विधियां, में तोक्यूविले के अमेरिका और फ्रांसीसी प्रजातंत्रों के अध्ययन को देखें) **बागेहोट** (द इंगलिश कॉन्टस्टीच्यूशन, 1867) ने ब्रिटिश कैबिनेट का अध्ययन करते हुए उसकी तुलना अमेरिकी कार्यकारी से की। उसके इस अध्ययन से संस्थागत दृष्टिकोण के विकास में काफी मदद मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों में **ब्राइस, लॉविल** और **ऑस्ट्रोकार्स्की** ने संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन और इसके फलस्वरूप तुलनात्मक सरकारों के विकास के अध्ययन को एक विशिष्ट शाखा के रूप में स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया।

3.2.1 संस्थागत दृष्टिकोण और तुलनात्मक सरकार का उदय: ब्राइस, लॉविल और ऑस्ट्रोगोर्स्की का योगदान

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ब्राइस, लॉविल और आस्ट्रोगोर्स्की ने संस्थागत दृष्टिकोण की विषय वस्तु और तत्पश्चात तुलनात्मक राजनीति के स्वरूप और क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन कर दिया। उनके योगदानों का मूल्यांकन करते हुए **जेन ब्लांडेल** लिखते हैं कि **ब्राइस और लॉविल वस्तुत: तुलनात्मक सरकारों के वास्तविक जन्मदाता** हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों में अध्ययन की एक नई शाखा के रूप में विकसित हुई। (देखें जेन ब्लांडेल, द डिसिप्लिन ऑफ पोलिटिक्स, अध्याय 7: मिडल लेवल कम्पैरिजन्स)। अमेरिकन कॉमनवेल्थ (1888) और मॉडर्न डेमोक्रेसिज (1921) ब्राइस की दो महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। माडर्न डेमोक्रेसिज में ब्राइस ने जनतंत्र के सिद्धांत पर विचार करते हुए विधायिकाओं की कार्यपद्धति और उनके पतन का परीक्षण किया है। लॉविल की गवर्नमेंन्ट्स ऐंड पार्टीज इन कांटिनेन्टल यूरोप (1896) और पब्लिक ओपिनियन ऐंड पोपुलर गवर्नमेंट (1913) भी महत्वपूर्ण रचनाएं हैं जिनमें उसने फ्रांस, जर्मनी, स्विटजरलैंड आदि का अलग-अलग अध्ययन किया है। इसके अलावा इन पुस्तकों में जनमत संग्रह और इसके प्रभाव का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। ऐसे ही, **ऑस्ट्रोगोर्स्की** की पुस्तक **डेमोक्रेसी ऐंड द ऑरगेनाइजेशन ऑफ पॉलिटिकल पार्टीज** (1902) भी अपने समय की एक महत्वपूर्ण रचना है जिसमें राजनीतिक दलों के 'जनतांत्रिक' या कुलीनतंत्र' स्वरूप पर विचार-विमर्श किया गया है। अत: यह देखना जरूरी है कि इन रचनाओं ने होनेवाले समय में संस्थाओं के अध्ययन को किस तरह आगे बढ़ाया और परिवर्तित किया।

i) **सरकारों के सिद्धांत और व्यवहार:** पिछले भाग में हमने बताया था कि सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन दार्शनिक, अनुमानित या ज्यादातर कानूनी-संवैधानिक रहा है अर्थात या तो इनमें 'आदर्श राज्य' जैसे अमूर्त धारणाओं की चर्चा की गई थी या सरकारों के ढांचों और कानूनी-संवैधानिक बनावट की बात की गई। उदारवादी संवैधानिक सिद्धांत को आधार बनाकर उन्होंने औपचारिक संस्थागत संरचनाओं का अध्ययन किया जिसमें उनकी कानूनी शक्तियों और कार्यों पर बल दिया

MAADHYAM IAS

गया। 'तुलनात्मक सरकार' या 'विदेशी संविधानों' का अध्ययन इसी प्रकार किया गया। इन रचनाओं को विभिन्न देशों में संस्थागत निर्माण के संभ्रांतों के प्रयत्न के रूप में देखा गया। इसी कारण नए आजाद देशों में संस्थाकरण के प्रति रुझान दिखाई देता है। **ब्राइस** और **लॉवेल** का मानना है कि मौजूदा अध्ययन अधूरे और पूर्वाग्रहग्रस्त हैं। उनके अनुसार सरकारों के व्यापक अध्ययन के लिए सरकारों के कानूनी-संवैधानिक ढांचों की कार्य पद्धति पर भविष्य में विचार करना चाहिए। वे बल देकर कहते हैं कि इस प्रकार के अध्ययनों में न केवल सैद्धान्तिक आधारों या सरकारों के सन्दर्भों (अर्थात कानूनी- संवैधानिक ढांचा और सरकारी संस्थाएं) पर बल्कि 'सरकार के काम काज के ढंग' पर भी बल दिया जाना चाहिए। वकीलों की तरह केवल उनके संविधानों की बात करना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इससे संचालन और उनके कार्यान्वयन में आनेवाली समस्याओं पर बात नहीं हो पाती। दूसरी ओर, सैद्धान्तिक (संवैधानिक) ढांचे के बिना आधार बनाए केवल व्यवहार या काम काज करने के ढंग पर बात करने से वह संदर्भ ही छूट जाएगा जिसके कारण कार्यान्वयन में समस्या आती है। इसीलिए ब्राइस और लॉवेल के तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण के संस्थागत दृष्टिकोण में 'सरकार के सिद्धांत और व्यवहार' के अध्ययन पर बल दिया गया।

ii) **'तथ्यों' पर बल** : इन अध्ययनों का बल सरकारों की कार्य पद्धति के 'तथ्यों' का विश्लेषण कर 'व्यवहार' की जानकारी प्राप्त करनी है। व्यवहार के अध्ययन के लिए तथ्यों को खोजना, इकट्ठा और संचित करना पड़ता है। ब्राइस को इसमें किसी प्रकार का शक नहीं है कि विश्लेषण को तथ्य पर आधारित होना चाहिए। 'तथ्यविहीन विश्लेषण मात्र अटकलबाजी होती है' : 'तथ्य, तथ्य, तथ्य, जब तथ्य मिल जाएं तो हमें उनका विश्लेषण करना चाहिए।' तथ्यों को इकट्ठा करते समय एक बड़ी दिक्कत यह आती है सरकारें अपने काम काज के बारे में सही -सही बताती नहीं है और तथ्यों को छिपाती है। इसलिए तथ्यों का पता लगाना और मुश्किल हो जाता है क्योंकि सरकार और राजनीति अक्सर तथ्य छिपाते हैं या सही स्थिति नहीं स्पष्ट करते। इन बाधाओं के बावजूद राजनैतिक जीवन, दलों, कार्यकारियों, जनमत संग्रहों, विधायिकाओं आदि के लगभग सभी पक्षों के आंकड़े इकट्ठा करने का महत्व कम नहीं होता। **हर्मन फाइनर** (थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्नमेंट, 1932) और **कार्ल फ्रेडरिक** (कांस्टीच्यूशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमोक्रेसी, 1932) जैसे बाद के तुलनावादियों ने भी इसके महत्व को सही ठहराया।

iii) **तकनीक** : तथ्यों की खोज करने के क्रम में ब्राइस और लॉवेल ने परिमाणात्मक सूचकों का उपयोग किया। उन्होंने यह महसूस किया कि सरकार के अध्ययन में गुणात्मक और परिमाणात्मक प्रकार के प्रमाणों में संतुलन होना चाहिए। अंततः ब्राइस और लॉवेल ने महसूस किया कि ज्यादा से ज्यादा तथ्यों को आधार बनाने पर निष्कर्ष के सही होने की संभावना बढ़ जाती है। अतएव उन्होंने ज्यादा से ज्यादा देशों का अध्ययन किया, जिनमें उस समय संवैधानिक और संवैधानिक जैसी संस्थाएं थीं। इसलिए उन्होंने पश्चिमी मध्य और दक्षिणी यूरोप की सरकारों के अध्ययन पर बल देना शुरू किया। ऑस्ट्रोग्रोस्की की रचना प्रकाशित होने के बाद तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में तुलनात्मक आधार पर विशिष्ट संस्थाओं के अध्ययन पर बल देना शुरू हुआ। 1902 में ऑस्ट्रोग्रोस्की ने ब्रिटेन और अमेरिका के राजनैतिक दलों का विस्तृत अध्ययन प्रकाशित किया। बाद में **माइकल्स** (पोलिटिकल पार्टीज, 1915) और **एम डुवरगर** (पोलिटिकल पार्टीज, 1950) ने राजनैतिक दलों की भूमिका पर महत्वपूर्ण काम किया। 1950 के दशक में **ईस्टन** और **मैक्रिडिस** जैसे 'व्यवस्था सैद्धान्तिकों' ने संस्थागत दृष्टिकोण की प्रमुख रूप से आलोचना की और ऐसे मॉडल के निर्माण पर बल दिया जो सामान्य हो तथा जो पूरी दुनिया पर लागू होता है। इन मॉडलों या प्रारूपों के आधार पर उन्होंने विभिन्न देशों की राजनैतिक प्रक्रियाओं को समझने और समझाने का प्रयास किया। इन आलोचनाओं और संस्थावादियों द्वारा दिए गए जवाबों का अध्ययन हम अगले भाग में करेंगे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में संस्थागत दृष्टिकोणों की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

3.3 संस्थागत दृष्टिकोण: आलोचनात्मक मूल्यांकन

यह एक रोचक तथ्य है कि तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण के संस्थागत दृष्टिकोण की आलोचना अलग-अलग समयों में हुई। पहली बार आलोचना का दौर 20वीं शताब्दी के आरंभ में और फिर दूसरा दौर 1950 के दशक में आया। आलोचना के प्रत्येक दौर के बाद इस दृष्टिकोण का पुनरुत्थान नए रूप में हुआ। इस शताब्दी के अंत में जब संस्थाओं के अध्ययन में तुलना नहीं की जाती थी या सीमित तुलना की जाती थी तो इस दृष्टिकोण की यह कहकर आलोचना की गई कि क) यह अनुमानो पर आधारित है, ख) यह आदेशात्मक और मानकीय है, ग) इसमें संबंधों पर ध्यान दिए बिना नियमितताओं और अनियमितताओं पर ध्यान दिया जाता है, घ) इसमें केवल पश्चिम यूरोपीय 'प्रजातंत्रों' पर विचार किया जाता है। अत: यह जातीय केंद्रित है, ङ) यह औपचारिक ढांचे (संवैधानिक और सरकारी) पर बल देने के कारण विवराणात्मक है, च) यह ऐतिहासिक है पर विश्लेषणात्मक नहीं है, छ) इसके प्रतिपादक इस ढांचे से इस प्रकार अभिभूत हैं कि संस्थाओं का अध्ययन करते समय वे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और विचारात्मक ढांचों के अन्तर को तुलना करतें समय नजरअंदाज कर देते हैं। मसलन इंग्लैंड, अमेरिका और सोवियत संघ के ऊपरी सदन की तुलना, ज) उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनके अध्ययन की प्रवृद्धि पूर्वाग्रहग्रस्त और अधूरी है और सैद्धान्तिक तौर पर यह कहा गया कि उन्होंने राजनैतिक जीवन के सार तत्व को नहीं पकड़ा है। **ब्राइस** और उनके समकालीनों के संस्थागत दृष्टिकोण की प्रकृति और विषय में मूलभूत परिवर्तन किया। उन्होंने सीमित दायरे में सही परंतु तुलनात्मक अध्ययन शुरू किया। उन्होंने सैद्धान्तिक संदर्भों और सरकार के व्यावहारिक पक्ष को मिलाकर देखने का प्रयत्न किया। 1950 के दशक में ब्राइस, लॉवेल और ऑस्ट्रोग्रोस्र्की के संस्थागत दृष्टिकोण को पुन: डेविड ईस्टन और रॉय मैक्रिडिस जैसे राजनैतिक वैज्ञानिकों की आलोचना का सामना करना पड़ा। **डेविड ईस्टन** ने अपनी पुस्तक *द पोलिटिकल सिस्टम* (1953) में ब्राइस के दृष्टिकोण की मात्र तथ्यवाद कहकर आलोचना की। ईस्टन का आरोप था कि यह दृष्टिकोण अमेरिकी राजनीति विज्ञान से प्रभावित था जो तथ्यों पर जरूरत से ज्यादा बल देता था। उन्होंने यह माना कि ब्राइस ने सिद्धांतों की अवहेलना नहीं की है परंतु व्याख्यात्मक या सैद्धान्तिक मॉडल बनाने के कम में उन्होंने तथ्यों का अम्बार खड़ा कर दिया है जिससे सिद्धांत कमजोर हो गए हैं। (एक अन्य इकाई में आप 'व्यवस्था निर्माण' का अध्ययन करेंगे। इसमें राज्य परिघटना का अध्ययन करने में इस्टन के 'व्यवस्था दृष्टिकोण' को आधार बनाया गया है। अतएव यह समझने में दिक्कत नहीं होगी कि ईस्टन क्यों यह महसूस करते थे कि ब्राइस के दृष्टिकोण ने अमेरिकी राजनीति विज्ञान को गुमराह कर गलत रास्ते पर डाल दिया है।) **जीन ब्लांडेल** ने ईस्टन की आलोचना का जवाब देते हुए कहा है कि इस सिद्धांत में तथ्यों का अम्बार लगाया गया है यह आलोचना सही नहीं है। वस्तुत: समग्र राज्य विश्लेषण के लिए राजनीति वैज्ञानिकों के पास बहुत कम तथ्य मौजूद थे। वास्तविकता में अधिकांश देशों खासकर

MAADHYAM IAS

साम्यवादी देशों और तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों की प्रमुख संस्थाओं की संरचना और गतिविधियों के बारे में बहुत कम जानकारी थी। अतः ज्यादा तथ्य इकट्ठा करने को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यह इस तथ्य को देखते हुए और महत्वपूर्ण हो जाता है कि सरकारें तथ्य उपलब्ध नहीं करातीं और छिपाने की कोशिश करती हैं। अधिक वैश्विक या व्यवस्थित दृष्टिकोण के समर्थकों द्वारा संस्थाओं और कानूनी व्यवस्थाओं संबंधी तथ्यों की उपयोगिता के अवमूल्यन को **ब्लांडेल** ने पूरी तरह गलत बताया। राजनैतिक परिघटना का अध्ययन उसके संस्थागत और कानूनी ढांचे में किया जा सकता है। राजनैतिक जीवन का पूर्ण अध्ययन करने के लिए इन सभी पक्षों का अध्ययन और तुलना करना आवश्यक है। किसी भी स्थिति में प्रभावी विश्लेषण करने के लिए तथ्यों की जरूरत पड़ती है। तथ्यों या आंकड़ों के अभाव में तर्क दिया ही नहीं जा सकता है। इसके अलावा इस बात की भी जानकारी होनी चाहिए कि राजनीतिक विश्लेषण के अध्ययन में जिन तथ्यों की जरूरत होती है उन्हें प्राप्त करना बहुत मुश्किल होता है। 1955 में **रॉय मैक्रिडिस** ने सरकार के तुलनात्मक अध्ययन को नई दिशा प्रदान करने की आवश्यकता की ओर इशारा किया था। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मौजूदा तुलनात्मक अध्ययन नाममात्र का तुलनात्मक है। मैक्रिडिस के अनुसार संस्थागत दृष्टिकोण की अध्ययन पद्धति गैर तुलनात्मक, सीमित, स्थिर और विवरणात्मक है। उनके अनुसार अधिकांश संस्थागत दृष्टिकोण के अध्ययन में विवरण भरे पड़े हैं। इसमें किया गया विश्लेषण ऐतिहासिक या वैधानिक है और इसलिए संकुचित भी है (देखिए रॉय मैक्रिडिस, *द स्टडी ऑफ कम्परेटिव गवर्नमेंट*, पृ.7-12) हालांकि 1950 के दशक में और उसके बाद भी बराबर तथ्यों की कमी महसूस की जाती रही जिससे सही निष्कर्ष निकाला जा सके। ब्लांडेल के अनुसार तथ्यों के अधिकांश की अपेक्षा मॉडलों की अधिकता ज्यादा थी। ब्लांडेल ने इस बात पर बल दिया है कि तथ्यों के बिना प्रारूपों के निर्माण से गलत सूचनाएं मिलती हैं। जिन देशों के बारे में सूचनाएं प्रचारित होने की संभावना अधिक होती है और कई बार इससे उन देशों के बारे में पूर्व धारणा बन जाती है। 1971 में लैटिन अमेरिकी विधान सभाओं के बारे में लिखते हुए **डब्ल्यू एच अगोर** ने यह टिप्पणी की थी कि आमतौर पर यह माना जाता है कि विधान सभाएं बहुत कमजोर थीं। उनके अनुसार इस प्रकार के कथन पूर्णतः पूर्व धारणाओं पर आधारित थे। तथ्यों के अभाव में इन्हीं पूर्व धारणाओं के आधार पर सप्रयत्न अध्ययन किया गया था। इसलिए संस्थागत दृष्टिकोण के अनुयायियों ने स्पष्ट रूप से तथ्यों को जुटाने और तथ्य जुटाने के तरीकों की आवश्यकताओं पर विशेष बल दिया। हालांकि इन आलोचनाओं के बाद इस दृष्टिकोण में तुलनात्मक प्रवृत्ति बढ़ी और गैर पश्चिमी देशों को भी शामिल किया गया। इसके अलावा कानूनी-संवैधानिक ढांचों द्वारा निर्धारित न की गई संरचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास भी किया गया। उदाहरण के लिए **जी सारटोरी** ने अपनी पुस्तक **पार्टीज ऐंड पार्टी सिस्टम्स** (1976) के अध्ययन में सीमित रूप में सही लेकिन साम्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों को भी शामिल किया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) ईस्टन और मैक्रिडिस के अनुसार संस्थागत दृष्टिकोण की क्या सीमाएं थीं ?

....

....

....

....

2) ब्लांडेल ने संस्थागत दृष्टिकोण के पक्ष में क्या जवाब दिया?

....

....

....

....

3.4 समकालीन तुलनात्मक अध्ययन में संस्थागत दृष्टिकोण

1950 के दशक तक तुलनात्मक राजनीति में संस्थावाद कमोबेश एक विशिष्ट दृष्टिकोण बना रहा। पिछले भाग (3.2) में हम बता चुके हैं कि ब्राइस, लॉवेल और ऑस्ट्रोग्रोस्की की रचनाओं के जरिए यह दृष्टिकोण उभर कर सामने आया। **हरमन फाइनर** (*थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्नमेंट्स,* 1932) और *कार्ल फ्रेडरिक* (*कांस्टीच्यूशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमोक्रेसी, 1932*) ने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किया। उदारवादी संवैधानिक सिद्धांत के समर्थन में इन विद्वानों ने औपचारिक संस्थागत ढांचों का अध्ययन करते हुए उनकी कानूनी शक्तियों और कार्यो पर बल दिया। तुलनात्मक सरकार या विदेशी संविधानों के अध्ययन में इन रचनाओं का महत्वूपर्ण योगदान रहा है और कई देशों में संस्थागत निर्माण के प्रयासों में इसे प्रासंगिक माना गया है। नए आजाद देशों को महत्व मिला है। इस सिद्धांत में संस्थागत निर्माण पर बल दिए जाने के कारण ऐसा हुआ है।

संस्थागत दृष्टिकोण का मुख्य बल (विषय वस्तु) इस प्रकार था, क) कानून और संविधान, ख) संप्रभुता, अधिकार क्षेत्र, कानूनी और विधायी उपकरणों के विभिन्न रूपों को समझने के लिए सरकार और राज्य का ऐतिहासिक अध्ययन, ग) सरकार के विभिन्न ढांचों के कार्य करने के तरीके (सिद्धांत और व्यवहार)। इसमें सत्ता के बंटवारे का भी अध्ययन किया जाता है जिसके तहत राष्ट्र और राज्य, केंद्र और स्थानीय सरकार, प्रशासन और नौकरशाही, कानूनी और संवैधानिक प्रचलनों और सिद्धांतों के परस्पर संबंध का भी अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टिकोण के पीछे प्रजातंत्र की पश्चिमी अवधारणा निहित है। **प्रस्तावना (3.1)** में हमने बताया है कि प्रजातंत्र का न केवल जन्म ही पश्चिम में देखा गया है बल्कि उसे उसी रूप में सभी जगह इसे लागू किए जाने की कल्पना की गई है और सलाह दी गई है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं इससे अध्ययन पश्चिम केंद्रित हो गया है अर्थात पश्चिम यूरोप और उत्तरी अमेरिका के देशों को ध्यान में रखकर अध्ययन किया गया है। ब्लांडेल का मानना है कि 1950 के दशक में इस दृष्टिकोण के प्रभाव में इस कारण से भी गिरावट आई क्योंकि इसमें गैर पश्चिमी (उदारवादी) सरकारों खासकर पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों और एशिया तथा लैटिन अमेरिका के नए आजाद हुए देशों को शामिल नहीं किया गया। अत: सिद्धांत और व्यवहार को साथ लेकर चलने का दावा करनेवाला यह दृष्टिकोण उदारवादी संवैधानिक प्रजातंत्रों का अध्ययन करने के लिए अपने ढांचों को बदल नहीं सका। 1950 के दशक में संस्थागत दृष्टिकोण के पतन का एक कारण यह भी था कि व्यवस्था सिद्धांतकारों ने तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की बजाए प्रेरक सामान्यीकरण के आधार पर सिद्धांत विकसित किए गये।

MAADHYAM IAS

1960 के अंत और 70 के दशक में संस्थागत दृष्टिकोण फिर से एक नए रूप में सामने आया जिसे नौसंस्थावाद कहा जाता है। जिसकी विशेषताएं इस प्रकार हैं : क) नए संस्थावाद में संस्थाओं के सिद्धांत और व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। यह दृष्टिकोण राज्य और इसकी संस्थागत संरचनाओं के महत्व पर बल देता है। (**पी इवेन्स, डी र्‍यूशेमेयर और टी स्कॉकपॉल सं.** *ब्रिंगिंग द स्टेट बैक इन,* 1985)। इसमें उस बृहद ढांचे की चर्चा नहीं की गई जिसके तहत संस्थाएं काम करती हैं (संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण में यह पद्धति अपनाई जाती है)। इसके बजाए इसमें संस्थाओं के आपस में जुड़े रहने के तरीके पर बल दिया जाता है। ख) ढांचों से अपने को दूर रखने के बावजूद

यह दृष्टिकोण सामान्यीकृत निष्कर्षों से बच नहीं पाता। तथ्यों के संग्रह में भी कोई कमी नहीं आती। इन विभिन्न पद्धतियों में संतुलन स्थापित करने के लिए अर्थात सामान्यीकृत निष्कर्षों के लिए तथ्य आधारित अध्ययन करने में संस्थागत दृष्टिकोण कुछ बातों की सावधानी रखता है:

i) तथ्यों की ठीक से जांच कर ही निष्कर्ष निकाले जाते हैं और, ii) प्रेरक विधि का भी इस्तेमाल किया जाता है ताकि सामान्यीकरण के दौरान भी इन तथ्यों के निकट रहा जा सके (देखिए **जेन ब्लांडेल**, *देन ऐंड नाउ: कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स'*, पृ 160); iii) इस दृष्टिकोण का बल कमोबेश तथाकथित मध्यम दूरी के विश्लेषण पर रहा है जहां विशिष्ट संस्थाओं के तथ्यों को इकट्ठा कर बड़े क्षेत्रों पर विचार किया जाता है जिसमें तुलना की काफी गुंजाइश होती है। परंतु यहां प्रेरक प्रारूपों का उपयोग किए बिना तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार राजनैतिक दलों (उदाहरणस्वरूप **जी. सारटोरी** की पुस्तक *'पार्टीज ऐंड पार्टी सिस्टम्स'*, 1976, बज और एच केमन, *'पार्टीज ऐंड डेमोक्रेसी,'* 1990), दबाव समूहों, (एफ. **केसल्स**, *'प्रेशर ग्रुप्स ऐंड पॉलिटिकल कल्चर,'* 1967), न्यायपालिका, (जी सुबर्ट, ज्यूडिसियल बीहेवियर, 1964), विधायिकायों (**एम.एल.मेजी**, *'कम्परेटिव लेजिसलेचर्स,;* 1979; ए कॉर्नबर्ग, *'लेजिसलेचर्स इन कम्परेटिव पर्सप्रेक्टिव,'* 1973, **जेन ब्लांडेल**, *'कम्परेटिव लेजिसलेचर्स,'* 1973; **डब्ल्यू.एच.अगर**, *'लैटिन अमेरिकन लेजिसलेचर्स,'* 1971) और सेना (एस. ई. **फिनर**, *'मैन ऑन हॉर्सबैक,'* 1962) का अध्ययन किया जाता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) सभी तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण में संस्थागत दृष्टिकोण की क्या स्थिति है ?

....

....

....

....

3.5 सारांश

संस्थागत दृष्टिकोण अपने विभिन्न रूपों में तुलनात्मक राजनैतिक विश्लेषण का एक प्रमुख घटक रहा है। आरंभ से ही संस्थाओं के कामकाज का अध्ययन राजनैतिक विश्लेषण के केंद्र में रहा है। इसी के तहत *रिपब्लिक* में **प्लेटो** ने आदर्श राज्य की खोज की और अपनी **'पॉलिटिक्स'** में **अरस्तु** ने राज्यों के प्रकार बताए। इस दृष्टिकोण का क्लासिकल और आरंभिक स्वरूप दार्शनिक और अनुमान आधारित था जिसमें आदर्श राज्यों की चर्चा की जाती थी और सरकार के काम काज की स्थिति के नुस्खे बताए जाते थे। मॉन्टेस्क्यू और उसके अनुयायियों ने इस दृष्टिकोण को प्रजातंत्र के कानूनी-संवैधानिक ढांचों से जोड़कर देखा। परंतु उदारवादी संवैधानिक प्रजातंत्र की संस्थाओं में इस आस्था के बावजूद सरकारी काम काज के तरीके का अध्ययन नहीं हो सका। अभी हाल तक, खासतौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक, राजनीति वैज्ञानिक और कानूनी विशेषज्ञ कानूनी-संवैधानिक ढांचों से मुक्त नहीं हो पाए थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण संविधानों और सरकार की कानूनी औपचारिक संस्थाओं तथा उदारवादी प्रजातंत्र के मानवीय मूल्यों से प्रभावित था। इस दृष्टिकोण को औपनिवेशिक शासकों ने अपने उपनिवेशों में यूरोपीय उदारवादी मूल्यों को लोकप्रिय बनाने के लिए भी बढ़ावा दिया। विभिन्न देशों में संभ्रांतों द्वारा संस्था निर्माण में भी संस्थावादियों के काम काफी प्रासंगिक रहे हैं। इसीलिए नए आजाद हुए देशों में संस्थावाद के प्रति

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

इतना झुकाव बढ़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही **ब्राइस, लॉवेल** और **ऑस्ट्रोगोर्स्की** जैसे विद्वानों ने संस्थाओं के अध्ययन के लिए नई दिशाओं की खोज की। क) उन्होंने सैद्धांतिक-कानूनी- संवैधानिक ढांचे का एक साथ अध्ययन किया और उनके काम काज के तरीके से जुड़े तथ्य इकट्ठे किए और, ख) अन्य देशों की संस्थाओं का अध्ययन कर उन्होंने अपने अध्ययन को तुलनात्मक दिशा प्रदान की। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के पहले 25 वर्षों में इस सिद्धांत ने सीमित रूप से ही सही पर तुलनात्मक स्वरूप अख्तियार कर लिया था और इसमें विश्लेषण, सिद्धांत और संस्थाओं के कामकाज करने के तरीकों को भी शामिल कर लिया था। **1950** के दशक के दौरान इस दृष्टिकोण पर **ईस्टन** और **मैक्रिडिस** जैसे 'व्यवस्था निर्माताओं' ने काम किया। उन्होंने इस दृष्टिकोण की आलोचना इस आधार पर की– क) तथ्यों पर जरूरत से ज्यादा बल देना, ख) ऐसे सिद्धांतों का अभाव जो दूसरे देश की संस्थाओं पर भी लागू हो सके, ग) तुलनात्मक स्वरूप का अभाव। इन सिद्धांतकारों ने एक *समग्र या वैश्विक मॉडल या व्यवस्था* बनाने पर बल दिया जो दुनिया भर के सभी देशों की संस्थाओं के काम काज को व्याख्यायित कर सके। संस्थागत दृष्टिकोण के प्रतिपादकों की इस बात के लिए भी आलोचना की गई कि उनका अध्ययन पश्चिम केंद्रित है अर्थात उन्होंने अपने अध्ययन के घेरे में तीसरी दुनिया के देशों और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों की संस्थाओं को शामिल नहीं किया है। इन देशों का अध्ययन न करने से यह सिद्धांत सभी देशों पर लागू नहीं होता है और इसमें केवल पश्चिमी उदारवादी संस्थागत प्रजातंत्रों का ही सैद्धान्तिक विवेचन किया जाता है। इनके पास विकासशील और साम्यवादी दुनिया के देशों की संस्थाओं को समझने का कोई तरीका नहीं था; इसलिए धीरे-धीरे इस दृष्टिकोणों का प्रभाव कम होता चला गया। परंतु 1960 के दशक के अंत और 70 के दशक के आरंभ में यह दृष्टिकोण फिर से नए रूप में उभरा। इसमें तथ्यों पर बल दिया गया। सामान्यीकृत सैद्धान्तिक वक्तव्य भी दिए गए। केवल मॉडल बनाने के प्रयत्न नहीं किए गए।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) संस्थागत दृष्टिकोण का ऐतिहासिक विकास प्रतिपादित कीजिए। प्रत्येक चरण की विशेषताएं बताते हुए उनका अन्तर स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

2) आपके विचार में संस्थागत दृष्टिकोण राजनैतिक प्रक्रिया के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कितना प्रभावी सिद्धांत है ?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

3.6 शब्दावली

संरूपित वर्णन : बिना किसी स्पष्ट अवधारणात्मक ढांचे के कुछ देशों का विस्तृत वर्णन करते हुए राजनैतिक संस्थाओं का अध्ययन।

अनुभववाद : दर्शन का एक क्षेत्र जिसमें ज्ञान और अनुभव को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया जाता है। शुद्ध अनुभववादी यह मानते हैं कि सही ज्ञान का आधार तथ्य हैं जो अनुभव से प्राप्त किए जाते हैं।

जातीय केंद्रियता : अपनी संस्कृति पर आधारित मूल्यों और सिद्धांतों को दूसरे लोगों और समूहों पर लागू करना; जातीय केंद्रियता में एक पूर्वाग्रह या मिथ्यावर्णन होता है।

तथ्य : तथ्य किसी मामले से सम्बद्ध होता है और इसका संबंध पर्यवेक्षण और अनुभव से होता है।

औपचारिक-वैधानिकता : संवैधानिक रूझान जिसमें मंत्रिमंडलों, विधायकों, न्यायालयों और नौकरशाहियों के काम काज के तरीके से सम्बन्धित नियमों का विस्तृत उल्लेख होता है।

उदारवादी प्रजातंत्र : एक प्रकार का प्रजातांत्रिक शासन जो सीमित सरकार के सिद्धांत और जनता के आदर्श के बीच संतुलन स्थापित करता है। इसकी 'उदारवादी' विशेषताएं सरकार पर लगाई गई आंतरिक और बाहरी नियंत्रणों से प्रतिबिंबित होती है जिसका निर्माण जनता को स्वतंत्रता प्रदान करने तथा नागरिकों को राज्य से सुरक्षा प्रदान करने के लिए की जाती है। इसकी जनतांत्रिक प्रकृति नियमित और प्रतियोगात्मक अनुभव की प्रणाली पर आधारित होती है। जिसमें वयस्क मताधिकार और राजनैतिक समानता के आधार पर मतदान कराया जाता है।

मॉडल : मॉडल या प्रारूप अनुभव सिद्ध आंकड़े का सैद्धान्तिक प्रतिनिधित्व है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्क्रियाओं को समझने का प्रयास किया जाता है।

गैर तुलना : तुलनात्मक सरकार के क्षेत्र के अधिकांश ग्रंथों में या तो किसी एक देश का अध्ययन किया गया है या कुछ देशों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत कर दिया गया है।

मानकीय : मूल्यों और आचरण के मानकों का नुस्खा 'क्या है' के बजाए 'क्या होना चाहिए'।

संकुचित दृष्टिकोण : सीमित दायरे में बंधा होना। उदाहरण के लिए तुलनात्मक राजनीति में अध्ययन किए जाने वाले देशों के चुनावों में एक खास तरह का पूर्वाग्रह दिखाई देता है और इन पर विचार करने के लिए प्रयुक्त निर्धारक तत्वों में भी एक प्रकार का संकुचित दृष्टिकोण दिखाई देता है। इस प्रकार के अध्ययन में ज्यादातर यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस, जर्मनी, और अमेरिका का अध्ययन किया जाता है।

नज़रिया : किसी चीज को देखने, व्याख्या करने और सामाजिक यथार्थ का अनुभव करने के लिए सामाजिक विज्ञानों में नजरिया या दृष्टिकोणों का उपयोग किया जाता है।

MADHYAM IAS

मूल्य : मूल्य एक प्रकार के वक्तव्य होते हैं जिसमें निर्णय जुड़ा होता है और इसमें एक वस्तुनिष्ठता होती है। मूल्य एक प्रकार की कल्पना होती है। उनमें वस्तुनिष्ठता नहीं होती और वे सभी लोगों पर लागू नहीं होते।

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

एप्टर, डेविड. ई, *'कम्परेटिव पोलिटिक्स, ओल्ड ऐंड न्यू'* रॉबर्ट ई. गूडिन ऐंड कैंस एच.डी. क्लिंगमैन में, सं., अ न्यू हैंडबुक ऑफ पॉलिटिकल साइंस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1996

ब्लांडेल, जेन, *'द डिसिप्लिन ऑफ पॉलिटिक्स,* बटरमॉर्थस, लंदन', 1981, (अध्याय 7: मिडिल लेवल कम्पेरिजन्स)

ब्लांडेल जेन *देन ऐंड नाउ: कम्परेटिव पॉलिटिक्स,'* पोलिटिकल स्टडिज, *XLVII 1999*, पृ. 152–160

वियारडा, हॉवर्ड, जे., *'न्यू डाइरेक्शन्स इन कम्परेटिव पॉलिटिक्स'*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, 1985

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) यह दृष्टिकोण विभिन्न संस्थानों की परस्पर तुलना के अध्ययन पर आधारित है। इसमें सामान संस्थाओं जैसे कार्यकारी विधायिका आदि के गठन और कार्यों की समानताओं और असमानताओं की तुलना की गई है और निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है।
2) समान संस्थाओं की तुलना; उनके उद्भव, विकास और कार्यपद्धति का संदर्भ; निष्कर्ष प्रस्तुत करना; निष्कर्ष के आधार पर परिवर्तन या विकास के लिए सुझाव देना।

बोध प्रश्न 2

1) देखिए भाग 3.3
2) बॉन्डल ने संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण की सीमाएं बताई हैं और यही कहा है कि इसके द्वारा संस्थाओं के बारे में पूरी सूचना नहीं मिल पाती है उसने संस्थाओं और कानूनी ढांचों के महत्व पर भी बल दिया है। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए भाग 3.3।

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 3.4

बोध प्रश्न 4

1) पूरी इकाई के आधार पर अपना उत्तर लिखिए।
2) भाग 3.5 देखिए और पूरी इकाई के आधार पर अपना उत्तर लिखिए।

MAADHYAM IAS

इकाई 4 व्यवस्था दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 व्यवस्था दृष्टिकोण

4.2.1 व्यवस्था दृष्टिकोण क्या है ?

4.2.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति

4.2.3 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

4.3 सामान्य व्यवस्था सिद्धांत और व्यवस्था सिद्धांत

4.3.1 सामान्य व्यवस्था और व्यवस्था दृष्टिकोण में अन्तर

4.3.2 व्यवस्था विश्लेषण: विशिष्ट विशेषताएं

4.3.3 व्यवस्था दृष्टिकोण : सरोकार और उद्देश्य

4.4 व्यवस्था विश्लेषण की व्युत्पत्तियां

4.4.1 राजनैतिक व्यवस्था व्युत्पत्ति

4.4.2 संरचनात्मक-कार्यात्मक व्युत्पत्ति

4.4.3 साइबरनेटिक्स व्युत्पत्ति

4.5 व्यवस्था सिद्धांत: एक मूल्यांकन

4.5.1 व्यवस्था दृष्टिकोण की कमियां

4.5.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की खूबियां

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS

इस इकाई में हम तुलनात्मक सरकार और राजनीति के एक प्रमुख आधुनिक दृष्टिकोण की चर्चा करने जा रहे हैं। इसे **व्यवस्था दृष्टिकोण** के नाम से जाना जाता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- इस दृष्टिकोण के अर्थ, उत्पत्ति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या कर सकेंगे,
- सामान्य व्यवस्था सिद्धांत, व्यवस्था सिद्धांत और राजनैतिक व्यवस्था सिद्धांत में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे,
- व्यवस्था सिद्धांत की विशिष्ट विशेषताएं और उद्देश्य बता सकेंगे,
- इस व्यवस्था सिद्धांत की कुछ प्रमुख व्युत्पत्तियों का जिक्र कर सकेंगे (जैसे आगत-निर्गत, संरचनात्मक-कार्यात्मक, साइबरनेटिक्स मॉडल)
- सही परिप्रेक्ष्य में व्यवस्था सिद्धांत का मूल्यांकन कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

परम्परागत दृष्टिकोण की अपनी कुछ सीमाएं थीं; उनका आधार सीमित था। इसलिए तुलनात्मक सरकारों और राजनीति के अध्ययन में वे लाभदायक सिद्ध न हो सकीं। तुलनात्मक सरकारों और राजनीति का विश्लेषण करते हुए इन दृष्टिकोणों के तहत मुख्यत: ऐतिहासिक, औपचारिक, कानूनी, वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक, प्रस्तुति की गई और यह लोकोक्तिपूर्ण, स्थिर और कमोबेश विवरण मात्र बन कर रह गई। उनका अध्ययन इस अर्थ में संकुचित था कि उन्होंने अपने विवरण को पश्चिमी राजनैतिक व्यवस्था तक ही सीमित रखा था; वे इस अर्थ में औपचारिक और कानूनी थे कि उन्होंने अपने विश्लेषण में केवल कानूनी संस्थाओं का ही अध्ययन किया था; और वे इस अर्थ में आत्मपरक थे कि वे राजनैतिक व्यवस्थाओं की वस्तुनिष्ठ, अनुभव आधारित और वैज्ञानिक जांच पड़ताल नहीं करते थे।

तुलनात्मक सरकारों और राजनीति के अध्ययन के आधुनिक दृष्टिकोणों में परम्परागत दृष्टिकोणों की खामियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। उनका परिप्रेक्ष्य ज्यादा स्पष्ट था और उन्होंने प्रमुख प्रतिमानों, अवधारणात्मक ढांचों और प्रारूपों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा की ताकि उनकी प्रासंगिकता को समझा जा सके और मूल्यांकन किया जा सके। निश्चित रूप से ये आधुनिक दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक, यथार्थवादी और विश्लेषणात्मक हैं। इनसे तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में क्रांति आ गई। **सिडनी वर्बा** इस क्रांति के सिद्धांत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं 'केवल वर्णन न कर अधिक सैद्धांतिक प्रासंगिक समस्याओं को देखना; केवल सरकार की औपचारिक संस्थाओं की बजाए राजनैतिक प्रक्रियाओं और राजनैतिक कार्यकलापों पर विचार करना; और केवल पश्चिमी यूरोपीय देशों पर विचार न कर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नए देशों पर विचार करना। **अलमांड और पॉविल** के अनुसार इस क्रांति की दिशा इस प्रकार थी : क) अधिक व्यापक क्षेत्र की खोज, ख) यथार्थवाद की खोज, ग) सुस्पष्टता के लिए शोध, घ) सैद्धांतिक मतों के लिए शोध। तुलनात्मक सरकारों और राजनीति के अध्ययन के आधुनिक दृष्टिकोण अनेक हैं। व्यवस्था दृष्टिकोण इनमें से एक है। इसे व्यवस्था सिद्धांत या व्यवस्था विश्लेषण के नाम से जाना जाता है। वस्तुत: यह दृष्टिकोण किसी भी राजनैतिक गतिविधि को देखने का एक सर्वाधिक लोकप्रिय तरीका है। **प्रो. कैप्लेन** के अनुसार यह अन्तर-संबंधित परंतु परिवर्तनशील कारकों का अध्ययन है। इसमें केवल उन परिवेशों में होनेवाली उथल-पुथल का ही अध्ययन नहीं किया जाता, इसमें विभिन्न अन्तर्क्रियाओं और उनके संबंधों पर भी बल दिया जाता है। इसमें व्यवस्था से जुड़े सदस्यों की परस्पर निर्भरता की भी बात की जाती है। व्यवस्था की सुरक्षा और रखरखाव की प्रक्रियाओं पर भी इसमें विचार किया जाता है। (विलियम ए. वेल्श: *स्टडिंग पॉलिटिक्स,* 1973 पृ. 65)

इस इकाई में हम तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के इस आधुनिक दृष्टिकोण, व्यवस्था दृष्टिकोण का अध्ययन, समीक्षा और परीक्षण करेंगे। इस इकाई में इस व्यवस्था की उत्पत्ति, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, सामान्य व्यवस्था सिद्धांतों से इसके अन्तर, इसकी विशेषताओं, इसकी खूबियों और कमियों पर विचार किया गया है। व्यवस्था दृष्टिकोण की दो प्रमुख व्युत्पत्तियों आगत-निर्गत विश्लेषण और संरचनात्मक - कार्यात्मक विश्लेषण तथा राजनैतिक विश्लेषण का जिक्र किया गया है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

4.2 व्यवस्था दृष्टिकोण

4.2.1 व्यवस्था दृष्टिकोण क्या है ?

व्यवस्था दृष्टिकोण अन्तर-संबंधित परिवर्तनशील कारकों का अध्ययन है जिसमें एक व्यवस्था, एक इकाई, एक सम्पूर्ण बनता है जिसमें कई अन्तर्क्रियाएं तथ्य तथा तत्व शामिल होते हैं। इसके अनुसार

व्यवस्था में ज्ञात, नियमित और आंतरिक रूप से सुसंगत पद्धतियां शामिल होती हैं जो एक दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हुए एक स्व-नियंत्रित व्यवस्था का पूर्ण चित्र उपस्थित करती हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था के अंदर होनेवाली अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण है। व्यवस्था सिद्धांत निम्नलिखित पक्षों पर बल देते हैं :

i) अपने ही बल पर सम्पूर्ण का अस्तित्व

ii) हिस्सों से मिलकर बना सम्पूर्ण

iii) अन्य सम्पूर्णों से मौजूदा सम्पूर्ण का अलगाव

iv) प्रत्येक सम्पूर्ण एक दूसरे से प्रभावित होते हैं

v) केवल सम्पूर्ण के हिस्से ही परस्पर संबंधित नहीं होते हैं बल्कि वे एक दूसरे से अन्तर्क्रिया भी करते हैं और इस प्रक्रिया में स्वयं काम करने की पद्धति विकसित करते हैं।

vi) इन हिस्सों के बीच एक पद्धतिगत संबंध होता है, जबकि सम्पूर्ण हमेशा मौजूद राजनैतिक होता है। व्यवस्था सिद्धांत का बल व्यवस्था की व्याख्या, इसके घटकों और उसके स्वभावों पर होता है ताकि वह समय के साथ चल सकने में सक्षम हो सके।

4.2.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति

व्यवस्था सिद्धांत का मूल प्राकृतिक संसाधनों में निहित है, हालांकि इसकी उत्पत्ति में विज्ञान और वैज्ञानिक विश्लेषण के एकीकरण के लिए चलाए गए कई आंदोलनों का भी हाथ है। व्यवस्था विश्लेषण का मूल विचार जीव विज्ञान से आया है। सामाजिक वैज्ञानिकों ने इसे बाद में अपनाया है। जर्मन विज्ञानी **लुडविग वैन बर्टलैनफी** ने 1930 के दशक में पहली बार सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन किया था और इस सामान्य व्यवस्था सिद्धांत से ही सामाजिक वैज्ञानिकों ने व्यवस्था सिद्धांत की अवधारणा का विकास किया। **बर्टे कैनलाई** ने व्यवस्था को 'अन्तर्क्रियाओं के अध्ययन के तत्व' के रूप में परिभाषित किया है। व्यवस्था की इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए **एन्टोल रैपोर्ट** कहते हैं कि यह :

i) अनिश्चित या अनंत अस्तित्वों का समुच्चय है,

ii) संबंधों को स्पष्ट करता है, ताकि

iii) एक संबंध से दूसरे को अलग किया जा सके या इन संबंधों के आधार पर व्यवस्था के इतिहास तथा प्रकृति का पता लगाया जा सके।

प्रोफेसर एस.एन.रे के अनुसार राजनीति पर 'व्यवस्था' दृष्टिकोण लागू करने से "विषय को इस प्रकार देखने में मदद मिलती है कि 'राजनैतिक पटल का प्रत्येक हिस्सा अलग थलग नहीं रहता बल्कि एक दूसरे से जुड़ा होता है। **डेविड ईस्टन** (*ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पॉलिटिकल लाइफ,* 1965), **गैब्रियल अलमांड** (*कम्परेटिव पॉलिटिक्स: ए डेवेलप्मेंटल एप्रोच,* 1978), डेविड आप्टर; *इन्ट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल एनालिसिस,* 1978), **कार्ल डेश** (*नेशन ऐंड वर्ल्ड: कन्टेम्प्री पॉलिटिकल साइंस,* 1967), **मार्टन कैपलन** (*सिस्टम ऐंड प्रोसेस इन इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स,* 1957 या **हैरोड लैसवेल** के साथ *पावर ऐंड सोसाइटी,* 1950) और अन्य प्रसिद्ध अमेरिकी सामाजिक वैज्ञानिकों ने राजनीति विज्ञान में इस व्यवस्था विश्लेषण की शुरुआत की। खास तौर पर **ईस्टन** सर्वप्रमुख राजनीति वैज्ञानिक हैं जिन्होंने राजनीति के लिए व्यवस्था विश्लेषण का महत्व और उपयोगिता प्रतिपादित की। राजनैतिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि ये "कुछ आचरण या अन्तर्क्रियाएं हैं जिनके जरिए निरंकुश आवंटन किए जाते हैं और इसे समाज पर आरोपित किया जाता है।"

MAADHYAM IAS

4.2.3 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

किसी भी अन्य आधुनिक दृष्टिकोण के समान व्यवस्था दृष्टिकोण का विकास भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है। तुलनात्मक राजनैतिक अध्ययन को परम्परागत दृष्टिकोणों से समझना कारगर सिद्ध न होने पर इन्हें वैज्ञानिक ढंग से समझना महत्वपूर्ण हो गया। प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान दोनों ही अनुशासनों के प्रभाव और उनके परस्पर अन्तर-संबंधों से तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को नई गति मिली और यह बात सामने आई कि वैज्ञानिक विश्लेषण ही राजनीति को समझने का एकमात्र तरीका है। समय के साथ-साथ संविधानों और सरकारों के अध्ययन के बजाए राजनैतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन ज्यादा महत्वपूर्ण होने लगा। राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन की अपेक्षा राजनैतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर ज्यादा बल दिया जाने लगा। विश्वयुद्ध के बाद खासतौर पर अमेरिका के विद्वानों के लेखन में एक मूलभूत परिवर्तन आया जब उन्होंने सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान से मदद ली और राजनैतिक अध्ययनों को अनुभव आधारित बनाया। इस प्रयास से कई अवधारणाओं का परीक्षण किया जा सका। सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (अमेरिका) ने तुलनात्मक राजनीति के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अनुकूल माहौल तैयार किया। **फोर्ड फांउडेशन, रॉकफेलर फाउंडेशन** और **कारनेगी फाउंडेशन** जैसी अमेरिकी संस्थाओं ने तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के लिए उदारता से धन उपलब्ध कराया। इस प्रकार तुलनात्मक राजनैतिक में नए दृष्टिकोणों, नई परिभाषाओं, नए अनुसंधानों, उपकरणों का समावेश संभव हुआ। इन सब कारणों से इस अनुशासन में एक प्रकार की क्रांति आ गई। इसके प्रयत्नों, समस्याओं और प्रविधियों की परिभाषाओं में क्रांतिकारी बदलाव आया। (देखिए **माइकल रश** और **फिलिप एलथौफ**, *ऐन इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल सोशियोलॉजी*) **ईस्टन, अलमांड, कैप्लान** जैसे लेखकों द्वारा तुलनात्मक राजनीति में अन्य आधुनिक दृष्टिकोण की तरह व्यवस्था विश्लेषण के समावेश का प्रवेश वस्तुतः एक-आयामीयता की परम्परागत प्रकृति के खिलाफ विद्रोह था जो वैज्ञानिक विश्लेषण के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा थी। इन विद्वानों के प्रयास से ज्ञान का एकीकरण भी हो सका। व्यवस्था दृष्टिकोण एक ऐसा आधुनिक दृष्टिकोण है जिसके द्वारा पहले की अपेक्षा राजनैतिक गतिविधि और राजनैतिक आचरण को स्पष्टता से समझने में ज्यादा मदद मिली। इसने सामाजिक परिघटना को एक अन्तर्क्रियात्मक संबंधों के रूप में देखा और यह माना कि व्यवस्था विश्लेषण केवल राजनीति के विज्ञान से ही सम्बद्धित नहीं है बल्कि इसका संबंध सभी सामाजिक विज्ञानों से है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) व्यवस्था दृष्टिकोण का विचार कहां से आया ?

क) खगोल विज्ञान

ख) जीव विज्ञान

ग) ज्योतिष विज्ञान

घ) अर्थशास्त्र

2) व्यवस्था दृष्टिकोणों का बल किस बात पर है ?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) निम्नलिखित में से कौन व्यवस्था सिद्धांत के प्रतिपादक नहीं हैं ?

क) डेविड ईस्टन

ख) मॉर्टन कैप्लन

ग) हारोल्ड लास्की

घ) गैब्रियल एलमंड

4) परम्परागत दृष्टिकोणों की खामियों पर संक्षेप में विचार कीजिए। (केवल उनका उल्लेख कीजिए)

....

....

....

....

4.3 सामान्य व्यवस्था सिद्धांत और व्यवस्था सिद्धांत

4.3.1 सामान्य व्यवस्था और व्यवस्था दृष्टिकोण में अन्तर

आमतौर पर व्यवस्था दृष्टिकोण और व्यवस्था सिद्धांत को एक ही मान लिया जाता है। हो सकता है कि व्यवस्था विश्लेषण का उदय सामान्य व्यवस्था सिद्धांत से हुआ हो परंतु कई मामलों में दोनों में अन्तर है। व्यवस्था सिद्धांत और सामान्य व्यवस्था सिद्धांत को एक साथ मिलाना भूल होगी। एक तरफ जहां सामान्य व्यवस्था सिद्धांत एक ऐसी व्यवस्था का भान कराता है जो मनुष्य के शरीर के अंगों की तरह एक दूसरे से जुड़े हुए हैं वहीं व्यवस्था सिद्धांत अंगों के अलग अस्तित्व को नहीं मानता। इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य व्यवस्था सिद्धांत व्यवस्था की संगठित एकता पर बल देता है वहीं व्यवस्था सिद्धांत अनेकता में एकता की बात करता है। इसी कारण सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का उपयोग संभावित और सामाजिक परिघटनाओं के विश्लेषण के लिए नहीं किया जाता है।

व्यवस्था सिद्धांत को राजनैतिक परिघटना पर सफलतापूर्वक लागू किया जाता है; उदाहरणस्वरूप **डेविड ईस्टन** ने राजनीति में व्यवस्था सिद्धांत को लागू किया है। **प्रो. कैप्लन** ने सामान्य व्यवस्था सिद्धांत और व्यवस्था सिद्धांत का अन्तर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार व्यवस्था सिद्धांत सभी व्यवस्थाओं का आम सिद्धांत नहीं है। हालांकि सामान्य व्यवस्था सिद्धांत विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं में अन्तर करता है और ऐसा ढांचा स्थापित करता है जिसके तहत विषय वस्तु में अन्तर होने के बावजूद विभिन्न व्यवस्थाओं की समानताओं को पहचाना जा सकता है। विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं की व्याख्या के लिए विभिन्न प्रकार के सिद्धांतों की जरूरत होती है, व्यवस्था सिद्धांत न केवल सामान्य सिद्धांत दृष्टिकोण से आगे बढ़ा हुआ एक कदम है बल्कि असफलता के कारणों की भी व्याख्या करता है। इसलिए राजनीति के अध्ययन के लिए सामान्य सिद्धांत की अपेक्षा व्यवस्था सिद्धांत में तुलनात्मक प्रवृत्ति ज्यादा है और इसमें तुलनात्मक राजनीति को समझने में ज्यादा मदद मिलती है। इसके अलावा सामाजिक विज्ञान खासकर राजनीति विज्ञान में सामान्य व्यवस्था सिद्धांत की अवधारणाओं का उपयोग करना संभव नहीं है। परंतु व्यवस्था सिद्धांत ने कई ऐसी अवधारणाएं (जैसे आगत- निर्गत, स्थायीत्व संतुलन, प्रतिपुष्टि) दी हैं जिन्हें अनुभववादी राजनीति वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

4.3.2 व्यवस्था विश्लेषण: विशिष्ट विशेषताएं

व्यवस्था विश्लेषण में व्यवस्था को अन्तर्क्रियाओं के समुच्चय के रूप में देखा जाता है। **ओ आर यंग**

के अनुसार यह "कुछ वस्तुओं का समुच्चय है। इन वस्तुओं और उनके कार्यों में आपसी संबंध होता है।" यह कहने का मतलब कि 'एक व्यवस्था मौजूद है', यह होता है कि यह इसके तत्वों या उन वस्तुओं में मौजूद है; यह कहना कि 'व्यवस्था काम कर रही है', का तात्पर्य हुआ कि इसके तत्व (वस्तु) एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और एक बनाए हुए ढांचे में अन्तर्क्रिया कर रहे हैं। एक व्यवस्था विश्लेषक अन्तर्क्रियात्मक और जाल जैसी वस्तु की कल्पना करता है और उनके बीच हमेशा मौजूद रहने वाले संबंधों की बात करता है। वह अन्तर्क्रियात्मक संबंधों का पक्षधर होता है और उसके उद्देश्य और प्रमुख सरोकार इस प्रकार होते हैं:

i) किसी व्यवस्था के बने बनाए व्यवहार पर बल देना,

ii) उनके बीच अन्तर्क्रियात्मक आचरण की व्याख्या करना,

iii) उन कारकों के लिए अनुसंधान करना जिनसे व्यवस्था बनाए रखने में मदद मिलती है।

स्वयं व्यवस्था को समझने के लिए व्यवस्था विश्लेषण कई प्रकार की अवधारणाएं बनाता है और इसकी व्याख्या करता है। इसमें व्यवस्था, उप-व्यवस्था, परिवेश, आगत, निर्गत, रूपांतरण प्रक्रिया, प्रतिपुष्टि आदि शामिल हैं। व्यवस्था का अर्थ इसके विभिन्न भागों अर्थात वस्तुओं के बीच परस्पर सम्बद्धता और व्यवहारमूलक पद्धतियों का प्रदर्शन है। जिस व्यवस्था में बड़ी व्यवस्था का तत्व होता है उसे उप-व्यवस्था कहते हैं। जिस माहौल में व्यवस्था काम करती है उसे परिवेश कहते हैं। व्यवस्था को अपने परिवेश से अलग करने वाली रेखा को सीमा कहते हैं। व्यवस्था मांगों के रूप में परिवेश से आगत प्राप्त करती है और इसके कार्य व्यापार के लिए समर्थन चाहती है। जैसे ही व्यवस्था काम करना शुरू करती है, वैसे आगतों के द्वारा रूपांतरण प्रक्रिया शुरू कर दी जाती है और इसे व्यवस्था निर्गत प्राप्त होता है जिसमें लागू किए जाने वाले नियमों या कार्यान्वित की जानेवाली नीतियां समाहित होती हैं। जब व्यवस्था निर्गत आगतों को परिवर्तित या रूपांतरित करने के लिए परिवेश को प्रभावित करती हैं तो प्रतिपुष्टि प्राप्त होती है।

इस प्रकार व्यवस्था दृष्टिकोण की अपनी कुछ खास विशेषताएं होती हैं। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं:

i) कोई भी सामाजिक परिघटना अलग-थलग नहीं घटती; यह सम्पूर्ण का एक हिस्सा है जो एक साथ जुड़े होते हैं। यह एक इकाई है, एक जीवित इकाई जिसका एक अस्तित्व और उद्देश्य है।

ii) इसके अंग एक साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं और वस्तुतः मूलरूप से एक दूसरे से नहीं जुड़े हैं परंतु वे इस अर्थ में एक सम्पूर्ण का निर्माण करते हैं कि उनके बीच अन्तर्क्रिया होती है और इनमें परस्पर संबंध होता है। विशेष व्यवहारमूलक संबंध इन्हें जीवन्त व्यवस्था के रूप में ढालता है।

iii) यह आगतों और निर्गतों के जरिए काम करता है। यह उस परिवेश में काम करता है जिसे प्रभावित करता है और जो बदले में परिवेश को प्रतिपुष्टि प्रदान करता है।

iv) इसका मुख्य सरोकार है कि यह अपना रखरखाव किस प्रकार बेहतर ढंग से कर सके और ह्रास तथा अवनति की चुनौतियों का सामना कर सके।

v) इसमें इसके विभिन्न अंगों के बीच बने बनाए संबंध होते हैं, उनके सापेक्ष व्यवहार की व्याख्या की जाती है और उनकी भूमिका का जिक किया जाता है।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

4.3.3 व्यवस्था दृष्टिकोण: सरोकार और उद्देश्य

व्यवस्था विश्लेषण के कुछ उद्देश्य होते हैं। वेल्श के अनुसार इसमें अवधारणात्मक संगति, परिवर्तन और उद्देश्य प्राप्ति पर बल दिया जाता है। वेल्श के अनुसार व्यवस्था दृष्टिकोण का पहला सरोकार 'व्यवस्था की अखंडता को बनाए रखना होता है' जो उसके अनुसार व्यवस्था के सुव्यवस्थित बनाए

रखने की क्षमता पर निर्भर करता है। निश्चित रूप से व्यवस्था एक 'नियमित प्रक्रिया' विकसित करती है, 'जिसमें समाज के अल्प संसाधनों' को इस प्रकार वितरित किया जाता है कि इसके सभी सदस्य पर्याप्त रूप से संतुष्ट रहें और किसी भी हालत में अव्यवस्था और गड़बड़ी की स्थिति न आने दें। वेल्श के अनुसार व्यवस्था दृष्टिकोण का एक दूसरा सरोकार यह है कि व्यवस्था बदलते हुए परिवेश की चुनौती का सामना किस प्रकार करती है। परिवेश में होनेवाले परिवर्तन स्वाभाविक हैं। इसलिए व्यवस्था पर परिवेश का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। व्यवस्था को अपने को परिवेश में होनेवाले बदलावों खासकर प्रौद्योगिकी और आर्थिक बदलावों के अनुसार बदलना पड़ता है। व्यवस्था दृष्टिकोण बदलावों के अनुसार व्यवस्था में आनेवाले बदलावों और परिवेश के अनुसार पहले किए गए बदलावों के बीच होनेवाले टकरावों और इन टकरावों को दूर करने की क्षमताओं की पहचान करता है। व्यवस्था दृष्टिकोण का तीसरा उद्देश्य लक्ष्य की प्राप्ति है। लोग अपने को संगठित क्यों करते हैं? लोग एक खास तरीके से एक दूसरे पर निर्भर क्यों होते हैं और अन्तर्क्रिया क्यों करते हैं, लोग क्यों खास व्यवहार प्रदर्शित करने के लिए खास रवैया अपनाते हैं? निश्चित रूप से वे ऐसा करते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऐसा करना जरूरी है। कोई भी व्यवस्था बिना लक्ष्य के स्पष्टीकरण, निर्धारण और कार्यान्वयन के अधिक दिन तक नहीं टिक सकती। वेल्श के अनुसार 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यवस्था के लिए सम्पूर्ण रूप से इन लक्ष्यों को परिभाषित किया जाता है और जिसके द्वारा व्यवस्था के सदस्य इन लक्ष्यों की प्राप्ति की कोशिश करते हैं, वे व्यवस्था दृष्टिकोण की महत्वपूर्ण शक्तियां हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) सामान्य व्यवस्था सिद्धांत और व्यवस्था सिद्धांत के दो प्रमुख अन्तर बताइए।

....

....

....

....

2) निम्नलिखित को संक्षेप में समझाइए :

i) आगत

....

....

ii) निर्गत

....

....

MAADHYAM IAS

iii) उप-व्यवस्था

....

....

....

iv) प्रतिपुष्टि

....

....

3) व्यवस्था दृष्टिकोण की दो विशेषताएं बताइए।

....

....

....

....

4) व्यवस्था दृष्टिकोण के प्रमुख सरोकार क्या हैं ? इसके तीन उद्देश्यों की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

4.4 व्यवस्था विश्लेषण की व्युत्पत्तियां

4.4.1 राजनैतिक व्यवस्था व्युत्पत्ति

राजनैतिक व्यवस्था या आगत निर्गत दृष्टिकोण व्यवस्था विश्लेषण की एक व्युत्पत्ति है। **डेविड ईस्टन** उन पहले राजनीति वैज्ञानिकों में से हैं जिन्होंने राजनीति के अध्ययन के लिए व्यवस्था दृष्टिकोण का उपयोग किया था। उन्होंने 'सिद्धांत के स्तर को व्यवस्थित करने और नए तथा मददगार तरीके से राजनैतिक परिघटना को व्याख्यायित करने के लिए कुछ मौलिक अवधारणाएं' प्रदान की थी (**डेविस ऐंड लेविस:** *'मॉडल्स ऑफ पोलिटिकल सिस्टम्स'*)। उन्होंने राजनैतिक व्यवस्था को विश्लेषण की एक आधारभूत इकाई के रूप में चुना और विभिन्न व्यवस्थाओं के परस्पर आचरण पर बल दिया। उनके अनुसार राजनैतिक व्यवस्था में 'अन्तर्क्रिया के द्वारा मूल्यों को समाज के लिए जबरन आवंटित और कार्यान्वित किया जाता है।' ईस्टन की राजनैतिक व्यवस्था की अवधारणा की प्रमुख विशेषताओं को जानना लाभदायक होगा जिसका उल्लेख हम संक्षेप में कर रहे हैं :

क) राजनैतिक व्यवस्था में कुछ अन्तर्क्रियाएं होती हैं जिनके द्वारा मूल्यों को मनमाने ढंग से आवंटित किया जाता है। कहने का मतलब यह है कि सत्ता में बैठे लोगों का निर्णय समाज को मानना पड़ता है।

ख) राजनैतिक व्यवस्था जनता और इसके संस्थानों के नियमित और बने बनाए संबंधों की व्याख्या है।

ग) किसी भी अन्य प्राकृतिक व्यवस्था के समान राजनैतिक व्यवस्था एक आत्म नियंत्रित व्यवस्था है जिसके द्वारा इसकी प्रकियाओं और संरचनाओं में परिवर्तन, सुधार और सामंजस्य कायम किया जा सकता है।

घ) राजनैतिक व्यवस्था परिवर्तनशील और गतिशील है और यह प्राप्त प्रतिपुष्टि के आधार पर अपना रखरखाव करती है। प्रतिपुष्टि के आधार पर ही यह व्यवस्था अपने काम काज के ढंग को परिवर्तित करती है।

MAADHYAM IAS

ड.) राजनैतिक व्यवस्था भौतिक, जीव विज्ञान, सामाजिक, आर्थिक, पारिस्थितिकी व्यवस्थाओं और परिवेशों से अलग है। परंतु इसका प्रभाव उन पर पड़ता है। सीमा रेखाएं उन्हें अलग करती हैं।

च) मांग और समर्थन के जरिए प्राप्त आगत से राजनैतिक व्यवस्था की गाड़ी आगे बढ़ती है जबकि निर्गत नीतियों और निर्णयों के द्वारा उन अंशों को अलग कर दिया जाता है जिन्हें जनता स्वीकार नहीं करती। इस बात का पता प्रतिपुष्टि से चलता है।

ओ.आर. यंग ने ईस्टन की *राजनैतिक व्यवस्था का सार* प्रस्तुत करते हुए कहा है कि: ''कुल मिलाकर राजनैतिक व्यवस्था को एक रूपांतरण प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है जो काम करती है, निर्गत का उत्पादन करती है और अपने परिवेश को बदलती है जिसमें राजनैतिक व्यवस्था और बदलते परिवेश के बीच लगातार लेन-देन होता रहता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। इसी के साथ-साथ इस दृष्टिकोणों में कई ऐसी अवधारणाओं का विकास हुआ है जो राजनीति में होनेवाले परिवर्तनों पर विचार करते हैं। इसमें व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन और जनता से प्राप्त प्रतिपुष्टि के आधार पर किए जानेवाले लक्ष्य-परिवर्तन का भी अध्ययन किया जाता है।'' **ईस्टन** की राजनैतिक व्यवस्था दृष्टिकोण पर कड़े प्रहार किए गए हैं। **प्रो. एस.पी.वर्मा** के अनुसार यह एक अमूर्तिकरण है जिसका अनुभववादी राजनीति (जो क्लासिक है) से संबंध स्थापित करना असंभव है। **इयूगेन मीहन** के अनुसार ईस्टन सिद्धांत को समझाने का कम प्रयास करते हैं और अवधारणात्मक ढांचे के निर्माण की ओर अधिक ध्यान देते हैं। उनका विश्लेषण राजनैतिक व्यवस्था में सत्ता की अवस्थिति और वितरण के प्रश्न पर ज्यादा केंद्रित रहता है। वे राजनैतिक व्यवस्था के रूपांतरण और दृढ़ता के साथ-साथ बल, स्थायित्व और तुलना के नियमन जैसे प्रश्नों पर ज्यादा विचार करते हैं और इस प्रकार केवल यथास्थिति बनाए रखने की वकालत करते हैं। **यंग** बताते हैं कि ईस्टन के सिद्धांत में राजनैतिक व्यवस्था के पतन, बिखराव और ह्रास की कम चर्चा है। इस प्रकार के सभी दावों के बावजूद राजनैतिक व्यवस्था दृष्टिकोण का निर्माण व्यापक अध्ययन के लिए किया गया है। ईस्टन अपने अध्ययन में उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी दुनिया से आगे नहीं बढ़ पाए। **ईस्टन** की राजनैतिक व्यवस्था या आगत-निर्गत में केवल वर्तमान पर विचार किया गया है और इस प्रकार इसमें भविष्य का कोई नजरिया नहीं होता है और अतीत का भी कम अध्ययन होता है।

आगत-निर्गत या राजनैतिक व्यवस्था दृष्टिकोण की खूबियों को नकारा नहीं जा सकता है। तुलनात्मक विश्लेषण के लिए इस दृष्टिकोण ने बेहतरीन तकनीक प्रस्तुत की है। इसके द्वारा कुछ अवधारणाएं और वर्गीकरण प्राप्त हुए हैं जिसके चलते तुलनात्मक विश्लेषण अधिक रोचक और निर्देशात्मक हो गया है। यंग ने यह स्वीकार किया है कि ईस्टन का विश्लेषण ''निस्संदेह किसी राजनीति वैज्ञानिक द्वारा राजनीति के विश्लेषण के लिए खासतौर पर बनाया गया सर्वाधिक आगमिक व्यवस्थित दृष्टिकोण है।'' **इयूगेन मीहन** के अनुसार ''ईस्टन ने राजनीति विज्ञान में व्यवस्था विश्लेषण और राजनीति के कार्यात्मक सिद्वान्त के लिए एक व्यापक आधार निर्मित करने का प्रयास किया है।''

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

4.4.2 संरचनात्मक-कार्यात्मक व्युत्पत्ति

संरचनात्मक कार्यात्मक विश्लेषण, व्यवस्था दृष्टिकोण की एक अन्य व्युत्पत्ति है। इस विधि का इस्तेमाल पहले समाजशास्त्र में हुआ था और **मौलिनेस्की** तथा **रेडलिफ** ब्राउन जैसे **नृशास्त्रियों** ने अपने लेखन में पहले पहल उपयोग किया था। **गैब्रियल एलमांड** ने खासतौर पर तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन करने के लिए इसे अपनाया था और इस प्रकार इस सिद्धांत का राजनीति विज्ञान में प्रवेश हुआ। संरचनात्मक-कार्यात्मक व्युत्पत्ति का मूलभूत सरोकार व्यवस्था के रखरखाव और नियमन की परिघटना से है। इस दृष्टिकोण का मूलभूत सैद्धांतिक विचार यह है कि सभी व्यवस्थाएं अपने ढांचों के जरिए कार्य करती हैं। **यंग** के अनुसार इस दृष्टिकोण का केन्द्रीय प्रश्न यह है कि ''किस समाज में कौन सा ढांचा कौन सा आधारभूत कार्य किस परिवेश में करता है।'' व्यवस्था दृष्टिकोण की

संरचनात्मक-कार्यात्मक व्युत्पत्तियों की आधारभूत मान्यताएं इस प्रकार हैं:

1) समाज एक एकल अन्तर संबंधित व्यवस्था है जिसमें इसका प्रत्येक तत्व विशिष्ट कार्य करता है और जिसका आधारभूत लक्ष्य संतुलन बनाए रखना है।

2) एक सम्पूर्ण व्यवस्था होने के कारण समाज के कई हिस्से होते हैं जो आपस में जुड़े होते हैं।

3) स्थायित्व सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख प्रवृत्ति होती है जिसकी देखभाल यह अपने बनाए हुए तंत्र से करती है।

4) यह एक स्थापित तथ्य है कि व्यवस्था आन्तरिक टकरावों को सुलझाती है।

5) व्यवस्था में स्वाभाविक तौर पर परिवर्तन होते रहते हैं। पर वे न तो आकस्मिक और न ही कांतिकारी होते हैं। यह परिवर्तन हमेशा धीरे-धीरे होता है।

6) व्यवस्था का अपना एक ढांचा होता है जिसके अपने लक्ष्य, सिद्धांत और कार्य होते हैं। संरचनात्मक कार्यात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था में कई संरचनाएं होती हैं जिसमें कई प्रकार की कार्यवाइयां और इन कार्यवाइयों को करने वाली संस्थाएं निहित होती हैं। **प्लानो** (*डिक्शनरी ऑफ पोलिटिकल एनालिसिस*) के अनुसार इस संदर्भ में कार्य का मतलब होता है "किसी व्यवस्था के रखरखाव या स्थायिकरण के लिए किसी उद्देश्य की पूर्ति'' और संरचना का संबंध "सम्बद्ध भूमिकाओं के किसी समुच्चय से होता है जिसमें राजनैतिक दल और विधायिकाओं जैसी कुछ ठोस संगठनात्मक संरचनाएं शामिल होती हैं।'' संरचनात्मक कार्यात्मक विश्लेषण के संबंध में **प्लानो** का मानना है कि "किसी व्यवस्था के आवश्यक और कम से कम आवर्ती कार्यों की पहचान की जाती है। इसमें संरचनाओं के प्रकारों के निर्धारण के साथ-साथ उन परस्पर संबंधों का भी पता लगाने की कोशिश की जाती है जिसके द्वारा ये कार्य सम्पन्न होते हैं।

गैब्रियल एलमांड ने अपनी पुस्तक *'द पोलिटिक्स ऑफ द डेवेलपिंग एरियाज'*, 1960 ,की भूमिका में संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण के बारे में बेहतरीन वक्तव्य दिया। संक्षेप में कहा जाए तो सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं की एक संरचना होती है अर्थात मनुष्य की अन्तर्क्रियाओं की विधिसम्मत पद्धतियां होती हैं जिनके द्वारा सुव्यवस्था स्थापित की जाती है; सभी राजनैतिक संरचनाएं अपना-अपना कार्य करती हैं। अलग-अलग राजनैतिक व्यवस्थाओं में इनके कार्य करने का बल अलग-अलग होता है; इसके आगतों में शामिल है :

क) राजनैतिक सामाजीकरण और नियुक्ति,

ख) हित निरूपण,

ग) हित वृद्धि,

घ) राजनैतिक सम्प्रेषण निर्गत कार्य इस प्रकार हैं:

i) कानून बनाना,

ii) कानून लागू करना,

iii) कानून निर्णयादेश,

MAADHYAM IAS

एलमंड राजनीति को किसी समाज का समकलनात्मक और अनुकूली कार्य मानते हैं जो कमोबेश वैध शारीरिक बल प्रयोग पर आधारित होता है। उनके अनुसार राजनैतिक व्यवस्था "अन्तर्क्रियाओं की एक व्यवस्था है जो उन सभी स्वतंत्र समाजों में मौजूद होती है जो समाज में व्यवस्था की कमोबेश वैध देखभाल करने या उसे परिवर्तित करने का प्रयास कर या प्रयास करने की धमकी देकर समाकलन या अनुकूलन कार्य करते हैं।'' उनका मानना है कि राजनैतिक और अन्य सामाजिक व्यवस्थाएं परस्पर निर्भर हैं। राजनैतिक संरचनाएं सभी व्यवस्थाओं में एक सा कार्य करती है; सभी राजनैतिक व्यवस्थाएं अपने परिवेश के अनुसार ढल जाती हैं जबकि राजनैतिक संरचनाएं अलग-अलग

ढंग से व्यवहार करती हैं। ईस्टन के आगत-निर्गत प्रारूप और एलमंड के संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण में एक आधारभूत अंतर है। ईस्टन राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों की अन्तर्क्रिया और अन्तर्संबंधों पर बल देता है। एलमंड राजनैतिक संरचनाओं और उनके कार्यों पर बल देते हैं और संभवतः संरचनात्मक - कार्यात्मक विश्लेषण की पहली कमजोरी है कि इसमें संरचनाओं के कार्यों की तो बात की जा रही है परंतु अन्तर्क्रियाओं को नजरअंदाज किया जा रहा है जो राजनैतिक व्यवस्था के अंग के रूप में विविध संरचनाओं की विशिष्टता होती है।

एलमांड के प्रारूप की एक खामी यह है कि इसका विश्लेषण एक छोटे आधार पर निर्भर है क्योंकि इसमें पश्चिमी राजनैतिक व्यवस्था और खासकर अमेरिकी राजनैतिक व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। इसमें आगत पक्ष पर जरूरत से ज्यादा बल दिया गया है और राजनैतिक व्यवस्था की व्याख्या करने में निर्गत पक्ष पर कम बल दिया गया है और इस प्रक्रिया में प्रतिपुष्टि या फीडबैक प्राप्त करने का तरीका दिखावा मात्रा बनकर रह गया है। ईस्टन की तरह एलमंड भी यथास्थितिवादी हैं क्योंकि वह भी व्यवस्था बनाए रखने पर जरूरत से ज्यादा बल देते हैं। इसके बारे में **सरटोरी** की टिप्पणी है कि "संरचनात्मक-कार्यात्मक एक पंगु विद्वान है। वह दो पैरों पर चलने का दावा करता है। वस्तुतः उसका एक पैर खराब है। वह संरचना और कार्य के आपसी संबंध को समझ नहीं सका है। क्योंकि कभी-कभी ये दोनों अलग-थलग कार्य करते प्रतीत होते हैं, इस दौरान पूरी संरचना इसके आगत कार्यात्मक उद्देश्य का बिन्दु होता है।"

इसके बावजूद संरचनात्मक-कार्यात्मक प्रारूप की खूबियों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इस प्रारूप ने राजनीति विज्ञान और खासकर तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण अवधारणात्मक उपकरण उपलब्ध कराया है। इस प्रकार संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण ने इस विषय को समृद्ध किया है। राजनैतिक वास्तविकताओं के कई सत्य सामने उभर कर आए हैं। इसी कारण इस प्रारूप को ज्यादा से ज्यादा स्वीकृति मिली है और इसका उपयोग वर्णानात्मक व्यवस्थित ढांचे के रूप में होता है।

4.4.3 साइबरनेटिक्स व्युत्पत्ति

साइबरनेटिक्स या संचार दृष्टिकोण व्यवस्था विश्लेषण की एक अन्य व्युत्पत्ति है। **कार्ल डेश** (द नर्व्स ऑफ गर्वनमेंट, 1966) साइबरनेटिक्स मॉडल के प्रमुख प्रतिपादक कहे जा सकते हैं। साइबरनेटिक्स को 'संचार और नियंत्रण विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया जाता है। इसका बल "सभी प्रकार के संगठनों में संचार और नियंत्रण के व्यवस्थित अध्ययन' पर है। साइबरनेटिक्स में यह माना जाता है कि सभी संगठनों की कुछ आधारभूत विशेषताएं एक जैसी हैं और यह कि प्रत्येक संगठन संचार द्वारा एक दूसरे से जुड़े होते हैं। सरकार एक संगठन है। इसलिए वे सूचना प्रक्रियाओं के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। साइबरनेटिक्स दृष्टिकोण संबंधी अवधारणाओं का विकास करते समय डेश ने खासतौर पर सूचना, संचार और चैनलों पर विचार किया है। सूचना विभिन्न घटनाओं के बीच एक पद्धति परक संबंध को स्थानांतरित करती है, और चैनलों के जरिए ये सूचनाएं स्थानांतरित की जाती हैं। डेश का कहना है कि उसकी पुस्तक *द नर्व्स ऑफ गवर्नमेंट*, में राजनीतिरूपी शरीर की चर्चा करते समय हड्डियों और मांसपेशियों की कम चर्चा की गई है और नसों पर ज्यादा बल दिया गया है। नसों ....संचार के चैनलों पर ज्यादा बल दिया है। उनके लिए राजनीति का मुख्य क्षेत्र **प्रवर्तनीय** निर्णयों और सुरक्षित राजनीति का क्षेत्र है।" यह समाज के लक्ष्यों की प्राप्ति करने के लिए मनुष्य के प्रयत्नों का परस्पर निर्भर संस्थागतयोजन है।" उनके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था और कुछ नहीं बल्कि संचार चैनलों का एक संजाल है।

तंत्रिका विज्ञान (न्यूरो फिजियोलॉजी), मनोविज्ञान और विद्युत इंजीनियरी का इस्तेमाल करते हुए डेश ने जीवित वस्तुओं, इलेक्ट्रॉनिक्स मशीनों और सामाजिक संगठनों की प्रक्रियाओं और कार्यात्मक जरूरतों में समानता स्थापित की। "मस्तिष्क, कम्प्यूटर, समाज,......उन सभी की विशिष्टताओं से

MAADHYAM IAS

संगठन बनते हैं: इनमें संप्रेषण और सूचना की प्रतिक्रिया व्यक्त करने की क्षमता है।'' (**डेविस** और **लेविस** *'मॉडल्स ऑफ पॉलिटिकल सिस्टम्स,'* 1971)

साइबरनेटिक्स मॉडल की विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1) साइबरनेटिक्स मॉडल में प्रतिपुष्टि/फीडबैक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसे सर्वो-मेकैनिज्म या सहायक तंत्र कहा जाता है। **डेश** के अनुसार फीडबैक एक ऐसा संचार संजाल/नेटवर्क है जो आगत सूचना की जवाबी कार्यवाई करता है।

2) राजनैतिक व्यवस्था सहित सभी संगठनों में फीडबैक शामिल होता है। इसी फीडबैक के कारण विश्लेषण में गतिशीलता आती है वरना विश्लेषण स्थिर ओर गतिहीन बन कर रह जाएगा।

3) साइबरनेटिक्स में फीडबैक अवधारणा की कुछ उपधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं और इसमें कुछ निषेधात्मक फीडबैक (सूचना प्राप्ति), लोड (सूचना भार), लैग (कार्यवाई में लगने वाला समय), गेन (कार्यवाई का स्वरूप), और लीड (कार्यवाई से निपटना) होती है।

   डेविस और **लेविस** इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :

   "निषेधात्मक फीडबैक में किसी व्यवस्था द्वारा लिए गए निर्णयों और कार्यवाइयों की सूचना प्राप्त होती है और जिससे व्यवस्था द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इसके व्यवहार में परिवर्तन आता है। लोड का तात्पर्य सूचना की उस कुल मात्रा से है जो एक व्यवस्था के पास एक समय में हो सकती है। लैग का मतलब उस विलंब से है जो निर्णयों के परिणामों की सूचना देने और प्राप्त सूचना पर कार्यवाई करने में होता है। गेन का मतलब है कि कोई व्यवस्था प्राप्त सूचना पर किस प्रकार कार्यवाई करती है। लीड का अर्थ यह है कि किसी व्यवस्था में निर्णयों और कार्यवाई से भविष्य में होने वाले परिणामों से निपटने की कितनी क्षमता है।''

4) फीडबैक की अवधारणाओं की उप-धारणाओं को दिए गए अर्थ की रोशनी में किस प्रकार की व्यवस्था का जन्म होता है ? इस संबंध में डेश का मानना है कि सभी राजनैतिक व्यवस्थाएं लक्ष्योन्मुख होती हैं। लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता लोड और लैग की मात्रा पर निर्भर करती है। एक बिन्दु तक वे गेन की मात्रा से सकारात्मक रूप से जुड़े हो सकते हैं हालांकि यदि गेन ज्यादा होता है तो यह रिश्ता उलट भी सकता है। लीड से इनका रिश्ता हमेशा सकारात्मक होता है। (**यंग**, *'सिस्ट्म्स और पोलिटिकल साइंस'*, 1997); कोई व्यवस्था प्राप्त सूचना पर जरूरत से ज्यादा सक्रिय हो सकती है। इस बात की संभावना होती है कि व्यवस्था के लक्ष्य की प्राप्ति करते समय दुष्क्रिया को बढ़ावा मिले। डेश के साइबरनेटिक्स मॉडल में ईस्टन की अन्तर्क्रिया और अन्तर्सम्बन्ध के आगत-निर्गत मॉडल और ढांचों और उनके कार्यों को व्यक्त करने वाले एलमांड के संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण के स्थान पर संचार, नियंत्रण और चैनल की बात करता है। ये सभी इस व्यवस्था की कार्य पद्धति की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं - बदलते परिवर्तनों के बीच अपने को बदलने की क्षमता और समय के साथ-साथ अपने को बनाए रखने की क्षमता साबित करने का प्रयत्न करता है। डेश मॉडल की अनेक खामियां हैं। यह एक इंजिनियरी दृष्टिकोण है जिसमें मनुष्यों और जीवित संस्थाओं की कार्य निष्पादन की व्याख्या ऐसे की जाती है मानो वे मशीन हों। **साइबरनेटिक्स** इस बात पर ज्यादा बल देते हैं कि निर्णय क्या, कब और कैसे लिया गया और उनका अंत कैसे हुआ? इस दृष्टिकोण में मात्रा पर पर्याप्त बल दिया जाता है और गुणवत्ता को नजरअंदाज कर दिया जाता है। जहां तक इस दृष्टिकोण की जटिलता का प्रश्न है यह एक परिष्कृत दृष्टिकोण है परंतु यह इतना जटिल है कि इससे परिघटना को समझने में मदद नहीं मिलती।

   व्यवस्था दृष्टिकोण की एक व्युत्पत्ति के रूप में साइबरनेटिक्स विश्लेषण से तुलना करने में मदद मिलती है जिससे मनुष्य के व्यवहार के अनुमान की विधि विकसित हुई है। यहां तक कि व्यवस्था को वैज्ञानिक रूप से समझने में भी इसने मदद की है। इसके अलावा साइबरनेटिक्स विधि से

MAADHYAM IAS

कम्प्यूटरिंग और डाटा प्रोसेसिंग में मदद मिलती है। शोध करने में राजनीति वैज्ञानिकों के लिए यह काफी उपयोगी सिद्ध होता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) ईस्टन के आगत-निर्गत मॉडल की कोई तीन विशेषताएं बताइए।

....

....

....

....

2) ईस्टन की राजनैतिक व्यवस्था मॉडल की खूबियां और खामियां बताइए।

....

....

....

....

3) नीचे संरचनात्मक व्यवस्था विश्लेषण की कुछ विशेषताएं दी जा रही हैं; उन पर चर्चा कीजिए।

क) मूल्यों का आवंटन मनमाने ढंग से किया जाना,

ख) नियम बनाना, नियम लागू करना, नियम का आदेश जारी करना,

ग) राजनीतिरूपी शरीर में अस्थियों और मांस-पेशियों के बजाए नसें महत्वपूर्ण होती हैं।

4) डेश के साइबरनेटिक्स सिद्धांत की प्रमुख खामियों की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

5) ईस्टन, एलमांड और डेश के व्यवस्था दृष्टिकोण की व्युत्पत्तियों की तुलना कीजिए।

....

....

....

....

....

4.5 व्यवस्था सिद्धांत: एक मूल्यांकन

4.5.1 व्यवस्था दृष्टिकोण की कमियां

व्यवस्था दृष्टिकोण के द्वारा विज्ञान और खासकर तुलनात्मक राजनीति विज्ञान को राजनैतिक गतिविधि और राजनीति के बारे में व्यापक और स्पष्ट दृष्टि प्रदान करता है। इसलिए व्यापक दृष्टिकोण राजनैतिक परिघटना को एक इकाई और खुद में एक व्यवस्था मानता है और इसे विभिन्न अंगों का कुल जोड़ नहीं मानता बल्कि ऐसे शरीर के रूप में कल्पना करता है जिसके सारे अंग एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। इसमें सभी अंगों के बीच लगातार अन्तर्क्रिया पर बल दिया जाता है और इस प्रक्रिया में व्यवस्था के निर्माण पर बल दिया जाता है।

व्यवस्था सिद्धांतकारों ने जीव विज्ञान से और अन्य प्राकृतिक विज्ञानों से काफी कुछ ग्रहण किया है और इन्द्रीय व्यवस्था की तुलना सामाजिक व्यवस्था से की है। निश्चित रूप से दोनों व्यवस्थाओं में समानताएं हैं परंतु तुलना केवल और हमेशा तुलना ही होती है। इसे एक सीमा से ज्यादा खींचना गलत निष्कर्ष की ओर ले जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य के शरीर के साथ जो हाथ का संबंध है वही संबंध समाज से व्यक्ति का या सरकार के कार्यकारी से विधायिका का है। व्यवस्था सैद्धांतिकों ने तर्क विकसित करने के लिए इन्द्रीय सिद्धांत का विस्तरित रूप निर्मित किया है।

सभी व्यवस्था सिद्धांतकारों ने व्यवस्था के निर्माण और रखरखाव के प्रति प्रतिबद्ध रखे हैं। उनका उद्देश्य व्यवस्था की व्याख्या करना है। इसके अलावा वे व्यवस्था के अस्तित्व को खतरा पहुंचाने वाले कारणों और इस व्यवस्था को मजबूत करने वाले कारणों की चर्चा करते हैं। वे ज्यादातार यथास्थितिवादी होते हैं जिन्हें अतीत का कम ज्ञान होता है और भविष्य की कोई खास चिन्ता उन्हें नहीं होती। व्यवस्था सिद्धांतकारों द्वारा बनाई गई सभी अवधारणाएं वर्तमान को समझने और उनकी व्याख्या करने में सीमित होती हैं। सारा दृष्टिकोण संरक्षण और प्रतिक्रिया में समाहित होता है। राजनीति विज्ञान या तुलनात्मक सरकार राजनीति क्षेत्र में व्यवस्था सिद्धांतकारों ने राज्य के स्थान पर राजनैतिक व्यवस्था को स्थापित किया है। उनका मानना है कि राज्य शब्द की अपेक्षा राजनैतिक व्यवस्था पद का दायरा ज्यादा व्यापक और स्पष्ट है। वस्तुत: इसमें व्यापकता और स्पष्टता पर बल दिया जाता है परंतु राजनैतिक व्यवस्था की विशेषताओं को बताते समय ये सिद्धांतकार राजनैतिक ताकत या शक्ति के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहते जिसके साथ परम्परागत शब्द राज्य आमतौर पर जुड़ा होता है।

विश्लेषकों ने परम्परावादियों की यह कहकर आलोचना की है कि उनके द्वारा किया गया राजनैतिक विश्लेषण विवरणात्मक, स्थिर और गैर तुलनात्मक है। उन्होंने राजनीति विज्ञान तुलनात्मक राजनीति तथा प्राकृतिक और अन्य सामाजिक विज्ञानों में कई अवधारणाओं का निर्माण किया और विभिन्न शैक्षिक अनुशासनों को अन्तर-अनुशासनात्मक बना दिया। यह कहना अतिशियोक्ति होगी कि व्यवस्था सिद्धांतकारों ने एक वैज्ञानिक और अनुभव आधारित सिद्धांत विकसित किया है।

MAADHYAM IAS

4.5.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की खूबियां

यदि व्यवस्था दृष्टिकोण का उद्देश्य सामाजिक बुनावट को समझने के लिए व्यवस्थाओं की अवधारणा का व्याख्या करना था तो यह कहा जा सकता है कि व्यवस्था सिद्धांतकारों का यह प्रयत्न बेकार नहीं गया। यहां यह बताना आवश्यक है कि व्यवस्था विश्लेषण का प्रभाव इतना स्पष्ट है कि अधिकांश तुलनात्मक राजनीति अनुसंधानों में व्यवस्था अवधारणाओं का उपयोग किया जाता है। यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि व्यवस्था दृष्टिकोण ने कई प्रश्नों पर बड़ी गंभीरता से विचार किया जैसे–अपने परिवेश से व्यवस्था का संबंध, समाज के साथ-साथ व्यवस्था का चलना, व्यवस्था का स्थायित्व व्यवस्था के अंग के रूप में ढांचों को दिए गए कार्य, व्यवस्था की गतिशीलता और उपकरण।

व्यवस्था सिद्धांत की खूबियों की चर्चा करते हुए प्रो.एस.एन.रे कहते हैं "इसमें (व्यवस्था सिद्धांत) सूक्ष्म-विश्लेषणात्मक अध्ययन और व्यापक-विश्लेषणात्मक अध्ययन को एक दूसरे में मिलाने का अपूर्व अवसर मिला। इस सिद्धांत द्वारा विकसित अवधारणाओं के कारण नए प्रश्न सामने आए और राजनैतिक प्रक्रियाओं में खोज के नए आयाम सामने आए। इससे सम्प्रेषण दृष्टिकोण का विकास हुआ और इसमें अनुशासन के नजरिए से विषय को देखने का तरीका विकसित हुआ। राजनीति विज्ञान में एक सैद्धांतिक ढांचा बनाने के एक सर्वाधिक महत्वाकांक्षी प्रयत्न के रूप में इसे देखा जा सकता है।"

4.6 सारांश

व्यवस्था दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान और ख़ासकर तुलनात्मक सरकार और राजनीति का एक आधुनिक दृष्टिकोण है। **कैप्लेन, ईस्टन, एलमांड, ऐप्टर** और **डिश** इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक हैं। उनके अनुसार कोई भी व्यवस्था अन्तर्क्रियाओं, अन्तर्सम्बन्धों, व्यक्तियों और संस्थानों के बीच एक बने बनाए व्यवहार का समुच्य है। इसके अलग-अलग ढांचे अपना अलग-अलग कार्य करते हैं और परिवर्तनों के बीच अपने को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं।

हालांकि व्यवस्था दृष्टिकोण व्यवस्था के गतिशील विश्लेषण करने का दावा करता है परंतु यह इसके रखरखाव तक ही सीमित है। यह अनुभवसिद्ध शोध करने का दावा करता है परंतु खोज के लिए पर्याप्त अवधारणात्मक उपकरण देने में यह असफल रहा है। यह व्यवस्था खासकर राज्य की अपेक्षा राजनैतिक व्यवस्था को उभारने में सफल नहीं रही है। यह दृष्टिकोण कमोबेश संकीर्णतावादी और यथास्थितिवादी रहा है।

इसके बावजूद व्यवस्था दृष्टिकोण कई मामलों में अनूठा है। इसने सामाजिक व्यवहारों और सामाजिक अन्तर्क्रियाओं को समझने और विश्लेषित करने की व्यापक संभावनाएं प्रदान की है। इसने प्राकृतिक विज्ञान की काफी सहायता ली है पर सामाजिक विज्ञान ने उनकी अवधारणाओं का सफलतापूर्वक उपयोग किया है। इससे हमारे अनुशासन में एक प्राविधिक परिष्करण आया है।

4.7 शब्दावली

विश्लेषण : सम्पूर्ण शरीर और उनके अंगों के बीच के संबंधों और उनकी प्रकृति की अध्ययन संबंधी खोज।

दृष्टिकोण : विश्लेषण का एक प्रकार जो राजनैतिक परिघटना के अध्ययन और उपकरण तथा अवधारणाएं प्रदान करता है।

अवधारणा : छानबीन करने और विश्लेषण करने के लिए किसी अमूर्त विचार को विस्तार से बताना।

साइबरनेटिक्स : यह संचार और नियंत्रण का विज्ञान है।

संतुलन : यहां इसका तात्पर्य राजनैतिक या किसी अन्य व्यवस्था के संतुलन से है।

प्रतिपुष्टि/फीडबैक : यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी व्यवस्था के कामकाज के ढंग की सूचना प्राप्त होती है और इसके आधार पर सुधार और समायोजन किया जाता है।

समायोजन : समायोजन एक ऐसी प्रकिया है जिससे मेल मिलाप द्वारा व्यवस्था को स्थाई बनाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें निषेधाकारी और स्थिर करने वाले प्रभावों पर कार्यवाई की जाती है।

MAADHYAM IAS

आगत : यह व्यवस्था के काम काज के ढंग को प्रभावित करता है। आगत व्यवस्था के परिवेश में और व्यवस्था के भीतर ही जन्म लेते हैं।

निर्गत : सरकारी नीतियों, निर्णयों, कार्यक्रम और कार्यान्वयन के परिणामों को निर्गत कहते हैं।

प्रतिमान : यह एक प्रारूप, पद्धति या कहें कि अनुसंधान में मदद करने वाला और विचारों को सुसंगठित करता है।

राजनैतिक व्यवस्था : मानव संबंधों की एक चली आ रही पद्धति जिसके द्वारा निरंकुश निर्णय लिए जाते हैं और उन्हें समाज के लिए कार्यान्वित किया जाता है। यह प्रक्रिया: संबंध कार्यवाइयों/संचालनों की एक श्रृंखला है। इसमें गतिविधि, गतिशीलता और किसी परिस्थिति में अधिक स्थाई और धीमे तत्वों से अपेक्षाकृत तीव्र चीजों को अलग किया जा सकता है।

सामाजिक व्यवस्था : यह दो या दो से अधिक व्यक्तियों के किसी एक प्रकार से संवाद करने का ही एक बड़ा रूप है।

स्थायित्व : यह व्यवस्था की एक शर्त है जहां घटक किसी दूसरे से स्थिर संबंध बनाए रखते हैं या फिर संबंध की ओर लौटने का प्रयास करते हैं।

व्यवस्था : एक दूसरे के साथ एक निश्चित संबंध को व्यवस्था कहते हैं।

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

अलमांड, जीए ऐंड पावेल, जीबी, (1978) *"कम्परेटिव पोलिटिक्स: ए डेवल्पमेंट एप्रोच"*, ऑक्सफोर्ड

एप्टर, डेविड ई. (1978) *"इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल एनालिसिस,"* कैम्ब्रिज

चार्ल्सवर्थ, जे (सपं.), *"कन्टेम्प्रेरी पोलिटिकल एनालिसिस,"* न्यू यार्क

डाल रोबर्ट ए., (1979) *"मॉडर्न पोलिटिकल एनालिसिस,"* इंगलवुड क्लिस

डेविस एम.आर. ऐंड लेविस, वी.ए., (1971) *"मॉडल्स ऑफ पोलिटिकल सिस्टम्स,"* लंदन

डेश कार्ल, (1963), *"द नर्व्स ऑफ गवर्नमेंट,"* ग्लैनको

ईस्टन, डेविड, (1965) *"ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ,"* शिकागो

मैकिडिस, आर.सी. ऐंड वर्ड, आर.ई., (1964) *"मॉडर्न पोलिटिकल सिस्टम्स,"* इंगलवुड क्लिस

रे,एस.एन., (1999) *"मॉडर्न कम्परेटिव पोलिटिक्स,"* नई दिल्ली

वर्मा, एस.पी. (1975) *"मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी"*, नई दिल्ली

वर्ल्ड इन्साइक्लोपिडिया ऑफ पोलिटिकल सिस्टम्स, लंदन, 1983

यंग, ओरान, आर., (1966) *"सिस्टम ऑफ पोलिटिकल साइंस"* इंगलवुड क्लिस

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जीव विज्ञान।

MAADHYAM IAS

2) क) व्यवस्था का निरूपण,

   ख) व्यवस्था के घटकों के निरूपण पर,

   ग) व्यवस्था के खुद बने रहने के आधार,

3) ग)

4) क) परम्परागत दृष्टिकोण ऐतिहासिक और ज्यादातर विवरणात्मक है,

   ख) यह संकुचित दृष्टिकोण है,

   ग) यह कमोबेश विवरणात्मक है।

बोध प्रश्न 2

1) क) सामान्य व्यवस्था सिद्धांत को सामाजिक विज्ञान पर व्यवस्था के बराबर लागू किया जाता है जबकि व्यवस्था सिद्धांत को सफलतापूर्वक लागू किया गया है।

   ख) सामान्य व्यवस्था सिद्धांत ने अपना विकास प्राकृतिक विज्ञान (खासकर जीव विज्ञान) से विकसित किया है। यह व्यवस्था को कमोबेश इंद्रियों से आबद्ध मानता है। व्यवस्था दृष्टिकोण के अनुसार सभी तत्व और अंग एक दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हैं

2) i) आगत समाज से मांग करते हैं और इसका जन्म परिवेश से होता है।

   ii) जब आगत रूपांतरित प्रक्रिया में होता है तो उसके परिणाम को निर्गत कहा जाता है। ये कार्यान्वित होनेवाली नीतियों, निर्णयों और कार्यवाइयों के रूप में होता है।

   iii) उप व्यवस्था व्यवस्था का एक हिस्सा होता है जो सम्पूर्ण का एक भाग होता है।

   iv) निर्गत जब परिवेश में कार्यान्वित होता है तो उसकी एक प्रक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया प्राप्ति की विधि को ही फीडबैक कहते हैं जिसके जरिए आगत को सुधारा जाता है।

3) व्यवस्था सिद्धांत की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं:

   i) व्यवस्था सिद्धांत के अनुसार सामाजिक परिघटना एक इकाई है और खासकर एक जीवित इकाई है।

   ii) इसके अनुसार किसी व्यवस्था में विभिन्न तत्वों के बीच अन्तर्क्रिया होती है।

4) व्यवस्था दृष्टिकोण का संबंध निम्नलिखित में से किससे है?

   i) सुव्यवस्था,

   ii) परिवर्तन,

   iii) लक्ष्य की प्राप्ति।

बोध प्रश्न 3

1) क) व्यवस्था अन्तर्क्रिया का एक हिस्सा है

   ख) व्यवस्था के जरिए मूल्यों को निरंकुश तौर पर आवंटित किया जाता हैं

   ग) व्यवस्था आत्म नियंत्रित होती है और स्वयं परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार अपने को परिवर्तित करने, सुधारने, समायोजित करने के काबिल होती है

2) ईस्टन की राजनैतिक व्यवस्था ने तुलनात्मक राजनीति के लिए काफी महत्वपूर्ण तकनीक उपलब्ध कराई हैं। इसने कई अवधारणाएं उपलब्ध कराई हैं जिसके जरिए व्यवस्था को स्पष्ट रूप में समझने में मदद मिली है। ईस्टन मॉडल की खामी यह है कि इसमें राजनैतिक व्यवस्था को व्याख्यायित करने और स्थापित करने का खास प्रयत्न नहीं किया जाता है। ईस्टन का सरोकार व्यवस्था के रखरखाव और नियमन से है और इस प्रकार वह यथा स्थितिवादी है।

MAADHYAM IAS

3) ख)

4) डेश मॉडल एक इंजिनियरी दृष्टिकोण है और इसे अन्य सामाजिक व्यवस्था पर गलत ढंग से आरोपित किया गया है। इसका सरोकार निर्णयों से है, इससे नहीं कि ये निर्णय कैसे और क्यों लिए गए। उसका मॉडल सूचना के संग्रहण पर बल देता है और इसके महत्व को नजरअंदाज करता है।

5) **ईस्टन**, **एलमांड** और **डेश** द्वारा विकसित व्यवस्था दृष्टिकोण की व्युत्पत्तियां व्यवस्था के विभिन्न आयामों पर बल देती है। **ईस्टन** अन्तर्क्रिया और अन्तर्संबंध को व्यवस्था की विशेषता मानता है; एलमांड का संबंध व्यवस्था की संरचना और कार्य से है। **डेश** की व्युत्पत्ति का संबंध संचार, नियंत्रण और चैनल से है।

MAADHYAM IAS

इकाई 5 राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 आधुनिकीकरण के रूप में विकास

5.3 अल्प विकास और निर्भरता के रूप में विकास

5.4 विश्व प्रणाली विश्लेषण

5.5 उत्पादन पद्धति दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति

5.6 वर्ग विश्लेषण और राजनैतिक शासन

5.7 राज्य केन्द्रित विश्लेषण

5.8 भूमंडलीकरण और नव-उदारवादी दृष्टिकोण

5.9 सारांश

5.10 शब्दावली

5.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत विभिन्न देशों के आपसी संबंधों का अध्ययन किया जाता है। इन संबंधों में विशिष्ट सामाजिक और राजनैतिक परिघटनाओं की व्याख्या की जाती है। राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन करने का एक तरीका है। इसके अनुसार राजनैतिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था के बीच एक संबंध होता है और यह संबंध कई रूपों में कार्य करता है तथा यह कई रास्तों से सामने आता है। इस दृष्टिकोण को मानने वालों के अनुसार इस संबंध और इसमें आने वाले परिवर्तनों को समझकर ही सामाजिक और राजनैतिक परिघटना की व्याख्या की जा सकती है और उनके संबंधों का अध्ययन किया जा सकता है। इस इकाई में हम एक अवधारणा के रूप में राजनैतिक अर्थव्यवस्था के कई पक्षों पर संक्षेप में विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि :

- तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में यह अवधारणा किस प्रकार प्रासंगिक है।
- राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण के मूल तत्व क्या हैं।
- इसका ऐतिहासिक परिवेश क्या है।
- विभिन्न देशों के सामाजिक तथा राजनैतिक परिघटनाओं के बीच चले आ रहे संबंध क्या हैं, तथा
- वे कैसे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं,

5.1 प्रस्तावना

राजनैतिक अर्थव्यवस्था राजनैतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिघटना को समझने का एक

MAADHYAM IAS

तरीका है जहां अर्थव्यवस्था और राजनीति को अलग क्षेत्रों के रूप में नहीं देखा जाता। यह धारणा दोनों के संबंधों पर आधारित है तथा इसमें यह भी विश्वास निहित है कि ये संबंध कई रूप में सामने आते हैं। इस धारणा से कई महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक ढांचे बनते हैं जिनके तहत सामाजिक और राजनैतिक परिघटना का अध्ययन किया जाता है। इसके अलावा इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जहां राजनैतिक अध्ययन एक संबंध की ओर इशारा करता है वहीं इस अवधारणा का कोई एक अर्थ नहीं निकाला जा सकता। इस अवधारणा के सिद्धांत या विचार उदारवादी या मार्क्सवादी जैसी विभिन्न परम्पराओं पर निर्भर करते हैं। इसमें इस बात का विशेष महत्व है कि अर्थव्यवस्था और राजनीति को किस ढंग से और किस दृष्टिकोण से समझा गया है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि अर्थव्यवस्था और राजनीति के अलग-अलग क्षेत्रों के रूप में उभर कर आना एक आधुनिक परिघटना है। अरस्तु के समय से मध्ययुग तक अर्थव्यवस्था को एक अलग धारा या आत्म नियंत्रक अवधारणा नहीं माना जाता था। अर्थव्यवस्था शब्द का उपयोग अरस्तु ने भी किया था और ग्रीक में इसका अर्थ 'घरेलू प्रबंध की कला' था। यह शब्द ग्रीक शब्द **ओइकोस** और **नोकोस** से बना है जिसका अर्थ क्रमशः घर और कानून है। ग्रीस में राजनैतिक विकास का क्रम इस प्रकार रहा: घर-गांव -नगर राज्य। इस प्रकार घर का प्रबंध राजनीति विषय हो गया और **अरस्तु** ने अपनी पहली पुस्तक **पॉलिटिक्स** में आर्थिक प्रश्नों पर विचार किया। शास्त्रीय राजनैतिक अर्थशास्त्रियों में **एडम स्मिथ** का यह मानना था कि राजनैतिक अर्थव्यवस्था 'किसी कूटनीतिज्ञ या विधायक के विज्ञान की एक शाखा है।' जहां तक मार्क्सवादी विचारधारा का सवाल है मार्क्स (1818-1883) ने खुद 'राजनैतिक अर्थव्यवस्था' की चर्चा नहीं की थी। परंतु उन्होंने 'राजनैतिक अर्थव्यवस्था की आलोचना' अवश्य की थी। उन्होंने इस शब्द का उपयोग शास्त्रीय लेखकों के संदर्भ में किया था। मार्क्स ने कभी भी राजनैतिक अर्थव्यवस्था को परिभाषित नहीं किया परंतु एंजेल्स ने ऐसा किया था। **एंजेल्स** के अनुसार 'राजनैतिक अर्थव्यवस्था उत्पादन को परिचालित करने वाले कानूनों और जीवन यापन के भौतिक साधनों के विनिमय' का अध्ययन करती है (मार्क्स-एंजेल्स,श्एंटी-डहरिंग)। सोवियत आर्थिक सिद्धांतकार और इतिहासकार **आई.आई. रूबिन** ने राजनैतिक अर्थव्यवस्था को परिभाषित करते हुए कहा था: 'राजनैतिक अर्थव्यवस्था मनुष्य के काम काज की गतिविधि से जुड़ी है। यह जुड़ाव तकनीकी या श्रम के उपकरण के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक रूप में है। इसमें उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान लोगों के बीच स्थापित होने वाले उत्पादन संबंधों की चर्चा की जाती है (आई आई रूबिन, *'एसेज ऑन मार्क्स थ्योरी ऑफ वैल्यू,'* ब्लैक ऍड रेड, डेटरॉयट, 1928, 1972 रीप्रिंट, पी.एक्स)। इस परिभाषा में राजनैतिक अर्थव्यवस्था मूल्यों या संसाधन की कमी का अध्ययन नहीं है बल्कि यह है अनेक प्रश्नों को खोजती हुई एक संस्कृति का अध्ययन। क्यों किसी खास सामाजिक ढांचे में ही कुछ उत्पादन शक्तियां उभरती हैं, क्यों व्यापारिक उद्यमों के सन्दर्भ में ही मशीन प्रक्रिया काम करती है और क्यों औद्योगीकरण पूंजीवादी विकास का रूप ले लेता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि राजनैतिक अर्थव्यवस्था सवाल करती है कि कैसे लोगों के काम करने की गतिविधि किसी खास अर्थव्यवस्था के आर्थिक स्वरूप में नियमित होती है।

MAADHYAMIAS

अनौपवेशीकरण के बाद राष्ट्रों और विशिष्ट सामाजिक और राजनैतिक परिघटना के संबंधों को समझने के लिए कई दृष्टिकोण सामने आए जैसे - संस्था, राजनैतिक समाजशास्त्र और राजनैतिक अर्थव्यवस्था। इन विचारधाराओं ने सर्वप्रथम सामाजिक मूल्यों के रूपांतरण की विधि और संसाधनों के वितरण के ढांचों का अध्ययन किया। इन्हीं आधारों पर विकास के मापदंड पर विभिन्न देशों और संस्कृतियों को वर्गीकृत किया गया और उन्हें विकास तथा परिवर्तन के स्थान पर जोड़कर देखा गया। इन परिवर्तनों को समझने के लिए कई सिद्धांत सामने आए। आधुनिकीकरण सिद्धांत इनमें प्रमुख है। इसका जन्म जापानी और यूरोपीय साम्राज्यों के अन्त और शीतयुद्ध के आरंभ के ऐतिहासिक दौर में हुआ।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन संबंधी राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं ?

....

....

....

....

5.2 आधुनिकीकरण के रूप में विकास

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान विद्वानों ने तीसरी दुनिया के 'नए राज्यों' के सामाजिक यथार्थ को व्याख्यायित करने के लिए आधनिकीकरण का सिद्धांत सामने रखा। आधुनिकीकरण सिद्धांत 'परम्परागत' और 'आधुनिक' समाजों के बीच अलगाव और दुहरेपन पर आधारित है। 'परम्परागत' और आधुनिक समाजों का अन्तर **मैक्स वेबर** से, **तालकोट पार्सन्स** के जरिए होता हुआ, सामने आया था।

जिस समाज के अधिकांश संबंध 'सार्वभौमिक' होने की बजाए 'खासमखास' थे (कुछ लोगों, संबंधियों आदि पर आधारित, सभी लोगों के साथ समान संबंध नहीं) जिस समाज में रोजगार या पद पाने के लिए 'उपलब्धि' से ज्यादा 'जन्म' को महत्व दिया जाता था; जिस समाज में वस्तुनिष्ठता की बजाए भावनाओं से संबंध निर्धारित होते थे ('प्रभावशीलता' और 'निरपेक्षता' के बीच का अन्तर) और जिस समाज में भूमिकाएं पूरी तरह स्पष्ट नहीं थीं –मसलन, शाही घराना भी एक राजतंत्र था ('असंगठित भूमिका बनाम' 'खास भूमिका') उस समाज को परम्परागत समाज कहा जाता है। दूसरी ओर 'आधुनिक' समाज इसके बिलकुल उलट है। श्रम विभाजन का निम्न स्तर, कृषि पर निर्भरता, उत्पादन की धीमी गति, मुख्य रूप से विनिमय का स्थानीय ढांचा और प्रतिबंधित प्रशासनिक योग्यता को भी परम्परागत समाज की विशिष्टता माना जाता है। आधुनिक समाज में इससे विपरीत प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। आधुनिकीकरण सामाजिक संगठन के परम्परागत सिद्धांतों को आधुनिक सिद्धांतों में परिणत करता है। संक्रमण की इस प्रक्रिया को केवल एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में करवट लेते हुए नहीं देखा गया बल्कि पश्चिम के आधुनिक समाज का अनुकरण प्रमुख लक्ष्य बना। आधुनिक समाज में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हुई जो उपलब्ध सार्वभौमिकता और व्यक्तिवादिता पर आधारित थी। लोगों की सामाजिक गत्यात्मकता बढ़ी, समान अवसर प्राप्त हुए, कानून का राज्य स्थापित हुआ और लोगों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता मिली। परम्परागत समाजों में यह सब कुछ नहीं था। वहां सामाजिक संबंध हैसियत, पदानुक्रम व्यक्ति आधारित होते थे।

MAADHYAM IAS

आधुनिकीकरण सिद्धांत का मकसद परम्परागत से आधुनिक समाज की ओर संक्रमण की व्याख्या करना और उसे प्रोत्साहित करना है। आधुनिकीकरण सिद्धांत के अनुसार इस संक्रमण को परम्परागत समाजों के आधुनिक विश्व की ओर प्रयाण की प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए। **डब्ल्यू. डब्ल्यू रोस्टो** ने अपने लेखों में आधुनिकीकरण के सिद्धांत की विस्तार से चर्चा की है (*द स्टेजेज ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ: ए नान कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिजल, उनके अनुसार सभी समाज विकास के 5 चरणों से गुजरते हैं ये इस प्रकार हैं : i) परम्परागत चरण,

ii) आगे बढने की पूर्व शर्तें, iii) आगे बढ़ना, iv) परिपक्वता की ओर तथा v) व्यापक जन उपभोग। तीसरी दुनिया के समाजों को परम्परागत माना जाता है। अत: उनका विकास दूसरे चरण में होना था और इस प्रकार प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने की पूर्व शर्त निर्धारित करनी थी। रोस्टो के अनुसार ये पूर्व शर्तें इस प्रकार हैं व्यापार के विकास, तर्क पद्धति का विकास, वैज्ञानिक विचार और उस संभ्रान्त वर्ग का उदय जो अपना धन जमा करने की बजाए निवेशित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार पश्चिमी निवेश और विचारों के प्रचार और प्रसार से इस प्रक्रिया को गति दी जा सकती है। इस परम्परा के विद्वानों का यह भी मानना है कि औद्योगीकरण से व्यक्तिवाद, अवसर की समानता और साझा मूल्यों जैसे पश्चिमी विचारों का प्रसार होगा जिसके फलस्वरूप सामाजिक असंतोष और वर्ग संघर्ष कम होगा।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि आधुनिकीकरण सिद्धांत का जन्म शीत युद्ध के संदर्भ में हुआ था और कई बार यह स्पष्ट नहीं होता कि : क) आधुनिकीकरण सिद्धांत विश्लेषणात्मक है या सुझावात्मक है, ख) आधुनिकीकरण का वस्तुत: जन्म हो चुका है या जन्म होनेवाला है, और ग) आधुनिकीकरण को प्रचारित प्रसारित करने का उद्देश्य गरीबी दूर करना है या साम्यवाद के खिलाफ जेहाद करना है ? ये दोनों कारक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं परंतु रेस्टो की पुस्तक के उप-शीर्षक *'ए नान कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो'* - से यह जाहिर होता है कि गरीबी से ज्यादा इन्हें साम्यवाद का भूत सता रहा था।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिकीकरण सिद्धांत विकास के विकासात्मक प्रारूप पर आधारित था जिसके अनुसार सभी राष्ट्र राज्यों को विकास के समान चरण से होकर गुजरना था। विश्वयुद्धोत्तर संदर्भ में यह बात सामने आई कि आधुनिक पश्चिम को परम्परागत तीसरी दुनिया में आधुनिकता फैलाने का काम करना है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) तीसरी दुनिया के 'नए राज्यों' के लिए आधुनिकतावादी सिद्धांत ने विकास का कौन सा मार्ग सुझाया है ?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

5.3 अल्प विकास और निर्भरता के रूप में विकास

आधुनिकीकरण दृष्टिकोण की आलोचना के क्रम में निर्भरता सिद्धांत का जन्म 50वें दशक के अंत और 60वें दशक में हुआ। **आन्द्रे गुंडर फ्रैंक** इस विचारधारा के प्रमुख विचारक हैं। परंतु ब्राउन की पुस्तक (*द पोलिटिकल इकोनॉमी ऑफ ग्रोथ,* मंथली रिव्यू प्रेस, 1957) भी बहुत महत्वपूर्ण है। बरान का मानना था कि पश्चिमी यूरोप (बाद में जापान और अमेरिका) और बाकी दुनिया के बीच के आर्थिक संबंध टकराव और शोषण पर आधारित थे। व्यापार की आड़ में पश्चिमी देशों ने पूरी दुनिया का शोषण किया और वहां का धन अपने घर ले आए (बरान 1957: पृष्ठ 141-2)। इसके परिणामस्वरूप शेष दुनिया का धन पश्चिमी यूरोप , अमेरिका और जापान में जमा हो गया। फ्रैंक ने

तीसरी दुनिया का बारीक परीक्षण किया और उस दोहरे सिद्धांत (ऊपर के भाग में देखिए) की आलोचना की जिसने 'आधुनिक' और 'परम्परागत' राज्यों को अलग-अलग करके देखा था। **फ्रैंक** का मानना था कि दोनों परस्पर गहरे रूप में जुड़े हुए हैं (*केपिटलिज्म एंड अन्डरडेवेलप्मेंट इन लैटिन अमेरिका*, मंथली रिव्यू प्रेस, 1969; लैटिन अमेरिका: अन्डरडेवेलप्मेंट या रिवैल्यूएशन?, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यू यार्क, 1969)। उन्होंने आधुनिकीकरण सिद्धांत के साथ-साथ कट्टरपंथी मार्क्सवाद की भी आलोचना की। उनके दोहरेपन को निरस्त करते हुए उन्होंने कहा कि यह दुनिया 16वीं शताब्दी से ही पूंजीवादी रही है क्योंकि पूरी दुनिया में उत्पादन बाजार के लिए होता रहा है। फ्रैंक के अनुसार वर्चस्व और निर्भरता के इस बंधन का पूरी दुनिया की पूंजीवादी व्यवस्था में अनुकरण किया गया। छोटे स्थान का अधिशेष उत्पादन बड़े स्थानों में गया। मसलन, गांवों का अधिशेष छोटे शहरों में जाता था। **फ्रैंक** का मुख्य तर्क यह है कि 'पहली' दुनिया (विकसित पूंजीवादी समाज) और 'तीसरी' दुनिया (पिछड़े देश) का निर्माण एक ही प्रक्रिया (पूरे दुनिया में पूंजीवादी विस्तार) का परिणाम है। निर्भरता दृष्टिकोण के अनुसार समकालीन विकसित पूंजीवादी देश (मेट्रोपोल्स) कभी भी तीसरी दुनिया (सेटेलाइट) के समान अल्प विकसित नहीं थे। वे विकसित थे। अल्प विकास तीसरी दुनिया के देशों के खास सामाजिक आर्थिक ढांचे की उपज होने की बजाए साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद के संबंधों की ऐतिहासिक उपज था। उपनिवेश अल्प विकसित अवस्था में चले गए और उनके बल पर साम्राज्यवादी देशों का विकास हुआ। संक्षेप में विकास और अल्प विकास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं। मेट्रोपोलिटन पूंजीवादी विकास ने विश्व स्तर पर तीसरी दुनिया में 'अल्प विकास का विकास' किया। फ्रैंक के अनुसार लैटिन अमेरिका के वही क्षेत्र सबसे पिछड़े थे (उदाहरण के लिए उत्तर पूर्वी ब्राजील) जिसका मेट्रोपोल से कभी गहरा संबंध था। बागानों जैसी संस्थाओं के द्वारा पूंजीवादी ढर्रे का उत्पादन शुरू हुआ जो सीधे मेट्रोपोलेटन बाजार से जुड़ा था। **फ्रैंक** के अनुसार लैटिन अमेरिका में इस संबंध विच्छेद के बाद ही कुछ विकास हो सका। नेपोलियन युद्धों, 1930 की मंदी और 20वीं शताब्दी में हुए दो विश्वयुद्धों में जब साम्राज्यवादियों की पकड़ यहां कमजोर हुई तो लैटिन अमेरिकी देशों का विकास हुआ। परंतु जैसे ही साम्राज्यवादी देश अपनी उलझनों से उभरे उन्होंने तीसरी दुनिया से अपना सम्पर्क फिर साध लिया और विकास प्रक्रिया रुक गई।

निश्चित रूप से निर्भरता सिद्धांत आधुनिकीकरण सिद्धांत की अपेक्षा एक बढ़ा हुआ कदम था। परंतु इसकी कुछ कमजोरियां भी थीं। सबसे पहली बात की यह एक गैर ऐतिहासिक आधार पर टिका हुआ था जिसमें तीसरी दुनिया के देशों में होनेवाले बदलावों को उनकी निर्भरता का परिणाम माना जा रहा था। **कॉलिन लेज** का मानना है कि निर्भरता सिद्धांत "........ साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद द्वारा अल्प विकसित देशों के शोषण पर केन्द्रित है। इसमें पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया खासकर साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ होनेवाले विभिन्न संघर्षों की चर्चा नहीं की गई है जिनका जन्म अल्प विकास के परिवेश में हुआ था।'' (**कॉलिन लेज**, *'अन्डरडेवेलप्मेंट इन किनिया'*, ब्रेकली, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलफोर्निया प्रेस, 1975, पृष्ठ 20)। दूसरे, निर्भरता सिद्धांत में आर्थिक पक्ष पर ज्यादा जोर दिया गया है। सामाजिक वर्गों राज्य और राजनीति को आर्थिक ताकतों और प्रतीकों का ही प्रतिफलन माना गया है और इस बात पर कम ध्यान दिया गया है कि वर्गों, वर्ग परियोजनाओं और वर्ग संघर्षों को ऐतिहासिक परिवर्तन में कोई महत्व नही दिया गया है और न ही इसका कोई विश्लेषण किया गया है। तीसरे, आलोचकों का यह आरोप है कि निर्भरता सिद्धांत में विकास की अवधारणा अस्पष्ट है। इस सिद्धांत में बार-बार इस बात पर बल दिया गया है कि मेट्रोपोलिटेन/सेटेलाइट सम्पर्क कम होने पर तीसरी दुनिया में 'विकास' होता है तो क्या 'विकास' का मतलब तानाशाही है। क्योंकि विकास मेट्रोपोल्स में पूंजीवादी विकास की अभिव्यक्ति है, इसलिए अन्तिम विश्लेषण में यह बहस सामने आती है कि क्या तीसरी दुनिया इस रास्ते पर चलने की योग्यता रखती है ? अन्त में, निर्भरता सिद्धांत तीसरी दुनिया में होनेवाले तथाकथित 'आर्थिक करिश्मे' की व्याख्या करने में असफल रहा है। आधुनिकीकरण के विचारों को पीछे छोड़ने के बावजूद निर्भरता सिद्धांत पूर्णत: इससे मुक्त नहीं हो सका। आधुनिकीकरण सिद्धांत के

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अनुसार 'फैलाव' से उन्नति हुई। इसी स्वर में निर्भरता सिद्धांत का मानना है कि निर्भरता से गतिहीनता आई।

5.4 विश्व प्रणाली विश्लेषण

इमैनुअल वालरस्टिन ने अपने *'विश्व प्रणाली विश्लेषण'* (इमैनुअल वालरस्टिन, द मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम, 2 खंड, एकेडेमिक प्रेस, न्यू यार्क, 1974, 1980, 1750 से) में विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विचार विकसित किया। **वालरस्टिन** का मानना था कि 16वीं शताब्दी में यूरोप के विस्तार की शुरुआत के साथ, तीसरी दुनिया के उन देशों में, जो विश्व पूंजीवादी बाजार से जुड़ गए, पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन के तरीके समाप्त हो गए। इस सिद्धांत के अनुसार तीसरी दुनिया में द्वैधता या सामन्तवाद मौजूद नहीं है। आधुनिक विश्व व्यवस्था एक है। इस अर्थ में एक है कि यहां उत्पादन का पूंजीवादी तरीका मौजूद है। परंतु यह विभिन्न स्तरों में विभक्त है। मुख्य, या केन्द्रीय, अर्ध परिधीय और परिधीय जो समग्र अवस्था में एक विशिष्ट भूमिका निभाते हैं। इसमें निर्भरता सिद्धांत की तरह मेट्रोपोल व्यवस्था और सेटेलाइट विशिष्टता के एक पक्षीय संबंधों की अपेक्षा विश्व व्यवस्था सिद्धांत में पूरी व्यवस्था के बहु-स्तरीय संबंधों पर बल दिया गया है (केन्द्रीय-केन्द्रीय और परिधीय-परिधीय संबंध और केन्द्रीय परिधीय संबंधों का विश्लेषण महत्वपूर्ण है)। **वैलरस्टिन** का आधारभूत तर्क यह है कि 16वीं शताब्दी में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण से इतिहास का एक नया दौर शुरू हुआ जो विस्तृत संग्रह की बजाए गतिहीन उपयोग पर आधारित था। इसके लिए तीन कारक उत्तरदायी माने जा सकते हैं: i) दुनिया का फैलता भौगोलिक आकार, (समाविष्ट करके) ii) विश्व अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न उत्पादों के लिए श्रम नियंत्राण के विधि तरीकों का विकास (विशेषज्ञता) और iii) अपेक्षाकृत मजबूत राजतंत्रा का निर्माण जिसमें पूंजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था का विकास हुआ (केन्द्रीय क्षेत्रा में अधिशेष के हस्तांतरण को निश्चित करने के लिए)।

विश्व अर्थव्यवस्था के निर्माण में केन्द्रीय क्षेत्रा ऐसे देशों के रूप में उभरे जहां बुर्जुआ वर्ग मजबूत होता गया और भूमिपति कमजोर होते चले गए। यह महत्वपूर्ण संबंध राज्य की शक्ति पर निर्भर होता है जो यह निर्धारित करता है कि कोई देश केन्द्रीय होगा या परिधि का हिस्सा होगा। वालरस्टिन के अनुसार जिस देश में सत्ता किसी केन्द्रीय शक्ति के पास सिमट जाती है वह विश्व अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय या मुख्य राष्ट्र बन जाता है। दूसरी ओर राजतंत्रा की शक्ति की व्याख्या ''किसी देश द्वारा किसी खास समय में विश्व अर्थव्यवस्था में अदा की गई संरचनात्मक भूमिका'' से तय होती है। एक मजबूत राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था के अधिशेष का गैर आनुपातिक हिस्सा हड़प लेता है। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का स्थाईत्व तीन कारकों पर आश्रित है : i) प्रभुत्वशाली शक्तियों के हाथों में सैन्य शक्ति का सिमटना ii) समग्र रूप में एक व्यवस्था के प्रति सैद्धांतिक निष्ठा iii) बहुसंख्यक का व्यापक, निम्न और छोटे मध्य तबकों में विभाजन। अर्ध परिधीय की मौजूदगी का अर्थ यह है कि उच्च तबके (मुख्य या केन्द्रीय) को दूसरों के विरोध का सामना नहीं करना पड़ा है क्योंकि मध्य तबका (अर्ध परिधीय) शोषक भी है और शोषित भी। हालांकि अर्ध परिधीय भी परिवर्तन का भागीदार होता है। अब अर्ध परिधीय राज्यों से नए केन्द्रीय राज्यों का उदय हो सकता है और इसका गन्तव्य पतनोमुख होता है।

MAADHYAM IAS

विश्व व्यवस्था सिद्धांत की इस बात के लिए व्यापक रूप से आलोचना की गई क्योंकि इसमें व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया था। अतः इस सिद्धांत में सभी घटनाएं, प्रक्रियाएं, सामूहिक पहचान, वर्ग और राज्य परियोजनाएं समग्र रूप में एक व्यवस्था का हिस्सा है। इस प्रकार की धारणा का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त वर्णित सभी तत्व व्यवस्था में इस प्रकार गुथे हुए हैं कि वे अपने तात्कालिक ठोस सिद्धांत के लिए कार्य नहीं कर सकते बल्कि व्यवस्था के निर्देशों और सुझावों के अनुसार काम करते हैं। आलोचकों का यह भी मानना है कि इस सिद्धांत के द्वारा समकालीन पूंजीवादी विश्व की पूरी

तरह व्याख्या नहीं हो सकी है क्योंकि यह केवल बाजार पर ही अपना ध्यान केंद्रित करता है और उत्पादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं करता।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) अल्प विकास से आप क्या समझते हैं? निर्भरता सिद्धांत के अनुसार पहली दुनिया और तीसरी दुनिया के बीच किस प्रकार का रिश्ता कायम है।

....

....

....

....

2) विश्व व्यवस्था की अवधारणा से आप क्या समझते हैं। इस विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण के अनुसार दुनिया के विभिन्न भाग किस प्रकार परस्पर जुड़े हुए हैं

....

....

....

....

5.5 उत्पादन पद्धति दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति

1960 के दशक के अंत में तीसरी दुनिया की संक्रमण प्रक्रिया को समझने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा को पुन: स्थापित करने का प्रयास किया गया जिसमें उत्पादन के तरीके को निर्णायक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया गया। इस विचारधारा के विद्वानों ने यह तर्क दिया कि तीसरी दुनिया के सामाजिक संघटन में उत्पादन और पूंजीवाद के कई रूप उपस्थित थे और यहां पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन के तरीके मौजूद थे। इन विद्वानों ने सामाजिक संघटन और उत्पादन के तरीकों में भेद किया। सामाजिक संघटन का तात्पर्य आर्थिक, राजनैतिक और विचारधारात्मक तथा प्रथाओं या स्तरों का तात्पर्य मिले जुले रूप से है। उत्पादन के तरीके का तात्पर्य उस आर्थिक स्तर से है जो संरचना के विभिन्न स्तरों को निर्धारित करता है जिससे समाज बनता है। आर्थिक स्तर अन्य स्तरों की सीमा निर्धारित करता है, विभिन्न कार्य करता है और उत्पादन के तरीके तय करता है। इस प्रकार ये गैर आर्थिक स्तर उत्पादन के तरीके से केवल सापेक्ष रूप में ही स्वायत्त होते हैं। दूसरी ओर उत्पादन का तरीका या आर्थिक स्तर उत्पादन के संबंधों से तय होता है अर्थात अधिशेष के तात्कालिक उत्पादक और तात्कालिक उपयोगकर्ता के प्रत्यक्ष संबंध पर निर्भर करता है। प्रत्येक युग्म, नौकर-मालिक, कृषि-दास और भूमिपति, मुक्त श्रमिक और पूंजिपति अलग तरीके परिभाषित करते हैं। उत्पादन प्रणाली दृष्टिकोण अधिशेष उत्पाद के उत्पादन पर आधारित है और इस प्रकार इस आधार पर विश्व अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय और परिधीय में विभाजन और व्याख्या करता है। यह विभाजन व्यापार संबंधों की अपेक्षा उत्पादन के तरीके पर आधारित है। इस प्रकार केन्द्रीय अर्थव्यवस्था का संबंध विश्व के पूंजीवादी क्षेत्रों से है जो अधिकांशत: मुक्त मजदूरी श्रम पर आधारित है। दूसरी ओर परिधीय का विश्व अर्थव्यवस्था में समावेश उत्पादन के बंधनयुक्त संबंधों के आधार

MAADHYAM IAS

पर हुआ (जिसे गैर पूंजीवादी उत्पादन का तरीका भी कहते हैं, जिसने पूंजी के अत्यधिक संग्रह पर प्रतिबंध लगाया)। इस प्रकार असमान व्यापार संबंध असमान उत्पादन के संबंधों का प्रतिबिम्बन है। इसी कारण 'विकसित' पूंजीवादी देश विश्व के उन इलाकों में वर्चस्व कायम कर सके जहां उत्पादन का गैर पूंजीवादी तरीका मौजूद था। ऊपर से उत्पादन प्रणाली दृष्टिकोण आधुनिकीकरण सिद्धांत के खंडीय विश्लेषण (आधुनिक और परम्परागत) की ओर आंशिक रूप से लौटता हुआ प्रतीत होता है। परंतु यहां प्रमुख अन्तर यह है कि द्वैध सिद्धांत से अलग बल उत्पादन के तरीके के अन्तरसंबधों से है। तर्क यह दिया जाता है कि 16वीं शताब्दी में पश्चिम में हुए पूंजीवादी प्रसार का सामना तीसरी दुनिया के पूर्व पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से हुआ जो पूरी तरह से रूपांतरित नहीं हो सका बल्कि धीरे-धीरे नष्ट हो गया। हालांकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और पूर्व पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का संबंध एक समान नहीं रहा और परिधि में पूंजीवाद खास प्रकार का था जो केन्द्रीय देशों से स्वरूप में गुणात्मक रूप में भिन्न था। गैर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और पूंजीवादी प्रणाली का मेल परिधीय पूंजीवाद की मुख्य विशेषता थी। दूसरे शब्दों में पूंजीवादी और गैर पूंजीवादी प्रणाली साथ-साथ चलती रही। गैर पूंजीवादी उत्पादन न केवल साम्राज्यवादी व्यवस्था (जो केन्द्रीय पूंजीवादी थे) से प्रभावित हुए बल्कि वे उसके अधीनस्थ भी हुए। हालांकि उत्पादन प्रणाली सिद्धांत को व्यावहारवादी प्रविधिमूलक दृष्टिकोण ने कमजोर बनाया। इसका कारण यह था कि इस सिद्धांत ने सामाजिक परिवर्तन को पूंजीवाद का अनिवार्य उत्पाद बताया। इसके परिणामस्वरूप एक चक्रीय तर्क पद्धति विकसित हुई। यदि पूर्व पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अस्तित्व में रहती है तो यह पूंजीवाद के लिए उसकी उपयोगिता का प्रमाण है और यदि पूर्व पूंजीवादी प्रणाली टूटती है तो भी यह पूंजीवाद की व्यावहारात्मक जरूरत का प्रमाण है।

इस दृष्टिकोण की आलोचना इस आधार पर भी की गई कि यह मनुष्य को ढांचे से कम आंकता है और यह मानता है कि सामाजिक परिघटना की व्याख्या पूंजीवाद के लिए उनकी उपयोगिता पर निर्भर है न कि उनके कार्यों और मनुष्य के लिए किए संघर्षों पर।

5.6 वर्ग विश्लेषण और राजनैतिक शासन

1970 के दशक के आरंभ में तीसरी दुनिया के आर्थिक परिवेश को मार्क्सवादी विद्वान भी व्याख्यायित कर रहे थे। **कॉलिन लेज** (*अन्डरडेवेलप्मेंट इन किनिया,* यूनिवर्सिटी ऑफ कैलफोर्निया प्रेस, ब्रेकली, 1975) और **जेम्स पिटर्स** (क्रिटिकल पर्सपेक्टिव्स ऑन इम्प्रियलिज्म ऐंड सोशल क्लासेस इन द थर्ड वर्ल्ड, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यू यार्क, 1978) इसके प्रमुख प्रतिपादक थे। उन्होंने तीसरी दुनिया की संक्रमण प्रकिया की व्याख्या उत्पादन प्रणाली के आधार पर नहीं बल्कि वर्गीय आधार पर की। यहां विकास अर्थात उन्नति बनाम गतिहीनता पर बल नहीं था। **पिटर्स और लेज** ने प्रमुख रूप से यह प्रश्न सामने रखा कि विकास किसके लिए ?

पेट्राज विश्व प्रणाली विश्लेषण के 'बाह्य' संबंधों और उत्पादन प्रणाली विश्लेषण के 'आंतरिक' संबंधों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार तीसरी दुनिया के समाजों की प्रमुख विशेषता बाह्य और आन्तरिक वर्ग ढांचों का एक दूसरे में सम्मिलन तथा विभिन्न वर्गों का एक दूसरे में घुला मिला होना है। विश्व स्तर पर पूंजीवादी विस्तार होने से तीसरी दुनिया का साझा अस्तित्व खतरे में पड़ गया और वहां का उत्पादन प्रभावित हुआ तथा उनका शोषण भी होने लगा। औपनिवेशीकरण होने से देसी स्थितियां उभर कर सामने आईं और विभिन्न आंतरिक और बाह्य अन्तर्संबंधों पर आधारित कई विकासात्मक रणनीतियों का विकल्प सामने आया। विकास रणनीतियों की विभिन्न पद्धतियों की व्याख्या करने के लिए पेट्राज ने निम्नलिखित तथ्यों का परीक्षण किया: क) वे परिस्थितियां जिनके चलते संग्रह हुआ। इनमें शामिल हैं : i) राज्य की प्रकृति (और राज्य नीति) ii) वर्ग संबंध (अधिशेष वसूलने की प्रकिया, शोषण की गहनता, वर्ग संघर्ष का स्तर, कार्य बल का संकेन्द्रण) और ख) वर्ग संरचना पर पूंजी संग्रह का प्रभाव। इसमें शामिल हैं i) वर्ग संघटन/रूपांतरण (छोटे

MAADHYAM IAS

मालिकों से लेकर सर्वहारा या कुलाक तक, भूमिपति से लेकर व्यापारी तक, व्यापारी से लेकर उद्योगपति तक, आदि) ii) आर्थिक वितरण, आय वितरण (आय का संकेन्द्रण, पुनर्वितरण और पुनर्संकेन्द्रण) और iii) सामाजिक संबंध : श्रम बाजार संबंध ('मुक्त', मजदूरी, मजदूर संघ की सौदेबाजी), अर्ध दमनात्मक (बाजार और राजनैतिक/सामाजिक नियंत्रण), दमनात्मक (दास, ऋण वसूली करनेवाला) कुल मिलाकर **पेट्राज** का कहना है कि विकासशील देशों में स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय शासन पूंजी संग्रहण के लिए इन तीन रणनीतियों या वर्ग संधियों से चुनाव कर सकते थे। पहली नव-उपनिवेशवाद रणनीति है जिसमें राष्ट्रीय शासन देसी श्रम शक्ति का शोषण करने में बुर्जुआ वर्ग को साथ मिलाकर काम करता है। नव-औपनिवेशिक शासन में विदेशी पूंजी के हाथों में धन और शक्ति का संग्रहण होता है। दूसरा, राष्ट्रीय शासन देसी श्रम बल के शोषण और शाही फर्मों को जानेवाले अंशदान को सीमित कर या समाप्त कर राष्ट्रीय विकास की रणनीति बना सकता है। इस प्रकार के आय वितरण में अधिकांश हिस्सा मध्य वर्ग के स्तर के पास जाता है (परिधि के शासकीय संभ्रांत के रूप में) तीसरे, शासन एक राष्ट्रीय लोकवादी रणनीति अपना सकता है, केन्द्रीय पूंजी के खिलाफ देसी श्रम बल के साथ गठबंधन कर सकता है, विदेशी यहां तक कि देसी उद्यमों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है और आय का पुनर्वितरण कर सकता है। यह आय वितरण ज्यादा से ज्यादा लोगों में फैला होता है और नीचे तक जाता है। हालांकि हम यहां ज्यादा विस्तार से चर्चा नहीं कर रहे हैं परंतु पेट्राज ने इन रणनीतियों के अन्तर्संबंधों के बारे में काफी कुछ कहा है और उन्होंने विस्तार के साथ नव-औपनिवेशिक शासनों में शाही राज्य की भूमिका की चर्चा करते हुए अन्य प्रणालियों को नजरअंदाज किया है।

5.7 राज्य केन्द्रित विश्लेषण

तुलनात्मक राजनैतिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में 1960 के दशक के अंत में और 1970 के दशक के आरंभ में विकासवाद के खिलाफ हवा चली और राज्य तथा सत्ता की अवधारणा को पुनर्जीवित किया गया। राज्य के इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रमुख रूप से मार्क्सवादी विद्वानों ने किया। मार्क्स एंजेल्स और लेनिन की राज्य की अवधारणा समाज के मौजूदा वर्ग विभाजनों के साथ इसके संबंध पर आधारित थी। हालांकि इस संबंध की प्रकृति के बारे में मार्क्सवादियों के बीच विवाद था। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित एक परम्परा सामुदायिक अध्ययनों से उभरी जिसने पद और प्रतिष्ठा के साथ सत्ता को जोड़कर देखा। **जी.डब्ल्यू डोमहौफ** (*हू रूल्स अमेरिका* ?, प्रेन्टिस हॉल, न्यू जर्सी, 1967; द हाइयर सरकल्स, रैंडम हाउस, न्यू यार्क, 1970; हू रियली रूल्स ?, गुडइयर पब्लिशिंग, सान्ता मोनिका, कैलफोर्निया, 1978; द पावर्स दैट बी, रैंडम हाउस, न्यू यार्क, 1979)। **डोमहौफ** का केन्द्रीय विचार यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल उच्च वर्ग (कारपोरेट बुर्जुआ) मौजूद ही नहीं है बल्कि यह शासक वर्ग भी है। डोमहौफ के इस योगदान को मार्क्सवाद के तहत उपकरणमूलक परम्परागत हिस्से के रूप में देखा जाता है जिसमें राज्य को शासक या प्रभुत्वशाली वर्ग का एक उपकरण माना जाता है। यह विचारधारा कम्यूनिस्ट मेनफेस्टो में अभिव्यक्त मार्क्स और एंजेल्स के विचारों से प्रभावित है जिसमें यह कहा गया है कि राज्य की कार्यकारी "सम्पूर्ण बुर्जुआ वर्ग की सामान्य गतिविधियों के प्रबंधन की समिति मात्र है।"

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

डोमहौफ के विचारों को ध्यान से पढ़ने से यह पता चलता है कि उसने उपकरणमूलक विचारधारा को अपनी सहमति नहीं दी थी और अमेरिका में राज्य को कारपोरेट वर्ग के हिस्सों का प्रतिनिधित्व करनेवाले के रूप में देखा जबकि इसके साथ ही साथ इसे निजी पूंजी या व्यापारिक संभ्रान्त के कुछ हिस्सों के हितों का विरोधी बताया गया। एक दूसरी परम्परा का संबंध राज्य के संरचनावादी दृष्टिकोण से है। यह प्रमुख रूप से फ्रांसीसी मार्क्सवादियों खासकर **निकोस, पोलोनज्स** की रचनाओं में पाया जाता है। **पोलोनज्स** ने अपनी आरंभिक रचना (*पोलिटिकल पावर ऐंड सोशल क्लासेज,* न्यू लेट बुक्स, लंदन) में बताया है कि पूंजीवाद में राज्य का कार्य राज्य की सत्ता पर आसीन

लोगों की अपेक्षा मुख्य रूप से समाज की संरचना से निर्धारित होता है । पूंजीवादी संरचना को पुनः पेश करने के कम में पूंजिपतियों की आपसी फूट और कामगार वर्ग की एकता के संयुक्त खतरे का सामना करने के लिए राज्य अपेक्षाकृत स्वायत्त रूप में काम करता है। पोलोनज्स ने अपने बाद की एक रचना (*स्टेट, पावर ऐंड सोसियलिज्म,* न्यू लेफ्ट बुक्स, वरसो एडिशन, लंदन, 1980) में कहा है कि पूंजीवादी राज्य अपने आप में वर्ग संघर्ष का क्षेत्र है और जहां राज्यों का निरूपण सामाजिक वर्ग संबंधों से होता है वहीं इसका विरोध भी होता है और इस प्रकार राज्य के भीतर ही वर्ग संघर्ष पैदा होता है। राजनीति प्रभुत्वशाली पूंजीपति वर्ग द्वारा राज्य के जरिए वर्ग सत्ता का एक संगठन मात्र नहीं है। इसमें केवल उस सत्ता का उपभोग मातहत समूह का शोषण और दमन करने के लिए नहीं होता है बल्कि यह राज्य नीतियों को प्रभावित करने के लिए और राज्य तंत्र पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए जन सामाजिक आंदोलनों के संगठित संघर्ष का भी स्थल है। 1969-70 में न्यू लेफ्ट रिव्यू में रैल्फ मिलिनैड और पोलोनज्स के विचारों पर हम अभी बात कर चुके हैं अतः अब संक्षेप में रैल्फ मिलिंड के योगदान का परीक्षण करेंगे। **न्यूलेफ्ट रिव्यू** में **मिलिबैंड** की पुस्तक **द डिबेट इन न्यू लेफ्ट रिव्यू** सेंटरड एराउंड मिलिबैंड बुक द स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसाइटी: एन एनालिसिस ऑफ द वेस्टर्न सिस्टम ऑफ पावर (बेसिक बुक्स, न्यू यार्क, 1969) पर बहस हुई जिसमें उसने यह तर्क दिया कि मार्क्सवादी शब्दावली में कोई राज्य सत्ताधारी वर्ग की ओर से कोई कार्य तो कर सकता है परंतु उनके आदेश के रूप में नहीं। राज्य एक वर्ग राज्य है परंतु यदि इसे वर्ग राज्य के रूप में काम करना है तो इसके पास उच्च स्तरीय स्वायत्तता और स्वतंत्रता होनी चाहिए। **मिलिबैंड** की रचना में मुख्य विचार यह है कि राज्य पूंजीपतियों के हितों में काम कर सकता है परंतु हमेशा उनके आदेशों का पालन नहीं करता।

ऊपर्युक्त वर्णित बहस का मुख्य बल पश्चिमी पूंजीवादी समाज में राज्य की प्रकृति पर था। इसके बाद विकासशील देशों में राज्य की प्रकृति पर एक जीवन्त बहस शुरू हुई। **हमज़ा अलवी** (*'द स्टेट इन पोस्ट-कोलोनियल सोसाइटिज:* पाकिस्तान ऐंड बांगलादेश,' न्यू लेफ्ट रिव्यू नं. 72, 1972) ने पाकिस्तान और बांगलादेश में उत्तर औपनिवेशिक राज्य को 'अतिविकसित' (क्योंकि यह मेट्रोपोलिटन शक्तियों की उपज है जिसमें देसी समर्थन का अभाव है) कहा जो प्रभुत्वशाली वर्गों से अपेक्षाकृत तुलनात्मक स्वायत्त है। राज्य 'नौकरशाही सैनिक शासन तंत्र' तीन वर्गो, मेट्रोपोलिटन बुर्जुआ वर्ग, देसी बुर्जुआ वर्ग और भूमिपति वर्ग के बीच मध्यस्थता का काम करते हैं। इसके अलावा वे उनकी ओर से सामाजिक व्यवस्था कायम करते हैं। वे निजी सम्पत्ति की संस्थाओं और उत्पादन के लिए पूंजीवादी प्रणाली को सुरक्षित रखते हैं। बाद में प्रनब बर्धन ने सापेक्ष स्वायत्ता पर विचार करते हुए भारतीय राज्य का विश्लेषण किया (*द पोलिटिकल इकोनॉमी ऑफ डेवेलप्मेंट,* बसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड 1986) जहां पूंजीपति, भूमिपति और पेशेवरों के गुट के वर्चस्व से राज्य अपेक्षाकृत स्वायत्त है। फिर भी **बर्धन** के अनुसार "उद्देश्य निर्माण, कार्यसूची निर्माण, नीति क्रियान्वयन के चुनाव में" राज्य की भूमिका प्रमुख है। **जॉन सॉल** ने अपनी रचना (द स्टेट इन पोस्ट-कोलोनियल सोसाइटीज: तंजानिया,' द सोसियलिस्ट रजिस्टर, लंदन, 1974) में अफ्रीकी समाजों के संदर्भ में राज्य और वर्ग के रिश्तों के संदर्भ में सापेक्ष स्वयत्ता की अवधारणा और अतिविकसित उत्तर औपनिवेशिक राज्य का विचार सामने रखा। **इस्सा जी. शिवाजी** ने अपनी पुस्तक (*क्लास स्ट्रगल इन तंजानिया,* न्यू यार्क, 1976) में एक नया दृष्टिकोण सामने रखा। उन्होंने बताया कि राजतंत्र के कार्मिक स्वयं प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में उभरते हैं। उनके अपने विशिष्ट वर्ग हित बन जाते हैं और वे अपने को "नौकरशाही बुर्जुआ वर्ग" में बदल देते हैं।

रिव्यू ऑफ अफ्रिकन पोलिटिकल इकोनॉमी, जर्नल ऑफ कन्टेम्प्रोरी एशिया, लैटिन अमेरिका पर्सप्रेक्टिव जैसी पत्रिकाओं और सोसियलिस्ट रजिस्टर के वार्षिक अंकों में बदलती अर्थव्यवस्था, सामाजिक वर्ग स्वरूप और राजनैतिक ताकतों के बदलते संदर्भ में राज्य की प्रकृति और भूमिका पर बहस चलती रही।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) उत्पादन प्रणाली से आप क्या समझते हैं। उत्पादन प्रणाली सिद्धांत के अनुसार तीसरी दुनिया के सामाजिक-आर्थिक यथार्थ का स्वरूप क्या है ?

....

....

....

....

2) राज्य केंद्रित दृष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में राज्य और सत्ता की आवधारणा को पुनर्जीवित किया है। इस कथन पर विचार कीजिए।

....

....

....

....

5.8 भूमंडलीकरण और नव-उदारवादी दृष्टिकोण

भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में परिधीय राज्यों में अल्प विकास के कारणों की व्याख्या करने और उनमें सुधार लाने के लिए 'नव उदार' आधुनिकीकरण दृष्टिकोण सामने आया। नव उदार विचारधारा के अनुसार तीसरी दुनिया के परिधीय राज्यों के अल्प विकास का मुख्य कारण राज्य द्वारा किए जा रहे विकास के लिए अपनाई गई रणनीतियों की असफलता खासकर आयात-प्रतिस्थापन औद्योगीकरण में निहित है। उनका मानना है कि यदि इन देशों में राज्य नियंत्रण समाप्त हो जाए तो ये विकसित हो सकते हैं और खुली विश्व अर्थव्यवस्था की प्रतियोगिता का लाभ उठा सकते हैं। राज्य और बाजार के बीच की द्वैधता या 'अलगाव' नव उदारवादी दृष्टिकोण का केन्द्र बिंदु है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य की भूमिका सीमित होती है। उनका मानना है कि राज्य की भूमिका सीमित करने से एक 'सुव्यस्था' का परिवेश कायम होता है जिसमें बाजार की शक्तियां बिना किसी बाधा के फलती फूलती है। राज्य का दायित्व केवल अच्छा प्रशासन और सुव्यवस्था प्रदान करना है। उसे कानून और व्यवस्था की देखभाल, निजी सम्पत्ति और संविदा का भरोसा कायम रखना होता है। **रे किली** ने अपनी पुस्तक (*सोशयोलॉजी एंड डेवेलपमेंट: द इम्पासे ऐंड बियोन्ड*, यूसीएल प्रेस, लंदन, 1995, पृष्ठ 128) में राज्य और बाजार की इस स्वाभाविक द्वैधता की आलोचना की है और कहा है कि इन दोनों के बीच का अलगाव स्वाभाविक नहीं है बल्कि ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से संचालित है। उनके अनुसार इंगलैंड में उभरे पूंजीवादी सामाजिक संबंधों में अलग राजनैतिक और आर्थिक हलकों का उदय एक अपवाद था और इसे अन्य 'विकसित' पूंजीवादी विश्व या विकासशील विश्व पर लागू नहीं किया जा सकता।

MAADHYAM IAS

इसके बावजूद विश्व बैंक और आईएमएफ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने गैर ऐतिहासिक नव उदारवादी मॉडल को विकासशील विश्व पर लागू करना शुरू कर दिया और इसके लिए उन्होंने संरचनात्मक समायोजन और 'सुशासन' का भी सुझाव दिया। उदाहरण के लिए विश्व बैंक का यह

मानना है कि विकासशील देशों की आर्थिक समस्या उनके 'जरूरत से ज्यादा शासन' में निहित है। वे यह भी मानते हैं कि इस कारण बाजार की ताकतें मुक्त रूप से कार्य नहीं कर पाती हैं। इस प्रकार इसमें सुधार के लिए उनका प्रस्ताव है कि निजी क्षेत्र को बढ़ाया जाए और 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' का उदारीकरण किया जाए। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तीन प्रमुख नीतियां प्रस्तावित की गई हैं: i) मुद्रा अवमूल्यन ii) सीमित सरकार और निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन और iii) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का उदारीकरण। हालांकि इन संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों में अलग देशों की सामाजिक-आर्थिक वास्तविकताओं और सामाजिक न्याय में राज्य की भूमिका को नजरअंदाज किया गया है। राज्य की इस भूमिका को समाप्त करने और सबकुछ बाजार की शक्तियों पर छोड़ने का मतलब यह है कि राज्य अब असमान संसाधनों को संतुलित करने की भूमिका नहीं निभा सकेगा। इससे कमजोर तबकों खासकर महिलाओं और मजदूरों की स्थिति दयनीय हो जाएगी और देश में पहले से ही व्याप्त अमीरी और गरीबी की खाई और भी चौड़ी हो जाएगी।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहायता देनेवाली संस्थाएं नव उदारवादी एजेंडे के तहत 'सुशासन' की बात करती हैं। उनका मानना है कि यह राज्य का काम है और इससे बाजार की ताकतों को फलने और फूलने का मौका मिलेगा। विश्व बैंक के इस दृष्टिकोण पर किली ने कुछ प्रश्न उठाए। विश्व बैंक ने उप सहारा अफ्रीका में संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों की असफलता के लिए सुशासन के अभाव को दोषी माना। किली (*गवर्नेन्स ऐंड डेवेलप्मेंट, वर्ल्ड डेवेलप्मेंट,* वाशिंगटन, डीसी, 1992) का कहना है कि विश्व बैंक ने 'जन जवाबदेही', 'बहुलतावाद' और 'कानून व्यवस्था' को सुशासन का महत्वपूर्ण घटक माना है परंतु वे यह नहीं बता सके हैं कि समाज के निचले तबके की भागीदारी के बिना इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। नव उदारवादी एजेंडे के तहत सुशासन की अवधारणा में लोकतंत्र और स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं। स्वतंत्रता का मतलब निजी सम्पत्ति के संरक्षण, मुक्त बाजार और बोलने, संगठित होने और आने-जाने की छूट जैसी निषेधात्मक स्वतंत्रताओं से है जो बाजार अर्थव्यवस्था को कायम रखते हैं। दूसरी ओर लोकतंत्र को शक की निगाह से देखा जाता है उसे एक ऐसा राजनैतिक क्षेत्र माना जाता है जहां भागीदारी और संसाधनों के बंटवारे की बात की जाती है। संसाधनों के बंटवारे से आर्थिक क्षेत्रा की ताकत के लिए आजादी के खतरे में पड़ने की आशंका जताई जाती है। इस प्रकार नव उदारवाद के लोकतंत्र की अपेक्षा स्वतंत्रता को महत्व देने के नुस्खे से जनता की विकासात्मक जरूरतें पूरी न हो सकीं।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) नीचे दिए गए स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1) नव-उदारवादी दृष्टिकोण के प्रमुख तत्व क्या हैं ?

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

5.9 सारांश

औपनिवेशीकरण को समझने और राष्ट्रों तथा सामाजिक आर्थिक परिघटना के संबंधों को व्याख्यायित करने के लिए राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण विकसित हुआ। राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों के

आपसी संबंध इस दृष्टिकोण का आधार है। आधुनिकीकरण अल्पविकास और निर्भरता, विश्व प्रणाली उत्पादन प्रणाली के ढंग, वर्ग विश्लेषण, राज्य केन्द्रित विश्लेषण और नव उदारवादी विश्लेषण इसके प्रमुख व्याख्यात्मक ढांचे हैं जिनका उदय पिछले कुछ दशकों में हुआ था। हालांकि इन सभी ढांचों के विश्लेषणात्मक औजार अलग-अलग है परंतु 'विकास' लगभग इन सभी की प्रमुख समस्या है। तुलनात्मक दृष्टि से इन समस्याओं को खोजने के कम में उन्होंने निश्चित रूप से पूरी दुनिया को कई स्तरों में बांट कर देखा। पंरतु उन्होंने आर्थिक ताकतों की जटिलता की जानकारी दी और यह भी बताया कि बाह्य ताकतों के तहत और उनके साथ मिलकर अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था एक साथ कैसे काम कर सकते हैं।

5.10 शब्दावली

भूमंडलीकरण : दुनिया के विभिन्न देशों और लोगों के परस्पर आर्थिक और सामाजिक संबंधों और अनुक्रियाओं को कार्यान्वित करने की प्रकिया। दूसरे शब्दों में इसके अनुसार यह माना जाता है कि यह दुनिया एक भूमंडलीय समाज है। इसके मुद्दे और समस्याएं भूमंडलीय हैं और इन्हें भूमंडलीय प्रयासों और सहयोग से सुलझाया जाना चाहिए।

वर्ग समाज : ऐसा राज्य जो किसी खास वर्ग के हितों की रक्षा करता है। मार्क्सवादी शब्दावली में यह उदारवादी राज्यों के लिए ही प्रयुक्त होता है जो पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करते हैं।

संरचनात्मक समायोजन : मुद्रा अवमूल्यन, निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन, अंतराष्ट्रीय व्यापार का उदारीकरण जैसे आर्थिक क्षेत्रों में सुधार।

तीसरी दुनिया : ऐसे राज्य जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनौपवेशीकरण की प्रक्रिया के कारण आजाद हुए और जो आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टि से विकसित नहीं थे।

5.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें और लेख

चटोपध्याय, परेश, *'पोलिटिकल इकोनॉमी: व्हाटइज् इन ए नेम?*, मंथली रिव्यू, अप्रैल, 1974।

चिलकोट, रोनाल्ड एच. *थ्योरिज ऑफ कम्परेटिव पोलिटिक्स*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, 1994।

चिलकोट, रोनाल्ड एच. *'अल्टरनेटिव एप्रोचेज टू कम्परेटिव पोलिटिक्स'* इन हावर्ड जे. वरदा (संपा.), न्यू डाइरेक्शन्स इन कम्परेटिव पोलिटिक्स वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर लंदन, 1989 ।

किले, रे, *सोशियोलॉजी ऐंड डेवेलप्मेंट*, यूसीएल प्रेस, लंदन 1995।

लिमक्यूको, पेटर ऐंड ब्रुस मैकफरलेन, *निओ-मार्कसिस्ट थ्योरिज ऑफ डेवेलप्मेंट*, क्रूम हेल्म ऐंड सैंट. मार्टिन प्रेस, लंदन 1983।

5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) राजनैतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण इस धारणा पर आधारित है कि राजनीति और अर्थव्यवस्था परस्पर संबंद्ध हैं। राजनैतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए उत्पादों के साधन और उत्पादन संबंधों जैसे आर्थिक संदर्भों को समझना अनिवार्य है।

बोध प्रश्न 2

2) आधुनिककीरण की प्रकिया परम्रागत समाजों को आधुनिक दुनिया के साथ ले चलने का प्रयास है। इसके लिए निम्नलिखित चरण बताए गए हैं :

i) परम्परागत चरण, ii) आगे बढ़ने की पूर्व शर्तें, iii) आगे की ओर बढ़ना या शुरुआत करना, iv) परिपक्वता की ओर बढ़ना, और v) बड़े पैमाने या जन उपभोग की विस्तृत जानकारी के लिए पढ़िए भाग 5.2

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 5.3
2) देखिए भाग 5.4

बोध प्रश्न 4

1) उत्पादन प्रणाली का अर्थ है कि समाज में वस्तुएं किस प्रकार उत्पादित और वितरित की जाती हैं। इसमें अर्थिक स्तर की भी चर्चा होती है जो अलग-अलग स्तरों में किस स्तर का वर्चस्व है और सामाजिक गठन में किसका बोलबाला है। आमतौर पर तीसरी दुनिया के देशों में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के साथ-साथ पूर्व पूंजीवादी प्रणाली भी मौजूद है।
2) देखिए भाग 5.7

बोध प्रश्न 5

5 नव-उदारवादी दृष्टिकोण सुशासन, संरचनात्मक समायोजन, राज्य की वापसी और भूमंडलकीरण आदि जैसी अवधारणा के अध्ययन और मूल्यांकन पर आधारित है।

MAADHYAM IAS

इकाई 6 राष्ट्रीय आन्दोलनों की विचारधारा, सामाजिक आधार तथा उनके कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 राष्ट्रीय आन्दोलनों की उत्पत्ति के कारण

6.2.1 हीनता की भावना
6.2.2 पाश्चात्य शिक्षा की भूमिका
6.2.3 धर्म-प्रचारकों की भूमिका

6.3 राष्ट्रीय आन्दोलनों की विचारधारा

6.4 राष्ट्रीय आन्दोलनों के सामाजिक आधार

6.5 राष्ट्रीय आन्दोलनों के कार्यक्रम

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन की कोई न कोई विचारधारा होती है, कुछ कार्यक्रम होते हैं, तथा स्पष्ट सामाजिक आधार होता है। इस इकाई में राष्ट्रीय आन्दोलनों के इन तीनों महत्त्वपूर्ण घटकों का विवेचन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप इस योग्य होंगे कि:

- राष्ट्रीय आन्दोलन का अर्थ स्पष्ट कर सकें;
- राष्ट्रीय आन्दोलनों के विकास का वर्णन कर सकें;
- राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारणों की व्याख्या कर सकें;
- राष्ट्रीय आन्दोलनों की विचारधाराओं की समीक्षा कर सकें;
- राष्ट्रीय आन्दोलनों के सामाजिक आधार का विश्लेषण कर सकें; तथा
- राष्ट्रीय आन्दोलनों के कार्यक्रमों का वर्णन कर सकें।

MAADHYAM IAS

6.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय आन्दोलन शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इसका उपयोग किसी भी ऐसे राष्ट्रव्यापी संघर्ष के लिए किया जा सकता है। जिसको जनसाधारण देश के कल्याण के

हित में आवश्यक समझें। इस वृहत अर्थ में, राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसा कोई भी संघर्ष हो सकता है जिसका लक्ष्य राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों के द्वारा जन जीवन में सुधार करना हो। परन्तु, व्यवहार में, उपनिवेशों में राष्ट्रीय आन्दोलन का अर्थ था विदेशी शासन से मुक्ति के लिए संघर्ष। अतः यह एक राजनीतिक प्रक्रिया थी। इस प्रकार, राष्ट्रीय आन्दोलन प्रायः साम्राज्यवाद-विरोधी अथवा विदेशी शासन विरोधी थे। उनका मूल ध्येय उपनिवेशों की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा स्वराज्य था।

यद्यपि सभी राष्ट्रीय आन्दोलनों का उद्देश्य एक ही था, फिर भी सभी उपनिवेशों में उनका रूप एक जैसा नहीं था। आन्दोलन के प्रकार एवं रूप का निर्धारण भी होता था जिस विदेशी प्रभुत्त्व के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष करना था उसकी प्रकृति कैसी थी। इसी कारण अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उपाय हालैण्ड के विरुद्ध इंडोनेशिया, अथवा फ्रांस के विरुद्ध हिन्द-चीन के साधनों से भिन्न थे। या फिर पश्चिमी शक्तियों के प्रभुत्त्व के विरुद्ध चीन के संघर्ष का अपना अलग ही रूप था।

दोनों विश्व युद्धों के अंतराल के दशकों में, राष्ट्रीय आन्दोलनों के रूप में उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष को गतिशीलता प्राप्त हुई। पाश्चात्य विश्व की समस्त पूर्वी सीमा पर, मोरक्को से लेकर मध्य पूर्व, दक्षिण एशिया एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष तेज होते गए। इसीलिए तो प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत के काल को राष्ट्रीय आन्दोलन की विशाल प्रक्रिया का सूचक कहा गया। इसके सफल परिणाम 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद मिलने आरम्म हुए।

मोरक्को में **अब्दुल करीम** (Abd-el-karim) ने फ्रांसीसी तथा स्पेनिश दोनों को चुनौती दी; मिस्र में **साद ज़गलुल पाशा** (Saad Zaghlul Pasha) ने ब्रिटेन के विरुद्ध राष्ट्रवादियों का नेतृत्त्व किया, तथा सीरिया में फ्रांसीसी मैन्डेट शासन के विरुद्ध विद्रोह हुआ। टर्की, ईरान तथा अफ़गानिस्तान में नए क्रान्तिकारी नेताओं का उदय हुआ जिन्होंने तानाशाही लहज़े में आधुनिकीकरण थोपने के प्रयास किए। इन सब में, **मुस्तफ़ा कमाल** सबसे सफल सिद्ध हुआ, जिसने प्राचीन औटोमन साम्राज्य की पद्धति से बाहर आकर, टर्की को अपमान एवं आरोपित शांति संधि से बचाया, देश का एक राष्ट्र-राज्य के रूप में संगठन किया तथा आधुनिकीकरण का मार्ग अपनाया। उधर, सुदूर पूर्व में चीन में क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास विभिन्न अभियानों के परिणामस्वरूप हुआ, तथा कुओमितांग (Kuomintang – KMT) चीनी राष्ट्रवाद के प्रतीक के रूप में उभरा। राष्ट्रवादियों (KMT) के नेता **च्यॉंग-काई-शेक** ने साम्यवादियों के सत्तारूढ़ होने के प्रयास को विफल कर दिया।

उपनिवेशों के क्षेत्र में सबसे अधिक ध्यानाकर्षण का केन्द्र भारत था। **गाँधीजी** के नेतृत्त्व में, भारतीय राष्ट्रवादियों की माँगें इतनी अधिक होती गई जिन्हें पूरा करना ब्रिटिश सरकार के लिए सम्भव नहीं था। कॉंग्रेस ने अपने आधार का विस्तार करके जन आंदोलन विकसित किया। उसमें ब्रिटिश शासन को भारत में निष्क्रिय करने की क्षमता थी। एशिया, मध्य पूर्व एवं अफ्रीका के अनेक देशों के नेता प्रेरणा के लिए गाँधीजी के द्वारा प्रभावित हुए।

MAADHYAM IAS

प्रमुख एशियाई देशों में श्रीलंका और फिलीपीन्स ऐसे थे जिनको राष्ट्रीय माँगों से मेल खाते हुए सुधार प्राप्त हुए। उधर मलाया में तो द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व लगभग कोई राष्ट्रीय आन्दोलन उभरा ही नहीं। सबसे महत्वपूर्ण तथा अभूतपूर्व घटना तब घटी जब 1935 में फिलीपीन्स के राष्ट्रमंडल (The Philippine Commonwealth) की स्थापना की गई। इसके लिए निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार, आंतरिक स्वायत्ता के एक दशक के पश्चात फिलिपीन्स का पूर्ण स्वतन्त्रता का आध्वावास दिया गया था। बर्मा में, डच ईस्ट इंडीज़ (इन्डोनेशिया) में तथा हिन्द चीन में राष्ट्रवादियों की बढ़ती आकांक्षाओं तथा अपेक्षाओं की

तुलना में स्वशासन के लिए सुधार के लिए किए गए उपाय नगराय थे। उधर इन देशों के राष्ट्रवादी अपने संगठनों को सशक्त तथा आन्दोलन को सक्रिय बना रहे थे। तीनों ही देशों में हिंसात्मक घटनाएँ घटीं। कभी कभी इन हिंसक घटनाओं का नेतृत्त्व साम्यवादियों ने भी किया। परन्तु, इनमें से किसी भी देश की विदेशी सरकार को तब तक कोई गम्भीर संकट उत्पन्न नहीं हुआ जब तक जापानी आक्रमण ने इस सभी प्रदेशों को अपने अधिकार में नहीं ले लिया।

सभी उपनिवेशों में क्रोध इतना तीव्र हो गया कि साम्राज्यवाद का विरोध राष्ट्रवाद का पर्याय जैसा प्रतीत होने लगा। ऐसा एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में अनुभव किया गया। परन्तु, चीन एवं कोरिया में यह आक्रोश न केवल पाश्चात्य देशों के विरुद्ध था, वरन् जापान के विरुद्ध भी था। नेहरू ने अपनी पुस्तक *Towards Freedom* में सत्य ही लिखा था कि राष्ट्रवाद "मूलतः एक विरोधी भावना" थी। इस भावना को घृणा और क्रोध से प्रोत्साहन मिला; यह क्रोध मुख्यतः अन्य समूहों तथा विशेषकर पराधीन देशों के विदेशी शासकों के विरुद्ध था।

6.2 राष्ट्रीय आन्दोलनों की उत्पत्ति के कारण

उपनिवेशों में, पश्चिमी शासक देशों के लोगों को लोक प्रशंसनीय सेवाओं और व्यापार में श्रेष्ठ एवं उच्च-वेतन वाले पद प्राप्त हुए थे, जबकि शिक्षित स्थानीय व्यक्तियों को निम्न-स्तरीय पद ही प्राप्त होते थे। कभी-कभी तो वे नौकरियों से वंचित ही रह जाते थे। अधिकांश पराधीन देशों में, यूरोपीय कम्पनियों के अधिकार में ही सभी बड़े उद्यम पाए जाते थे। इन उद्यमों से उन्हें भारी कमाई होती थी। दूसरी और कीनिया जैसे अनेक अफ्रीकी देशों में अधिकांश खुदरा व्यापार एशियाई लोगों के हाथों में था। इन्हें भी विदेशी शासक अपने एशियाई उपनिवेशों से लाए थे। सामान्यतया, विशाल मुनाफ़े की धनराशि स्थानीय विकास के लिए व्यय नहीं की जाती थी। वह तो शासक देशों तथा उनकी कम्पनियों के पास चला जाता था। यहीं नहीं, बहुधा विदेशी शोषण कर्त्ता स्थानीय भूमि को बहुत ही सस्ते दामों में खरीद लेते थे, या फिर उन पर स्थानीय कृषकों से मुफ़्त में खेती करवाते थे।

इस सबका अर्थ यह था कि उपनिवेशों के स्थानीय लोगों का जीवन स्तर बहुत ही नीचा था, चाहे वह पहले से बेहतर भले ही हो। यदि औपनिवेशिक शासक चाहते तो यह जीवन स्तर काफ़ी ऊँचा हो सकता था। अधिकांश एशियाइ और अफ्रीकी लोग निर्धन थे। उनमें से अनेक तो प्रायः भुखमरी के शिकार हो जाते थे। इसका एक परिणाम यह भी हुआ था कि उपनिवेशों के लोग, यूरोपवासियों की तुलना में, अधिक बीमार रहते थे, तथा अल्पायु में ही उनकी मृत्यु हो जाती थी। सम्भव था कि स्थानीय लोगों (natives) को स्वयं अपनी दुर्दशा का स्वयं ज्ञान न हो कि उनकी जीवन बर्बर तथा अल्पकालीन था। इसीलिए बहुधा उन्होंने विद्रोह नहीं किए। परन्तु, उनकी आँखों के सामने यूरोपीय उदाहरण थे, तथा धीरे-धीरे अधिकाधिक लोगों को यह अनुभव होने लगा कि उनके साथ कितना अन्याय हो रहा था। उन्होंने भी सुंदर और सुखद जीवन के स्वप्न देखने आरम्भ कर दिए।

MAADHYAM IAS

6.2.1 हीनता की भावना

पश्चिमी शासक देशों के लोग एशिया एवं अफ्रीका के निवासियों को बराबर यह जताते रहते थे कि वे हीन थे, क्योंकि वे अश्वेत वर्ग के थे, उनकी जाति तथा सभ्यता भी हीन थी। ऐसी भावना विशेषकर अफ्रीका के कृष्ण वर्ण के लोगों में उत्पन्न की गई थी। उनमें से अनेक लोगों के पूर्वजों को विदेशियों ने पकड़कर गुलाम बना लिया था। दासत्व ने हीनता

को गहरा धब्बा लगा दिया था। उसी प्रकार एशिया के पीले और गेंहुआ वर्ण के लोगों को भी पिछड़ा हुआ माना जाता था। ऐसा प्रचार किया जाता था कि न तो उनकी योग्यता में सुधार हो सकता था, और न वे अपना शासन चलाने में सक्षम थे। उनको अच्छे नौकर या श्रमिक अवश्य माना जाता था, परन्तु प्रचार यह भी किया जाता था कि न तो स्थानीय मूल निवासियों (natives) में बुद्धिमत्ता थी, न चरित्र और न ही इच्छा शक्ति।

किसी भी उपनिवेश की जनता को अपनी शासन व्यवस्था के संचालन में निश्चित भागीदारी प्राप्त नहीं थी। भारत जैसे कुछ ब्रिटिश उपनिवेशों में जनता को अनमने ढंग से स्थानीय विधान परिषदों में अधिकाधिक प्रतिनिधित्त्व दिया गया। फिर भी उनको सदा ही हीन (inferior) अनुभव करवाया गया, क्योंकि शासकों ने वित्त और रक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय सदा अपने ही नियन्त्रण में रखे। सदा ही थोड़े से विदेशियों के हाथ में ही प्रमुख पद रहे, तथा विदेशी आप्रवासियों को वहीं सुख सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई जो उन्हें अपने देशों में मिलती थीं। परन्तु स्थानीय जनता को अपने ही देशों में उन सभी सुविधाओं से वंचित रखा गया जिनका उपभोग विदेशी करते थे।

दक्षिण अफ्रीका, काँगो तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की जनता के पास सामान्यतया राजनीतिक अधिकार नहीं थे। कुछ स्थानों पर तो जनता के पास कोई भी अनुलंघनीय अधिकार नहीं थे। सामान्यतया उनको अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं थी, उनके समाचार पत्रों को सैंसर किया जाता था, देश में, विशेषकर संकट के समय, उनके अबाध आवागमन पर भी प्रतिबंध होता था। अफ्रीका के कुछ दक्षिणी भागों में तो स्थानीय निवासियों को परिचय पत्र साथ रखने पड़ते थे। प्रायः उनके लिए पृथक न्यायालय होते थे, उनको जो 'न्याय' मिलता था उसका रूप भी अलग होता था। उनको एक समान अपराध के लिए यूरोपीय लोगों की अपेक्षा अधिक कठोर दंड दिया जाता था। आमतौर पर लोगों को अकारण ही बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया जाता था जिसके लिए 'कानून की सामान्य प्रक्रिया' का पालन भी नहीं होता था। राजनीतिक मामलों में तो बिना मुक़दमा चलाए ही दंडित करके कारावास दे दिया जाता था।

6.2.2 पाश्चात्य शिक्षा की भूमिका

दूसरी ओर, औपनिवेशिक शासक, उनके अधिकारी तथा धर्म-प्रचारक अपनी ओर से यह कहते रहते थे कि वे शिक्षा तथा धर्म के द्वारा पिछड़े हुए लोगों को अच्छे नैतिक जीवन तथा स्वराज्य के लिए तैयार कर रहे थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ उपनिवेशों में शासकों ने इस दिशा में कुछ सफल प्रयास किए भी! उन्होंने पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति लागू की तथा सफ़ाई व्यवस्था सुधारने के प्रयास किए। उन्होंने स्थानीय बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा, तथा कुछ थोड़े से वर्ग के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था भी की।

कुछ स्थानीय युवकों (natives) ने अवश्य फ्रांस, ब्रिटेन अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका में उच्च शिक्षा प्राप्त की। कुछ ने स्वदेश में भी अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के प्रयास किए। कुछ चीनी युवाओं ने जापान में उच्च शिक्षा ग्रहण की। यह एशियाई तथा अफ्रीकी शिक्षित व्यक्तियों ने पाश्चात्य प्रौद्योगिकी, विचारों एवं आदर्शों को ग्रहण करके सफल राष्ट्रवादियों के रूप में उभरे, तथा उन्होंने यूरोपीय औपनिवेशिक शासन का खुलकर विरोध किया। ऐसे शिक्षित व्यक्ति, जिनको उनकी अपेक्षा के अनुसार पद तथा अवसर नहीं मिले, प्रमुख रूप से राष्ट्रवादी आन्दोलन में सक्रिय हुए।

MAADHYAM IAS

6.2.3 धर्म-प्रचारकों की भूमिका

अनेक उपनिवेशों में ईसाई धर्म प्रचारकों (missionaries) ने "युद्ध में जाने वाले सिपाही की

लगन से" स्थानीय लोगों का धर्म-परिवर्तन करवाया। जहाँ एक ओर ईसाई प्रचारकों तक उनके धर्मावलम्बी अधिकारियों ने अनेक स्थानीय लोगों को अपना अनुयायी तथा आज्ञाकारी बनाया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने राष्ट्रवाद की भावना एवं आशा को जन्म दिया। इस राष्ट्रीय भावना ने प्रतिफल के रूप में पाश्चात्य जीवन और आचार के विरुद्ध विरोध को जन्म भी दिया। यह विरोध उस समय शत्रुता के रूप में परिवर्तित हो गया जब साम्राज्यवादी सरकारों ने उनका पक्षपात करना आरम्भ किया जो कि धर्म-परिवर्तित ईसाई हो गए थे, तथा अन्य स्थानीय लोगों के विरुद्ध नीतियाँ अपनाकर उनके साथ दुर्व्यवहार किया। भारत अथवा मोरक्को जैसे देशों में बड़ी संख्या में लोगों ने अपने मूल धर्मों के प्रति आस्था बनाए रखी, तथा उनकी रक्षा करने के लिए हर सम्भव उपाय किए। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बड़े समूहों ने अपने-अपने धर्म को राष्ट्रीय भावना का मूल आधार बनाया। विदेशी धर्म का विरोध भी राष्ट्रवाद का एक कारण बना।

धर्म-प्रचारकों (missionaries) द्वारा ईसाई धार्मिक शिक्षा ने प्राचीन धार्मिक विश्वासों और जीवन शैली को चुनौती दी। हाँ, कुछ आशा को भी जन्म दिया गया। इन आशाओं और चुनौतियों के संदर्भ में एशिया और अफ्रीका में हुई प्रतिक्रिया ने राष्ट्रवाद के मार्ग प्रशस्त किए। एक प्रतिक्रिया स्वरूप काँगो में एक ऐसा धार्मिक विश्वास उत्पन्न हुआ, जो राष्ट्रवाद का मार्गदर्शक बना। एक अन्य प्रतिक्रिया यह हुई कि पारम्परिक धर्म विश्वास और भी सशक्त हो गए। ऐसा सुसंचालित धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप सम्भव हो सका। इनमें प्रमुख थेः भारत में ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज। इनका उदय उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में हुआ। उसी प्रकार, मोरक्को में ***सलीफिया आन्दोलन*** का विकास हुआ। इन आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक विश्वासों एवं परम्पराओं पर आधारित, अपने देशों का, राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण करना और नवजीवन प्रदान करना था। अफ़गानिस्तान में एक समाचार पत्र के सम्पादक महमूद तार्ज़ी (1911-18 की अवधि में) ने देश में इस्लाम की शिक्षा के औचित्य पर बल देते हुए, इसको अखिल-इस्लामवाद, अखिल-एशियावादी एकता तथा आधुनिकीकरण से सम्बद्ध किया। भारत में राष्ट्रवाद के महान प्रतीक ***स्वामी विवेकानन्द,*** जो संत भी थे और देशभक्त भी, ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिकता तथा हिन्दू धर्म के प्राचीन गौरव के शिखर पर पहुँचा दिया।

ईसाई धर्म को विदेशी प्रभुत्त्व और दमन का प्रतीक मानकर, इसके विरुद्ध शत्रुता, तथा राष्ट्रवाद के पक्ष में भावनाओं का उदय भी हुआ। ईसाई धर्म की बौद्धिक शिक्षा ने काले वर्ण के अफ्रीकी लोगों को यह दर्शाया कि मानवतावादी आदर्शों तथा साम्राज्यवादी प्रथाओं में कितना विरोधाभास था। एशिया और अफ्रीका के निवासियों ने अनुभव किया कि किस प्रकार ईसाई धर्मविलम्बी न्याय और स्वतन्त्रता को उसके राजनीतिक परिवेश से अलग कर रहे थे। उन्होंने दो पृथक मानदंड तय किए थे - *एक अपने लिए और दूसरा शासित जनता के लिए।*

एशिया और अफ्रीका के अधिकाधिक भाग में लोगों के लिए धीरे-धीरे राष्ट्रवाद ही उनका नया धर्म होकर उभर रहा था। दूसरी ओर जो नेता तथा अभिजन वर्ग के थे अपनी परम्पराओं को बनाए रखते हुए पाश्चात्य संस्थाओं, पाश्चात्य अर्थव्यवस्था तथा उनकी वैज्ञानिक तकनीक का अनुकरण करना चाहते थे। अरब लोग इस असमंजस में थे कि वे कौन सा मार्ग अपनाएँ। एक ओर तो उनका राष्ट्रवाद पारम्परिक यूरोपीय पद्धति का था अतः वे आधुनिकीकरण से प्रेरित थे। दूसरी ओर उनका राष्ट्रवाद इस्लाम की परिष्कृति के उद्देश्य से चलाया जा रहा आन्दोलन था।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) पूर्व उपनिवेशों में हीनता की भावना किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई?

....

....

....

....

....

....

....

2) राष्ट्रीय आन्दोलनों के विकास में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने क्या भूमिका निभाई?

....

....

....

....

....

....

....

6.3 राष्ट्रीय आन्दोलनों की विचारधारा

जैसा कि 'राष्ट्रीय आन्दोलन' से स्पष्ट है, राष्ट्रवाद सदा इन आन्दोलनों की मूल विचारधारा होती है। यह राष्ट्रवाद अपने में एक उग्र या विप्लवकारी विचारधारा है यह तब और भी उग्र हो जाती है जब राष्ट्रवाद में मार्क्सवाद-लेनिनवाद जैसी विचारधारा भी समाहित हो जाए।

विचारधारा ऐसा महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक आधार होता है जिससे व्यक्ति विशेष परिवर्तनशील समाज में अपनी भागीदारी के महत्त्व को समझ सकता है। अतः विचारधारा ऐसी संरचना कही जा सकती है जिसमें विभिन्न व्यक्ति मिलकर भावनात्मक समूह का निर्माण कर सकते हैं। सामान्य उद्देश्य की खोज में विभिन्न व्यक्ति ऐसे सम्बन्धों और निष्ठा का विकास करते हैं जिससे पारम्परिक व्यवस्था में उत्पन्न किसी अभाव को भरा जा सके। जिस विचारधारा को सामान्यतया स्वीकार किया जाता है वह सामान्यजनों तथा अभिजनों के मध्य सांझे विश्वास उत्पन्न करने का कार्य करती है। इसके द्वारा समाज के विविध वर्ग एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करते हैं। इसका मूल विश्वास यह है कि पारम्परिक व्यवस्था की अपेक्षा व्यक्तियों और समाज के लिए बेहतर जीवन सम्भव है।

MAADHYAM IAS

राष्ट्रीय आन्दोलनों की विभिन्न विचारधाराओं में राष्ट्रवाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा व्यापक है। सभी राष्ट्रीय आन्दोलनों के इतिहास का संकेत है कि राष्ट्रवाद के पीछे विचार यह होता है विदेशी राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्त्व से मुक्ति प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में, यह विदेशी राजनीतिक साम्राज्यवादी शासन, आर्थिक शोषण तथा जातीय भेदभाव या असमानता के विरुद्ध विद्रोह का सूचक है।

राष्ट्रवाद की विषयवस्तु स्थान, जनसमूह तथा समय के साथ बदलती रहती है। चाहे राष्ट्रवाद एक सामान्य विचारधारा है, तथापि इसके विभिन्न रूप हो सकते हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है कि सभी अफ्रीकावासी तो कृष्ण (काले) वर्ण के नहीं होते, फिर भी सभी अफ्रीकी देशों, विशेषकर सहारा के दक्षिण के देशों में, विदेशी श्वेत शासकों के विरुद्ध उनके कृष्ण वर्ण ने उनमें एकता को जन्म दिया। एशिया में लोगों के रंग का राष्ट्रवाद पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, चाहे यहाँ भी जातीय एवं श्वेत प्रभुत्त्व के विरोध में कोई कमी नहीं पाई गई। पूर्वी एशिया, विशेषकर कोरिया, में जापान के विरुद्ध असंतोष ने राष्ट्रवाद को विकसित किया,चाहे दोनों के वर्ण एक ही रंग के थे।

अधिकांश उपनिवेशों में राष्ट्रवाद का विकास विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं जातीय समूहों के मध्य एकता की भावना से हुआ। इस भावना ने विदेशी प्रभुत्त्व से आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता को बलवती बनाया। इसी के कारण जातीय समानता की माँग उठी। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपनिवेशों की जनता कोई भी बलिदान करने को तैयार थी। जिन देशों में साम्राज्यवादी देशों का प्रत्यक्ष शासन था वहाँ राष्ट्रवाद का उदय तीव्र गति से हुआ, परन्तु जहाँ उपनिवेशवाद प्रबल था और साम्राज्यवादी शासन अप्रत्यक्ष था वहाँ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तक राष्ट्रवाद का विकास नहीं हुआ।

दोनों विश्व युद्धों के अंतराल काल में एक नई शक्ति का विकास हुआ जिसने राष्ट्रवाद को चुनौती दी ताकि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को शीघ्रता से पराजित किया जा सके। यह नया सिद्धान्त साम्यवाद था, जो कि मार्क्सवाद - लेनिनवाद की विचारधारा पर आधारित था। इसका विकास 1917 की रूसी क्रान्ति के पश्चात् तेज़ी से हुआ। परन्तु इन दोनों विचारधाराओं में प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ। वे या तो समानान्तर चले या फिर अलग-अलग मार्गों पर। यद्यपि साम्यवाद का झुकाव अन्तर्राष्ट्रीयवाद की ओर था, और इसने राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित नहीं किया, फिर भी रणनीतिक कारणों से उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में इसकी सहानुभूति राष्ट्रवाद के साथ थी।

लेनिन को यह विश्वास हो गया था कि उपनिवेशों के निवासी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। उसको यह लगा कि उस समय साम्यवादी विचारधारा को प्रोत्साहित करना सही नहीं होगा, क्योंकि उस समय, लेनिन के अनुसार, साम्राज्यवाद को नष्ट करने के लिए शिक्षित वर्गों द्वारा तथाकथित "पूँजीवादी-राष्ट्रीय" क्रान्ति चल रही थी। यद्यपि यह साम्यवादी विचारधारा के विपरीत था, फिर भी लेनिन ने सोवियत संघ के सहयोग का प्रस्ताव किया ताकि राष्ट्रवादी तत्त्वों को सशक्त किया जा सके। राष्ट्रवादी तत्त्वों से सहयोग के फलस्वरूप साम्यवादियों को ईरान, अफ़गानिस्तान तथा चीन में महान लोकप्रियता मिली। बाद में चीन में राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों में झगड़ा हो गया; वे एक दूसरे से अलग हो गए। यद्यपि आरम्भ में, 1928 में राष्ट्रवादियों के द्वारा साम्यवादियों को पराजित होना पड़ा था, अंततः उनके संघर्ष के परिणामस्वरूप 1949 में चीन में साम्यवादियों की विजय हुई, और वे सत्ता में आ गए। अन्य अनेक देशों में भी, उनके राष्ट्रीय आन्दोलनों में साम्यवादी दलों के द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसा उन्होंने सोवियत संघ के कहने पर किया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) विचारधारा राष्ट्रीय आन्दोलन में किस प्रकार एकता स्थापित करती है?

....

....

....

....

....

....

2) राष्ट्रवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

6.4 राष्ट्रीय आन्दोलनों के सामाजिक आधार

लगभग सभी उपनिवेशों में राष्ट्रीय आन्दोलनों का आरम्भ लोगों के छोटे-छोटे समूहों द्वारा असंगठित विरोध प्रदर्शन के रूप में हुआ। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने जन-आन्दोलनों का रूप ले लिया। राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रगति में समाज के सभी वर्गों की कुछ न कुछ भूमिका रही।

आरम्भ में आन्दोलनों की अगवाई कुछ नेताओं तथा बुद्धिजीवियों ने की। उन्होंने जनसाधारण को संगठित किया। उन्होंने आम जनता को स्वतन्त्रता का अर्थ और उसकी आवश्यकता समझाई। लोगों ने उनका साथ दिया क्योंकि वे (तत्कालीन) समय की आवश्यकता की अभिव्यक्ति कर रहे थे। धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलनों के साधन के रूप में राजनीतिक दलों और समूहों का विकास हुआ। किसानों, श्रमिकों तथा महिलाओं ने भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अपने आन्दोलनों को संगठित किया।

MAADHYAM IAS

समय-समय पर, तथा विभिन्न तरीकों से अधिकाधिक लोगों को यह विश्वास होता गया जब स्वाधीनता का स्वप्न पूरा होगा तब सब कुछ ठीक हो जायगा। अतः अधिकाधिक लोग इन आन्दोलनों में शामिल हुए, और उनकी भागीदारी ने इन अभियानों को राष्ट्रीय संघर्ष का रूप दिया। इस प्रक्रिया में उन्हें अपनी कठिनाइयों की और अधिक अवगति हुई। जब उन्हें शिकायतों का आभास हुआ तब जनसाधारण का विरोध बढ़ने लगा, तथा उन्होंने अपने विचारों को खुलकर अभिव्यक्त किया। जब जनता की शिकायतें बढ़ती गईं, उनका विरोध-प्रदर्शन और भागीदारी अधिक हुई तब राष्ट्रीय जागृति भी उत्पन्न हुई और स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों को नए आयाम मिले।

एशिया तथा अफ्रीका के लोगों को पाश्चात्य व्यक्तियों, विशेषकर ईसाई धर्म-प्रचारकों तथा आशावादी बुद्धिजीवियों ने यह सिखाया कि उन्हें आशावान रहना चाहिए। कुछ थोड़े से एशियाई और अफ्रीकी युवाओं ने पश्चिमी देशों में शिक्षा भी प्राप्त की। 1920 के दशक में, और उसके पश्चात्, उनके अपने देशों के नेताओं ने, पहले समाचारपत्रों और फिर रेडियो के माध्यम से, तथा उभरते राजनीतिक दलों, सहायता समितियों और श्रमिक संगठनों के द्वारा यह समझाया कि भविष्य में उनकी स्वतन्त्रता, न्याय और प्रचुरता की उपलब्धि उनके अपने राष्ट्रीय प्रयासों से ही हो सकती थी। एशिया-अफ्रीकी लोगों ने पहले राष्ट्र संघ और फिर संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की घोषणाओं में "मौलिक मानव अधिकारों", "मानव के सम्मान और मूल्यों" तथा धर्म और जाति के भेदभाव के बिना, "सभी के लिए मौलिक स्वतन्त्रताओं" के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की। उन्होंने इन उद्घोषणाओं में विश्वास करते हुए, यह आशा व्यक्त की कि उनको भी यह सभी अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ मिलनी चाहिए।

राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेताओं के प्रेरणा स्रोत उतने ही विविध थे जितने कि उनकी जनता तथा उनके अपने व्यक्तित्त्व। वे आशावादी थे, वे भयभीत भी थे, तथा वे अपने और अपने लोगों के लिए महत्त्वाकांक्षी भी थे। निश्चय ही कुछ ऐसे भी नेता थे (जैसे इन्डोनेशिया के डा. सुकर्ण) जो अपनी व्यक्तिगत शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ अपने लिए उच्च वेतन तथा अन्य सुख सुविधाओं के अभिलाषी थे - जैसे कि सुन्दर घर, बड़ी गाड़ियाँ तथा सुन्दर महिलाओं का साथ। कुछ ऐसे नेता भी थे (जैसे भारत में नेहरू, बर्मा में आँग सान, तन्ज़ानिया में नायरेरे और सेनेगल में सेंघर) जो चाहे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं से मुक्त नहीं थे, फिर भी वे उच्च आदर्शवादी होने के साथ-साथ देश हित को सदा व्यक्तिगत लाभ से ऊपर रखते थे। जैसा कि सभी के साथ होता है, उनके प्रेरक तत्त्व (motivations) मिले जुले थे, तथा उनमें परिवर्तन होते रहते थे। परन्तु, यह भी सत्य है कि उनमें से अनेक नेताओं को बहुत दुखद अनुभव हुए, जिसने उनके राष्ट्रवाद को और भी गम्भीर तथा गतिशील बना दिया। जब इन नेताओं ने अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया था, तब वे कोमल (नरम) सुधारक मात्र थे उनकी संतुष्टि के लिए सुधार पर्याप्त थे, यदि स्वराज्य की दिशा में प्रगति की कोई आशा दिखाई देती हो तब वे औपनिवेशिक व्यवस्था में रहते हुए कार्य करने को तैयार थे। परन्तु, जैसे जैसे उन्होंने अधिक सुधारों की माँग की, तथा उसके लिए कार्य किया, वैसे वैसे इनका जीवन संकटमय हो गया; उन्हें धमकियाँ दी गईं; उन में से कुछ को देश से निष्कासित तक होना पड़ा। कुछ को बन्दी बनाया गया तथा कभी-कभी तो बुरी तरह पीटा भी गया। कुछ नेताओं एवं युवा कार्यकर्त्ताओं को फांसी पर भी लटका दिया गया। इस प्रकार वे शहीद होकर राष्ट्रवाद के प्रमुख प्रतीक बन गए। जो जीवित रहे उन्होंने विरोध और भी उग्र कर दिया। परिणामस्वरूप उनको और अधिक यातनाएँ सहनी पड़ी। वे अपने देशों की राष्ट्रीय पार्टियों के प्रमुख नेताओं के रूप में उभरे। कुछ का उदय श्रमिक एवं किसान आन्दोलनों तथा संगठित विरोध प्रदर्शनों एवं हड़तालों से भी हुआ। उन्होंने राष्ट्रवाद को विकसित किया। उनकी गिरफ़्तारियों ने जनता में राष्ट्रीय उन्माद को जन्म दिया, जिसके कारण राजनीतिक दल, समूह तथा स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलनों को बल और शक्ति प्राप्त हुई। भारत में (उदाहरण के लिए) गाँधी, नेहरू, तिलक, पटेल, मौलाना आज़ाद इत्यादि को जेल यात्राएँ करनी पड़ीं। अफ्रीका के विभिन्न भागों में बांदा, बुर्गीबा, कौन्डा, कीनयाटा डा. नेल्सन मंडेला, सैम नजूमा तथा सिथौले इत्यादि के साथ भी ऐसा ही हुआ। वे सभी जेलों से बाहर आकर और उग्र राष्ट्रवादी हो गए। उनके देशवासियों ने उनको अपने हीरो का दर्जा प्रदान किया। राष्ट्रीय भावनाओं को न तो जेल की सज़ा कम कर सकी, न यातनाएँ उन्हें दबा सकीं और न ही दमन के किसी अन्य उपाय से

MAADHYAM IAS

राष्ट्रवाद का नाश किया जा सका। व्यवहार में राष्ट्रवाद और भी सशक्त होता गया।

बोध प्रश्न 3

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) राष्ट्रीय आन्दोलनों में बुद्धिजीवियों की भूमिका का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेताओं के प्रेरक तत्त्व क्या थे?

....

....

....

....

....

....

6.5 राष्ट्रीय आन्दोलनों के कार्यक्रम

प्रारम्भिक चरणों में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रायः आकस्मिक एवं असंगठित रहे। वे कुछ व्यक्तियों के स्थानीय विरोध-प्रदर्शन मात्र थे। फिर भी वे इस ओर संकेत थे कि उपनिवेशों में सर्वव्यापी क्रोध बढ़ रहा था। उपनिवेशवाद से त्रस्त लोगों का प्रथम विरोध प्रदर्शन राष्ट्रवादी विरोध का प्रतीक सिद्ध हुआ। साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा इनको बर्बरता और हिंसा से दबा दिया गया। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी नेताओं को सोचना पड़ा कि औपनिवेशिक शक्तियों का विरोध करने के लिए उनको कौन से साधन अपनाने चाहिए।

MAADHYAM IAS

जब प्रारम्भिक विद्रोह दबा दिए गए तब कुछ समय के लिए उपनिवेशों की जनता को विदेशी शासन के सम्मुख झुकना ही पड़ा। ऐसा 1857 के भारत के प्रथम विद्रोह के बाद हुआ। इसी प्रकार के परिणाम अन्य अनेक देशों में भी पाए गए। उस समय परायज की भावना से विदेशी शासन को, कोई विकल्प सामने न होने के कारण, स्वीकार कर लिया। आक्रामकों (विदेशी शासकों) की सैनिक शक्ति, तकनीकी ज्ञान एवं सांस्कृतिक वरिष्ठता को भी स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार श्वेत व्यक्ति की श्रेष्ठता के सिद्धान्त का विकास हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार के साथ तथा बड़ी संख्या में स्थानीय निवासियों का प्रशासन तथा पाश्चात्य वाणिज्य और उद्यमों में प्रवेश इस बात का सूचक होने लगा कि उन्होंने भी वह सामर्थ्य प्राप्त कर ली थी जो कि श्वेत विदेशियों की श्रेष्ठता के लिए

उत्तरदायी थी। अतः, अब श्वेत शासकों के द्वारा एशिया-अफ्रीका के देशों पर अपने प्रभुत्त्व को जारी रखने का कोई औचित्य नहीं रह गया था। विदेशी शासक अब उनके भाग्य-विधाता बने नहीं रह सकते थे। अतः, राजनीतिक और आर्थिक रूप से पिछड़े हुए पराधीन लोगों में भी राष्ट्रीय जागरण भरपूर मात्रा में पाया जाने लगा।

यह राष्ट्रीय चेतना विदेशी शासन के विरुद्ध प्रतिरोध की मूल प्रवृत्ति का परिणाम मात्र नहीं थी, परन्तु यह सम्बद्ध समुदाय की अलग विशेष पहचान का एक जानबूझ कर दिया गया दावा था। भारत, इन्डोनेशिया, बर्मा, श्रीलंका तथा अन्य देशों में जहाँ लोगों में विदेशी शासन के विरुद्ध एकता की भावना उत्पन्न हुई, उस एकता को लाने में स्वयं विदेशी शासन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह एक नई प्रवृत्ति थी, क्योंकि पहले तो केवल वर्गों की अथवा क्षेत्रीय निष्ठा पाई जाती थी। परन्तु, अब देश भक्ति की देश व्यापी निष्ठा की उत्पत्ति हुई।

भारत में 1857 में राष्ट्रवाद की नवोदित भावना के दर्शन हुए। इसके पश्चात्, **पूना सार्वजनिक सभा** (1870) तथा **इंडियन एसोसिएशन** (1878) जैसी संस्थाओं ने इस भावना को एक राजनीतिक संगठनों का स्वरूप प्रदान किया। साथ ही इनमें पाश्चात्य विचारों का प्रवेश हुआ, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के पूर्वगामी सिद्ध हुए। **चीन** में विदेशियों के विरुद्ध सशक्त भावना की पृष्ठभूमि में, 1895 के पश्चात्, **डा. सन यात-सेन** (Sun Yat-Sen) और **क'आँग यू-वी** (K'ang Yu-Wei) ने क्रान्तिकारी सुधार आन्दोलन आरम्भ किए। उन्होंने ऐसा पश्चिमी साधनों का प्रयोग करके किया ताकि चीन को पूर्ण विनाश से बचाया जा सके। उसी प्रकार अन्य अनेक देशों में भी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ऐसी ही राष्ट्रवादी संस्थाओं की स्थापना हुई। बोर्नियो, न्यू गिनी तथा मलाया जैसे कुछ प्रदेश ऐसे भी थे जहाँ पाश्चात्य विचार प्रवेश नहीं कर सके, और जहाँ जनसाधारण के जीवन पर सामान्यतया पश्चिमी विचारों तथा प्रौद्योगिकी क्रान्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यही कारण है कि मलाया में 1930 के दशक तक राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति तक नहीं हुई थी।

प्रत्येक देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के साधन, उसकी गति तथा शक्ति में स्थानीय परिस्थितियों और शासन व्यवस्था के अनुसार स्पष्ट भिन्नता पाई गई। ब्रिटिश भारत, बर्मा, डच ईस्ट इन्डीज़ (इन्डोनेशिया) और फ्रांसीसी हिन्द चीन के अन्नाम एवं तोंकिन प्रदेशों में राष्ट्रीय आन्दोलन का तेज़ी से विकास हुआ क्योंकि इन देशों की पराधीन जनता का साम्राज्यवादियों द्वारा प्रत्यक्ष शोषण हो रहा था। भारत में पहले उदार, और बाद में साम्राज्यवाद के विरुद्ध कान्तिकारी आन्दोलन चलाए गए। परन्तु, ब्रिटिश सरकार के दमन के समक्ष इन आन्दोलनों के स्पष्ट परिणाम दिखाई नहीं दिए। परन्तु जब राष्ट्रीय आन्दोलन **महात्मा गाँधी** के हाथों में आया तब उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष के लिए, सत्य, प्रेम और अहिंसा पर आधारित असहयोग जैसे अनोखे आन्दोलन के मार्ग को अपनाया। उनके सत्याग्रह को आशा से अधिक सफलता प्राप्त हुई।

MAADHYAM IAS

दूसरी ओर डच उपनिवेश ईस्ट इंडीज़ (इन्डोनेशिया) तथा फ्रांसीसी हिन्द चीन में हिंसात्मक उपाय अपनाए, तथा अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों को विकसित करने के लिए खूनी संघर्ष भी हुए। ऐसा विशेषकर तब हुआ जब जापान ने द्वितीय विश्व युद्ध में इन उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया, तथा लोगों को साम्राज्यवाद से घृणा करने की प्रेरणा दी। श्रीलंका में राष्ट्रीय आन्दोलन संवैधानिक सीमाओं के दायरे में ही रहा। ऐसा ही फिलीपीन्स में भी हुआ। वहाँ हिंसात्मक उपाय अपनाने की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि अमेरिका ने फिलीपीन्स को पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासन 1935 में ही दे दिया था। ईरान, अफ़गानिस्तान, चीन एवं

थाईलैण्ड जैसे स्वतन्त्र देशों में (जहाँ विदेशी हस्तक्षेप और प्रभुत्त्व विद्यमान था), राष्ट्रीय आन्दोलनों का उद्देश्य आन्तरिक और बाह्य मामलों में विदेशी हस्तक्षेप से मुक्ति प्राप्त करना था। इन देशों में जो उपाय अपनाए गए वे प्रायः कूटनीतिक और कभी-कभी सशस्त्र विद्रोह अथवा वास्तविक युद्ध जैसे थे। स्वतन्त्र जापान में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति बिलकुल अलग थी। यह आन्दोलन, बीसवीं शताब्दी में, विस्तार के लिए था, अतः जापान ने सैन्य और आक्रामक साधन अपनाए। वहाँ तथाकथित राष्ट्रीय आन्दोलन ने वास्तव में साम्राज्यवाद की नीति अपनाई।

प्रथम विश्व युद्ध ने राष्ट्रीय आन्दोलनों को काफ़ी प्रोत्साहन दिया। कुछ अंश में यह राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर चलाए गए। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने युद्ध के उद्देश्यों के संबंध में घोषणा की कि राष्ट्रीय अभिलाषाओं का सम्मान किया जायगा, तथा आत्म-निर्णय का अधिकार इसका एक प्रमुख सिद्धान्त होगा। इस घोषणा के आधार पर लोगों ने अपने आत्म-निर्णय के अधिकार पर ज़ोर दिया। इस प्रकार यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आन्दोलनों का एक प्रमुख लक्ष्य बन गया।

वास्तव में कुछ विद्धानों का विचार है कि प्रथम विश्व युद्ध को आधुनिक एशियाई राष्ट्रवाद के आरम्भ का काल कहा जा सकता है। स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर, राष्ट्रवाद,, जैसे दो पैरों पर चलने लगा। एक थाः विदेशी शासन के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन और विदेशी प्रभुत्त्व का विरोध तथा दूसरा राष्ट्रीय औद्योगीकरण के प्रयास। इस प्रकार का राष्ट्रवाद चीन और भारत में सबसे शक्तिशाली था जहाँ "राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग" ने राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन किया तथा अपने-अपने देश की आर्थिक व्यवस्था से विदेशी पूँजीपतियों के निष्कासन का प्रयास किया। यह दोनों देश (भारत और चीन) पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई विद्रोह के नेता के रूप मे उभरे। उधर अरब राष्ट्रवाद भी विकसित होने लगा। ऐसा टर्की के ऑटोमन साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् ही हुआ। साथ ही, प्रथम विश्व युद्ध में पराजित होने के पश्चात्, स्वयं टर्की में राष्ट्रवाद ने पश्चिमी देशों को चुनौती दे डाली। टर्की का स्तर विश्व में ऊँचा उठ गया जब वहाँ एक गणतन्त्र की स्थापना हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गए। इसमें कोई संदेह नहीं कि जितने सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन युद्धकाल में हुए, उससे पूर्व कभी उतने नहीं थे। जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के दौरान **राष्ट्रपति विल्सन** ने **आत्म-निर्णय** के सिद्धान्त की घोषणा की थी, उसी प्रकार 1941 में राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन रूज़वेल्ट तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल के अटलांटिक चार्टर का भी एक सिद्धान्त आत्म-निर्णय का अधिकार था। अतः, इसमें व्यवस्था थी कि, "... वे सभी लोगों के इस अधिकार का सम्मान करते हैं कि उनको उस सरकार के रूप का चयन करने का अधिकार हो जिसके अधीन वे निवास करेंगे; तथा वे यह भी चाहते हैं कि जिन से स्वशासन का अधिकार छीन लिया गया है उनको यह संप्रभु अधिकार वापस दिया जाए। उपनिवेशों की जो जनता आत्म-निर्णय के लिए संघर्ष कर रही थी, उसने युद्ध के पश्चात् यह माँग की कि पाश्चात्य देश अटलांटिक चार्टर की भावना के अनुसार उन्हें स्वाधीनता प्रदान करें, ताकि लोग स्वेच्छा से अपनी सरकारों का गठन कर सकें।" स्वाभाविक था कि पाश्चात्य देश ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु, साथ ही कई वर्षों तक शत्रु से युद्ध करके वे शक्तिहीन भी हो गए थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन की स्वतन्त्रता की सशक्त लहर को अधिक देर तक टाल नहीं सकते थे।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि शक्तिशाली विरोध (सभी जगह), शांतिपूर्ण सत्याग्रह (भारत) के द्वारा, क्रान्ति (अल्जीरिया) के द्वारा, गृह युद्ध (चीन) के द्वारा अथवा औपनिवेशिक युद्ध (वियतनाम), सन् 1945 के पश्चात्, पचास से अधिक एशियाई-अफ्रीकी देशों को

MAADHYAM IAS

स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। इनमें से अधिकांश देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलनों का नेतृत्त्व चमत्कारी नेताओं ने किया।

बोध प्रश्न 4

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) राष्ट्रीय आन्दोलनों में पाश्चात्य शिक्षा की क्या भूमिका रही?

....

....

....

....

....

....

2) राष्ट्रीय आन्दोलनों में जिन साधनों का प्रयोग किया गया वे कौन से थे?

....

....

....

....

....

....

6.6 सारांश

इस इकाई में आपने राष्ट्रीय आन्दोलनों के विभिन्न पक्षों, जैसे उनकी विचारधारा, उनके सामाजिक आधार तथा उनके कार्यक्रमों, के विषय में पढ़ा।

राष्ट्रीय आन्दोलनों की विचारधारा मूल रूप से क्रान्तिकारी रही। परन्तु, यह भी स्मरण रखना होगा कि इनमें से अनेक क्रान्तिकारी आन्दोलनों में अहिंसा रूपी साधन का प्रयोग भी किया गया। वैसे भी, आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक क्रान्ति में हिंसात्मक विरोध ही किया जाए। उपनिवेशों की शोषित जनता द्वारा प्रायः जब भी हिंसा का सहारा लिया गया वह शासकों द्वारा प्रयुक्त हिंसा के उत्तर के रूप में ही था। वह तो शोषण का प्रत्योत्तर था। अनेक लोगों के लिए साधन एवं साध्य की एकता नितांत आवश्यक नहीं थी। यह सत्य है कि **गाँधीजी जैसे नेताओं ने साध्य और साधन की एकता पर बल देते हुए कहा था कि केवल अहिंसात्मक साधन प्रयोग करके ही अहिंसात्मक समाज एवं उत्तम और कुलीन साध्य की प्राप्ति हो सकेगी।**

MAADHYAM IAS

सभी राष्ट्रीय आन्दोलनों को जनसाधारण का **समर्थन प्राप्त** था। परन्तु उनका आरम्भ एवं नेतृत्त्व सामान्यतया थोड़े से नेताओं और क्रान्तिकारियों ने किया था। उनके बलिदानों के

फलस्वरूप न केवल उनके देशों वरन् विदेशों में भी उनके अनुयायियों ने उनके मार्ग पर चलने की चेष्टा की। अतः, किसी न किसी प्रकार सभी राष्ट्रीय आन्दोलन एक दूसरे से सम्बद्ध हो गए थे। उन्हें सफल विरोध-प्रदर्शन से प्रेरणा मिली थी।

इन आन्दोलनों का कोई पूर्व-निश्चित कार्यक्रम तो था नहीं, यद्यपि इनके नेताओं, दलों तथा बुद्धिजीवियों ने किसी न किसी रूप में एकीकृत कार्यक्रम को प्रस्तुत किया जो कि जनसाधारण की अंतिम स्वीकृति पर आधारित था। मूल उद्देश्य तो सभी का यह था कि साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा किया जा रहा शोषण समाप्त हो।

6.7 शब्दावली

राष्ट्रीय आन्दोलन : एक ऐसा आन्दोलन जिसका आधार स्वतन्त्रता, या मुक्ति, की राष्ट्रीय भावना हो। यह भावना प्रायः पराधीन देशों की जनता में पाई गई।

स्थानीय (मूल) निवासी : किसी ऐसे देश के मूल निवासी जिसको विदेशी शक्ति ने पराधीन बना दिया हो।

उपनिवेशवादी (Colonizers) : किसी ऐसे देश के विदेशी शासक और शोषणकर्त्ता जिस पर उन्होंने अपनी औपनिवेशिक व्यवस्था स्थापित कर रखी हो।

विचारधारा : किसी उद्देश्य-विशेष की प्राप्त के लिए सुनिश्चित योजना पर आधारित विचार तथा कार्यक्रम।

अहिंसा : शांतिपूर्ण उपायों (साधनों) का प्रयोग, अथवा शांतिपूर्ण समाधान।

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Chavan, R.S. : *Nationalism in Asia*

Smith, Anthony D. : *Theories of Nationalism*

Emerson, Rupert : *From Empire to Nation*

Godement, Francois : *The New Asian Renaissance*

Kebschull, Harvey G. : *Politics in Transitional Societies*

Shafer, Boyd C. : *Faces of Nationalism*

Watson, Hugh Seton : *Nations and States*

MAADHYAM IAS

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मूल निवासियों को हीन अनुभव करवाया गया; अश्वेत अफ्रीकियों पर दासता ने अपना कलंकित धब्बा छोड़ दिया था। वे स्वयं को हीन समझते थे। एशिया-अफ्रीका के देशों

के लोगों की अपनी शासन व्यवस्था के संचालन में कोई निर्णायक आवाज़ नहीं थी। उनको सभी राजनीतिक अधिकारों तथा अनेक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा गया था। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 6.2.1 देखें।)*

2) ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अनेक मूल निवासियों का धर्म परिवर्तन करवा कर उन्हें ईसाई बनाया। फिर भी यह मूल निवासी उनके अधीन तथा दबे और सहमे हुए रहे। पुराने धार्मिक विश्वासों और जीवन शैली को चुनौती दी गई। इन कार्यों के परिणामस्वरूप शक्तिशाली राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 6.2.3 देखें।)*

बोध प्रश्न 2

1) विचारधारा ऐसा आधार होती है जिससे ही किसी परिवर्तनशील समाज की भागीदारी के महत्व का अनुभव होता है। सामान्य उद्देश्य की प्राप्त के लिए लोग एक दूसरे से सम्बन्ध, तथा एक दूसरे के प्रति निष्ठा स्थापित करते हैं। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 6.3 देखें।)*

2) विदेशी राजनीतिक प्रभुत्त्व के विरुद्ध विद्रोह को राष्ट्रवाद कहा जाता है। यह आर्थिक शोषण तथा जातीय भेदभाव अथवा असमानता का प्रतीक भी है। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 6.3 देखें।)*

बोध प्रश्न 3

1) बुद्धिजीवियों और नेताओं ने पहले राष्ट्रीय आन्दोलनों का आरम्भ किया। उन्होंने जनसाधारण को संगठित किया, तथा उनको विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने की आवश्यकता समझाई। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 6.4 देखें।)*

2) प्रत्येक नेता को अलग-अलग प्रेरणा मिली। उदाहरण के लिए इन्डोनेशिया में डा. सुकर्ण ने व्यक्तिगत शक्ति की तलाश की जिसमें न केवल अधिक धन उपलब्ध हो, वरन् विशालकाय निवास, बड़ी गाड़ियाँ इत्यादि शामिल थे। परन्तु, भारत में नेहरू और तन्ज़ानिया में नायरेरे ऐंसे आदर्शवादी थे जिन्होंने देश को अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं से सदैव ऊपर रखा। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 6.4 देखें।)*

बोध प्रश्न 4

1) पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार, तथा उसके फलस्वरूप स्थानीय लोगों के प्रशासन में प्रवेश से उन्हें यह अनुभव हुआ कि वे स्वयं अपने भाग्य के विधाता हो सकते थे। इससे राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 6.5 देखें।)*

2) प्रत्येक देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग किए गए साधन एक दूसरे से अलग थे। भारत में सामान्यतया शांतिपूर्वक, अहिंसात्मक विरोध किया गया। उधर इन्डोनेशिया (डच), तथा फ्रांसीसी हिन्द चीन में हिंसा पर आधारित साधनों का प्रयोग किया गया। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 6.4 देखें।)*

MAADHYAM IAS

इकाई 7 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 उपनिवेशवाद - विरोध की व्याख्या

 7.2.1 उपनिवेशवाद

 7.2.2. उपनिवेशों की स्वतन्त्रता की इच्छा

7.3 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के प्रतिमान

 7.3.1 राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन

 7.3.2 राष्ट्रीय स्वतंत्रता (मुक्ति) आन्दोलन

7.4 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के साधन

 7.4.1 शांतिपूर्ण अहिंसात्मक संघर्ष

 7.4.2 सशस्त्र संघर्ष

7.5 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के तीन चरण

 7.5.1 प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद

 7.5.2 नए नेतृत्त्व का उदय

 7.5.3 जन-आन्दोलन

7.6 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष की सफलता

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

7.0 उद्देश्य

उपनिवेशवाद उन्मूलन द्वितीय विश्व युद्ध के अंत के बाद घटी सबसे महत्वपूर्ण घटना है। यह अनेक पूर्व उपनिवेशों में औपनिवेशिक शासन के अंत का परिणाम था। इससे पूर्व सम्बद्ध उपनिवेशों में उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष चलाए गए थे। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- शोषित लोगों की स्वतन्त्रता की आकांक्षा का पुनः स्मरण कर सकेंगे;
- उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के प्रतिमानों की पहचान कर सकेंगे;
- विभिन्न उपनिवेशों में संघर्ष के लिए अपनाए गए साधनों की व्याख्या कर सकेंगे; तथा
- उपनिवेशवाद - संघर्ष की प्रक्रिया के तीन चरणों का वर्णन कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

जिस समय 1945 में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई थी उस समय इसमें मात्र 51 सदस्य थे। इनमें से भारत एक ऐसा सम्पन्न देश था जो कि उस समय प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं था। इसके अतिरिक्त, दो अन्य सदस्य, अर्थात् यूक्रेन तथा बायलोरूस (बेलेरस) तत्कालीन सोवियत संघ के प्रांत (संघीय गणराज्य) मात्र थे। आज, इक्कीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या बढ़कर 189 हो गई है। इनमें से अधिकांश देश 1945 में किसी न किसी साम्राज्यवादी देश के अधीन उपनिवेश थे। संयुक्त राज्य अमेरिका से 1946 में फ़िलीपीन्स द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। परन्तु, अगस्त 1947 में भारतीय उप-महाद्वीप की स्वतन्त्रता एवं भारत तथा पाकिस्तान की स्थापना के साथ यह प्रक्रिया तेज़ हो गई। इसके पश्चात्, एक के बाद एक, अनेक उपनिवेशों ने पूर्व साम्राज्यवादी देशों, ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड (नीदरलैण्डस) बेल्जियम, स्पेन तथा पुर्तगाल से स्वाधीनता प्राप्त कर ली। अधिकांश साम्राज्यवादी देशों को, अपने उपनिवेशों में चलाए गए संघर्षों तथा आन्दोलनों के फलस्वरूप उन्हें स्वतन्त्रता देनी पड़ी।

सभी उपनिवेशों में अपने अपने शासक-देशों के विरुद्ध चलाए गए आन्दोलनों का स्वरूप एक समान नहीं था। जहाँ कुछ उपनिवेशों को लम्बे समय तक संघर्ष करना पड़ा, वहीं कुछ अन्य में अल्पकालीन संघर्ष ही हुए। कुछ ऐसे उपनिवेश भी थे जिनमें लगभग कोई भी संघर्ष नहीं हुआ। उन्हें उस समय चल रही उपनिवेशवाद उन्मूलन की लहर के साथ ही स्वाधीनता प्राप्त हो गई। उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलन के दो प्रमुख प्रतिमान थे। कुछ पराधीन देशों में संघर्ष केवल शासकों के विरुद्ध स्वाधीनता के लिए किए गए, तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध नहीं। जहाँ इस प्रकार के संघर्ष हुए जिनमें सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को बदलने की चेष्टा नहीं की गई, वहाँ संघर्ष का उद्देश्य साम्राज्यवादियों से, देश की जनता के हाथों में, राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण करवाना मात्र था। इस प्रकार के संघर्ष को "राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन" का नाम दिया गया। इसका अर्थ हुआ उपनिवेशों की जनता के द्वारा राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति। परन्तु, जिन उपनिवेशों में संघर्ष का उद्देश्य विदेशी पराधीनता से स्वाधीनता के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विरोध करके उससे मुक्ति पाना भी था, उनको "राष्ट्रीय स्वाधीनता (मुक्ति) आन्दोलन" की संज्ञा दी गई। ऐसा करने का उद्देश्य अन्याय पर आधारित, अलोकतांत्रिक एवं शोषण करने वाली व्यवस्था से मुक्ति प्राप्त करना था।

स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का एक अन्य पक्ष यह भी था कि विभिन्न देशों में अलग-अलग साधन अपनाए गए। जहाँ भारत जैसे कुछ पराधीन देशों में **अहिंसात्मक** उपायों को अपनाया गया, वहीं कुछ अन्य देशों में उपनिवेशवाद उन्मूलन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए **सशस्त्र संघर्ष** का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष या तो शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक थे, या फिर इनमें बल एवं हिंसा का प्रयोग भी किया गया।

इस इकाई में हम उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के विभिन्न प्रतिमानों तथा उनके द्वारा अपनाए गए साधनों का अध्ययन करेंगे जिनके फलस्वरूप एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका के उपनिवेशों, अथवा पराधीन देशों को, उपनिवेशवाद से मुक्ति प्राप्त हुई।

MAHESHYAM IAS

7.2 उपनिवेशवाद - विरोध की व्याख्या

संयुक्त राष्ट्र के वर्तमान् सदस्यों में से बड़ी संख्या में ऐसे देश थे जो कि दीर्घकाल तक विदेशी शासन तथा शोषण का शिकार रहे थे। उनको द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् संप्रभुता एवं पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। एशिया एवं अफ्रीका के विशाल प्रदेशों पर, अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में, यूरोप के कुछ सम्पन्न एवं शक्तिशाली देशों ने अपना आर्थिक प्रभुत्त्व तथा राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। लगभग पूरा अफ्रीका महाद्वीप (मात्र थोड़े से प्रदेश को छोड़कर) तथा एशिया का एक बड़ा भाग किसी न किसी यूरोपीय देश के औपनिवेशिक शासन का शिकार हुआ। यह उपनिवेश ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, पुर्तगाल, बेल्जियम तथा नीदरलैण्डस ने स्थापित किए। उपनिवेशों की जनता को विदेशी शासकों के विरुद्ध संघर्ष करने पड़े। इन आन्दोलनों को उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के नाम से जाना गया, तथा उनको अलग-अलग उपायों से चलाया गया। उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष की सफलता, तथा स्वतंत्रता प्राप्ति को उपनिवेशवाद - उन्मूलन की संज्ञा दी गई।

7.2.1 उपनिवेशवाद

उपनिवेशवाद उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा यूरोप के विकसित एवं आर्थिक रूप से सम्पन्न देशों के द्वारा एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के निर्धन, पिछड़े हुए एवं अविकसित देशों को अपने अधीन करके उनका आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया गया। अतः यूरोपीय देशों के द्वारा एशिया और अफ्रीका के देशों का शोषण उपनिवेशवाद का सार है। साम्राज्यवाद का अभिप्राय है एक देश का किसी अन्य देश पर राजनीतिक नियन्त्रण। साम्राज्यवादी शक्तियों ने एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका के अनेक देशों को राजनीतिक नियन्त्रण के द्वारा अपने अधीन कर लिया। अतः, जहाँ उपनिवेशवाद आर्थिक शोषण का स्वरूप है, वहीं साम्राज्यवाद राजनीतिक नियन्त्रण का प्रतीक है। दोनों ही साथ-साथ चले। अधिकांश देशों में आर्थिक शोषण पहले आरम्भ हुआ, और राजनीतिक शोषण बाद में। उपनिवेशों का दुरुपयोग सस्ते कच्चे माल तथा मज़दूरों की प्राप्ति के लिए किया गया। साथ ही, औपनिवेशिक देशों के द्वारा अपने निर्मित सामान को उपनिवेशों के बाज़ारों में बेचने का कार्य भी किया गया। उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद दोनों की प्रकृति शोषण करने एवं लोकतन्त्र-विरोधी है।

शोषण की व्यवस्था के समर्थन में औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपने तर्क दिए गए। उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के समर्थकों ने **"श्वेत व्यक्ति का बोझ"** के सिद्धान्त का सहारा लिया। उनका तर्क था कि यह तो विकसित देशों का कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्त्व था कि **"पिछड़े हुए"** देशों के लोगों की सहायता करें; उन्हें **"सभ्य बनाएँ"** तथा उनका **"ईसाईकरण"** करें। साथ ही वे उन्हें **"श्रम की प्रतिष्ठा (सम्मान) से शिक्षित करना, तथा अपने कानूनों और नियमों के सौन्दर्य से उन्हें अवगत करवाना"** भी था। **पामर** एवं **पर्किन्स** के अनुसार, **"उन्होंने यह तर्क दिया कि उपनिवेशवाद तो संसार के अधिकांश मुक्त एवं स्वतन्त्र राज्यों के उदय, तथा एशिया और अफ्रीका में बीसवीं शताब्दी की जागृति की प्रस्तावना था।"** उपनिवेशवाद के समर्थकों के इन तर्कों का इसके आलोचकों द्वारा खंडन किया गया। उन्होंने उपनिवेशवाद एवं उसके उपायों के लिए पाशविक, शोषण, घृणा, दुर्गति एवं अवनति जैसे शब्दों का प्रयोग किया। आलोचकों का कहना है कि साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा से और अधिक साम्राज्य स्थापना का लोभ उत्पन्न होता है।

MAADHYAM IAS

साम्राज्य बनाने के लोभ का कोई अंत ही नहीं था। उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद की आधारशिला थी।

पुर्तगाल तथा स्पेन ने सबसे पहले अपने उपनिवेश स्थापित किए थे। उसके तुरन्त बाद ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैण्डस तथा जर्मनी ने उनका अनुकरण किया। सबसे पहले अपने उपनिवेशों से हाथ धो बैठने वाले थे जर्मनी और टर्की, जिन्हें प्रथम विश्व युद्ध में उनकी पराजय के पश्चात् उनके सभी उपनिवेशों से वंचित कर दिया गया। जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका भी उपनिवेशवाद की होड़ में शामिल हो गए थे। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अफ्रीका महाद्वीप में केवल चार देश स्वतन्त्र थे। शेष महाद्वीप किसी न किसी यूरोपीय देश के औपनिवेशिक शासन के अधीन थे। एक समय ब्रिटिश साम्राज्य इतना विशाल था कि उसमें कभी भी सूर्य अस्त नहीं होता था - वह संसार के पूर्वी छोर से पश्चिमी किनारे तक फैला हुआ था। उत्तरी अमेरिका के 13 ब्रिटिश उपनिवेशों ने 1770 के दशक में सबसे पहले स्वयं को स्वतंत्र घोषित करके 1780 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका नामक संप्रभु देश के रूप में संगठित किया। लैटिन अमेरिका के पुर्तगाली तथा स्पेनिश उपनिवेश उसके पश्चात् स्वतन्त्र होने वाले देश थे। एशिया और अफ्रीका के देश लम्बे संघर्ष के पश्चात द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही धीरे-धीरे स्वतन्त्र हुए।

7.2.2 उपनिवेशों की स्वतन्त्रता की इच्छा

उपनिवेशों के निवासी दीर्घ काल तक अपने यूरोपीय शासकों के शोषण के शिकार होते रहे थे। उन्हें अपने मूल अधिकारों तथा स्वतन्त्रता से वंचित रखा गया था। उन्हें अपनी शासन व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त नहीं थी। उपनिवेश केवल कच्चे माल की आपूर्ति करने वाले देश बन गए थे। उन्हें न केवल औद्योगीकरण तथा विकास से वंचित रखा गया, वरन् स्वशासन से भी दूर रखा गया था। उपनिवेशवाद के समर्थकों, जैसे कि **जे. ए. हॉबसन** ने उपनिवेशवाद की व्याख्या इस प्रकार की थी। "... यह राष्ट्रीयता का स्वाभाविक प्रवाह था; इसका आशय था औपनिवेशिक शासकों (colonists) की वह शक्ति जिसके द्वारा वे अपनी सभ्यता को उस नए प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश में रोपण (transplant) कर सकें जिसमें वे स्वयं को पाते थे।" उपनिवेशों की जनता को सभ्य बनाने की तथाकथित प्रक्रिया ऐसा नक़ाब था। जिसके पीछे यूरोपीय शासक उपनिवेशों का शोषण कर रहे थे। जैसे जैसे भारत जैसे कुछ उपनिवेशों के कुछ लोगों को पाश्चात्य देशों में जाने वाले और वहाँ अध्ययन करने के सीमित अवसर प्राप्त हुए, वैसे वैसे यह अनुभव हुआ कि किस प्रकार उनका शोषण किया जा रहा था। उन्हें इसका भी आभास हुआ कि यूरोपवासियों को प्राप्त स्वतन्त्रता का क्या मूल्य और महत्व था। इनने उपनिवेशों की शिक्षित जनता को इन बात की प्रेरणा दी कि वे अपने देशावासियों को साम्राज्यवाद की वास्तविकताओं से जागरूक करें तथा उन्हें अपने स्वाधीनता एवं स्वशासन की माँग करने के लिए तैयार करें।

MAADHYAM IAS

सन् 1955 में **बांडुंग** में आयोजित अफ़्रीकी - एशियाई देशों के सम्मेलन में इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने कहा था कि, "उपनिवेशवाद ने ... आर्थिक नियन्त्रण, बुद्धिजीवी नियन्त्रण एवं एक छोटे विदेशी समुदाय के द्वारा वास्तविक भौगोलिक नियन्त्रण का आधुनिक परिधान पहना हुआ है...।" अतः सम्मेलन में यह तर्क दिया गया कि "उपनिवेशवाद की सभी प्रकार से अभिव्यक्ति एक ऐसी बुराई है जिसका तेज़ी से अंत किया जाए।" बांडुंग सम्मेलन आयोजित किए जाने तक अफ़्रीकी - एशियाई देशों के लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि उपनिवेशवाद **"उत्कृष्ट - हीन सम्बन्धों"** (Superior-inferior relations) पर

आधारित था। इन परिस्थितियों में एशिया-अफ्रीका के करोड़ों लोगों ने अपनी "हीन" अवस्था से मुक्ति पाने तथा सभी देशों की जनता के साथ अपनी समानता का दावा करने का निर्णय किया।

अतः, द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष तथा उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया के आरम्भ होने के साथ स्वतन्त्रता, मुक्ति एवं स्वशासन की इच्छा बलवती हुई। साथ ही 1950 के दशक और उसके पश्चात् शोषण-प्रक्रिया को पराजित करने के लिए उपनिवेशों की जनता सक्रिय हो गई।

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उपनिवेशवाद क्या था तथा इसकी अभिव्यक्ति का क्या रूप था?

....

....

....

....

....

....

2) "श्वेत व्यक्ति का बोझ" की अवधारणा की पराधीन लोगों में क्या प्रतिक्रिया हुई?

....

....

....

....

....

....

7.3 उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के प्रतिमान

MAADHYAM IAS

अधिकांश उपनिवेशों को यूरोपीय शक्तियों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना पड़ा था। परन्तु, इन सभी स्वतन्त्रता आन्दोलनों का स्वरूप एक जैसा नहीं था। उन उपनिवेशों द्वारा संघर्ष के साधन तथा उपाय एक समान नहीं थे। और न ही सब उपनिवेशों के संघर्ष की अवधि एक जैसी थी। उनकी प्रकृति में गहरे अंतर थे, तथा आन्दोलनों की सफलता के लिए जो समय लगा वह इस बात पर निर्भर था कि स्थानीय नेतृत्त्व किस प्रकार का था, उनको जनसाधारण का कितना समर्थन प्राप्त था, तथा उनके प्रति सम्बद्ध औपनिवेशिक देशों का दृष्टिकोण कैसा था। कुछ देशों में शासक औपनिवेशिक देशों के

प्रति विरोध उस समय से ही था जब उन्होंने उपनिवेश स्थापित किए थे। दूसरी ओर, गोल्ड कोस्ट (घाना), नाईजीरिया, काँगो एवं अंगोला जैसे कुछ उपनिवेश ऐसे भी थे जिनमें संघर्ष एशियाई देशों के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् आरम्भ हुए। इस इकाई में यह सम्भव नहीं है कि सभी उपनिवेशों के संघर्षों और आन्दोलनों का विस्तार से वर्णन किया जा सके। अतः इन आन्दोलनों के प्रतिमानों एवं संघर्ष के उपायों की सामान्य व्याख्या मात्र ही जाएगी। इस भाग में उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के दो प्रमुख प्रतिमानों की समीक्षा की जाएगी। अगले भाग (7.4) में इस बात का प्रयास किया जाएगा कि विभिन्न उपनिवेशों में संघर्ष के उपायों/साधनों की व्याख्या की जाए। निम्नलिखित दो प्रतिमानों को प्रायः वामपंथी लेखकों ने उजागर किया।

7.3.1 राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन

भारत सहित, अनेक देशों ने जिस प्रकार के उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष अपनाए उन्हें राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन कहा गया। इन आन्दोलनों का उद्देश्य विदेशी शासन का अंत करना तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि स्वाधीनता आन्दोलनों के नेताओं का मुख्य लक्ष्य औपनिवेशिक स्वामियों से राजनीतिक सत्ता को उपनिवेशों की जनता के हाथों में हस्तांतरित करवाना था। उनका उद्देश्य विदेशी सरकारों के स्थान पर स्वदेशी सरकारों की स्थापना करवाना, तथा सशक्त एवं स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करवाना था। आलोचकों का कहना था कि इसका परिणाम केवल शासकों का परिवर्तन करना मात्र था। उदाहरण के लिए, भारत, श्रीलंका (तत्कालीन सीलोन), नाईजीरिया, घाना तथा कीनिया इत्यादि में उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश शासन का अंत कर दिया जाए तथा स्थानीय विशिष्ट वर्गों के हाथों में सत्ता आ जाए। इन राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों का उद्देश्य औपनिवेशिक समाज की तुरंत पुनर्सरचना करना नहीं था। वामपंथी विद्वानों ने इस प्रकार के संघर्ष को राजनीतिक परिवर्तन के लिए पूँजीवादी, व्यावसायिक तथा नौकरशाही आन्दोलन की संज्ञा दी।

आलोचकों का तर्क यह था कि सत्ता हस्तांतरण मात्र से सामान्य व्यक्ति के जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वह तो उस समय प्रचलित शोषण पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अधीन ही बने रहे।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों ने इस बात के प्रयास नहीं किए कि सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन किया जाए। उदाहरण के लिए भारतीय उपमहाद्वीप - भारत और पाकिस्तान - में सामाजिक व्यवस्था में जाति का प्रभाव पूर्ववत् बना रहा। इस कारण सामाजिक अन्याय पहले जैसा ही रहा। आर्थिक क्षेत्र में पूँजीपति तथा ज़मींदार पहले की ही तरह श्रमिकों और कृषकों का शोषण करते रहे। औद्योगिक प्रबंधन शोषण पर आधारित बना रहा। प्रबंधन में श्रमिकों को कोई भागीदारी प्राप्त नहीं हुई। न केवल यह, आवास और कार्य करने की परिस्थितियाँ एवं उनका वातावरण न तो स्वास्थ्यकर था ओर न कुशल जीवन के अनुकूल। ग्रामीण क्षेत्रों में किसान बड़े कृषकों और ज़मींदारों की दया पर निर्भर बने रहे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केवल राजनीतिक शक्ति का हस्तांतरण हुआ, जबकि सामाजिक - आर्थिक व्यवस्था पहले जैसी ही रही। शोषण बना रहा; शोषण करने वाले बदल गए।

MAADHYAM IAS

ऐसा इस कारण हुआ कि स्वाधीनता आन्दोलन का संचालन उन राजनीतिक दलों और नेताओं ने किया जिनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक सत्ता परिवर्तन था। अधिकांश नेताओं ने ब्रिटेन, अथवा अन्य यूरोपीय देशों, में शिक्षा प्राप्त की थी। अधिकतर देशों में यह पाश्चात्य रूप धारण किए हुए (westernised) नेतागण जन-नेता (mass-leaders) नहीं बन सके।

अतः, आलोचकों के अनुसार, इन आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि इस प्रतिमान में नेतृत्त्व को सत्ता प्राप्त करने के अवसर तो मिलें, परन्तु जनसाधारण को अपनी कठिनाइयाँ दूर करने में कोई भी सहायता नहीं मिली।

7.3.2 राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (मुक्ति) आन्दोलन

इस प्रकार के आन्दोलन देर से आरम्भ हुए। कुछ थोड़े से ही उपनिवेश ऐसे थे। जिनमें ऐसे मुक्ति आन्दोलन चलाए गए जिनके दो उद्देश्य थे। इन उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलनों का उद्देश्य था कि जनसाधारण को शोषण एवं अन्याय से मुक्त किया जा सके। साथ ही वे विदेशी शासन को पराजित करके जनता के लिए सत्ता का हस्तांरण करवाना चाहते थे, विशिष्ट वर्ग या अभिजन (elite) के लिए नहीं। परन्तु, इसमें संदेह है कि इन आन्दोलनों के फलस्वरूप सचमुच जनसाधारण को अधिक लाभ प्राप्त हुआ हो। सत्ता हस्तांतरित होकर नेताओं के हाथों में ही गई। स्वतन्त्रता (मुक्ति) संघर्ष का एक उत्तम उदाहरण **वियतनाम** है। **हो ची मिन्ह** के नेतृत्त्व में वियतनाम की कम्युनिस्ट पार्टी को लम्बा संघर्ष करना पड़ा था। यह संघर्ष पहले तो फ्रांस के विरुद्ध हुआ जो अपना औपनिवेशिक अंकुश बनाए रखना चाहता था। वह ऐसा द्वितीय विश्व युद्ध में जापान की पराजय के पश्चात् पुनः हिन्द-चीन को अपने साम्राज्य में रखने का प्रयत्न कर रहा था। उसके बाद, संयुक्त राज्य अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम के पक्ष में हस्तक्षेप किया जहाँ एक दक्षिण पंथी सरकार स्थापित हो गई थी। उत्तरी वियतनाम हो ची मिन्ह की वामपंथी सरकार के शासन में था। अतः हो ची मिन्ह को दक्षिणी वियतनाम और उसके संरक्षक, अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। परन्तु, साथ ही वियतनाम के इस संघर्ष का लक्ष्य निर्धनता, निरक्षरता तथा शोषण इन सबका अंत करना भी था।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन, या मुक्ति संघर्ष, का उद्देश्य वियतनाम, काँगो तथा अंगोला जैसे देशों में यह था कि विदेशी शासन और हस्तक्षेप का अंत करके सामाजिक-आर्थिक संरचना में आमूल परिवर्तन किया जाए। इनका उद्देश्य सामाजिक - आर्थिक न्याय के साथ-साथ जनता के हाथों में सत्ता सुनिश्चित करना था। यद्यपि पाश्चात्य आलोचकों ने इस प्रक्रिया को केवल साम्यवादी प्रभुत्त्व का नाम दिया, फिर भी आन्दोलन के नेताओं का दावा था कि यह जनता के अधिकारों तथा उनकी स्वतन्त्रता के लिए जन-संघर्ष था; साथ ही यह विदेशी शासन, प्रभुत्त्व एवं हस्तक्षेप की समाप्ति के अतिरिक्त उस आंतरिक अन्याय का अंत भी करना चाहता था जिसके लिए थोड़े से ज़मींदार और सम्पत्ति के स्वामी (पूँजीवादी) उत्तरदायी थे।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि एक अर्थ में उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के दोनों प्रतिमान एक समान थे। दोनों प्रकार के आन्दोलनों का उद्देश्य विदेशी उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकना तो था ही। अतः इनका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन से भारत, बर्मा (म्याँमार), श्रीलंका, कीनिया, नाईजीरिया, घाना इत्यादि; फ्रांसीसी शासन से अल्जीरिया, आईवरी कोस्ट तथा हिन्द-चीन (लाओस, कम्बोडिया एवं वियतनाम) को; बैल्जियम से काँगो को; नीदरलैण्डस से इन्डोनेशिया को तथा पुर्तगाल से अंगोला एवं मुज़ाम्बीक को स्वतन्त्र करवाना था। जहाँ यह उद्देश्य एक समान था, वहाँ स्वाधीनता आन्दोलन तथा मुक्ति आन्दोलन में अंतर यह था कि जहाँ स्वाधीनता संघर्ष का ध्येय विदेशी शासन से स्वतन्त्रता अर्थात **स्वराज्य** प्राप्त करना था, वहाँ स्वतन्त्रता या मुक्ति संघर्ष शोषण के सभी रूपों को नष्ट करके सामाजिक और आर्थिक न्याय भी सुनिश्चित करना चाहते थे। मार्क्सवाद-लेनिनवाद से प्रेरित मुक्ति संघर्ष राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति भी लाना चाहते थे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

2) राष्ट्रीय स्वतंत्रता (मुक्ति) आन्दोलनों का क्या उद्देश्य था?

....

....

....

....

....

7.4 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के साधन

उपनिवेशवाद एक अभिशाप था। अफ्रीकी-एशियाई देशों द्वारा चलाए गए शक्तिशाली आन्दोलनों के फलस्वरूप इसको समाप्त किया जा सका। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों के प्रतिफल को क्रान्ति का नाम दिया गया। **पामर और पर्किंस** ने लिखा था कि "एशिया की क्रान्ति बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हो सकती है।" इससे पूर्व, आर्नाल्ड टॉयनबी ने यह भविष्यवाणी की थी कि जब भारत एवं चीन की शक्तिशाली सभ्यताएँ ... हमारी पाश्चात्य चुनौती का उत्तर देंगी तब साम्राज्यवाद की चुनौती एक छोटी सी घटना प्रतीत होगी। अतः, एशिया और अफ्रीका के क्रान्तिकारी परिवर्तनों को अत्यन्त महत्वपूर्ण पाया गया। मास्को में अपने एक भाषण में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री **हैरॅल्ड मैक्मिलन** ने 1959 में कहा था कि "साम्राज्यवाद इतिहास का एक युग है, न कि एक आधुनिक वास्तविकता।" परन्तु, इस तथाकथित युग ने एशिया-अफ्रीका की अर्थ-व्यवस्थाओं को बर्बाद कर दिया। नेहरू ने 1954 में कहा था कि एशिया में समकालीन संकट था "उपनिवेशवाद *बनाम* उपनिवेशवाद का विरोध।" उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों का संचालन या तो शांतिपूर्वक साधनों से किया गया, या फिर हिंसात्मक उपायों से। निश्चय ही इसमें स्वयं औपनिवेशिक शासकों की भूमिका भी काफ़ी महत्वपूर्ण थी। उनको राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों की घटनाओं ने इस बात के लिए विवश किया कि वे अपने साम्राज्यों का त्याग कर दें।

MAADHYAM IAS

7.4.1 शांतिपूर्ण अहिंसात्मक संघर्ष

उपनिवेशवाद-विरोध का एक प्रमुख उपाय था अहिंसात्मक संघर्ष। इसका आरम्भ भारत में **महात्मा गाँधी** के नेतृत्त्व में किया गया। बाद में अनेक अन्य उपनिवेशों ने भी भारत का

अनुकरण किया। जब **1885** में भारत में राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की गई थी तब यह एक ऐसा मंच था जहाँ से शिक्षित भारतीय अपनी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कर सकते थे। इसका, उस समय, स्वयं अंग्रेजों ने स्वागत किया था। परन्तु, शीघ्र ही यह ब्रिटिश-विरोधी मंच बन गया। प्रारम्भ में काँग्रेस के नेताओं (जैसें, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले इत्यादि) ने केवल कुछ सुधारों की माँग की ताकि भारतीयों को विधान-परिषदों में कुछ सहभागिता (सदस्यता) प्राप्त हो सकती। परन्तु, केवल दो दशकों में ही काँग्रेस का मुख्य लक्ष्य ब्रिटिश शासन का विरोध करना हो गया था। अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों की भाँति, भारत के स्वाधीनता संग्राम को भी दो गुटों में विभाजित किया जा सकता था - वे थे **नरम** और **गरम गुट** । प्रथम गुट का नेतृत्त्व पहले **गोखले** ने और बाद में स्वयं **महात्मा गाँधी** ने किया; दूसरे गुट के प्रमुख नेता थे **लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक,** तथा **बी. सी. पाल** - अर्थात् लाल-बाल-पाल। प्रथम गुट का प्रमुख उद्देश्य सुधार करवाना था, जबकि दूसरे का मूल लक्ष्य ब्रिटिश शासन की पराजय था। सामान्यतय, काँग्रेस ने गाँधीजी के नेतृत्त्व में शांतिपूर्ण, अहिंसात्मक, साधनों का प्रयोग किया।

अहिंसा गाँधीजी का मुख्य 'अस्त्र" था। उन्होंने **1919** के **जलियाँवाला हत्याकांड** के पश्चात् इस शर्त पर असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया था कि वह हिंसा-रहित रहेगा। इस आन्दोलन में भारत के लोगों को आह्वान किया गया था कि वे अंग्रेजी न्यायालयों, शिक्षा संस्थाओं तथा सामान का बहिष्कार (boycott) करें। यह आन्दोलन शांतिपूर्वक चल रहा था जब अचानक **1922** में **चौरी चौरा (उत्तर प्रदेश)** नामक स्थान पर हिंसक भीड़ ने एक पुलिस थाने को आग लगा दी जिसमें लगभग दो दर्जन पुलिसकर्मी मारे गए। आलोचना की चिंता न करते हुए, गाँधीजी ने, केवल इस आधार पर कि (एक स्थान पर) हिंसा का सहारा लिया गया था, आन्दोलन वापस ले लिया। **गाँधीजी** की **डांडी यात्रा** का उद्देश्य कुख्यात नमक कानून तोड़ना था क्योंकि नमक तो निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी प्रयोग करता है। इसके साथ ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस बार भी अहिंसा पर बल दिया गया, यद्यपि जनता से अपेक्षा थी कि अन्यायपूर्ण कानूनों का उल्लंघन किया जाएगा। उसी प्रकार **1942** के **भारत छोड़ो आन्दोलन** को शांतिपूर्वक चलाया जाना था, परन्तु औपचारिक रूप से आन्दोलन आरम्भ होने से पूर्व ही सरकार ने, गाँधीजी सहित, सभी प्रमुख नेताओं को बंदी बना लिया। अतः नेतृत्त्वहीन जनता ने कई स्थानों पर हिंसक उपाय भी किए। इसके लिए स्वयं ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी थी। निश्चय ही कुछ ऐसे जोशीले युवा क्रान्तिकारी भी हुए जिन्होंने गाँधीजी के पूर्ण अहिंसा के मार्ग को नहीं अपनाया। इनमें **शहीद भगत सिंह, अशफ़ाक़ उल्ला खाँ** एवं **राम प्रसाद बिस्मिल** जैसे वीर शामिल थे। उनके उत्साह और बलिदान ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अनेक बार गाँधीजी, नेहरू, सरदार पटेल एवं मौलाना आज़ाद जैसे वरिष्ठ नेताओं को बंदी बनाकर जेल भेजा गया।

विदेशी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष में, तथा स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए, और भी कई देशों ने अहिंसा का उपयोग किया। श्रीलंका में स्वाधीनता आन्दोलन नहीं के बराबर था। उसको 1948 में, अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद से स्वाधीनता मिल गई, क्योंकि 1947 में भारतीय उप-महाद्वीप से अंग्रेज़ चले गए थे।

MAADHYAM IAS

बर्मा (म्याँमार) 1935 के भारत सरकार अधिनियम के 1937 में लागू होने तक ब्रिटिश भारत का एक प्रान्त था। अतः वह भी भारत के शांतिपूर्ण स्वाधीनता संघर्ष से सम्बद्ध था। द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने पर बर्मा का सामान्य राष्ट्रवादी नेतृत्त्व जापान-समर्थक था, परन्तु बाद में वे जापान-विरोधी हो गया। अंग्रेज़ों द्वारा शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति किए जाने पर बर्मा के राष्ट्रवादियों ने मिलकर फ़्रांसी-विरोधी जन-स्वतन्त्रता लींग (Anti-Fascist People's

Freedom League) की स्थापना की। सन् **1945** में ब्रिटेन में जब **एटली** के नेतृत्त्व में लेबर पार्टी की सरकार बनी तब उसने इस लीग (AFPFL) के साथ वार्ता करने का निर्णय किया। उधर बर्मा का ब्रिटिश गवर्नर सर्वश्रेष्ठ एवं वरिष्ठ राष्ट्रवादी नेता **आँग सान** (Aung San) को बन्दी बनाना चाहता था। एटली सरकार ने गवर्नर को बदल दिया तथा सत्ता हस्तांतरण के लिए आँग सान से बातचीत की। यद्यपि जुलाई 1947 में आँग सान तथा कुछ अन्य नेताओं की हत्या कर दी गई, तथापि जनवरी 1948 में उनके शेष बचे सहयोगियों को अंग्रेज़ों ने सत्ता हस्तांतरित कर दी। वहाँ कोई सशस्त्र संघर्ष नहीं हुआ। **काल्वोकोरेसी** का मत है कि, "ब्रिटिश (सरकार) अपने द्वारा भारत को छोड़ देने के आश्वासन से प्रभावित थी तथा उसको यह भी विश्वास था कि ... बर्मा के विरुद्ध ... भारतीय सैनिकों का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा" अतः उसने सत्ता हस्तांतरण का निर्णय कर लिया। यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् बर्मा में आंतरिक संघर्ष हुआ, तथा स्वाधीनता के लिए संघर्ष पूरी तरह शांतिपूर्ण रहा।

अफ्रीका के अनेक देशों ने भी स्वाधीनता संघर्ष में हिंसा का उपयोग नहीं किया। औद्योगिक क्रान्ति की पराकाष्ठा पर यूरोपीय देशों ने अफ्रीका को अपने अधीन उपनिवेश बनाने का कार्य किया था। यूरोप और अफ्रीका में असमानता बहुत अधिक थी। अतः अफ्रीकी देशों में दीर्घकालीन स्वाधीनता संघर्ष नहीं हुए। अफ्रीकी नेताओं ने भारत और अमेरिका दोनों से प्रेरणा प्राप्त की थी। विभिन्न अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय काँग्रेसों की स्थापना की गई। उनमें से अनेक महात्मा गाँधी के अहिंसा के आदर्श से प्रभावित हुईं। अफ्रीकी महाद्वीप, विशेषकर कैरीबियन के देशों से, भी अफ्रीकी देशों को आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान प्राप्त हुआ, तथा उन्होंने समय-समय पर बैठकें करने का ज्ञान भी प्राप्त किया। अनेक अखिल-अफ्रीकी सम्मेलन आयोजित किए गए। इस प्रकार का छठा सम्मेलन द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् मैंचेस्टर में हुआ। इसमें अनेक प्रमुख अफ्रीकी नेताओं ने भाग लिया। इनमें **क्वामें नकरूमा, जोमो कीनयाटा, अकिनोला तथा जूलियस नायरेरे** जैसे नेतागण शामिल थे। इस सम्मेलन में उपनिवेशों के लिए स्वतन्त्रता की माँग की गई। इस प्रकार की माँग के विषय में उससे पाँच वर्ष पूर्व कोई सोच भी नहीं सकता था। उसके केवल दस वर्ष बाद ही पश्चिमी अफ्रीकी के देश स्वाधीन हो गए। इसने शेष अफ्रीकी महाद्वीप में उपनिवेशवाद उन्मूलन के द्वार खोल दिए। पश्चिमी अफ्रीका के बाद पूर्वी अफ्रीका के उपनिवेशों को स्वतन्त्रता मिलनी आरम्भ हो गई।

7.4.2 सशस्त्र संघर्ष

शांतिपूर्ण अहिंसात्मक उपायों का प्रयोग उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलनों में नहीं किया गया। अनेक परिस्थितियाँ ऐसी हुईं जिनमें राष्ट्रवादियों को बन्दूक का सहारा लेना पड़ा। भारत में आन्दोलन आमतौर पर शांतिपूर्ण रहा। परन्तु, कुछ युवक देशभक्त क्रान्तिकारी, गाँधीजी के नेतृत्त्व को स्वीकार न करते हुए, सशस्त्र संघर्ष का मार्ग अपनाने को बाध्य हो गए थे। इनमें **अशफ़ाक़ उल्ला, राम प्रसाद बिस्मिल** एवं **चन्द्रशेखर आज़ाद** जैसे स्वतन्त्रता के दीवाने शामिल थे। इन्होंने **काकोरी (उत्तर प्रदेश)** में एक ट्रेन में से सरकार के ख़ज़ाने को लूटा, जिसके लिए उनको बन्दी बनाकर, मुक़दमा चलाया गया और मृत्यु दंड दिया गया। इन्होंने हंसते-हंसते देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना बलिदान दिया। बाद में अमर शहीद **भगत सिंह, राजगुरु** तथा उनके सहयोगी भी देश की ख़ातिर फांसी पर झूल गए क्योंकि उन पर आरोप था कि उन्होंने केन्द्रीय विधायिका में बम फेका था, यद्यपि उससे कोई हताहत नहीं हुआ था। अन्य अनेक क्रान्तिकारियों ने भी शस्त्रास्त्र का प्रयोग किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नेताजी **सुभाष चन्द्र बोस** ने ज़ेल से भाग कर देश की स्वतन्त्रता

MAADHYAM IAS

के लिए वीरतापूर्ण संघर्ष किया। वह छिपकर पहले जर्मनी और जापान पहुँचे। उन्होंने **आज़ाद हिन्द फौज** की स्थापना की ताकि भारत से ब्रिटिश शासकों को भगाया जा सकें। यद्यपि यह सभी, स्वतन्त्रता से पूर्व ही शहीद हो गए फिर भी उनके बलिदान और भूमिका को भुलाया नहीं जा सकता।

इससे एक शताब्दी से भी अधिक पूर्व लैटिन अमेरिका के अनेक उपनिवेशों ने सशस्त्र संघर्ष के द्वारा **स्पेन** एवं **पुर्तगाल** से स्वयं को आज़ाद करवाया था। यह आन्दोलन सर्वप्रथम स्पेन के उपनिवेश मैक्सिको में आरम्भ होकर वेनेज़्वेला, अर्जेन्टीना इत्यादि में विकसित हुए। सन् 1825 तक स्पेन अपना अधिकांश साम्राज्य खो चुका था।

कीनिया पूर्वी अफ्रीका में ब्रिटिश उपनिवेश था जिसे 1963 में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् कीनिया की विधान परिषद् के अनेक ग़ैर-सरकारी सदस्यों को मन्त्री पद दिए गए थे। परन्तु, वे सभी ग़ैर-सरकारी सदस्य अंग्रेज़ (गोरे वर्ण के) थे। यह अवसर काले लोगों को नहीं दिया गया। सन् 1952 में अंग्रेज़ शासकों को, राजधानी नैरोबी के निकट, किकूयू (Kikuyu) कबीले के सशस्त्र विद्रोह का सामना करना पड़ा। वे लम्बे समय से श्वेत आप्रवासियों से पीड़ित रहे थे। इन आन्दोलन का नेतृत्त्व, लंदन विश्वविद्यालय में शिक्षा-प्राप्त, **जोमो कीनयाटा** (Jomo Kenyatta) ने किया था। वह उस समय कीनिया अफ्रीकी यूनियन के प्रधान थे। इसके अतिरिक्त, किकूयू क़बीले ने माऊ माऊ (Mau Mau) नामक एक गुप्त संगठन की स्थापना की थी। इसकी गतिविधियाँ एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन की सैनिक (सशस्त्र) अभिव्यक्ति थीं। माऊ माऊ के सदस्यों ने शपथ लेकर गुप्त संस्कार (secret rites) अपनाए। उन्होंने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। काल्वोकोरेसी ने इसकी गतिविधियों को "ईसाई-विरोधी" कहते हुए लिखा था कि, "समय बीतने के साथ यह संगठन (Mau Mau Society) अतिवादी, महत्वाकांक्षी एवं निर्दयी (जंगली) हो गया था। इसने हत्याएँ कीं ... और अंततः हिंसा का अभियान एवं छापामार (guerrila) युद्ध का मार्ग अपनाया।" ब्रिटेन ने शक्तिशाली बल प्रयोग के द्वारा इस संघर्ष का दमन करने की चेष्टा की। जोमी कीनयाटा को भी 1954 में 'माऊ माऊ संगठित करने' के आरोप में सात वर्ष का कारावास दिया गया। माऊ माऊ की गतिविधियाँ अब सचमुच हिंसात्मक हो गई। इसके कार्यकताओं ने अंग्रेजों का समर्थन करने वाले लगभग 8000 अफ्रीकियों तथा 68 यूरोपीय लोगों की हत्या कर दी। दमन की निरर्थकता अनुभव करते हुए 1960 में, ब्रिटिश सरकार ने बातचीत का मार्ग अपनाया। इसके परिणामस्वरूप दिसंबर 1963 में कीनिया स्वतन्त्र हुआ। इस बीच, कीनयाटा ने (अंतरिम) प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण कर लिया था। उसकी कीनिया अफ्रीकी राष्ट्रीय यूनियन (KANU) को मई में हुए चुनाव में सफलता प्राप्त हुई थी। इसके आग्रह में ब्रिटिश सरकार ने संघ की स्थापना का अपना प्रस्ताव वापस ले लिया।

बेल्जियम के **उपनिवेश कॉंगों** की कहानी कुछ ओर ही थी। इसकी स्वतन्त्रता की घोषणा 30 जून 1960 को की गई, तथा उसके पश्चात् चार दिन तक समारोह मनाए गए। उसके केवल 48 घंटे पश्चात् देश के सैन्य बल Force Publique में भीषण विद्रोह हो गया। इसके भयंकर परिणाम हुए। कॉंगो की स्वतन्त्रता के साथ ही न केवल आन्तरिक विद्रोह और गृह युद्ध का जन्म हुआ, वरन् इसके अन्तर्राष्ट्रीय संकट भी आरम्भ हुआ।

MAADHYAM IAS

दक्षिण-पूर्वी एशिया में **इन्डोनेशिया** एक **डच उपनिवेश** था। इसको 'द नीदरलैण्ड्स ईस्ट इन्डीज़' के नाम से जाना जाता था। वहाँ बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ था। **इन्डोनेशिया** की प्रथम पार्टी **बोएडी ओटोमो** (Boedi Oetomo) की स्थापना 1908 में हुई थी। **रॉबर्ट पेन** (Robert Payne) ने

इसकी प्रकृति की व्याख्या करते हुए लिखा था कि, "इस आन्दोलन की कोई राजनीतिक विचारधारा नहीं थी। मूलतः यह विद्वानों का संगठन था जो भारत की ओर देखता था। यह नए उभरे मुस्लिम राष्ट्रवाद से नहीं, परन्तु रबीन्द्र नाथ टेगोर के स्वशासी शांति में विश्वास करने वाले एशिया से प्रेरित ... था।" यह आन्दोलन कभी भी शक्तिशाली नहीं हो सका। शीघ्र ही, एक अतिवादी मुस्लिम पार्टी सर्कत इस्लाम (Sarket Islam) ने अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली। इस पार्टी ने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों की माँग की तथा मुस्लिमवादी नीति अपनाई। इस पार्टी ने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की, तथा प्रथम विश्व युद्ध मे समाजवादी कार्यक्रम अपनाया।

इन्डोनेशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को तब गतिशील बनाया गया जब डा. सुकर्णनो (Dr. Sukarno) के नेतृत्त्व में राष्ट्रीय इन्डोनेशियन पार्टी की स्थापना की गई। डच (नीदरलैण्ड्स की) सरकार ने आन्दोलन का दमन करने के लिए बल प्रयोग किया। उन्होंने अतिवादी दमन की नीति अपनाई। इसी नीति के तहत् 1920 के दशक के अंतिम वर्षों और तीस के दशक के आरम्भ में सुकर्ण एवं हाटा जैसे प्रमुख नेताओं को देश से निष्कासित कर दिया गया। सन् 1940 में, विश्व युद्ध के दौरान, नीदरलैण्ड्स के पराजित होने वा इन्डोनेशिया के लोगों ने आक्रामक जापान के साथ सहयोग किया। अगस्त 1945 में जापान की पराजय होने पर इन्डोनेशिया (Dutch East Indies) में अंग्रेज सेना ने प्रवेश किया, तथा उनकी सहायता से इन्डोनेशिया गणतन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें डा सुकर्ण राष्ट्रपति बने। यद्यपि मार्च 1947 में डच सरकार ने नए गणराज्य को मान्यता तो दे दी, फिर भी उन्होंने इस बात का भरसक प्रयास किया कि इन्डोनेशिया किसी न किसी रूप में डच राजतन्त्र के साथ सम्बद्ध हो जाए। दो वर्ष तक डच सरकार ने दोहरी नीति अपनाई - कभी दमन, कभी शांति एवं सहयोग। उन्होंने 'पुलिस कार्यवाही' के नाम पर सशस्त्र दमन किया। भारत तथा अन्य अनेक एशियाई -अफ्रीकी देशों ने इन्डोनेशियाई राष्ट्रवाद का पूर्ण समर्थन किया। अतः, इन्डोनेशिया का संघर्ष जहाँ सामान्यतया शांतिपूर्ण था, वहीं उसका दमन करने के लिए, हिंसा का सहारा लिया गया। इन्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों को चार वर्ष तक नीदरलैण्ड्स के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। यह एक प्रकार से औपनिवेशिक नीदरलैण्ड्स तथा राष्ट्रीय शक्तियों के मध्य एक खुला युद्ध था।

वियतनाम में भी कुछ ऐसा ही, परन्तु कहीं अधिक हिंसात्मक हुआ। हिन्द-चीन (Indo-China) नामक फ्रांसीसी उपनिवेश को, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, जापान ने अपने अधिकार में कर लिया था। स्वतन्त्रता (मुक्ति) आन्दोलन की समीक्षा करते समय भाग 7.3.2 में वियतनाम का उल्लेख किया गया है। फ्रांसीसी हिन्द-चीन में तीन क्षेत्र थेः लाओस, वियतनाम तथा कम्बोडिया (या कम्पूचिया)। स्वयं वियतनाम तीन प्रदेशों का संघ था। वे थे अन्नाम, तोंगकिंग, तथा कोचिन-चीन (इनको सामूहिक रूप से तीन Kys कहते थे तथा उनकी जाति अन्नाम थी जबकि संस्कृति चीनी)। उधर लाओस (या लुआंग प्रबांग) और कम्बोडिया की जाति थाई और संस्कृति भारतीय थी। जापान के अधिकार के समय तीन केई (3-Kys) स्वायत्त वियतनाम बन गया, तथा जापान की पराजय के पश्चात् साम्यवादी नेता हो ची मिन्ह ने इसको वियतमिन्ह नामक गणराज्य घोषित किया। परन्तु शीघ्र ही (कोरिया की भांति) वियतनाम का अनौपचारिक विभाजन हो गया। अंग्रेजों ने 16 समानान्तर रेखा के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया, जबकि इसके उत्तरी भाग पर चीन का अधिकार हो गया। उत्तर में वामपंथी व्यवस्था स्थापित की गई, जबकि दक्षिण में अमरीकी-समर्थक दक्षिण पंथी सरकार बनाई गई। जब से लेकर 1970 के दशक के आरम्भ तक समूचे वियतनाम में युद्ध और हिंसा का साम्राज्य रहा। फ्रांस ने कई वर्षों तक इस बात का भरसक प्रयास किया कि वह समूचे हिंद-चीन पर पुनः अपनी संप्रभुता स्थापित

MAADHYAM IAS

कर ले, परन्तु लम्बे विवाद के बाद **1954** के **जिनेवा सम्मेलन** ने फ्रांसीसी उपनिवेश औपचारिक रूप से समाप्त करके **लाओस, कम्बोडिया, उत्तरी वियतनाम,** तथा **दक्षिणी वियतनाम** को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में मान्यता दी गई। परन्तु, फ्रांस के वापस जाते ही, संयुक्त राज्य अमेरिका ने दक्षिणी वियतनाम की ओर से सशस्त्र हस्तक्षेप किया। यह संघर्ष तब तक चलता रहा जब तक वियतनाम के दोनों भाग मिलकर साम्यवादी व्यवस्था के अधीन नहीं हो गए। इस प्रकार हिंद-चीन का संघर्ष वास्तव में सशस्त्र संघर्षों की श्रेणी में आता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उपनिवेशवाद को पराजित करने में अहिंसात्मक शांतिपूर्ण संघर्ष की क्या उपयोगिता रही?

....

....

....

....

....

....

2) सशस्त्र संघर्षों ने किस प्रकार उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों की सफलता सुनिश्चित की?

....

....

....

....

....

7.5 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के तीन चरण

MAADHYAM IAS

उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष के प्रतिमान और साधन निर्धारित करने में, अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश तथा स्वयं शासन करने वाले यूरोपीय (औपनिवेशिक) देशों के आंतरिक परिवर्तनों की प्रमुख भूमिका रही। द्वितीय विश्व युद्ध, दो महाशक्तियों के उदय, शीत युद्ध, तथा ब्रिटेन और फ्रांस जैसे शक्तिशाली देशों की शक्ति में ह्रास से निश्चित रूप से उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष की सफलता सुनिश्चित करने में सहयोग मिला। इस भाग में आप स्वाधीनता/स्वतन्त्रता संघर्ष के तीन चरणों के विषय में पढ़ेंगे। इन चरणों का निम्नलिखित वर्णन सामान्य प्रतिमान के रूप में किया गया है। यह सभी उपनिवेशों अथवा उनके संघर्षों के लिए आवश्यक रूप से लागू नहीं होता। **जॉफ़री बैरेक्लो** (Geoffray Barraclough) ने विभिन्न उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्षों को इन चरणों में विभाजित करके ही उनका

अध्ययन प्रस्तुत किया। इस अध्ययन में स्वाधीनता आन्दोलन *बनाम* स्वतन्त्रता (मुक्ति) आन्दोलन जैसा कोई अंतर नहीं किया गया। यह तीन चरण थेः प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद (proto-nationalism); नए नेतृत्त्व का उदय; तथा जन आन्दोलन (mass-movements)।

7.5.1 प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद

प्रथम चरण, जिसको प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद (Proto-nationalism) कहा गया, वह उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलन में सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। इस आरम्भिक युग में, उपनिवेशों की जनता को उस समय तक अपने अधिकारों का न तो ज्ञान था, और न स्वतन्त्रता की आवश्यकता का आभास। उस समय सामान्य उपनिवेशवासियों ने औपनिवेशिक शासन को स्वीकार किया हुआ था। फिर भी सामाजिक समूहों और राजनीतिक आन्दोलनों ने, औपनिवेशिक व्यवस्था में रहते हुए, सुधारों की माँग करनी आरम्भ कर दी थी। भारत में 1885 में राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई थी; परन्तु उस समय उसका उद्देश्य अंग्रेजी शासकों को बाहर भगाना नहीं था। अगले बीस वर्ष तक काँग्रेस केवल एक ऐसा मंच बना रहा जहाँ वर्ष में एक बार उच्च-स्तरीय भाषण और विचार-विमर्श होता था। इसके वार्षिक अधिवेशनों में पाश्चात्य-शिक्षा प्राप्त, पाश्चात्य वेश-भूषाधारी अभिजन (elite) एकत्र हुआ करते थे। उस समय के नेतृत्त्व को विश्वास था ब्रिटिश सभ्यता श्रेष्ठ थी तथा अंग्रेज़ न्यायप्रिय और औचित्य में विश्वास रखने वाले थे। काँग्रेस की आरम्भिक माँगों में सीमित स्थानीय सुधार, परिषदों में थोड़ी सी भागीदारी, तथा शिक्षित भारतीयों के लिए नौकरी की व्यवस्था मात्र शामिल थीं। औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध कोई टकराव (Confrontation) नहीं था। उस चरण में प्रार्थनापत्र भेजने तथा सुधारों की माँग करने से संतोष हो जाता था। इन्डोनेशिया में तो यह प्रथम चरण 1910-11 में सर्कत इस्लाम नामक धार्मिक राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ आरम्भ हुआ। इसी से मिलते जुलते आंदोलन अल्ज़ीरिया, नाईज़ीरिया इत्यादि अफ्रीकी देशों में 1920 के लगभग आरम्भ हुए।

7.5.2 नए नेतृत्त्व का उदय

दूसरे चरण को नव नेतृत्त्व के उदय का युग कहा गया। जैसे-जैसे राष्ट्रवाद परिपक्व हुआ, और उसका उद्देश्य औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष करना हो गया, वैसे-वैसे उपनिवेशों में आन्दोलनों का नेतृत्त्व राष्ट्रवाद के प्रति समर्पित नए नेताओं के हाथों में आता गया। मध्य वर्ग के लोगों में राष्ट्रवाद ने घर करना आरम्भ कर दिया। इस चरण में पाश्चात्य शासकों से की गई माँगों में काफ़ी विस्तार हुआ; तथा क्रमशः स्वतन्त्रता को भविष्य का लक्ष्य स्वीकार कर लिया गया। भारत में यह चरण प्रथम विश्व युद्ध के बाद तक चला। कांग्रेस का सामाजिक आधार भी विस्तृत हुआ, फिर भी संघर्ष पूरी तरह जन आंदोलन का रूप नहीं ले सका था। **पूर्ण स्वराज्य** की माँग **सर्वप्रथम जनवरी 1930** में की गई। उस समय तक लक्ष्य **डोमीनियम स्टेटस** था। उस युग में नेतृत्त्व गोखले के हाथों से महात्मा गाँधी के हाथों में आ गया। शीघ्र ही लाला लाजपत राय, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद तथा सरदार पटेल सरीखे परिपक्व राष्ट्रवादी भी उभर कर आए। इन्डोनेशिया में 1917 में डा. सुकर्णनो के नेतृत्त्व में सर्कत इस्लाम ने स्वतन्त्रता के लिए अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की। ट्यूनीशिया तथा नाईजीरिया में क्रमशः 1934 और 1944 में इस प्रकार की माँगें उठाई गईं। विभिन्न देशों में कोई कालक्रमिक समानता (chronological similarity) नहीं पाई गई। परन्तु, यह ठीक है कि इस चरण में प्रत्येक देश में आकर्षक एवं प्रभावी नेतृत्त्व का उदय हुआ। इनमें **कीनिया में जोमो कीनयाटा, घाना में क्वामे नक्रूमा,** तथा **बर्मा में आँग सान** प्रमुख थे। अन्य देशों में भी नव नेतृत्त्व का उदय हुआ।

MAADHYAM IAS

7.5.3 जन-आन्दोलन

उपनिवेश-विरोधी संघर्ष की सफलता के लिए अंतिम चरण जन-आंदोलन के रूप में सामने आया। राष्ट्रीय आन्दोलन इतने शक्तिशाली हो गए थे कि स्वयं को सत्ता में बनाए रखने के लिए विदेशी शासकों को बल-प्रयोग करना पड़ा। कभी-कभी तो बर्बर बल का प्रयोग भी किया गया। भारत में, महात्मा गाँधी के नेतृत्त्व में स्वतन्त्रता आन्दोलन दूर दूर के गाँवों तक जनसाधारण के पास पहुँचा गया। यह प्रक्रिया सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930 के दशक के आरम्भ) के साथ शुरू हुई। **पूर्ण स्वराज्य की माँग के लिए संघर्ष स्वतन्त्रता की प्रक्रिया में जन आन्दोलन** ही तो था। ब्रिटिश शासकों ने बल प्रयोग किया, बड़ी संख्या में लोगों को गिरफ़्तार किया तथा अनेक प्रमुख नेताओं को जेलों में डाल दिया गया। ब्रिटिश शासक तो अगस्त 1942 में "भारत छोड़ो" आन्दोलन की घोषणा होते ही घबरा गए। इन्डोनेशिया में इस प्रकार का जन आन्दोलन डा. सुकर्णनो ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान आरम्भ किया। नाईजीरिया में तीसरा चरण 1951 में आरम्भ हुआ।

प्रत्येक उपनिवेश में तीनों चरण एक समान स्पष्ट नहीं थे। यह प्रक्रिया ब्रिटिश उपनिवेशों में सबसे दीर्घकाल तक चली। अनेक फ्रांसीसी उपनिवेशों में तो केवल 10 से 20 वर्ष में संघर्ष सफल हो गए। बेल्जियन काँगो में तो 1955 तक स्वतन्त्रता की लगभग कोई माँग थी ही नहीं। अनेक स्थानीय नेताओं ने उस समय यह अनुमान लगाया था कि उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करने में 60 वर्ष तक लग सकते थे। परन्तु, घटनाक्रम इतनी गति से बदला कि 5 ही वर्षों में, 1960 में ही काँगो स्वतन्त्र हो गया।

बोध प्रश्न 4

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद के चरण की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

....

....

....

....

....

....

7.6 उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष की सफलता

MAADHYAM IAS

औपनिवेशिक शासन की समाप्ति की प्रक्रिया को उपनिवेशवाद उन्मूलन कहा जाता है। उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलन की सफलता तथा उपनिवेशी व्यवस्था का उन्मूलन कई चरणों में हुआ। उपनिवेशवाद उन्मूलन प्रक्रिया में लगभग 45 वर्ष लगे। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष को पहले एशिया में, फिर अफ्रीका में सफलता मिली। फिलीपीन्स 1946 में स्वाधीन हो गया, तथा 1947 में भारतीय उपमहाद्वीप से अंग्रेज़ों का प्रस्थान हो गया। सीलोन (श्रीलंका) और बर्मा (म्याँमार) 1948 में स्वतन्त्र हो गए। अगले वर्ष (1949) में औपचारिक रूप से नीदरलैण्ड्स ने इन्डोनेशिया की स्वतन्त्रता और संप्रभुता को स्वीकार

कर लिया। पूर्व हिन्द-चीन के देशों कम्बोडिया, लाओस एवं वियतनाम को 1949 में संप्रभु राज्यों का दर्जा तो प्राप्त हो गया, परन्तु वे 1954 तक फ्रांसीसी यूनियन में बने रहे, जब उन्हें पूर्ण रूप से विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति मिल गई।

दूसरा चरण पचास के दशक के मध्य में आरम्भ हुआ जब मोरक्को तथा टयूनीसिया फ्रांसीसी यूनियन से पृथक होकर स्वतन्त्र हो गए। ब्रिटेन ने सूडान को 1957 में स्वतन्त्र कर दिया, तथा मलेशिया को भी स्वाधीनता प्राप्त हो गई। परन्तु यह चारों देश फ्रांसीसी अथवा ब्रिटिश नियन्त्रण में होते हुए पूरी तरह पराधीन नहीं थे। वे काफ़ी स्वायत्त हो चुके थे। उधर, गोल्ड कोस्ट (घाना) में नकरूमा के नेतृत्त्व में स्वतन्त्रता आन्दोलन भी सफलतापूर्वक 1957 में सम्पन्न हुआ और वह स्वतन्त्र देश बन गया। घाना का संघर्ष अल्पकालीन रहा, परन्तु इसकी सफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि यूरोपीय शासकों की औपनिवेशिक सामर्थ्य कमज़ोर हो गई थी। "फ्रांसीसी समुदाय" (French Community) की स्थापना 1958 में सभी फ्रांसीसी उपनिवेशों का आत्मसात (assimilate) करने के लिए की गई थी। परन्तु वह दो वर्ष में ही भंग हो गया, जबकि 1960 में आइवरी कोस्ट, दहोमी, ऊपरी वोल्टा, सेनेगल, मॉरीटेनिया, माली, नाईजर, टोगो तथा कैमरून सभी स्वतन्त्र हो गए। उसी वर्ष, 1960 में, ब्रिटेन से नाईजीरिया स्वतन्त्र हो गया, ब्रिटिश तथा इटैलियन सोमालीलैण्ड का विलय कर के स्वतन्त्र सोमालिया की स्थापना कर दी गई, तथा बेल्जियम काँगो भी स्वतन्त्र हो गया। सन् 1961 में साईप्रस, सियेरा लियोन, टाँगानायका और कुवैत पर ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। अगले वर्ष (1962) जमाइका, ट्रिनीडाड, टोबैगो तथा यूगाँडा भी ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गए। फ्रांस ने 1962 में अल्जीरिया के विरुद्ध अपना दीर्घकालीन युद्ध समाप्त करके उसे स्वतन्त्र कर दिया। उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलन कीनिया की स्वतन्त्रता के साथ 1963 में समाप्त हुआ, तथा उसी वर्ष ज़ंज़ीबार भी स्वाधीन हो गया। यद्यपि एशिया और अफ्रीका के अधिकांश उपनिवेश 1960 के दशक तक अपने-अपने संघर्ष में सफल होकर स्वतन्त्र हो चुके थे, पुर्तगाल तथा स्पेन के उपनिवेशों में सत्तर के दशक तक संघर्ष चलते रहे। पुर्तगाली शासक सलाज़ार के पतन के बाद गिनी-बिसाऊ को 1974 में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। अंगोला तथा मुज़ाम्बीक को 1975 में औपनिवेशिक शासन से मुक्ति मिली।

अंतिम चरण में, **1990** में **नामीबिया** का बहुत लम्बे समय से चल रहा उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष समाप्त हुआ, तथा दक्षिणी अफ्रीका को विवश होकर नामीबिया को स्वतन्त्र करना पड़ा। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका सदा ही स्वयं को उपनिवेशवाद का शत्रु कहता है, फिर भी उसने ग्वाम (Guam) तथा प्यूर्टो रीको (Puerto Rico) पर अपना शासन समाप्त नहीं किया।

7.7 सारांश

यूरोप के अनेक देशों ने एशिया तथा अफ्रीका के एक बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यूरोपीय शक्तियों ने एशियाई-अफ्रीकी देशों को आर्थिक शोषण हेतु अपने उपनिवेशों में बदल लिया था। यह उपनिवेश केवल कच्चे माल की आपूर्ति के साधन, तथा शासकों के उत्पादित माल के बाज़ार बन कर रह गए थे। राजनीतिक तौर पर सम्बद्ध यूरोपीय देश उन पर शासन करने लगे। अतः वे यूरोपीय शक्तियों, जैसे कि ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, जर्मनी, स्पेन, बेल्जियम तथा हॉलैण्ड (नीदरलैण्ड्स) के औपनिवेशिक एवं साम्राज्यवादी नियन्त्रण में आ गए थे। जर्मनी को प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अपने सभी उपनिवेशों को त्याग देना पड़ा था। सभी उपनिवेशों के लोगों को धीरे-धीरे यह विश्वास हो गया था कि

MAADHYAM IAS

जब तक वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करेंगे तब तक उनका सामाजिक - आर्थिक - राजनीतिक शोषण होता रहेगा।

उपनिवेशों की जनता द्वारा अपनी मुक्ति के लिए उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष किए गए। अपने संघर्ष में सभी उपनिवेशों में न तो कोई एक समान प्रतिमान अपनाए गए, और न कोई एक जैसे साधन या उपाय प्रयोग किए गए। सामान्यतया, दो प्रमुख प्रतिमान अपनाए गए। वे थेः (i) राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन, तथा (ii) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (मुक्ति) आन्दोलन। भारत, कीनिया, घाना, बर्मा इत्यादि देशों में स्वाधीनता आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों का उद्देश्य औपनिवेशिक शक्तियों की पराजय तथा यूरोपीय शासकों से स्थानीय जनता को राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण। वामपंथी लेखकों ने इन आंदोलनों को पूँजीवादी, व्यावसायिक तथा नौकरशाही आन्दोलन कहकर उनकी आलोचना की, क्योंकि उनका उद्देश्य सामाजिक - आर्थिक पुनर्संरचना करना नहीं था। उनका लक्ष्य केवल राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण करवाना था। दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (मुक्ति) आन्दोलन के दो उद्देश्य थे। वे राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन भी चाहते थे। यह आन्दोलन सामाजिक - आर्थिक पुनर्निर्माण में विश्वास रखते थे।

उपनिवेशवाद - विरोधी संघर्ष की सफलता के लिए दो अलग-अलग साधन अपनाए गए। वे थेः (क) अहिंसात्मक, शांतिपूर्ण उपाय जिनको गाँधीजी ने प्रतिपादित किया और अपनाया। इनमें सत्याग्रह, बहिष्कार एवं शासकों के साथ असहयोग करना, तथा आगे चलकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन शामिल थे; तथा (ख) विदेशी शासकों को आर्थिक शोषण और राजनीतिक सत्ता समाप्त करने के लिए विवश करने के उद्देश्य से सशस्त्र संघर्ष। किन्हीं भी दो उपनिवेशों में एक समान प्रक्रिया नहीं अपनाई गई। फिर भी सामान्यतया, उपनिवेशवाद - विरोधी आन्दोलनों के तीन चरण पाए गए। वे थेः (i) **प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद** - जब राष्ट्रवाद का उदय होना आरम्भ हुआ, स्थानीय नेतागण यूरोपीय लोगों की श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे तथा वे केवल थोड़े से सुधारों और विधायी परिषदों में सीमित प्रतिनिधित्त्व की माँग कर रहे थे; (ii) **नए नेतृत्त्व के उदय का चरण** - इस युग में राष्ट्रवाद परिपक्व हो गया था तथा पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नेतागण उभरे थे, जिनको पाश्चात्य सभ्यता, स्वतन्त्रता की अवधारणा तथा स्वशासन की भावना ने प्रेरित किया था और वे (नेतागण) स्वाधीनता के लिए संघर्ष का आह्वान करने लगे थे; तथा (iii) **जन आन्दोलन का चरण** - जब जनसाधारण आन्दोलन में शामिल होकर विदेशियों के प्रति संघर्षरत् हो गए।

लगभग 45 वर्ष की अवधि (1945 से 1990) में लगभग सभी उपनिवेश विभिन्न चरणों में स्वतन्त्र हो गए। परन्तु, अधिकांश उपनिवेश द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 20 वर्ष की अवधि में ही स्वतन्त्र हो गए थे।

MAADHYAM IAS

7.8 शब्दावली

उपनिवेशवाद : यूरोप के औद्योगिक और सम्पन्न देशों द्वारा आर्थिक शोषण की प्रक्रिया। शोषण से अधिकतर एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देश पीड़ित हुए थे।

साम्राज्यवाद : एक देश का दूसरे देश पर राजनीतिक आधिपत्य। कोई शक्तिशाली बड़ा देश किसी छोटे या कमज़ोर देश

पर उपनिवेशवाद अथवा आक्रमण के द्वारा अपना शासन स्थापित करता है।

शीत युद्ध : इस शब्द का प्रयोग उस तनाव की स्थिति के लिए किया गया जो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् दो महाशक्तियों के गुटों के बीच उत्पन्न हुआ था। अमेरिका एवं पूर्व सोवियत संघ के नेतृत्त्व वाले गुटों ने बिना शस्त्रास्त्रों के, तथा बिना सेना का प्रयोग किए, राजनयिक माध्यमों से इस शीत युद्ध को एक दूसरे के विरुद्ध चलाया।

माऊ माऊ आन्दोलन : कीनिया में चलाया गया एक गोपनीय आन्दोलन, जिसने अतिवादी उपाय अपनाए। इस आन्दोलन का उद्देश्य उस धरती को वापस लेना था जिसको अंग्रेज़ों ने अपने क़ब्जे में कर लिया था। यह उपनिवेशवाद का अंत तथा अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष था।

प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद : इस शब्द का उद्‌गम नमूना (Prototype) से हुआ है। इसका अर्थ किसी रचना या निर्माण के लिए तैयार किया गया पहला नमूना। यह राष्ट्रवाद का बचपन, या उसका आंरभिक युग था जो अभी जन आंदोलन के रूप में परिपक्व नहीं हुआ था।

7.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Guir Lundestad (1986), *East West North South,* Norwegian University Press Oslo.

Peter Calvocoressi, (1985), *World Politics Since 1945,* Longman, London.

Henri Grimal, (1919-1963), *Decolonisntion, the British, French, Dutch and Belgian Empires,* London

Palmer on Perkins, (1997- Indian ed.) *International Relations,* A.I.T.B.S. Publishers, Delhi.

Jashwa S. Goldstein (1999), *International Relations,* Longman, New York.

Richard C. Bone (1962). *Contemporary South-East Asia*, Random House, New York.

J.S. Furnivall (1948), *Colonial Policy and Practice,* Cambridge.

Richard Brace (1964), *Morocco, Algeria, Tunisia,* Prentice Hall, New Jersey.

K.A. Busia (1962) The *Challenge of Africa*, Frederick Praeger, *New* York.

MAADHYAM IAS

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) एक ऐसी व्यवस्था जिसमें यूरोप के औद्योगिक देशों के द्वारा एशिया और अफ्रीका के कमज़ोर और अविकसित देशों का आर्थिक शोषण किया गया। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 7.2.1 देखें।)*

2) आरम्भ में श्वेत लोगों से मंत्र मुग्ध होने के पश्चात्, पराधीन लोगों ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि वे श्वेत वर्ग वालों पर बोझ थे। वास्तव में श्वेत शासक स्थानीय आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को नष्ट कर रहे थे। जनता अब स्वतन्त्रता और स्वशासन की इच्छुक थी। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 7.2.2 देखें।)*

बोध प्रश्न 2

1) जहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन ने केवल विदेशी शासन की समाप्ति तथा राजनीतिक सत्ता का स्थानीय जनता को हस्तांतरण की माँग की, वहीं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक संरचना में परिवर्तन भी चाहता था। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 7.3 देखें।)*

2) राष्ट्रीय स्वतंत्रता (मुक्ति) आन्दोलन का लक्ष्य केवल राजनीतिक स्वाधीनता ही नहीं था, वह सामाजिक भेदभाव, तथा आर्थिक अन्याय के विरुद्ध भी संघर्ष था। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 7.3.2 देखें।)*

बोध प्रश्न 3

1) महात्मा गाँधी द्वारा अपनाए गए अहिंसा पर आधारित उपायों ने जन जागृति में सहायता की ताकि राष्ट्रीय आन्दोलन एक जन आन्दोलन बन सके। इसका उद्देश्य विदेशी शासकों को बिना ख़ून ख़राबे के देश छोड़कर चले जाने के लिए तैयार करना था। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 7.4.1 देखें।)*

2) सशस्त्र संघर्ष में जनसाधारण की भागीदारी, बल प्रयोग, हिंसा एवं गुरिल्ला उपायों का उपयोग किया गया ताकि विदेशी औपनिवेशिक शासकों को, उन्हीं के अस्त्र बल, प्रयोग से पराजित किया जा सके। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 7.4.2 देखें।)*

बोध प्रश्न 4

MAADHYAM IAS

1) इस चरण में राष्ट्रवाद का उदय होना आरम्भ ही हुआ था। वह अपने शिशुकाल में था, जबकि प्रार्थना के द्वारा सुधारों की माँग मात्र की गई। यह प्रक्रिया सघर्षात्मक नहीं थी। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 7.5.1 देखें।)*

इकाई 8 औपनिवेशिक युग में राज्य - निर्माण की गत्यात्मकता

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 औपनिवेशिक राज्य की स्थापना
8.2.1 औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ
8.2.2 एशिया में औपनिवेशिक राज्य
8.2.3 अफ्रीका में उपनिवेशवाद और इसके लिए संघर्ष
8.2.4 लैटिन अमेरिका में औपनिवेशिक राज्य
8.3 औपनिवेशिक राज्य की विशेषताएँ तथा उसके कार्य
8.4 उपनिवेशवाद के प्रतिमान, या नमूने
8.4.1 ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति
8.4.2 फ्रांसीसी उपनिवेशवाद
8.4.3 पुर्तगाली उपनिवेशवाद
8.4.4 बेल्जियम की औपनिवेशिक नीति
8.5 सारांश
8.6 शब्दावली
8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको उन कारणों से अवगत करवाना है जो एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के विभिन्न देशों में औपनिवेशिक राज्य की स्थापना के लिए उत्तरदायी थे। आप इन के विभिन्न रूपों, विशेषताओं तथा कार्यों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- यह बता सकेंगे कि औपनिवेशिक राज्य की स्थापना कब और कहाँ हुई;
- औपनिवेशिक राज्य की विशेषताओं और उसके कार्यों का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- विभिन्न औपनिवेशिक प्रतिमानों का पुनः स्मरण कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

8.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक राज्य शासन व्यवस्था की वह संरचना थी जिसकी स्थापना यूरोपीय देशों ने, पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दियों के मध्य, गैर-यूरोपीय विश्व के बड़े भाग को जीत कर की

थी। इसका उद्देश्य औपनिवेशिक शक्तियों के आर्थिक और राजनीतिक हितों की सुरक्षा करना, तथा उपनिवेशों के मूल निवासियों को पराधीन बनाकर रखना था। वे बहुधा इस कार्य के लिए बल प्रयोग किया करते थे। विभिन्न यूरोपीय देशों ने अपने उपनिवेशों की स्थापना के लिए विभिन्न उपाय अपनाए थे। अंग्रेज़ों, फ्रांसीसियों, पुर्तगालियों तथा बेल्जियम लोगों द्वारा अपना गए तरीके एक समान नहीं थे। उन्होंने जो कार्य किए वे प्रायः उपनिवेशों की जनता के हितों के विरुद्ध थे। इस इकाई में आप औपनिवेशिक राज्य के विभिन्न प्रतिमानों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

8.2 औपनिवेशिक राज्य की स्थापना

पन्द्रहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर आधुनिक उपनिवेशवाद अनेक चरणों से गुज़रा है। औपचारिक रूप से उपनिवेशों और औपनिवेशिक राज्य की स्थापना तो, काफ़ी आगे चलकर, उन्नीसवीं शताब्दी में हुई, तथा यह विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की उपज थी। अच्छे ज़हाज़ों के निर्माण के साथ पन्द्रहवीं शताब्दी में लम्बी समुद्री यात्राएँ सम्भव हो सकीं। इसने पहले पुर्तगाल एवं स्पेन को, तथा बाद में ब्रिटेन और फ्रांस को एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। यह आक्रमण और विजय का आरम्भिक युग था जब लूट और डकैती के द्वारा यूरोपीय देशों ने सम्पत्ति एकत्र की, तथा लूटे हुए धन को अपने लाभ के लिए आपस में विभाजित किया। परन्तु इस समय उपनिवेशों की औपचारिक स्थापना नहीं हुई। आगे चलकर, लैटिन अमेरिका की चांदी खानों से, सुदूर पूर्व में मसालों के व्यापार से, तथा अफ्रीका में दासों के क्रय विक्रय से यूरोपीय देशों ने धन इकट्ठा किया। इस धन (पूँजी) को औद्योगिक क्रान्ति की सफलता के लिए प्रयुक्त किया गया। इसके पश्चात्, अगले युग में साधारण विजय और यूरोपीय देशों में पारस्परिक औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा का स्थान व्यापार और वाणिज्य-सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा ने ले लिया। यह प्रतिस्पर्द्धा संसार भर में महत्वपूर्ण हो गई। इसका एक उत्तम उदाहरण ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य भारतीय उप-महाद्वीप पर वर्चस्व के लिए स्पर्द्धा। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप, अंग्रेज़ों ने अंततः फ्रांस को बाहर खदेड़ दिया, तथा भारत में अपने औपनिवेशिक राज्य की स्थापना कर ली।

8.2.1 औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ

अठाहरवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ, तथा उसके कुछ समय बाद महाद्वीपीय यूरोप में इस क्रान्ति का विस्तार हुआ। इसने शेष विश्व के साथ यूरोप के सम्बन्धों को परिवर्तित कर दिया। साथ ही इसने औपनिवेशिक राज्य की स्थापना को आवश्यक बना दिया ताकि यूरोप के औद्योगिक देशों के हितों की समुचित रक्षा हो सके। यूरोप के देश, जहाँ तेज़ी से औद्योगिक विकास हो रहा था, उन्हें बहुत बड़ी मात्रा में कपास, रबड़ तथा ताड़ का तेल जैसे कच्चे माल की आवश्यकता थी ताकि उनके कारखानों में मशीनों से बने सामान का उत्पादन हो सके। यह तथा अन्य कच्चा माल या तो उपनिवेशों में उपलब्ध था, या फिर वह उनके बाग़ानों में आसानी से उपजाया जा सकता था। अधिकांश उपनिवेश विश्व के कटिबंधीय प्रदेशों में स्थित थे। इस आवश्यकता ने यूरोपीय देशों में आपसी स्पर्द्धा को जन्म दिया ताकि वे उपनिवेशों को अपने नियन्त्रण में ले सकें। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बढ़ते पूँजीपति वर्ग को बाहरी बाज़ारों की आवश्यकता का अनुभव भी हुआ, ताकि वहाँ उनके उत्पादित माल को बेचा जा सकता। उनके अपने घरेलू बाज़ारों में और अधिक खपत की गुंजायश नहीं रह गई थी। अतः

MAADHYAM IAS

मुनाफ़ा कमा सकने योग्य बाज़ार तलाश करने थे, ताकि उनके कारख़ानों में उत्पादन बंद न करना पड़े। इसलिए यह आवश्यक हो गया था कि ऐसे बाज़ार उपलब्ध हों जिन पर यूरोपीय शक्तियों का कड़ा नियन्त्रण हो, और जहाँ बिना अन्य देशों के उत्पाद के साथ मुक़ाबले के वे अपना सामान खुलकर बेच सकें। एक तीसरी आवश्यकता इस बात की भी थी कि पूँजीवादी उत्पाद व्यवस्था में जो अतिरिक्त पूँजी संचित हो रही थी उसका भी निवेश किया जा सके। यह अनुभव किया गया कि एकाधिकारी व्यवस्था के साधन अपनाकर अपने नियन्त्रण वाले उपनिवेशों में लगाई गई पूँजी से काफ़ी लाभ हो सकता था। यद्यपि मुख्य प्रेरणा आर्थिक थी, तथापि यूरोपीय राष्ट्रवाद का उदय एक अतिरिक्त राजनीतिक कारक बना। मुक़ाबले की भावना, जर्मनी के तथा इटली के एकीकरण और फ्रांस की 1871 की पराजय से और भी तीव्र हो गई थी। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न यूरोपीय देशों ने एशिया और अफ्रीका के विशाल प्रदेशों को अपने नियन्त्रण में ले लिया। उन्होंने औपचारिक रूप से राजनीतिक वर्चस्व के द्वारा औपनिवेशिक राज्य की स्थापना कर डाली। यह औपनिवेशिक राज्य आगे चलकर विशाल यूरोपीय साम्राज्यों का अंग बन गए, जैसे कि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना लिया गया था।

8.2.2 एशिया में औपनिवेशिक राज्य

संसार के विभिन्न भागों में औपनिवेशिक राज्य की स्थापना किसी एक प्रकार से नहीं हुई थी। इस उपभाग में हम देखेंगे कि एशिया में यह किस प्रकार हुई। एशिया में, कई बड़े क्षेत्र पहले ही किसी न किसी निजी विदेशी व्यापारिक कम्पनी के अधिकार में आ चुके थे। इनमें भारत में स्थित ईस्ट इंडिया कम्पनी, तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की नीदरलैण्ड्स की डच ईस्ट इंडीज़ कम्पनी प्रमुख थीं। इन दोनों कम्पनियों को उनके सम्बद्ध देशों के राज्याध्यक्षों की ओर से अनुमति के रूप में चार्टर प्रदान किए गए थे। इन्हें व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त था। भारत में जब 1858 में ईस्ट इंडिया कम्पनी से स्वयं ब्रिटिश सरकार (Crown) ने शासन के अधिकार ले लिए तब भी व्यवहार में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा। भारतीय उपमहाद्वीप में जिस विशाल प्रदेश पर ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ उसको कम्पनी ने पहले ही फ्रांसीसी कम्पनी को युद्ध में पराजित करके, और विभिन्न भारतीय राजाओं को भी हरा कर, अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। ऐसा अठाहरवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो चुका था। कर्नाटक के युद्ध तथा प्लासी की लड़ाई इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। श्रीलंका में अंग्रेज़ों ने 1795 में डच लोगों के हाथों से सत्ता छीन ली थी। इसी प्रकार मलाया को अंग्रेजों ने पुर्तगालियों के हाथों से छीन लिया था। एशिया के इन सभी प्रदेशों में औपनिवेशिक राज्य की स्थापना अफ्रीका से काफ़ी पहले हो गई थी।

8.2.3 अफ्रीका में उपनिवेशवाद और इसके लिए संघर्ष

अफ्रीका में इससे भिन्न स्थिति रही। इस महाद्वीप में उपनिवेशवाद देर से आया, परन्तु वह अत्यन्त शोषक एवं दमनकारी सिद्ध हुआ। सन् 1880 और 1900 की थोड़ी सी अवधि में केवल लाईबेरिया और इथयोपिया (अबीसीनिया) को छोड़कर शेष समस्त अफ्रीका पर, अनेक साम्राज्यवादी देशों, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम, पुर्तगाल, स्पेन और इटली; का अधिकार हो गया। इसको अफ्रीका का विभाजन, अथवा यूरोपीय देशों द्वारा व्यापार एवं प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने के लिए संघर्ष (scramble) किया गया। सन् 1910 तक अनेक स्वतन्त्र देशों के स्थान पर, लगभग 40 कृत्रिम रूप से स्थापित उपनिवेश उभर कर आए थे। अफ्रीका में औपनिवेशिक व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। सन् 1879 में फ्रांस ने अपने साम्राज्यवादी हितों की प्राप्ति के लिए ऊपरी सेनेगल में अपने प्रचारक और

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

कार्यकर्ता भेजे। बेल्जियम ने काँगो की तलहटी में इसी प्रकार प्रवेश करने के प्रयास किए। जर्मनी ने 1884 में टोगो तथा कैमरून में अपना ध्वज गाढ़ दिया। इन सब घटनाओं से ब्रिटेन को गम्भीर चिंता हुई, और उसने भी अफ्रीका के आन्तरिक भाग में प्रवेश करने की तैयारी आरम्भ कर दी। साम्राज्यवादी देशों के मध्य सशस्त्र संघर्ष को टालने के लिए जर्मन राजधानी बर्लिन में, प्रधानमन्त्री (चांसलर) बिस्मार्क की अध्यक्षता में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। स्विट्ज़रलैण्ड को छोड़कर, शेष सभी पश्चिमी यूरोपीय देशों ने बर्लिन सम्मेलन में भाग लिया। परन्तु, इसमें एक भी अफ्रीकी राज्य को आमन्त्रित नहीं किया गया। यह सम्मेलन 15 नवम्बर 1884 से 31 जनवरी 1885 तक चला। सभी साम्राज्यवादी देश चार बातों पर सहमत हुए। **प्रथम,** इससे पूर्व कि कोई भी साम्राज्यवादी देश किसी प्रदेश पर दावा या क़ब्ज़ा करे, वह इस (बर्लिन) समझौते के सभी हस्ताक्षरकर्ताओं को इसकी सूचना देगा, ताकि यदि कोई अन्य देश चाहे तो उस प्रदेश के लिए अपना दावा पेश कर सके। **द्वितीय**, इससे पूर्व कि किसी भी देश के दावे को वैध स्वीकार किया जाए, वह साम्राज्यवादी देश सम्बद्ध क्षेत्र को जीतकर उस पर अपना प्रभावी अधिकार स्थापित कर लेगा। **तृतीय**, अफ्रीकी शासकों के साथ सम्पन्न संधियों को संप्रभुता का वैध अधिकार पत्र माना जायगा। **चतुर्थ**, प्रत्येक साम्राज्यवादी देश अफ्रीका के तटवर्ती प्रदेशों से आगे बढ़कर महाद्वीप के अंदर अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित करेगा। इन सभी नियमों को बर्लिन अधिनियम (एक्ट) नामक दस्तावेज में शामिल किया गया। इसका 26 फरवरी 1885 को अनुमोदन हो गया। यह स्मरण रखना होगा कि बर्लिन सम्मेलन ने साम्राज्य स्थापना की होड़ आरम्भ नहीं की, वरन् जो होड़ चल रही थी उसको गति प्रदान की।

अफ्रीका में साम्राज्यवाद के लिए संघर्ष तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है। **प्रथम चरण में** प्रायः किसी अफ्रीकी शासक और यूरोपीय साम्राज्यवादी देश के मध्य संधि होती थी। इस संधि के द्वारा यूरोपीय देश उस अफ्रीकी देश को संरक्षण (Protection) प्रदान करता था, और बदले में वह स्थानीय शासक यह वचन देता था कि वह किसी अन्य यूरोपीय देश के साथ कोई संधि सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा। उधर सम्बद्ध यूरोपीय देश को कुछ एकाधिकारी व्यापारिक तथा अन्य अधिकार प्राप्त होते थे। अतः 1880 और 1895 के मध्य अंग्रेज़ों ने कई अफ्रीकी शासकों के साथ संधियाँ सम्पन्न कीं। इनमें कुछ अफ्रीकी देश थे घाना, योरूबालैण्ड तथा बेनिन। साथ ही ब्रिटेन ने असान्ते (Asante) के राजा को संरक्षण भी प्रदान किया। फ्रांस ने दहोमी के राजा और काँगो तलहटी क्षेत्र के शासकों के साथ संधियाँ की।

दूसरे चरण में, अनेक साम्राज्यवादी देशों ने आपस में संधियों पर हस्ताक्षर करके एक दूसरे के उपनिवेशों तथा प्रभाव क्षेत्रों को मान्यता प्रदान की, और आपसी सीमाएँ निर्धारित कीं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश-जर्मन संधि के द्वारा जर्मनी ने ब्रिटेन के दावों को स्वीकार करते हुए ज़ंज़ीबार, कीनिया, युगान्डा, उत्तरी रोडेशिया, बचुआनालैण्ड तथा पूर्वी नाईजीरिया पर ब्रिटिश वर्चस्व स्वीकार कर लिया। आँग्ल-फ्रांसीसी संधि के द्वारा अंग्रेज़ों ने मैडेगास्कर तथा नाईजीरिया की पश्चिमी सीमा को फ्रांसीसी प्रभाव के क्षेत्र के रूप में स्वीकार किया। सन् 1886 की फ्रांसीसी-पुर्तगाली संधि तथा 1891 की जर्मन-पुर्तगाली संधि के द्वारा अंगोला तथा मुज़ाम्बीक पर पुर्तगाली सम्प्रभुता को मान लिया, और मध्य अफ्रीका में ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र का सीमा-निर्धारण भी किया। स्मरण रहे कि साम्राज्यवादी देशों ने इन संधियों पर हस्ताक्षर करते समय किसी भी अफ्रीकी राज्य से परामर्श नहीं किया। **तीसरा चरण** युद्ध में विजय और क़ब्ज़ा करने का था। यद्यपि यूरोपीय लोगों ने इस चरण को 'शांतिवाद' का नाम दिया, परन्तु व्यवहार में अफ्रीकी दृष्टिकोण से यह सर्वाधिक पाशविक शक्ति-प्रदर्शन का समय था। अतः 1885 से फ्रांस ने पश्चिमी सूडान पर आक्रमण करके

MAADHYAM IAS

उस पर क़ब्ज़ा करने की प्रक्रिया आरम्भ की, ब्रिटेन ने 1896 में असान्ते पर, 1892 में इजीबू पर, 1897 में बेनिन पर, तथा 1896-1899 में सूडान पर क़ब्ज़ा कर लिया। जर्मनी ने 1888 और 1907 में पूर्वी अफ्रीका को अपने स्वामित्त्व में ले लिया। अफ्रीकी शासकों ने उन संधियों का स्वागत किया जिनपर उनके साथ यूरोपीय देशों ने हस्ताक्षर किए थे, फिर भी उन्होंने अपने ऊपर अप्रत्याशित विदेशी क़ब्ज़े का विरोध किया।

अफ्रीकी शासकों ने तीन उपाय किएः पराधीनता स्वीकार करना, संधि-समझौते करना, तथा संघर्षात्मक मुकाबला करना। अंतिम मार्ग लगभग सभी अफ्रीकी राज्यों ने अपनाया; परन्तु उन्होंने ऐसा तब किया जबकि अन्य विकल्प विफल हो गए। कोइ भी अफ्रीकी राज्य आर्थिक और सैनिक दृष्टि से इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह यूरोपीय देशों का सामना कर सकता। केवल इथयोपिया इसका अपवाद सिद्ध हुआ, क्योंकि उसने इटली को 1898 में पराजित कर दिया। परन्तु, उसकी पराजय भी कभी न कभी निश्चित थी। इसके साथ ही अफ्रीका में औपनिवेशिक राज्य की स्थापना हुई।

8.2.4 लैटिन अमेरिका में औपनिवेशिक राज्य

लैटिन अमेरिका का अनुभव एशिया और अफ्रीका दोनों से ही भिन्न था। उसका उल्लेख तो अलग से करना होगा। उस महाद्वीप में सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक औपनिवेशिक युग पाया गया, यद्यपि दो प्रमुख आक्रामक साम्राज्यवादियों, स्पेन तथा पुतर्गाल के आक्रामकों ने इस क्षेत्र पर क़ब्ज़ा करने के लिए बल प्रयोग किया, अनेक स्थानीय लोगों की हत्या की, अथवा उन्हें बागानों और खानों में कार्य करने के लिए दास बना लिया। बड़ी संख्या में दासों को अफ्रीका से भी लाया गया।

एशिया और अफ्रीका के विपरीत, स्पेन, पुर्तगाल तथा इटली से आए यूरोपवासी बड़ी संख्या में लैटिन अमेरिकी देशों में जाकर बस गए। परिणामस्वरूप उन देशों में आज भी यूरोपीय मूल के लोग बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, आप्रवास के कारण अर्जेन्टीना में तो, वहाँ की जनसंख्या में, लगभग 90 प्रतिशत यूरोपीय मूल के श्वेत लोग पाए जाते हैं। पुर्तगाल ने ब्राज़ील को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। शेष लैटिन अमेरिका पर स्पेन का अधिकार हो गया था। लैटिन अमेरिका में उपनिवेशवाद, औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले स्थापित हो गया था। इसीलिए, वहाँ कृषि फ़ार्मों (जिन्हें Latifundia कहते थे) तथा खानों (mines) को मुख्य कार्य क्षेत्र बनाया गया। इन्हीं से शासक देश बड़ी मात्रा में कच्चा माल स्वदेश भेजने लगे। परिणाम यह हुआ कि मूल वस्तुओं पर आधारित निर्यात इस प्रदेश में औपनिवेशिक युग की प्रमुख आर्थिक गतिविधि बनी।

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

MAADHYAM IAS

1) औपनिवेशिक राज्य की स्थापना में सहायक तत्त्वों की पहचान कीजिए।

....

....

....

....

....

2) एशियाई देश किस प्रकार यूरोपीय शासन के अधीन आ गए?

....

....

....

....

....

3) अफ्रीका के लिए संघर्ष का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

4) बर्लिन समझौते, 1885 के चार प्रमुख निर्णयों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

8.3 औपनिवेशिक राज्य की विशेषताएँ तथा उसके कार्य

औपनिवेशिक राज्य की कुछ विशेषताएँ थीं, जो कि यूरोपीय राज्यों से तो भिन्न थी हीं, वे वर्तमान् विकासशील देशों के उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों से भी भिन्न थीं। **प्रथम**, यह राज्य स्थानीय जनता को नियन्त्रित करने और उसका दमन करने का साधन था। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने शक्तिशाली केन्द्रीकृत आधुनिक नौकरशाही की स्थापना की थी। कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए सशक्त पुलिस बल तथा सेना की व्यवस्था भी थी। अतः, यूरोप के विपरीत, यह अधिनायकवादी राज्य था, न कि उदार लोकतान्त्रिक राज्य। **द्वितीय**, औपनिवेशिक राज्य से यह अपेक्षा थी कि वह यूरोपीय औपनिवेशिक शासकों के, तथा उनकी जनता के, आर्थिक और राजनीतिक हितों की रक्षा करेगा। **तृतीय**, औपनिवेशिक शासकों को इस बात का आत्म-विश्वास था कि उनका कार्य स्थानीय लोगों को सभ्य बनाना (civilising mission), तथा अपनी संस्कृति और अपने मूल्यों को उपनिवेशों में स्थापित करना था। अतः, वे उपनिवेशवाद को "श्वेत मनुष्य के बोझ" के रूप में प्रदर्शित करते थे।

औपनिवेशिक राज्य की भूमिका को ठीक से समझने के लिए यह आवश्यक है कि सभी उपनिवेशों में सामान्यतया देखे गए दो चरणों में विभाजित किया जाए। इन चरणों का

MAADHYAM IAS

सम्बन्ध विश्व अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों से था। यह चरण थेः (1) उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से 1920 तक का समय जब अपनी स्थिति को शासकों ने मज़बूत किया; तथा (2) दूसरा चरण प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत उपनिवेशवाद उन्मूलन के समय तक चला, जब उपनिवेशवाद का धीरे-धीरे ह्रास हुआ। प्रथम चरण में शक्तिशाली औपनिवेशिक राज्य की स्थापना हुई जब शासकों के हितों की वृद्धि के लिए नीतियाँ बनाई गईं। इसको "उपनिवेशवाद का स्वर्णिम युग" कहा गया, क्योंकि कच्चे माल की माँग और मूल्य दोनों ही उच्च स्तर पर थे। इसका कारण यह था कि यूरोप का एक के बाद एक देश औद्योगीकरण के मार्ग पर चल निकला था। उपनिवेशों में आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन होता था। कुछ उपनिवेशों में "मुनाफ़े के विभाजन" की नीति अपनाई गई, अर्थात् कच्चे माल के निर्यात से स्थानीय मूल निवासियों को भी पर्याप्त लाभ हुआ, यद्यपि यह स्थानीय समाज के उस छोटे वर्ग तक ही सीमित रहा जिसके पास भूमि का स्वामित्त्व था, तथा जो कच्चे माल के उत्पादन और वितरण (marketing) में लगा था। उदाहरण के लिए, भारत में कपास और गन्ने की खेती करने वाले, घाना में कोको के उत्पादक, आईवरी कोस्ट में मूँगफली की खेती में लगे कृषक, ब्राज़ील में कॉफी के उत्पादक; अथवा इन्डोनेशिया में चावल (धान) की पैदावार करने वाले मुनाफ़ा कमाने वालों की श्रेणी में आते थे। उपरोक्त वर्णित वस्तुओं को, जिन्हें 'नकद फ़सल' या अँग्रेज़ी में cash crops कहते हैं, जिनका उत्पादन उस समय निर्यात करके धन (cash) कमाने के लिए किया जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में उनका अच्छा मूल्य मिलता था।

मुनाफ़ा (लाभ) कमाते रहने के लिए औपनिवेशिक राज्य ने कई कानून व्यवस्था तथा भूमि नियम अपनाए। उनका उद्देश्य अधिक से अधिक राजस्व कमाना था। भारत में स्थापित ज़मींदारी तथा रैयतवारी भूमि व्यवस्थाएँ इस बात का उत्तम उदाहरण है। उपनिवेशों के द्वार खोलकर अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से औपनिवेशिक राज्यों ने रेलवे, बन्दरगाहों, सड़कों इत्यादि के निर्माण में पूँजी निवेश किया। अर्थव्यवस्था को और अधिक मुद्रा - आधारित बना कर, ऐसे श्रमिक वर्ग के विकास का प्रयास किया गया जो खानों और बाग़ानों (Planation) में काम करने के लिए प्रस्तुत था। इस कार्य के लिए जो नीतियाँ अपनाई गई, उसमें अफ्रीका के कुछ भागों में प्रत्येक व्यक्ति पर "झोपड़ी कर" (Hut tax) लगाना शामिल था। भारत में नक़द भूमि राजस्व वसूल करने के लिए नियम बनाए गए, जिसने स्थानीय निवासियों को (अपना उत्पादन करने की अपेक्षा) वह कार्य करने के लिए प्रेरित किया जिसमें उन्हें नक़द पारिश्रमिक मिले। यह उपाय इसलिए आवश्यक समझे गए ताकि औपनिवेशिक व्यवस्था का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एकीकरण किया जा सके, और औपनिवेशिक शासकों की पूँजीवादी संरचना सुदृढ़ हो सके।

ए.जी. फ्रैंक तथा **अमीय कुमार बाग्ची** जैसे विद्वानों ने तर्क दिया है कि औपनिवेशिक राज्य की आर्थिक नीतियों ने विकास की गति को अवरुद्ध किया और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को पिछड़ा रूप दिया। यह पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी था। इन नीतियों का फल यह हुआ कि उपनिवेश, मात्र कच्चे माल के निर्यात और उस की आपूर्ति करने वाले बन कर रह गए। इन्होंने यूरोप के तेज़ी से विकासशील उद्योगें को कच्चे माल की आपूर्ति की। विकास की गति को अवरुद्ध करने का आशय यह है कि इन देशों के विकास की सामान्य प्रक्रिया में रुकावटें आईं, औपनिवेशिक राज्य के हस्तक्षेप से प्रगति रुक गई, क्योंकि शासक देशों ने अपने हित में ही नीतियाँ बनाईं और उनका क्रियान्वयन किया। उदाहरण के लिए, उपनिवेशों में जिस अवसंरचना की व्यवस्था की गई, वह अपर्याप्त थी, और सभी उपनिवेशों में एक समान नहीं थी। रेलों और सड़कों का विकास इसलिए किया गया था ताकि निर्यात के लिए कच्चे माल को समुद्र तट तक आसानी से पहुँचाया जा सके; इसलिए नहीं कि

MAADHYAM IAS

अर्थव्यवस्था के सभी भागों को विकास के लिए एक साथ जोड़ा जा सके। इसी प्रकार इस बात पर बल दिया गया कि जीवन निर्वाह की वस्तुओं की नहीं अपने व्यापार के लिए उपयोगी कृषि उत्पाद को बढ़ावा दिया जाए, ताकि निर्यात के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी उनकी ही उपज की जा सके। परिणाम यह हुआ कि कृषि में एकल-संस्कृति (monoculture) का जन्म हुआ, अर्थात् एक ही फ़सल की, निर्यात के लिए, उपज की गई। इस पर जो आर्थिक निर्भरता पनपी वह उत्तर-औपनिवेशिक युग में भी जारी रही। उदाहरण के लिए घाना में कोको तथा युगांडा में कपास के उत्पादन पर ही बल दिया जाता रहा। अर्थव्यवस्था में विविधता के लिए प्रयास नहीं किया गया, वरन् निर्यात-आधारित फसलों ने अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा किया; राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की अवहेलना की गई। इसके फलस्वरूप हर जगह असमान क्षेत्रीय विकास हुआ, जो कि उत्तर औपनिवेशिक समय में राष्ट्र-निर्माण के मार्ग में प्रमुख बाधक सिद्ध हुआ।

औपनिवेशिक व्यवस्था ने औद्योगिक तथा प्रौद्योगिकी विकास में भी विलम्ब किया, क्योंकि औपनिवेशिक शासक यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि उनके अपने देशों में बने माल के साथ कोई स्थानीय उत्पाद मुक़ाबला करे। परिणाम यह हुआ कि कुछ उपनिवेशों में तो औद्योगीकरण का ह्रास (de-industrialisation) हुआ, या उसमें कमी आई। अर्थात्, यूरोपीय मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य कम होने के कारण स्थानीय उद्योगों को इतनी हानि हुई कि वे बन्द होने लग गए। स्थानीय उद्योग स्थापित करने की अनुमति देने से इन्कार करके, यूरोपीय उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया। परन्तु, यह भी ठीक है कि उपनिवेशवाद के मिश्रित परिणाम हुए। उसके कुछ लाभों (benefits) का उल्लेख करना आवश्यक है। यूरोपीय देशों ने अपने (एशियाई-अफ्रीकी) उपनिवेशों में पाश्चात्य शिक्षा आरम्भ की। इसका मूल उद्देश्य ऐसे शिक्षित वर्ग की उत्पत्ति करना था जो कि उपनिवेशों में शासन कार्य में सहायक हो सकें। कुछ अन्य लाभदायक परिणाम थेः शहरीकरण, यातायात एवं संचार व्यवस्था का विकास, सिंचाई परियोजनाएँ, आधुनिक प्रौद्योगिकी, रोज़गार के अवसर, सामाजिक सुधार, धीरे-धीरे स्वशासन की स्थापना तथा समाज में एक मध्यम वर्ग का विकास। इनमें से कुछ उपाय (जैसे प्रौद्योगिकी विकास) तो बहुत सीमित रूप से किए गए।

जैसा कि ऊपर भी उल्लेख किया गया है, उपनिवेशवाद प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। उसके पश्चात् इसका ह्रास होना आरम्भ हुआ। इस ह्रास के कारणों में प्रमुख थेः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में परिवर्तन, यूरोप में उपनिवेशवाद की अस्वीकृति, तथा उपनिवेशों में स्वतन्त्रता की माँग करने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों का उदय। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् कच्चे माल की माँग कम होने के साथ-साथ उनके मूल्यों में भी गिरावट आई। उपनिवेशों में पूँजी निवेश की सम्भावना में भी कमी आई। अतः उपनिवेशवाद अब पहले जैसा उपयोगी नहीं रह गया। 1930 के दशक के आर्थिक संकट तथा द्वितीय विश्व युद्ध दोनों ने साम्राज्यवादी शक्तियों को और भी कमज़ोर कर दिया। इस द्वितीय चरण में औपनिवेशिक राज्य ने अपनी व्यवस्था को बनाए रखने के प्रयास किए ताकि अन्ततः सत्ता को स्थानीय जनता को हस्तांतरित किया जा सकता।

MAADHYAM IAS

यद्यपि सभी लैटिन अमरीकी राज्य उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वतन्त्र हो गए थे, फिर भी उनको कई समान अनुभव हुए। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उनमें से अनेक ब्रिटेन के नव-उपनिवेश बन गए। यह स्थिति प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ तक चली। उसके पश्चात्, द्वितीय विश्व युद्ध तक वे संयुक्त राज्य के नव-उपनिवेशवादी नियन्त्रण में रहें। नवोदित उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों द्वारा अपनाई गई नीतियों का लाभ उनको भी प्राप्त हुआ। अधिनायकवादी राज्यों की स्थापना हुई, निर्यात-सम्बन्धित विकास चलता रहा, तथा औद्योगीकरण

में, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक, विलम्ब हुआ। इस विलम्ब के लिए उनके शासक वर्ग उत्तरदायी थे, जिन्होंने राजनीति और अर्थ-व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किए। इसीलिए लैटिन अमेरिका को आज भी विकासशील देशों में गिना जाता है, और उनकी अनेक विशेषताएँ अन्य विकासशील देशों जैसी हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) औपनिवेशिक राज्य की प्रमुख विशेषताएँ तथा उनके कार्य क्या थे?

....

....

....

....

....

2) एशिया और अफ्रीका को उपनिवेशवाद से हुए लाभ का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

8.4 उपनिवेशवाद के प्रतिमान, या नमूने

विभिन्न यूरोपीय देशों की औपनिवेशिक नीतियों में गहरे अंतर थे। अतः यह आवश्यक है कि कम से कम चार अलग-अलग प्रतिमानों का उल्लेख किया जाए। उपनिवेशवाद के यह चार नमूने थेः ब्रिटिश, फ्रांसीसी, बेल्जियन तथा पुर्तगाली प्रतिमान।

8.4.1 ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति

ब्रिटेन ने जो औपनिवेशिक नीति अपनाई उसके अनुसार उसके उपनिवेशों को स्वयं ब्रिटेन का भाग नहीं बनाया गया। उपनिवेशों की सभ्यताओं तथा मूल्यों को सामान्यतया वैसा ही रहने दिया गया। साथ ही उनके अधिकतम स्वायत्त विकास के लिए उन्हें सुविधाएँ दी गई। औपनिवेशिक शासकों (ब्रिटेन) तथा उपनिवेशों की स्थानीय जनता की "उपनिवेशवाद के लाभांश" में अच्छी भागीदारी रही। धीरे-धीरे, समय के साथ-साथ उपनिवेशों को अपनी सरकारों के संचालन में अधिक भागीदारी दी गई, तथा उनसे संबंधित मामलों में उनके विचारों को महत्व दिया गया। ऐसा ब्रिटिश संसद द्वारा पारित विभिन्न कानूनों के माध्यम से किया गया उदाहरण के लिए, जैसे कि भारतीय परिषद् अधिनियम 1892 तथा 1909 इत्यादि। इसका परिणाम यह हुआ कि पारम्परिक मूल्यों और जीवन शैली को भंग नहीं, उनका सम्मान किया गया। भारत, श्रीलंका, मलाया जैसे देशों में ब्रिटेन ने काफ़ी पूँजी

MAADHYAM IAS

निवेश किया। ब्रिटेन में चालीस के दशक में लेबर पार्टी के सत्तारूढ़ होने पर यह विश्वास किया जाने लगा कि औपनिवेशिक शासन का यह उत्तरदायित्त्व था कि स्थानीय लोगों का कल्याण किया जाए। यह भी स्वीकार किया गया कि उपनिवेशवाद को तेज़ी से समाप्त करना होगा।

8.4.2 फ्रांसीसी उपनिवेशवाद

ब्रिटिश नीति के विपरीत, फ्रांस की औपनिवेशिक नीति का आधार था कि उपनिवेशों का आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभांगीकरण (assimilation) किया जाए। इसका अर्थ हुआ कि फ्रांसीसी उपनिवेशों, विशेषकर अफ्रीका स्थित उपनिवेशों, को मातृ देश (फ्रांस) का अभिन्न अंग माना जाए। उदाहरण के लिए, उपनिवेशों के नेतागण फ्रांस की संसद के निचले सदन, राष्ट्रीय सभा (National Assembly) के लिए चुनाव लड़ सकते थे। शायद इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण होगा आईवरी कोस्ट का **हम्फरी बोइग्नी** (Humphrey Boigny) जो कि फ्रांस के साम्यवादी दल का सदस्य था। पारम्परिक संस्कृति में परिवर्तन लाने की चेष्टा की गई। फ्रांस, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी अपने उपनिवेशों में निवेश करता रहा। फ्रांस इस विचार को स्वीकार ही नहीं कर सका कि उपनिवेशवाद का उन्मूलन होना चाहिए। उसको यह अनुभव पहली बार 1958 की अल्जीरिया की क्रान्ति (विद्रोह) के समय ही हुआ। फिर भी फ्रांस ने उन देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखे, अपने पूर्व उपनिवेशों को वह सहायता देता रहा, जिसके कारण उनके अन्य अफ्रीकी पड़ोसियों ने उन्हें फ्रांस के 'नव-उपनिवेश' कहना आरम्भ कर दिया। फिर भी फ्रांसीसी उपनिवेशवाद इस अर्थ में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के समान था कि उसने अलग शासन बनाए रखने के लिए बल प्रयोग नहीं किया। हमारे अन्य दो प्रतिमान बल प्रयोग पर आधारित थे।

8.4.3 पुर्तगाली उपनिवेशवाद

एक प्रकार से, पुर्तगाली उपनिवेशवाद सबसे अलग प्रकृति का था। इसका आधार बल का अत्यधिक प्रयोग था। यहीं नहीं, वह जाति भेद में भी विश्वास रखता था। यह सबसे पुरानी औपनिवेशिक शक्ति थी, और यह (पुर्तगाल) 1975 तक अपने कुछ उपनिवेशों के साथ चिपका रहा। उससे बहुत पहले अन्य यूरोपीय देश अपने उपनिवेश छोड़कर जा चुके थे। हाँ, लैटिन अमेरिका में इसको अपना मूल्यवान उपनिवेश, अर्थात् ब्राज़ील, बहुत पहले ही छोड़ देना पड़ा था। पुर्तगाल ने अपने तथाकथित "असभ्य मूल निवासियों" के मध्य से "सभ्य" लोगों के एक छोटे वर्ग का निर्माण किया था। इस "सभ्य वर्ग" की सहायता से वह अपने उपनिवेशों पर दीर्घ काल तक शासन करता रहा। उपनिवेशों की बहुत बड़ी जनसंख्या अशिक्षित और आधुनिकता से अछूती रही। उनको मूल रूप से भूमि पर, कारख़ानों या ख़ानों में श्रमिकों के रूप में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया था। अच्छी नौकरी की आशा से कुछ पुर्तगाली श्रमिकों ने आप्रवास करके उपनिवेशों में बस जाने का निर्णय किया था। बहुधा इन पुर्तगाली श्रमिकों तथा स्थानीय श्रमिकों में मुक़ाबले, और कभी-कभी हिंसक संघर्ष भी होते रहते थे। यह तो 1961 के अंगोला के विद्रोह जैसी घटनाओं के बाद ही निश्चय किया गया कि सुधार लागू किए जाएँ। साथ ही स्वशासन की दिशा में भी कुछ क़दम उठाए गए।

MAADHYAM IAS

यद्यपि उपनिवेशों में निवेश अवश्य किया गए, परन्तु इसका लाभ शायद ही उपनिवेशों के लोगों को मिला हो। इसका एक मूल कारण यह था कि स्वयं पुर्तगाल, यूरोप में, प्रौद्योगिकी की दृष्टि से पिछड़ा हुआ रहा। इसलिए भी उसको अपने उपनिवेशों पर प्रत्यक्ष और दमनकारी बल प्रयोग करके शासन करना पड़ा, ताकि कहीं उसके उपनिवेश अंग्रेज़ी या फ्रांसीसी क़ब्ज़े में न चले जाएँ। पुर्तगाल की अपनी सरकार तानाशाही थी, तथा देश

स्वयं अपनी निर्धनता तथा निरक्षरता की समस्याओं का सामना करने में असमर्थ था। अनेक विद्वानों का मत है कि पुर्तगाल और स्पेन ने लैटिन अमेरिका के देशों को अधिनायकवाद की भेट दी थी। यह आज भी स्पष्ट है, क्योंकि लैटिन अमरिकी महाद्वीप में लोकतन्त्र का अभाव है, और समय-समय पर उनमें से अनेक देशों में सैनिक क्रान्तियाँ होती रहती हैं।

8.4.4 बेल्जियम की औपनिवेशिक नीति

बेल्जियम की नीति मध्यममार्गी थी। बेल्जियम ने अपने उपनिवेशों में शक्तिशाली पैतृक और केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना की थी। इसका नियन्त्रण प्रत्यक्ष रूप से बेल्जियम की सरकार ने अपने हाथों में रखा था। परन्तु, बेल्जियन काँगो में औपनिवेशिक सरकार की सहायता वे निजी बेल्जियन कम्पनियाँ किया करती थी जिन्हें प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग का अधिकार दिया गया था। चर्च भी प्रशासन की सहायता करता था। चर्च की स्थिति वहाँ काफ़ी मज़बूत थी। ब्रिटेन के विपरीत, बेल्जियम ने स्थानीय लोगों की स्वशासन में कोई भाग नहीं दिया। बेल्जियम ने फ्रांस की तरह सांस्कृतिक समांगीकरण का प्रयास भी नहीं किया। चाहे, काँगो का तेज़ी से आधुनिकीकरण हुआ और अवसंरचना (infrastructure) तथा खदान क्षेत्र में पर्याप्त निवेश भी हुआ, फिर भी शिक्षा पर, तथा जनजीवन के सुधार पर बहुत ही कम व्यय किया गया। सामान्य व्यक्ति निर्धन और पिछड़ा हुआ रहा, तथा (ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी उपनिवेशों की भांति) यहाँ किसी शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय भी नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जब अचानक काँगो पर बेल्जियम का शासन समाप्त हो गया उस समय वहाँ पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित अधिकारी थे ही नहीं जो कि देश के प्रशासन की बागडोर सम्भाल सकते। इसने काँगो के लिए अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं।

बोध प्रश्न 3

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) फ्रांस के समांगीकरण के प्रतिमान का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) पुर्तगाली उपनिवेशवाद की क्या विशेषताएँ थीं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

8.5 साराश

औपनिवेशिक राज्य, विस्तारवारदी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के, ऐतिहासिक विकास का परिणाम था। इसने यूरोप में औद्योगिक पूँजीवाद को, तथा ग़ैर-यूरोपीय विश्व में उपनिवेशवाद का आधार व्यापार था। परन्तु, मशीनीकरण से उत्पादित वस्तुओं के साथ-साथ औपचारिक औपनिवेशिक संरचना की स्थापना हुई।

यह राज्य, यूरोपीय राज्यों से भिन्न थे। इनकी विशेषता थी शक्तिशाली, केन्द्रीकृत तथा अधिनायकवादी व्यवस्था। स्थानीय लोगों की भागीदारी लगभग न होने के बराबर थी। इसमे औपनिवेशिक शासकों के हितों की रक्षा पर ही बल दिया जाता था।

विभिन्न उपनिवेशों में, अलग-अलग तरीक़ों से औपनिवेशिक राज्य की स्थापना हुई, परन्तु सभी स्थानों पर यह विजय (Conquest) तथा स्थानीय लोगों की पराधीनता पर आधारित था। एशिया में इसका आरम्भ निजी, मान्यता प्राप्त (Charter) कम्पनियों के द्वारा किया गया। अफ़्रीका में यूरोपीय देशों ने अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र और उपनिवेश आपस में निर्धारित कर लिए। अपना दावा सिद्ध करने के लिए उन्होंने बल प्रयोग किया। लैटिन अमेरिका में इसकी स्थापना स्पेन और पुर्तगाल द्वारा युद्ध में, अपने राजाओं के नाम पर, विजय प्राप्त करके की गई।

औपनिवेशिक राज्य की नीतियों ने आर्थिक क्षेत्र में विकास की गति को कम करके पिछड़ेपन को समर्थन दिया। स्थानीय लोगों का दमन किया गया, तथा उनके हितों और उनकी माँगों को दबाया गया। उपनिवेशवाद से कुछ सीमित लाभ भी हुए, जैसे शिक्षा, रोज़गार, शहरीकरण, अवसंरचना-व्यवसा, यातायात, संचार तथा नई प्रौद्योगिकी इत्यादि। परन्तु सभी उपनिवेशों में एक जैसा प्रभाव नहीं पड़ा।

उपनिवेशवाद के चार प्रतिमानों की पहचान की जाती है। वे हैः ब्रिटिश, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और बेल्जियन प्रतिमान। पहले दो खुलकर दमन करने वाले नहीं थे और उन्होंने विकास एवं स्वशासन के लिए कुछ प्रभावी उपाय भी किए। परन्तु पुर्तगाली और बेल्जियन व्यवस्थाएँ अत्याचार एवं बल प्रयोग पर आधारित थी; वे अधिक से अधिक लाभ की लालसा रखती थीं और उन्हें मूल निवासियों के हितों एवं भावनाओं की कोई चिंता नहीं थी।

8.6 शब्दावली

MAADHYAM IAS

नव-उपनिवेशवाद : इस शब्द का प्रयोग उस नई व्यवस्था के लिए किया जो अप्रत्यक्ष शोषण और आर्थिक दासता का संकेत देती है। पूर्व औपनिवेशिक देशों, या कुछ अन्य विकसित देशों द्वारा पूर्व उपनिवेशों तथा विकासशील देशों पर असमान व्यापार, सरकार में हस्तक्षेप तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों आदि के माध्यम से अपना आर्थिक और राजनीतिक नियन्त्रण बनाए रखना।

समुद्री डाका : इस शब्द का प्रयोग खुले सागर में जहाज़ों पर डाका डालने के अर्थ में किया जाता है। नागरिक विमानन से यात्रा की प्रथा आरम्भ होने से पूर्व अधिकांश व्यक्ति एक देश से दूसरे

को जहाज़ों से यात्रा करते थे। सामान भी समुद्री मार्ग से जाता था। जब कुछ डाकू किसी जहाज़ पर डाका डालते और लूट मार करते थे तब उन्हें समुद्री डाकू, और उस प्रक्रिया को समुद्री डाका कहा जाता था।

8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Michael Barrat Brown *After Imperialism*

Burnwall *Colonial Policy and Practice*

Bipin Chandra *National and Colonialism in India*

A. Adu Boahen *African Perspectives on Colonialism*

B. Suteliffe and R. Owen *Studies in the Theory of Imperialism*, Longinan, London, *1972.*

L.H. Gann and Peter Duignan *Colonialism in Africa 1870-1960*, Vol.2, *The . History and Politics of Colonialism 1914-1960*, CUP, 1970

Frank A.G. *Capitalism and Underdevelopment in Latin America Historical Studies of Brazil and Chile*, New York, *1969.*

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक राज्य विश्व पूँजीवाद के ऐतिहासिक विकास का परिणाम थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में आरम्भ उपनिवेशवाद युद्ध में विजय पर आधारित था। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इसका एशिया, अफ्रीका में विस्तार हुआ। उपनिवेशों से सस्ता कच्चा माल लिया जाता था, तथा उनका आर्थिक शोषण होता था। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 8.2 देखें।)*

2) यह प्रक्रिया यूरोपीय देशों द्वारा अपने पैर जमाने के साथ आरम्भ हुई। ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गए चार्टर पर आधारित ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के अनेक प्रदेशों पर नियन्त्रण कर लिया। ब्रिटिश महारानी ने 1858 में, प्रत्यक्ष रूप से भारत पर शासन करना आरम्भ कर दिया। डच कम्पनी को श्रीलंका में अंग्रेज़ों ने पराजित किया, और भारत में फ्रांस को हराया। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 8.2.2 देखें।)*

3) अफ्रीका का अधिकांश भाग उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम 20 वर्षों में अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन या बेल्जियन शासन के अधीन आ गया। उपनिवेशवाद के लिए संघर्ष का परिणाम हुआ कीनिया, ज़ंज़ीबार, उत्तरी रोडेशिया, युगांडा इत्यादि पर ब्रिटिश शासन; मैड़ेगास्कर और उत्तरी अफ्रीका पर फ्रांस का शासन; काँगो पर बेल्जियम का तथा पूर्वी एवं दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर जर्मनी के उपनिवेश स्थापित हुए। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 8.2.3 देखें।)*

4) (1) जो देश अपने उपनिवेश स्थापित करना चाहता था वह अन्य हस्ताक्षरकर्ताओं को इसकी सूचना दे; (ख) सभी दावों को वास्तविक प्रभाव में लाने के लिए विजय और नियन्त्रण; (ग) स्थानीय शासकों के साथ सम्पन्न संधियाँ वैध होंगी; तथा (घ) प्रत्येक

MAADHYAM IAS

औपनिवेशिक शक्ति अपने क्षेत्र तटों से अंदर की ओर मुख्य महाद्वीप में ले जाएगी। *(कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 8.2.2 देखें।)*

बोध प्रश्न 2

1) औपनिवेशिक राज्य का मुख्य कार्य शासकों के हितों की रक्षा करना था, न कि मूल निवासियों की। उपनिवेशों से शासकों के हित में नियति करवाना उनका शोषण करना और स्थानीय जनता का दमन करना। आधुनिक नौकरशाही की संरचना पर आधारित यह राज्य तानाशाही था, जिसने स्थानीय उद्योगों को नष्ट किया। (कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 8.3 देखें।)

2) जो लाभ हुए उनमें से कुछ थेः पाश्चात्य शिक्षा, शहरीकरण, यातायात के साधनों और संचार व्यवस्था का विकास, सिंचाई तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी। (कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 8.3 देखें।)

बोध प्रश्न 3

1) उपनिवेशों को राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक रूप से फ्रांस के अंग बनाने का प्रयास किया गया। उपनिवेशों के राजनीतिक नेता फ्रांस की संसद के लिए चुनाव लड़ सकते थे। (कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 8.4.2 देखें।)

2) पुर्तगालियों ने सामान्यतया बल प्रयोग किया। ऐसा विशेषकर लैटिन अमेरिका में मूल निवासियों को "सभ्य" बनाने के प्रयास में किया गया। पुर्तगाली उपनिवेशों के अधिकांश मूल निवासी निरक्षर और आधुनिकता से वंचित रहे। पुर्तगाल स्वयं प्रौद्योगिकी की दृष्टि से पिछड़ा हुआ, तानाशाही शासन वाला देश रहा। (कृपया विस्तृत विवरण के लिए उपभाग 8.4.3 देखें।)

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 9 सामाजिक संरचना एवं स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 तात्पर्य

9.3 सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य

- 9.3.1 सरचनावाद
- 9.3.2 प्रकार्यवाद
- 9.3.3 मार्क्सवाद
- 9.3.4 वैबरीय दृष्टिकोण
- 9.3.5 वेबर तथा मार्क्स के सिद्धान्तों का एकीकरण-हैबरमास

9.4 सामाजिक स्तरीकरण

- 9.4.1 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- 9.4.2 वैबरीय दृष्टिकोण
- 9.4.3 प्रकार्यवादी दृष्टिकोण

9.5 सारांश

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.7 बोध प्रश्नों Ti; उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उन सामाजिक संरचनाओं से परिचित कराना है जिन्हें राजनीतिक संस्थाएँ अपनी गतिविधियों का आधार बनाती हैं। इस तथ्य के बावजूद कि सामाजिक संरचनाओं को समझने की विभिन्न रीतियाँ हैं, राजनीतिक गतिविधियों का अभिविन्यास सामाजिक संरचनाओं के बोध पर ही निर्भर होता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक व्यवहारों के संबंध को समझ सकेंगे;
- सामाजिक संरचनाओं के बोध के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों को रेखांकित कर सकेंगे;
- सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं के संबंधों को जान सकेंगे; तथा
- सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों की रूपरेखा बना सकेंगे;

MAADHYAM IAS

9.1 प्रस्तावना

सामान्य बोलचाल में हम किसी भी राजनीतिक गतिविधि की सफलता अथवा असफलता के लिए कुछ सामाजिक यथार्थों; जैसे, वर्ग, राष्ट्र, जाति, धर्म, लिंग आदि; को उत्तरदायी

मानते हैं। उदाहरण के लिए, हम कह सकते हैं कि भारत में छूआछूत के निरंतर प्रचलन के कारण अनेक सकारात्मक कार्यों के लाभ दलित वर्ग तक प्रभावी ढंग से नहीं पहुँच सके हैं; या लिंग भेद जन्य शोषण के कारण राजनीति में महिलाओं की भागीदारी बाधित हुई है। हम प्रायः कहा करते हैं कि अमुक राजनीतिक निर्णय या उनके परिणाम किन्हीं विशिष्ट सामाजिक संरचनाओं के होने या न होने के कारण हैं। हममें से अधिकतर लोग जानते हैं कि सार्वजनिक निर्णय, औपचारिक रूप से, मात्र कानून के शासन या मताधिकार पर आधारित नहीं होते। ऐसे कार्य सामाजिक शक्तियों के प्रचालन पर भी निर्भर होते हैं।

सामाजिक संरचनाएँ स्थिर नहीं होतीं। वे परिवर्तित भी होती हैं और पुनर्गठित भी। अपने सदस्यों की गतिविधियों के साथ साथ उनमें रूपान्तरण होता रहता है। यद्यपि उनमें अनेक प्रकार से परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु राजनीतिक गतिविधि के कारण होने वाला परिवर्तन विशिष्ट होता है। उदाहरण के रूप में विचारकों ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार भारत में निर्वाचन पद्धति के कारण जातिगत पहचान का पुनर्प्रतिपादन एवं पुनर्दृढ़ीकरण हुआ है। सामाजिक अभिकर्त्ता या कार्यकर्त्ता (समाज के सदस्य) सामाजिक संरचनाओं में अपनी स्थिति या भूमिका को भिन्न प्रकार से समझ सकते हैं।

किसी समाज में सामाजिक अभिकर्त्ताओं के संसाधनों, उनकी शक्तियों, उनके सम्मान और उनकी श्रेणियों में व्यापक रूप से परिवर्तन होता रहता है। किसी समाज के सदस्यों को उनकी भूमिकाएँ सीमांकित प्रकार्यों के साथ सौंपी जाती हैं। इन सामाजिक अभिनेताओं (सदस्यों) को मिली हुई भूमिकाएँ उनकी रुचि के अनुरूप नहीं होतीं वरन् उन पर थोपी हुई होती हैं। "जिस जाति, धर्म और भाषायी समुदाय में मेरा जन्म हुआ था, उसका निर्णय (चयन) मेरा किया हुआ नहीं था।"

यद्यपि समाज के स्तरीकरण में परिवर्तन होता रहता हैं किन्तु इस परिवर्तन की गति अत्यंत धीमी होती है अतः ये स्तर कुछ समय तक यथावत् रहते हैं।

सैकड़ों महान् विचारकों; जैसे **ऐमिले डर्खीम, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर** एवं **लेवी स्ट्रॉस** आदि के लेखन में सामाजिक संरचना तथा स्तरीकरण, मूल अवधारणाओं के रूप में विद्यमान हैं। **टैल्कॉट पार्सन** ने अपने प्रकार्यात्मक विश्लेषण में सामाजिक संरचना तथा स्तरीकरण को केन्द्रीय अवधारणाओं के रूप में स्थान दिया है। भारत में, लोकतंत्रीय राजनीति, इन्हीं संरचनाओं के प्रसंग में कार्य करती है। हम, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, भीमराव अंबेडकर, राममनोहर लोहिया तथा आधुनिक भारत के ऐसे ही बीसियों विचारकों एवं राजनीतिज्ञों के राजनीतिक विचारों एवं कार्यों को तब तक नहीं समझ सकते जब तक सामान्यतः सामाजिक संरचनाओं एवं विशेषतः भारतीय समाज की संरचना के परिप्रेक्ष्य में उनके दृष्टिकोण को न समझ लें। राजनीतिक संस्थाओं का अभिविन्यास तथा उनकी कार्यप्रणालियों को अधिकतर उस विधि पर निर्भर देखा जाता है जिसके आधार पर ये (संस्थाएँ) इन संरचनाओं के अंतर्गत कार्य करती है।

MAADHYAM IAS

9.2 तात्पर्य

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में 'सामाजिक संरचना' तथा 'स्तरीकरण' केन्द्रीय अवधारणाये हैं। किन्तु समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों और उनके दृष्टिकोणों में जिस प्रकार पर्याप्त अंतर है उसी प्रकार इन अवधारणाओं के प्रति भी उनकी दृष्टियाँ भिन्न भिन्न हैं। इन अवधारणाओं के कार्यक्षेत्र एवं निर्धारण को लेकर बहुत बड़ी मत भिन्नताएँ हैं। साथ ही साथ, संरचनात्मक विश्लेषण एवं व्याख्या का उपयोग करने वाली दो मुख्य धाराएँ है - पहली संरचनावादी या

संरचनात्मक प्रकार्यवादी या प्रकार्यवादी। 'संरचना' तथा 'स्तरीकरण' पदों के प्रयोगों में स्पष्ट अंतर हैं। एक दूसरी प्रमुख धारा **'मार्क्सवादी धारा'** है। इन दो धाराओं से संबद्ध **कार्ल मार्क्स** तथा **मैक्स वेबर** इन अवधारणाओं का प्रयोग अपने अपने ढंग से करते हैं। दूसरी समस्या पारिभाषिक शब्दावली की है। कुछ पद; जैसे 'सामाजिक संरचना', 'सामाजिक तंत्र' तथा 'सामाजिक वर्ग' अनेक पक्षों में परस्पर व्याप्त हैं। यही हाल 'सामाजिक स्तरीकरण' तथा 'सामाजिक निर्माण' जैसे पदों का है! यह भी जानना आवश्यक है कि 'संरचना' तथा 'स्तरीकरण' जैसे पदों का उद्गम 19वीं शताब्दी में जीव विज्ञान एवं भूगर्भ विज्ञान के प्रतिपादनों में प्राप्त होता है। आज सामाजिक यथार्थ के प्रति हमारा दृष्टिकोण उन प्रतिपादनों के अनुरूप नहीं हो सकता।

i) प्रारंभिक तौर पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक संरचनाएँ, अंशों के भागों के साथ ऐसे व्यवस्थित संबंध है जिनसे एक ऐसी व्यवस्था बनती हो जिनमें सामाजिक जीवन के अवयव परस्पर सम्बधित होते हों। पारस्परिक क्रिया के ऐसे संबंधों या ढाँचों में समयबद्ध निरंतरता होती है। अतः, सामाजिक संरचनाओं में निम्नलिखित द्विपक्षीय संकेत होते हैं -

   क) वे सामाजिक अभिकर्ताओं या वर्गों के पारस्परिक क्रियाकारी ढाँचे होते हैं।

   ख) उनमें समय सापेक्ष दृढ़ता, क्षमता एवं स्थायित्व जैसे गुण निहित होते हैं।

ii) सामाजिक संरचनाओं की भाँति ही सामाजिक स्तरीकरण के संबंध में भी समाजशास्त्रियों में पर्याप्त मत भिन्नता है।

संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से **टैल्कॉट पार्सन्स** का कहना है कि सामाजिक स्तरीकरण, "किसी विशिष्ट सामाजिक तंत्र में व्यक्तियों तथा कुछ विशिष्ट सामाजिक पक्षों में उनके पारस्परिक श्रेष्ठ या हीन व्यवहार की विभेदन क्रम-स्थिति को कहा जाता है।"

यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाए तब भी सामाजिक अभिकर्ताओं की क्रम स्थिति के विषय में मत भिन्नता बनी रहेगी क्योंकि क्रम स्थिति के मानदंडों पर सदैव सहमति होना संभव नहीं है। यदि कोई, 'वर्ग परिप्रेक्ष्य' में विचार करेगा तो सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य से गृहीत तात्पर्य से सर्वथा विपरीत होगा। यहाँ ज़ोर 'स्थिति-क्रम' पर न होकर 'वर्ग-संघर्ष' पर होगा। यह संघर्ष, उत्पादन के संबंधों पर आवेष्टित शोषण के कारण होगा। मार्क्स ने 'वर्ग' की परिभाषा देते हुए इसे स्पष्ट किया है।

"वर्ग, उन असंख्य परिवारों के समुदाय को कहा जाता है जो अपने अस्तित्व के लिए किन्हीं विशिष्ट आर्थिक स्थितियों में रहता हो और अपनी जीवन पद्धतियों, हितों एवं संस्कृति की दृष्टि से अन्य समुदाय से पृथक हो और इसी कारण उस से शत्रुतापूर्ण विरोध रखता हो।"

किसी सामाजिक तंत्र में, स्तरीकरण, सामाजिक कार्य को किसी विशिष्ट दिशा में ले जाता है। यही वह छलनी है जिसमें होकर समस्त विभेदक संप्रेषणों एवं भिन्नताओं को गुजारा जाता है। इसमें व्यवस्था के एक ऐसे तंत्र की पुष्टि की जाती है जिसके द्वारा अभिकर्ताओं (समुदाय के सदस्यों) को जीवन के अवसर प्रदान किए जाते हैं। मार्क्सवाद मानता है कि क्रान्ति के समय, क्रान्तिकारी जन-समुदाय, सामाजिक स्तरीकरण को ही अपने आक्रमण का मूल लक्ष्य बनाता है और उसमें अंतर्निहित समस्त संबंधों को पूर्णतः 'सुधार देना' चाहता है। भारत के विश्रुत समाजशास्त्री स्व. एम. एन. श्रीवास्तव द्वारा निर्मित एक महत्वपूर्ण अवधारणा यह है कि भारतीय समाज की जाति व्यवस्था में 'संस्कृतीकरण', सामाजिक गतिशीलता का एक ऐसा माध्यम है जिसमें हीन जातियाँ, उच्च जातियों के विश्वासों, व्यवहारों और अनुष्ठानों को अपनाकर उच्च स्तर की ओर अग्रसर होती हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) सामाजिक संरचनाओं का तात्पर्य समझाइए।

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित को पढ़िए और सही उत्तर पर निशान लगाइए।
विभेदक क्रम - स्थिति .... को कहा जाता है।
(क) सामाजिक स्तरीकरण (ख) सामाजिक संरचना
(ग) सामाजिक तंत्र (घ) सामाजिक वर्ग

9.3 सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य

सामाजिक जगत को समझने के लिए अनेक विचारकों ने 'संरचना' **(Structure)** पद का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ सुस्पष्ट प्रवृत्तियों को पहचानने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

9.3.1 संरचनावाद

सरंचनावादी, दीर्घकालीन संरचनाओं पर ज़ोर देते हैं।

संरचनावाद, प्रमुख बौद्धिक प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति थी जिसमें विविध प्रकारों से की गई संरचनाओं की कल्पना को पूर्णतः प्राथमिकता तथा क्षमता प्रदान की गई थी तथा विषय की एक निकाय के रूप में अवहेलना की गई थी। इस सकल्पना में संरचनाओं को भौतिक जगत से दूर करके संस्कृति, आस्था एवं विचार के क्षेत्र में रोपा गया था। प्रकार्यवादियों की धारणा के विपरीत, इसमें सामाजिक यथार्थ के साथ किसी प्रकार की टकराहट की संभावना पर विश्वास नहीं किया जाता। संरचनाओं के प्रचालन का परिणाम या तो सामाजिक गतिविधि एवं रूपान्तरण में हुआ या उसके द्वारा इस (गतिविधि एवं रूपान्तरण) की व्याख्या की गई।

MAADHYAM IAS

इस प्रवृत्ति के प्रारंभिक प्रयोग भाषा के अध्ययन में सुस्पष्ट हुए। उस समय तक शब्द एवं भाषा को अवधारणाओं की अभिव्यक्ति तथा विषयवस्तुओं के निरूपण माना जाता था। भाषायी संरचनावाद ने बोध को भाषा के आंतरिक तत्व के रूप में स्थापित किया। भाषायी संकेत, एक ध्वनि-बिंब तथा एक धारणा (अर्थ) से निर्मित होता है। ध्वनि-बिंब का संबंध इस संकेत की ध्वनियों एवं अक्षरों से होता है जब कि धारणा एक मानसिक निर्मिति होती है। ध्वनि बिंब, द्योतक होता है जिससे धारणा द्योतित होती है। भाषायी संरचनावाद ने यह निर्दिष्ट किया है कि द्योतक (ध्वनि बिंब) और द्योतित (धारणा का अर्थ) का संबंध यादृच्छिक (मनमाना) होता है जो किसी परिपाटी (या रूढ़ि) पर आधारित होता है। यथार्थ वृक्ष तथा शब्द 'वृक्ष' 8में कुछ भी सामान्य (उभयनिष्ठ) नहीं होता। निर्णायक संबंध संकेत

तथा यथार्थ जगत की वस्तुओं में नहीं होता वरन् संकेत और भाषा की समग्र व्यवस्था के बीच होता है। सकारात्मक अर्थ को व्यंजित करने वाले एक साथ संचलित ध्वनि बिंबों के बीच के अंतरों के संबंध द्वारा अर्थ की प्राप्ति होती है। यह (अर्थ) संरचना एवं रूप का उत्पाद होता है न कि धारण निर्मित या द्योतित पदार्थ का। भाषा, अर्थ का सर्जन करती है, उसका वहन नहीं करती।

समाज मानव विज्ञानी **लेवी स्ट्रॉस** के अध्ययन में संरचना का तात्पर्य प्रकार्यवादियों द्वारा कथित अनुभव जन्य संरचनाओं से सर्वथा भिन्न है। निरंतर, अटल रहने वाली संरचना, संपूर्ण मानव-समाज-व्यवस्था की विशेषता होती है। वह किसी वैज्ञानिक संस्कृति से जुड़े हुए किसी विशिष्ट समुदाय की संरचना मात्र नहीं होती। वैज्ञानिक ज्ञान केवल ऐन्द्रिक निरीक्षणों से प्रेरित नहीं होता। ऐसे निरीक्षण बोध गम्य भी होने चाहिए। उसने (लेवी स्ट्रॉस ने) व्यापक रूप से बदलते हुए सामाजिक व्यवहारों को सैद्धान्तिक रूप से गठित संरचना की अभिव्यक्तियाँ माना। (युग विशेष में) विद्यमान (सामाजिक) व्यवहारों से किसी संरचना की पुष्टि नहीं होती किन्तु विभिन्न सामाजिक व्यवहारों की व्याख्या किसी एक सामाजिक संदर्भ से की जा सकती है। लेवी स्ट्रॉस के लिए संरचनाएँ, निदर्श (नमूने) थीं। मार्क्सवाद पर इस संरचनावाद का गहरा प्रभाव पड़ा था और उसे फ्रांसीसी दार्शनिक **लुई ऐल्युज़र** के द्वारा विकसित किया गया था। मनोविश्लेषण; विशेष रूप से **जैक्स लैकन** के कार्य पर भी संरचनावाद का भारी प्रभाव पड़ा था।

वर्तमान काल को संरचनावाद के इन सभी रूपों के प्रति भारी विद्रोह व्यक्त करने वाले युग के रूप में कहा जा सकता है। संरचनावाद में संरचनाओं की स्थिरता की धारणा ग्रहण की जाती है। उसमें इतिहास, संस्कृति, या ऐसी धरोहर के लिए स्थान नहीं होता। उसमें ऐसे किसी विचारशील पक्ष के लिए कोई स्थान नहीं होता जो गतिशील संरचना युक्त अवयवों को कोई अर्थ प्रदान करता हो।

9.3.2 प्रकार्यवाद (Functionalism)

संरचनात्मक कार्यवादीः सामाजिक व्यवस्था के अनुरक्षण का महत्व

प्रकार्यवादी, जिन्हें संरचनात्मक कार्यवादी भी कहा जाता है, वैयक्तिक प्रयासों को कम महत्व देते हैं और सामाजिक संरचनाओं को अधिक पसंद करते हैं। इस प्रवृत्ति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि **ऐमिले डरर्वीम, ए. आर. रैडक्लिफ़ ब्राउन** तथा **टैल्कॉट पार्सन्स** हैं। वे सामाजिक संरचनाओं को अभिकर्ताओं से बाहरी मानते हैं। ये संरचनाएँ अलग-अलग समाजों (और समुदायों) में बदल जाती हैं तथा एक समुदाय से दूसरे समुदाय की समानता अथवा विषमता को स्पष्ट करती हैं। सामाजिक जीवन में व्यक्तियों के व्यवहार की व्याख्या उन्हें ध्यान में रखकर ही की जाती है। वे सामाजिक तथ्यों की सोची समझी छानबीन उन्हें साथ रखने वाली और पारस्परिक क्रियाओं के ढाँचों की पहचान करने पर ज़ोर देते हैं। वे मानते हैं कि समाज में एक ऐसी स्वाभाविक मानकी व्यवस्था होती है जो सभी के लिए कर्तव्यों और दायित्वों को निश्चित करती है, अतिक्रमणकारी व्यवहार पर अंकुश लगाती है और मूल्यों के प्रति आम सहमति बनाती है। यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से उस भूमिका को कम महत्व देती है जिसका निर्वाह अभिकर्ता सामाजिक संरचना के समर्थन संबंधी प्रकार्य में करते हैं।

MAADHYAM IAS

यह प्रवृत्ति सामाजिक संरचनाओं की कार्य पद्धति तथा नैसर्गिक प्रक्रियाओं में यथेष्ट अंतर को स्पष्ट नहीं करती। यद्यपि इसमें मूल्य -निरपेक्षता का दावा किया जाता है किन्तु विद्यमान सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने की ओर इसका सुदृढ़ झुकाव होता है और सामाजिक परिवर्तन को, यह, विद्यमान संरचनाओं के पुनर्गठन के रूप में स्वीकार करती है।

9.3.3 मार्क्सवाद

मार्क्सवाद : आर्थिक संबंधों पर आधारित वर्ग-संरचना को महत्व

मार्क्सवादियों ने समुदायों को समझने के लिए **वर्ग-संरचना** को कुंजी मानने पर ज़ोर दिया है। वर्गों का निर्माण, उत्पादन के साधनों एवं समग्र सामाजिक उत्पादन के साथ सामाजिक अभिकर्ताओं के संबंध तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न एकात्मकता या संबंध-सूत्रों के आधार पर होता है। वर्ग-संरचना संबंधी मार्क्सवादी दृष्टिकोण में आर्थिक संबंधों पर खुले आम ज़ोर दिया गया है। इसे 'आधार' एवं 'अधिरचना' (ऊपरी ढाँचे) के रूपकों द्वारा अभिव्यक्ति किया गया है। जहाँ अर्थव्यवस्था आधार बनाती है वहीं राजनीतिक, सांस्कृतिक, सैद्धान्तिक तथा वैधानिक क्षेत्र अधिरचना का निर्माण करते हैं।

किसी समाज (या समुदाय) की वर्ग-संरचना मूल रूप से दो आधारभूत वर्गों के संबंध पर टिकी होती है और शेष वर्ग जो भी भूमिका अदा करते हैं वह इन्हीं आधारभूत वर्गों के द्वारा स्पष्ट होती है। उदाहरण के लिए पूँजीवादी समाज में आधारभूत वर्ग, **मध्यम वर्ग** (बुर्जुआ) तथा **श्रमजीवी वर्ग** (प्रोलितेरिएन) होते हैं। अन्य वर्ग; जैसे, किसान, कारीगर, व्यवसायी, ज़मींदार आदि भी हो सकते हैं किंतु वे वर्ग क्या क्या भूमिकाएँ अदा कर सकते हैं, इसका निर्णय आधारभूत वर्ग ही करते हैं।

मार्क्सवादी मानते हैं कि वर्गों का निर्माण, वर्ग-संघर्ष का परिणाम होता है। राजनीतिक संघर्ष में और उसी के माध्यम से ये वर्ग, अपने मित्रों और शत्रुओं की पहचान करते हैं। मार्क्सवाद, **आर्थिक प्रक्रिया** के संदर्भ में राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सैद्धान्तिक संरचनाओं की **स्वायत्तता** को स्वीकार करता है किन्तु इस स्वायत्तता के स्वरूप के विषय में वह स्पष्ट नहीं हैं। मार्क्सवादी स्वायत्त सामाजिक स्तरों एवं गुटों के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं किन्तु वे इन्हें भी वर्गों में बंद करके देखते हैं। वे वर्ग-संकरीय या वर्ग पारीय घटनाओं जैसे, व्यक्तित्व की पहचान या लिंग भेद के मुद्दों की व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। मार्क्सवादी मानव-अभिकरण की स्वायत्तता को मानते हैं किंतु वर्ग-संरचना के साथ उसके संबंध को गंभीर विवाद का विषय भी मानते हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी वर्ग-संरचना, नैतिक क्षेत्र और सामाजिक स्थायित्व की सुदृढ़ता के संबंध को भली भाँति आत्मसात नहीं कर सके हैं। भारत में वर्ग-संरचना तथा जाति-संरचना का संबंध समझना अत्यंत जटिल समस्या है।

9.3.4 वेबरीय दृष्टिकोण

मैक्स वेबरः बहुआयामी एवं एकीकृत दृष्टिकोण

MAADHYAM IAS

मैक्स वैबर ने सामाजिक संरचनाओं को स्पष्ट करने के लिए **बहुआयामी दृष्टिकोण** अपनाने पर ज़ोर दिया। उसने संरचना एवं अभिकरण तथा पदार्थ एवं मानकी आयामों के एकीकरण का प्रयत्न किया। उसने जानकार व्यक्ति की भूमिका पर विशेष बल दिया और उसे सामाजिक संरचनाओं के प्रचालन का निष्क्रिय पात्र भर नहीं माना। उसने तर्क दिया कि अर्थ (तात्पर्य) न तो सामाजिक जगत में अंतर्निहित होता है और न खोजे जाने के लिये किसी युक्तिसंगत जाँच पड़ताल की प्रतीक्षा कर रहा होता है। मानव अपने चारों ओर के सामाजिक जगत के अर्थ की रचना और व्याख्या स्वयं ही करता रहता है। अतः विभिन्न मूल्यों एवं हितों को मूर्त रूप देने वाले भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण, सामाजिक संरचनाओं के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से ले सकते हैं। वेबर ने प्रतिपादित किया कि 'कार्य के अनिर्दिष्ट परिणाम', बाज़ार, धन और भाषा जैसी सामाजिक संरचनाओं को जन्म देते हैं। उसने कहा कि पूँजीवाद का उदय प्रोटेस्टैण्ट आचार शास्त्र का परिणाम था जिसने अपने अनुयायियों

में आत्मानुशासन और वैयक्तिक मुक्ति की दृष्टि से अपने कार्यों के लिये ईश्वर के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास किया था।

मात्र संरचनाएँ नैतिक अनुमोदन शक्ति का कारण नहीं होतीं। शक्ति अपने आप में विधि सम्मत नहीं हो सकती। मैक्स वेबर ने **शक्ति** (पावर) तथा **प्राधिकार** (औथरिटि) में भेद किया। प्राधिकार को उसने **विधि सम्मत शक्ति** कहा। विधि सम्मत प्राधिकार में **स्वैच्छिक अनुपालन** का तत्व शामिल होता है। वेबर ने प्राधिकार के तीन स्रोत बताए: **परंपरागत**, **विधिक-युक्ति** संगत और **चमत्कारिक**। परंपरागत अधिकार, श्रेय मूलक तथा उत्तराधिकार दत्त होते हैं; विधिक-युक्ति संगत अधिकार, बौद्धिकीकरण तथा लक्ष्योन्मुख कार्य के निर्वैयक्तिक तर्क पर आधारित होते हैं और चमत्कारिक अधिकार (या शक्ति) व्यक्ति विशेष में या उसके साथ एकीकृत असाधारण वैयक्तिक शक्ति को कहा जाता है।

वेबर का विचार था कि युक्तिसंगतीकरण की प्रक्रिया (जिसे चाहने की सामर्थ्य के रूप में कहा गया), बौद्धिकीकरण तथा निर्वैयक्तिक एवं लक्ष्योन्मुख कार्य मानवीय गतिविधि में क्रमशः बढ़ रहे हैं और उस पर हावी हो रहे हैं। इसका प्रभाव सभी प्रथाओं पर पड़ता है। उस स्थिति को व्यक्त करने के लिये, जिसमें साधनों एवं उपादानों की चिंता मानवीय प्रयोजनों के संदर्भ को परे कर देती है, वेबर ने लौह-पिंजर के रूपक का प्रयोग किया है।

9.3.5 वेबर तथा मार्क्स के सिद्धान्तों का एकीकरण - हैबरमास

हमारे युग का एक अन्य महत्वपूर्ण विचारक **हैबरमास** है जिसने मार्क्सवाद के साथ संबद्धता रखते हुए भी वेबर की धारणा को आगे बढ़ाया है। वह सामाजिक संरचनाओं तथा उनके द्वारा संकेतित युक्तिसंगतीकारक एवं भविष्योन्मुख दृष्टि पर आधारित अभिविन्यासों को मानता है किन्तु वह शक्ति के आयामों और उनमें निहित प्रभुत्व को भी ध्यान में रखता है।

बोध प्रश्न 2

नोट: क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) सामाजिक संरचनाओं के संबंध में संरचनावादी दृष्टिकोण की रूपरेखा समझाए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) मार्क्स द्वारा परिभाषित 'सामाजिक वर्ग' की तीन विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

9.4 सामाजिक स्तरीकरण

हम पहले के पृष्ठों में संरचनाओं और उनके संबंध में संरचनावादियों, प्रकार्यवादियों, वेबरीयों तथा मार्क्सवादियों की व्याख्याओं पर विचार कर चुके हैं। हमने उन मतों के अंतरों पर भी ध्यान दिया है। इस भाग में हम स्तरीकरण या समाज में व्याप्त स्तरों के विषय में अध्ययन करेंगे। किसी विशेष राजनीतिक प्रणाली से संबद्ध संभावनाओं में स्तरीकरण का विशेष महत्व होता है। **अरस्तु** ने कहा है कि संवैधानिक सरकार की जीवन क्षमता विशेष प्रकार के स्तरीकरण पर निर्भर होती है। **लेनिन** ने ज़ारशाही रुस के समाजवादी रूपान्तरण की संभावना उसके बदलते हुए सामाजिक स्तरीकरण को समझने पर ही आधारित मानी थी।

9.4.1 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्स उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं नियंत्रण तथा उत्पादन की प्रक्रिया के साथ सामाजिक अभिकर्त्ताओं के संबंध को सामाजिक स्तरीकरण के मानदंड मानता है। मार्क्स, स्तरों एवं गुटों की अवधारणाओं का, वर्ग विशेष में पाए जाने वाले संघर्षरत हितों के सूचक के रूप में उपयोग भी करता है।

भारत जैसे देश में मार्क्सवादियों की दृष्टि से निम्नलिखित वर्ग होंगेः

क) **बुर्जुआ** (विशेष रूप से औद्योगिक बुर्जुआ), जिनका उत्पादन के साधनों तथा उपयुक्त अधिशेष पर स्वामित्व एवं नियंत्रण होता है।

ख) **ज़मींदार,** जो भूमि पर स्वामित्व या क़ानूनी हक़ रखते हैं, उत्पादन प्रक्रिया में कोई भूमिका अदा नहीं करते फिर भी उत्पादन में से हिस्सा पाते हैं।

ग) **श्रमिक** (विशेष कर औद्योगिक श्रमजीवी), जिनका उत्पादन के साधानों पर न स्वामित्व होता है और न नियंत्रण तथा आजीविका के लिये जो अपनी श्रम-क्षमता पर निर्भर रहते हैं।

घ) **कृषक;** विविधतामय स्तर, जिनके सदस्यों का भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों की असमान सीमाओं पर अधिकार होता है और जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। (इस वर्गीकरण/स्तरीकरण में धनी कृषक एक समस्यामूलक वर्ग है। कुछ पक्षों में वह औद्योगिक बुर्जुआ के निकट होता है किन्तु दूसरे कुछ पक्षों में वह कृषक ही है।) इसी वर्ग में वे ग्रामीण श्रमजीवी (भूमिहीन खेतिहर मज़दूर एवं सीमांत कृषक) को रखता है, जो प्रायः दूसरों के लिये काम करके ही आजीविका कमाते हैं। तथा

ङ) **पैटी बुर्जुआ,** जिनमें व्यवसायी, व्यापारी एवं कारीगर शामिल हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से तो भाग नहीं लेते किंतु उसके लिये अनेक सेवाएँ एवं निपुणताएँ प्रदान करने जैसी अनेक भूमिकाओं में भाग लेते हैं।

MAADHYAM IAS

वर्ग-चेतना - तथ्य यह है कि यदि किसी गुट में, वर्ग विशेष के अनेक वस्तुनिष्ठ लक्षण विद्यमान हों किन्तु उसमें आवश्यक सीमा तक चेतना न हो तो उसे 'वर्ग' नहीं कहा जा सकता। **मार्क्स** ने किसी वर्ग के विशिष्ट एवं विभिन्न क्षणों का भी उल्लेख किया है। **प्रथम,** जहाँ किसी वर्ग के सदस्य अपनी सदस्यता की स्थिति के प्रति न्यूनतम सचेत होते हैं और आर्थिक व्यवहार के अतिरिक्त उनके अन्य व्यवहार उनकी वर्ग-स्थिति के अनुरूप नहीं होते। **द्वितीय,** जहाँ स्वयं में वर्ग होता है। इस स्थिति में विद्यमान वर्ग-संरचना में रहते हुए भी कोई वर्ग सामूहिक रूप में कुछ माँगे उठाकर अपने उत्थान के लिये प्रत्यन करता है; जैसे,

मज़दूर अपने परिश्रमिक की वृद्धि के लिये संघर्ष करते हैं। **तृतीय,** जहाँ 'स्वयं के निमित्त वर्ग' होता है। कोई वर्ग, विद्यमान वर्ग-संरचना में बिना किसी धमकी के अपने वर्ग-हितों की रक्षा का प्रयत्न करता रहता है।

मार्क्सवादी दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण को समझाने में **इटली** के मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता **एण्टोनियो ग्रैम्स्की** का योगदान उल्लेखनीय है। उसने यह प्रश्न उठाया था कि मूलतः वर्ग-स्तरीकरण पर आधारित समाजों में प्रभावशाली वर्ग किस प्रकार प्रभुत्व जमा लेते हैं। उसके द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं में से एक 'आधिपत्य' थी। इसका अभिप्राय केवल प्रभुत्व-स्थापन नहीं था वरन् नेतृत्व था।

9.4.2 वेबरीय दृष्टिकोण

जहाँ मार्क्स ने 'वर्ग' को सामाजिक स्तरीकरण का आधार माना था, वहीं वेबर ने स्तरीकरण का **वर्ग, प्रतिष्ठा** एवं **शक्ति** पर आधारित नमूना पेश किया। उसने 'वर्ग' को सर्वथा भिन्न रूप में स्वीकार किया। उसके मत से 'वर्ग' ऐसे लोगों से बना होता है जिन्हें आय के लिये, माल एवं निपुणता की विन्यास शक्ति के निर्धारण के समान जीवन अवसर उपलब्ध हों। **वर्ग** का निर्णायक पक्ष (महत्व) बाज़ार में उसकी स्थिति के आधार पर बनता है। वर्ग-निर्माण के लिये वर्ग-चेतना कोई अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती।

प्रतिष्ठा से अभिप्राय है, किसी गुट द्वारा गृहीत सामाजिक श्रेणी, सम्मान एवं आदर। ये जीवन की किसी विशिष्ट शैली से जुड़े हुए लक्षण होते हैं और इन्हीं के अनुसार विभिन्न समुदायों को उच्च या निम्न श्रेणी का कहा जाता है। प्रतिष्ठा के संदर्भ में एक समुदाय और दूसरे समुदाय में **श्रेणी, शैली** तथा **व्यवसाय** की दृष्टि से अंतर आते रहते हैं। अतः, जहाँ वर्ग सार्वभौमिक होता है वहीं प्रतिष्ठा में अधिक से अधिक विशेषीकृत होने की प्रवृत्ति रहती है। भारत में, जाति प्रथा, प्रतिष्ठा व्यक्त करने की विशिष्ट पद्धति है। जाति के साथ जुड़ा हुआ परंपरागत श्रेणीकरण, स्तरीकरण के प्रमुख कारकों में से एक हो जाता है। वेबर ने शक्ति को किसी मनुष्य या समुदाय (गुट) का वह अवसर माना है जिसके आधार पर वह दूसरों के विरोध के बावजूद अपनी इच्छा पूर्ण कर सकता है। इस रीति से उसने शक्ति को वैयक्तिक रूप से अभिकर्ताओं में विसर्जित माना। यहाँ उसका मत मार्क्स से सर्वथा भिन्न है क्योंकि मार्क्स के अनुसार शक्ति मूलतः वर्ग-संबंध होता है। साथ ही वेबर ने राज्य को बाध्यताकारी शक्ति के एकाधिकार के लिए उत्तरदायी माना। इस धारणा में राज्य तथा व्यक्ति (सामाजिक अभिकर्त्ता) के बीच मध्यवर्ती संस्थाओं के लिये कोई गुंजायश नहीं रह जाती।

वेबर के मत से **स्तरीकरण** के तीनों रूप -- **वर्ग**, **प्रतिष्ठा** एवं **शक्ति** -- कुछ सामाजिक अभिकर्त्ताओं में अभिसरित हो सकते हैं पर ऐसा सदा अनिवार्य नहीं है। कभी-कभी इनमें से कोई एक, शेष दो को प्रभावित कर सकता है या किसी दूसरे में परिवर्तित हो सकता है। किन्तु वे (तीनों) कम होकर किसी एक रूप में नहीं सिमट सकते। वेबर ने स्तरीकरण के दो प्रतिरूप माने हैं -- श्रेयाधारित एवं उपलब्धि। श्रेयाधारित स्तरीकरण; चाहे वह वर्ग हो, प्रतिष्ठा हो या शक्ति हो; उत्तराधिकार में प्राप्त लक्षणों पर आधारित होता है। उपलब्धि, संबद्ध व्यक्ति या गुट के सफल प्रयत्नों के परिणाम की प्राप्ति होती है।

MAADHYAM IAS

9.4.3 प्रकार्यवादी (Functionalist) दृष्टिकोण

स्तरीकरण के संबंध में प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के विकास का श्रेय **ऐमिले डरवींय, किंगसले डेविस, टैल्कॉट पार्सन्स** तथा **रॉबर्ट के. मर्टन** को दिया जाता है।

प्रकार्यवादियों की दृष्टि में, आधुनिक समाज, विभिन्न भूमिकाओं के अत्यधिक विभेदित तंत्र का एक जटिल समवाय है। इन भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिये विभिन्न स्त्री-पुरुषों को तैयार किया जाता है। स्तरीकरण, भूमिकाओं के इसी वितरण पर आधारित होता है। इन भूमिकाओं के द्वारा ही व्यक्तियों एवं गुटों के लिये विभिन्न लक्ष्य तय किए जाते हैं।

प्रकार्यवादी, स्तरीकरण को एक ऐसी क्रियाविधि मानते हैं जिसके माध्यम से, समाज किसी जटिल तंत्र में आवश्यक विविध पदों (अवस्थितियों) को प्राप्त करने के लिये, स्त्री-पुरुषों को प्रोत्साहित करता है। इन पदों के लिये भिन्न-भिन्न निपुणताओं की आवश्यकता होती है और उनके बदले भिन्न-भिन्न प्रतिफल (वेतन, पारिश्रमिक आदि) प्रदान किए जाते हैं। स्तरीकरण के माध्यम से सामाजिक अभिकर्त्ताओं को उनकी भूमिकाएँ निभाने के लिए अभिप्रेरण प्रदान किया जाता है। भूमिकाओं के अनुरूप ही प्रतिष्ठा को मान्यता प्राप्त होती है।

पार्सन्स ने सामाजिक श्रेणी-निर्धारण के लिये आधार के रूप में प्रयुक्त होने वाले अभिलक्षणों के तीन समुच्चय माने हैं:

क) स्वामित्व, अर्थात् वे विशिष्ट लक्षण जिन पर जन का अधिकार हो।

ख) वैयक्तिक विशेषताएँ; जैसे, जाति, वंशानुक्रम या लिंग।

ग) निष्पादन अर्थात् भूमिकाओं के निर्वहण का मूल्यांकन।

विभिन्न समाजों में अलग-अलग अभिलक्षणों पर ज़ोर दिया जाता है। **सामंती समाज** में **वंशानुक्रम** का महत्व माना जाता है; **पूँजीवादी** समाज, **स्वामित्व** को सर्वोपरि मानता है और **साम्यवादी** समाज में **निष्पादन** को मूल्यवान माना जाता है।

प्रकार्यवादी मानते हैं कि औद्योगिक समाज में श्रम-विकास के कारण व्यक्तिगत सफलता से संबद्ध मूल्यों के केवल एक समुच्चय को ही प्रोत्साहन दिया जाता है। इसका परिणाम अन्य संक्रामण (विजातीय हस्तान्तरण) के रूप में प्रकट होता है। प्रकार्यवादियों के मत से एकीकृत व्यक्तित्व के लिये **स्थायी समाज** का होना सबसे पहली शर्त होती है। यह भी, कि भूमिका निद्यतन पर आधारित स्तरीकरण में असमानाएँ रहती हैं अतः सैद्धान्तिक औचित्य के आधार पर वर्गों की जो व्याख्या इसमें की जाती है उसमें भी असमानता के तंत्र को उचित ठहराया जाता है और उसका प्रचार किया जाता है। अतः नैतिक चेतना एवं मानकी व्यवस्था को सम्मिलित करने वाले सामाजिक एकात्मता के ढाँचों को प्रकार्यवादी अत्यधिक महत्व देते हैं। इस कार्य में वे धर्म की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) निम्नलिखित को ध्यान से पढ़िएँ और सही उत्तर पर निशान लगाइए।

क) उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं नियंत्रण।

ख) आदर एवं प्रतिष्ठा।

ग) साझे जीवन-अवसर।

घ) सामाजिक भूमिका

2) प्रकार्यवादी, नैतिक चेतना तथा मानकों पर आधारित सामाजिक एकात्मता पर ज़ोर क्यों देते हैं?

....

....

....

....

....

....

9.5 सारांश

जिस इकाई का अध्ययन हमने अभी किया है उसमें सबसे पहले यह बताया गया है कि सामाजिक संरचना का अर्थ क्या होता है और विभिन्न विचारक उसके बारे में क्या धारणाएँ रखते हैं। सामाजिक व्यवहार तथा नीतियों की व्याख्या के लिये आधार रूप, सामाजिक संरचना, समग्र के साथ उसके अवयवों का संबंध मात्र हैं। सामाजिक जीवन के तत्व आपस में एक व्यापक परिधीय ढाँचें से जुड़े होते हैं। सामाजिक संरचना, व्यक्तियों में संपर्क स्थापित करती है और एक निश्चित व्यवहार को समर्थन देती है। **लेवी स्ट्रॉल** जैसे संरचनावादी, संरचनाओं को सार्वभौमिक प्रतिरूप मानते हैं जब कि प्रकार्यवादी, व्यक्तियों (समाज के सदस्यों) के व्यवहार की व्याख्या उन सामाजिक संरचनाओं के संदर्भ में करते हैं जिसमें वे रहते हैं। संरचनात्मक समग्र को बनाए रखने को प्राथमिकता देने की दृष्टि से (संरचनावादी एवं प्रकार्यवादी), दोनों ही, वैयक्तिक पहल को हतोत्साहित करते हैं। **मैक्स वेबर** ने **शक्ति**, **प्राधिकार** तथा **विधि सम्मतता** में अंतर करते हुए एक बहुआयामी दृष्टिकोण को पसंद किया और सामाजिक संरचनाओं को प्रचालित करने के लिये व्यक्तियों को महत्व दिया। **कार्ल मार्क्स** ने **संरचना** को **वर्ग-स्तरों** के रूप में माना जिसमें आर्थिक निमित्तों पर जोर दिया जाता है और उन्हीं पर क़ानूनी-राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक तंत्रों का निर्माण किया जाता है। विभिन्न दृष्टिकोण से सामाजिक संरचनाओं को समझ लेने के बाद हमने इस विषय पर विचार किया कि संरचनाओं का विभाजन किस प्रकार किया जाता है। इसी को स्तरीकरण कहते हैं। स्तरीकरण के अध्ययन की आवश्यकता इसलिये है कि **अरस्तू** के अनुसार इससे **लोकतांत्रिक सरकार का गठन** व्यवहार्य हो जाता है और **लेनिन** के अनुसार इससे **समाजवाद की स्थापना** संभव हो पाती है।

मार्क्स ने **समाज** को, **आर्थिक गतिविधियों** पर आधारित **विभिन्न वर्गों** में विभाजित किया और वर्ग-चेतना या किसी विद्यमान वर्ग सामान्य संपत्ति की संभावनाओं को खोजा। मार्क्स का अनुगमन करते हुए **ऐण्टोनियो ग्राम्स्की** ने समाज में प्रभावी वर्गों के व्यवहार का विशेषण किया और इस संबंध को **'आधिपत्य** (हैगेमनी)' नाम दिया। **मैक्स वेबर** ने **स्तरीकरण** की व्याख्या **वर्ग**, **प्रतिष्ठा** तथा **शक्ति** के आधार पर की और किसी वर्ग के गठन के लिये उसने वर्ग-चेतना को आवश्यक नहीं माना। उसने **वर्ग** (सामान्यीकृत), **प्रतिष्ठा** (वैयक्तिक) तथा **शक्ति** (विरोध के बावजूद किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की मनुष्य की इच्छा या क्षमता) में अंतर किया किंतु यह भी माना कि इन तीनों सामाजिक कोटियों में **अभिसरण** (एकबिंदुमुखी) होने की प्रवृत्ति भी होती है। **ऐमिले डरखीम**, **डेविस**, **टैल्कॉट पार्सन्स** और **रॉबर्ट मेर्टन** आदि प्रकार्यवादी विचारकों को सामाजिक स्तरीकरण में बहुत

MAADHYAM IAS

आशा दिखाई दी क्योंकि इसके द्वारा वर्तमान जटिल समाज में सदस्यों (व्यक्तियों) को आगे बढ़ने के लिये आवश्यक पदों, भूमिकाओं और लक्ष्यों को प्राप्त करने के अवसर प्रदान किए जाते हैं। भूमिकाएँ वैयक्तिक स्वत्वों पर आधारित होती हैं, गुण (या विशेषताएँ) जन्मजात होते हैं तथा निष्पादन, सेवाओं (या कार्यों) पर आधारित होते हैं। वे समाज में नैतिक चेतना तथा विनियम द्वारा समर्थित एकीकृत व्यक्तित्व एवं सामाजिक एकात्मता पर ज़ोर देते हैं। उनके लिये इस प्रकार का स्थायित्व लाने वाले अभिकर्त्ता, नैतिक चेतना, धर्म तथा नियम एवं विनियम होते हैं।

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Beteille A., 1969: *Caste, Class and Power : Changing Patterns of Classification in Tanjore Village*, Bombay, Oxford University Press.

Giddens A., 1979: *Central Problems in Social Theory : Action, Structure and Contradiction in Sociul Analysis,* London, Macmillan.

Sharma *K.L., 1997: Social Stratification in India, Issues und Themes*, New Delhi, Sage

Turner J., 1984: *Societal Stratification : A Theoritical Analysis,* New Yorlc, Columbia University Press.

9.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सामाजिक संरचना एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ सामाजिक जीवन के तत्वों को परस्पर संयोजित किया जाता है। वे स्थायी एवं संगत होते हैं।

2) क।

बोध प्रश्न 2

1) प्रकार्यवादियों या सरंचनात्मक प्रकार्यवादियों के अनुसार, सामाजिक संरचनाएँ, नागरिकों/सदस्यों की वैयक्तिक भूमिकाओं से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। वे किसी सामाजिक संरचना के मानकीकृत व्यवहार तथा नियमों पर अधिक ज़ोर देते हैं और किसी सामाजिक संरचना को एकजुट रखने की चिंता अधिक करते हैं। उनके मत से सामाजिक तथ्यों की छानबीन की जानी चाहिए। उनके मत में वैयक्तिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों पर विशेष बल दिया जाता है। अतः (समाज की) विद्यमान व्यवस्था को बनाए रखना उनका प्रमुख उद्देश्य होता है।

2) मार्क्सवादियों की समझ में सामाजिक वर्ग, उत्पादन के साधनों एवं संपूर्ण सामाजिक उत्पादन के साथ, सामाजिक अभिकर्त्ताओं के (आर्थिक) संबंधों पर आधारित होते हैं। राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैधानिक और सैद्धान्तिक क्षेत्र, आर्थिक आधार पर एक ऊपरी ढाँचा खड़ा करते हैं। वर्ग-संघर्ष या राजनीतिक संघर्ष को वे वर्ग-रचना का निर्धारक मानते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) ग
2) औद्योगिक समाज में मूल्यों के एक समुच्चय के पालन तथा श्रम के विभाजन पर ज़ोर दिया जाता है जिससे व्यक्ति उसके प्रति विद्रोही हो उठता है। एकीकृत के व्यक्तित्व के विकास के लिये एक स्थायी समाज की आवश्यकता होती है। ऐसा समाज केवल तभी संभव हैं जब नैतिक सहमति हो तथा मानकों का निर्वाह किया जाए या इस क्रम को उलट कर कहा जाए।

MAADHYAM IAS

इकाई 10 वर्गीय संरचना

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 वर्गीय संरचना का इतिहास

- 10.2.1 खेतिहर वर्गीय संरचना
- 10.2.2 औद्योगिक वर्गीय संरचना

10.3 वर्गीय संरचना के सिद्धान्त

- 10.3.1 मार्क्सवादी सिद्धान्त
- 10.3.2 वेबरवादी सिद्धान्त

10.4 नए विकासक्रम

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में वर्गीय संरचना के सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं की विवेचना की गई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः

- वर्ग शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर सकेंगे;
- वर्गीय संरचना की प्रक्रिया को दिखा सकेंगे;
- वर्गीय संरचना के सिद्धान्तों को निरूपित और व्याख्यायित कर सकेंगे;
- नए विकासक्रमों की पहचान कर सकेंगे; तथा
- विभिन्न समाजों की वर्गीय संरचनाओं की तुलना कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

10.1 प्रस्तावना

आम बोलचाल में हम वर्ग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में करते हैं। हम उच्च, मध्य और निम्न वर्गों की, संपत्तिशाली और संपत्तिहीन वर्गों की, उत्पादक और अनुत्पादक वर्गों की, शिक्षित और अशिक्षित वर्गों की बात करते हैं। लेकिन इस संदर्भ में वर्ग शब्द लगभग अर्थहीन है; इससे सिर्फ यह पता चलता है कि व्यक्तियों के समूहों के पास कुछ साझी विशेषताएँ होती हैं। इस धारणा को एक निश्चित रूपरेखा तथा वैज्ञानिक उपयोगिता देने के लिए आवश्यक है कि **वर्ग** शब्द एक ऐसे समूह का सूचक हो जिसकी साझा विशेषताएँ पूरी तरह सुनिश्चित और पूर्व-निर्धारित हों।

वर्गों की धारणा का अनिवार्य तत्व क्या है, इस प्रश्न पर लिखने वाले लेखक मोटे तौर पर दो श्रेणियों में आते हैं -- एक तो वे जो **वस्तुनिष्ठ तत्वों** को वर्ग का आधार मानते हैं और वे जो **मनोनिष्ठ तत्वों** का चयन करते हैं। पहली श्रेणी में लेखक **उत्पादन के साधनों** के **स्वामित्व** या **अ-स्वामित्व** को वर्ग का आधार मानते हैं; यह धारणा मूलतः **मार्क्सवादी** है। दूसरे लेखक **सामान्य जीवन** स्तर पर जोर देते हैं; उनका कथन है कि आधुनिक समाज में वर्ग जिन तत्वों से बनता है वे किसी विशेष जीवन स्तर के अंदर सामान्यतः एक जैसे होते हैं। दूसरे वस्तुनिष्ठ तत्वों के चयन भी किए गए हैं। उदाहरण के लिए **मैक्स वेबर** ने वर्ग की धारणा के लिए (1) आर्थिक साधनों के स्वामित्व, (2) बाह्य जीवन स्तर तथा (3) सांस्कृतिक और मनोरंजन संबंधी संभावनाओं को आधार बनाया।

मनोनिष्ठवादियों के अनुसार वर्ग वे समूह हैं जिनकी **आय के स्रोत एक जैसे** होते हैं तथा जिनके **आर्थिक हितों में समानता** होती है। इस धारणा में मनोनिष्ठ तत्व हितों व दृष्टिकोणों का समुदाय है जिसकी जड़ें किसी विशेष काल के आर्थिक ढाँचे में होती हैं। इस दृष्टि में साझे हित, साझी विचारधारा, एकजुटता की साझी चेतना की प्रधानता होती है। दूसरे सिद्धांतकार किसी समूह को प्राप्त सम्मान के परिमाण को अनिवार्य मानते हैं और इस तरह वर्गों को मूलतः **प्रतिष्ठा पर आधारित** श्रेणीकरण बना देते हैं।

10.2 वर्गीय संरचना का इतिहास

आदिम समाजों में **धन के संग्रह** या **असाधारण हस्तकौशल** के प्रदर्शन के आधार पर, **पुश्तैनी अभिजात्य** और **पुरोहिती** के आधार पर कुछ व्यक्ति अक्सर बाकी समुदाय से अलग माने जाते थे; ये ही स्थितिगत पहचान के साझे आधार भी थे। **यूनान** और **रोम** में स्थितियों पर आधारित इस समाज से वर्गीय समाज में रूपांतरण सातवीं और छठी सदी ईसा-पूर्व में हुआ।

यूनान में पहला वर्ग संघर्ष भूस्वामी अभिजातों के विरोध में लड़ा गया। इस व्यवस्था में ऋण दासता का कारण बनता था और किसान वर्ग अभिजातों का भारी कर्जदार था। इसी संघर्ष ने सोलोन के विधान को जन्म दिया तथा नागरिकों के एक अत्याधिक व्यापक दायरे को राजनीतिक अधिकार और सार्वजनिक पद दिए गए। इन सुधारों ने भूस्वामी अभिजातों को उनकी वैधानिक मान्यता से वंचित कर दिया और इस तरह स्थिति के भेदों को वर्ग के भेदों में रूपांतरित कर दिया। **फारस** के साथ हुए युद्धों के बाद होने वाले **औद्योगिक** और **व्यापारिक विकास** क्रमों के साथ निजी संपत्ति अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गई और वर्गों के टकराव में उसी के अनुरूप परिवर्तन आए।

मूलतः इसी से मिलता-जुलता विकासक्रम **रोम** में हुआ। स्थिति के आधार पर **सामाजिक विभेदीकरण** हुआ। राजनीतिक शक्ति भूस्वामी अभिजातों के हाथों में केन्द्रित हो गई। उनके विरोध में **प्लेबियन समूह** खड़ा हुआ। हालांकि वे स्वतंत्र थे, पर उनको राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। यह व्यवस्था क्रमशः टूटी और वर्गों में विभेदीकरण का रास्ता तैयार हुआ। यह संक्रमण जब पूरा हुआ तो रोम के सामाजिक संगठन का विकास इस तरह जारी रहा कि वर्गीय ढाँचे की रूपरेखाएँ स्पष्ट होनी लगीं। अधिकतर युद्धों के कारण तथा दूसरे देशों से आने वाले अनाजों की प्रतियोगिता के कारण किसान वर्ग टूटने लगा। भूमि और जीविका से वंचित होकर किसान बड़ें नगरों में आ पहुँचे। यहाँ वे एक विशाल **सर्वहारा** वर्ग के अंग बन गए जो सार्वजनिक दानों और खैरातों पर किसी तरह जी रहा था। इस तरह सुनिश्चित संपत्तिशाली वर्ग पैदा हुए और संपत्ति के वितरण में घोर असमानताएँ नजर आने लगीं।

MAADHYAM IAS

मध्य युग में सामंती व्यवस्था स्थिति पर आधारित एक सामाजिक संगठन की सूचक थी। बाजार और व्यापार के लिए होने वाले उत्पादन का महत्व बढ़ा तथा **मौद्रिक अर्थव्यवस्था** का जन्म हुआ तो स्वतंत्र और कम स्वतंत्र के बीच श्रेणीकरण पैदा हुआ। न तो श्रेणियाँ स्थायी व अपरिवर्तित रहीं और न वर्ग रहे। वे उपसमूहों में विघटित होने लगे। इस तरह अस्वतंत्र लोगों के बीच भी श्रेणियाँ पैदा होने लगीं।

नगरों और व्यापार के विकास के साथ अभिजातों और किसानों के साथ **बर्गरों** का एक नया व्यावसायिक वर्ग भी पैदा हुआ। **पद** और **व्यवसाय** क्रमशः सामाजिक स्थिति का निर्धारण करने लगे। **जन्म** के आधार पर अत्यंत विविधि श्रेणियों के सदस्यों के लिए भी-- यहाँ तक कि अस्वतंत्र और स्वतंत्र व्यक्तियों के लिए भी -- ऊँचे सामाजिक स्तर तक पहुँचना संभव हुआ। इस नए तत्वों ने पुराने तत्वों को तुरन्त विस्थापित नहीं किया; दोनों अनेक सदियों तक साथ-साथ जारी रहे। जहाँ ये नए वर्ग व्यावसायिक थे, वहीं वे आरंभ से ही काफी बेलोच रहे। लेकिन संपत्ति और व्यवसाय जन्म और वंश के तत्वों को लगातार विस्थापित करते रहे।

यह **विकास** सभी यूरोपीय राज्यों में मूलतः एक जैसा था। फिर भी इसके ढंग और समय में अंतर थे। खासकर **इटली** के **नगर - राज्यों**, **इंग्लैण्ड** और **फ्रांस** में वर्गीय संगठन दूसरे देशों से पहले पैदा हुआ। इंग्लैण्ड में धनी सौदागर वर्ग 17वीं सदी के अंत तक संसद में एक प्रभावशाली स्थान बना चुका था। फ्रांस में उन्हीं दिनों अनेक बर्गर ऊपर आकर कुलीन बन गए तथा 1715 के बाद तो वे कुलीन वर्ग की जागीरें खरीदने लगे।

10.2.1 खेतिहर वर्गीय संरचना

ऐतिहासिक रूप से अनेक देशों के ग्रामीण क्षेत्र आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की घोर असमानताओं से ग्रस्त थे। भारी ग्रामीण आबादियों तथा प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन कर रही अर्थव्यवस्थाओं वाले अनेक देशों में ऐसी असमानताएँ दिखाई देती रहीं।

खेतिहर वर्ग व्यवस्थाओं की अनेक श्रेणियाँ हैं। गृह युद्ध से पहले अमेरिका में पाई जाने वाली **दास-प्रथा** इसका घोर रूप थी क्योंकि इसमें भूमि का स्वामित्व पूरी तरह एक प्रभुत्वशाली वर्ग तक सीमित था और एक पराधीन वर्ग के क्रम पर उसका पूर्ण नियंत्रण था। दूसरी श्रेणी **सामंती व्यवस्थाओं** की है जो मध्यकालीन यूरोप और उपनिवेशी लैटिन अमेरिका में पाई जाती थीं। ऐसी व्यवस्थाओं में भूस्वामी मुख्यतः अपनी स्थिति और शक्ति में वृद्धि के लिए **भूमि का संचय** करते हैं। वे भूमि पर एकाधिकार कायम करके एक स्थिर और भरोसे-योग्य **श्रम-बल** सुनिश्चित करते हैं। भूमि और श्रम पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए ये भूस्वामी कर्जदारी, खुले बल प्रयोग, परंपरागत सामाजिक दायित्वों और सम्मान के मानकों का उपयोग करते हैं।

19वीं सदी के अंतिम भाग में दक्षिण-पूर्व एशिया उपनिवेशी क्षेत्रों में विकसित होने वाला **कृषक पूँजीवाद** इसकी एक **तीसरी श्रेणी** है। इसकी विशेषता बागान में उत्पादन है तथा यह पराधीन वर्गों पर प्रभुत्व बनाए रखने के लिए भूमि पर एकाधिकार का तथा दास-श्रम, बंधुआ श्रम या उज़रती श्रम (वेज़ लेबर) का उपयोग करता है। मैक्सिको और ब्राजील के कुछ भागों की तरह जहाँ बड़े पैमाने पर पूँजीवादी कृषि का विकास हुआ है वहाँ उत्पादक भूमि बड़े भूस्वामियों का एकाधिकार बन गई हैं तथा उजरती श्रम ने बंटाईदारी की जगह ले ली है। जहाँ छोटे पैमाने के पूँजीवादी फार्म बने हैं वहाँ भूमि और श्रम के बाज़ार अधिक मुक्त हैं तथा वहाँ बल प्रयोग कम होता है।

विशाल कृषि क्षेत्र वाले देशों के अधिकांश क्षेत्रों में पूँजीवाद कृषि में उत्पादन की प्रमुख

MAADHYAM IAS

पद्धति बन चुका हैं। पूँजीवादी उत्पादकों ने उत्पादक भूमि की बड़ी-बड़ी जोतें बना ली हैं, यंत्रीकरण और दूसरी उन्नत प्रौद्योगिकियों के सहारे श्रम को विस्थापित किया है। वे अब एक बसा-बसाया श्रम बल बनाने की बजाय व्यस्त दिनों में ही किराये पर मज़दूर रखते हैं। इस प्रक्रिया के अनेकों परिणाम निकले हैं। छोटे भूस्वामियों के लिए उपजाऊ भूमि अधिक दुर्लभ हो गई है, ग्रामीण निर्धनों में भूमिहीनता बढ़ी है तथा उजरती मज़दूर अधिक गतिशील और असुरक्षित हो गए हैं। यह भी आशा की जा रही थी कि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप छोटे भूस्वामी और किसान समुदाय अंततः नष्ट हो जाएँगे, भूमि से अलग कर दिए जाएँगे तथा एक ग्रामीण या नगरीय श्रम बल के अंग बन जाएँगे।

लेकिन छोटे भूस्वामियों व किसान समुदायों ने पूँजीवाद के प्रसार के बीच जीवित रहने की भारी क्षमता दिखाई है। परिवार के स्तर पर छोटे भूस्वामियों ने अपनी आय के स्रोतों का विविधीकरण किया है। उत्पादन या विपणन के लिए साथ मिलकर कुछ तो पूँजीवादी उत्पादकों से भी मुकाबला कर रहे हैं। कुछ मिसालों में ग्रामीण उत्पादकों ने सहकारी समितियाँ आदि बना ली हैं जो उन्हें बाज़ारों के लिए बड़े भू-स्वामियों से प्रतियोगिता में समर्थ बनाती है।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के दशकों में राज्य का प्रसार खेतिहर वर्गीय संरचना को प्रभावित करने वाला एक और विकासक्रम है। ग्रामीण क्षेत्रों में राज्य, स्थानीय कृषि अनुसंधान संस्थान, विपणन की एजेंसी, ग्रामीण ऋण बैंक, उचित मूल्य की दुकान, विद्यालय, दवाखाना, लोक निर्माण कार्यालय व अन्य संस्थानों के रूप में मौजूद है। ग्रामीण क्षेत्रों में राज्य का काफी कुछ हस्तक्षेप वस्तुओं या सेवाओं के रूप में होता है जो चुनिंदा व्यक्तियों, समूहों या समुदायों को प्रदान किए जाते हैं। खुली और लोकतांत्रिक दलीय प्रतियोगिता की स्थितियों में राजनीतिज्ञ कभी-कभी खेतिहर सुधार और ग्रामीण विकास की नीतियाँ अपनाने का वादा करके या ऐसी नीतियों को बढ़ावा देकर ग्रामीण समूहों का समर्थन पाने की प्रतियोगिता करते हैं। फलस्वरूप आज ग्रामीण वर्गीय संरचना भूस्वामित्व और श्रम के उपयोग के प्रतिमानों से अधिक कुछ बातों से भी निर्धारित होती दिखाई देती है। यह ग्रामीण भूस्वामियों और विकासकारी राज्य के बीच के शक्ति-संबंधों से तथा राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियों में पराधीन वर्गों के एकीकरण के तरीकों पर भी निर्भर होती है।

10.2.2 औद्योगिक वर्गीय संरचना

पिछले उपभाग में हमने ग्रामीण क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों के बारे में पढ़ा। इस उपभाग में हम नगरों की सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं में हो रहे परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे। 19वीं सदी के आरंभ में ही धन के वितरण में हो रहे परिवर्तन वर्गीय संरचना को निर्धारित करने लगे थे। पूँजीवाद और बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के साथ आर्थिक तत्व-- मुख्यतः संपत्ति का स्वामित्व -- ने वर्गीय सदस्यता के निर्धारण में पहले से बड़ी भूमिका निभाई। सामाजिक तत्व लगभग पूरी तरह आर्थिक तत्वों पर आधारित थे।

MAADHYAM IAS

19वीं सदी के अंतिम और 20वीं सदी के प्रारंभिक भागों में रूस, फिनलैण्ड और जर्मनी जैसे निरंकुश समाजों में अत्यंत तीखे वर्ग संघर्ष चले जहाँ अभिजात वर्गों ने विरोध का दमन करके अपनी शक्ति को मज़बूत बनाने के प्रयास किए।

इसके विपरीत इंग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड जैसे सुस्थापित उदार स्वतंत्रताओं और प्रभावी प्रतिनिधिक संस्थाओं वाले देशों में वर्ग संघर्ष कम हिंसक रहा। इन देशों में मज़दूरों को मताधिकार मिलने से उनमें सामाजिक और राजनीतिक संबद्धता की अधिक भावना पनपी। राजनीतिक संगठन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ने मज़दूरों को वैध उपायों से अपनी माँगें मनवाने के लिए दबाव डालने का अवसर दिया।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के दौर में काम की दशाओं में सुधार और राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप अधिकांश पाश्चात्य समाजों में औद्योगिक टकराव में सार्थक कमी आई। **कीन्ज़** के 'मांग के प्रबंध' पर आधारित सुधारों, नए और विस्तारित कल्याण कार्यक्रमों तथा मज़दूरी की मांगों और मुद्रा स्फीति पर अंकुश लगाने के लिए तैयार की गई सहमतिमूलक नीतियों ने वर्गीय संरचना पर स्पष्ट प्रभाव डाले।

लेकिन विश्वयुद्ध के बाद के ये विकास क्रम अलग-अलग देशों में, अलग-अलग सीमाओं तक हुए। वर्गीय सहमति आदि और मध्य यूरोप में सबसे अधिक तथा दक्षिणी यूरोप और आंग्ल-अमेरिकी लोकतंत्रों में सबसे कम रही। सत्तरोत्तरी दशक के अंत तक उत्तरी तथा मध्य यूरोप में, खासकर स्वीडेन, नार्वे, आस्ट्रिया में (तथा बेल्जियम, लुक्जेमबर्ग और नीदरलैण्ड में भी) श्रम बाज़ार में मज़दूर वर्ग का संगठन ज़ोरदार था। इन देशों में समाजवादी पार्टियाँ नियमित रूप से सरकारों में भी भाग लेती रहीं। इस भागीदारी ने ट्रेड यूनियनों को एक राजनीतिक अवसर दिया कि वे राज्य की अनुकूल कार्रवाई के बदले श्रम-बाज़ार में अपनी माँगों में नर्मी लाएँ। यूनियनों के लिए कानूनी संरक्षण, पूर्ण रोज़गार की आर्थिक नीतियों तथा कल्याणकारी व समतावादी सामाजिक नीतियाँ इस कार्रवाई में शामिल थीं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणीः क) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के साथ अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) वर्ग के वस्तुनिष्ठ आधारों को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

2) खेतिहर वर्गीय संरचना की तीन श्रेणियाँ कौन-कौन सी हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) औद्योगिक समाजों के वर्ग संघर्षों की तुलना कीजिए।

....

....

....

....

10.3 वर्गीय संरचना के सिद्धांत

अभी तक हमने वर्गीय संरचना के ऐतिहासिक पक्षों की विवेचना की है, जैसे कि वर्गों का निर्माण कैसे हुआ और विभिन्न संदर्भों में वे किस प्रकार विकसित हुए। अब हम वर्गीय संरचना के बारे में अपनी समझ में वृद्धि के लिए वर्गों और वर्ग संघर्ष संबंधी सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। सिद्धान्त के क्षेत्र में मार्क्सवादियों और ग़ैर-मार्क्सवादियों के बीच भयानक असहमति है। कुछ की राय में वर्ग का संबंध संपत्ति से तो दूसरों की राय में शक्ति से हैं। कुछ अन्य भी हैं जो संवर्ग, संपत्ति और मूल्यों को परस्पर संबंधित मानते हैं। कुछ अन्य लोग वर्ग का संबंध वर्गीय चेतना से जोड़ते हैं।

विकासशील पूँजीपति वर्ग के तथा कामकाजी जनता से उसके संबंध के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देने के कारण मार्क्सवादी परंपरा आज भी उतनी ही उपयोगी है, खासकर जबकि पूँजीवादी उत्पादन का भूमंडलीकरण हो रहा है। लेकिन मार्क्सवादी वर्गों से भिन्न दूसरे सामाजिक समूहों पर कम ही ध्यान देते हैं। **व्यापक वर्गीय समूहों के अंदर सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक विखंडन** पर जोर देने वाली वेबरवादी परंपरा की अंतःदृष्टि सिद्धान्त संबंधी कुछ कमियों को पूरा करती है। उत्तर-औद्योगिक सिद्धान्त बेरोज़गार समूहों के अस्तित्व पर रौशनी डालते हैं। वे एक अलग वर्ग के रूप में ऐसे बेरोज़गार समूहों की पहचान करने के प्रयास करते हैं जिनकी अपनी अनोखी आर्थिक स्थिति होती है। ये सिद्धान्त बेरोज़गार समूहों की पहचान मज़दूर वर्ग के एक भाग के रूप में ही करते हैं।

10.3.1 मार्क्सवादी सिद्धांत

मार्क्स के अनुसार एक वर्ग तभी बनता है जब वह **अपने वर्गीय हितों की रक्षा के लिए एकजुट और संगठित** होता है। **साझे संघर्ष के बिना** वह ऐसे जनसमूह से अधिक कुछ भी नहीं जिसकी आर्थिक व्यवस्था में एक जैसी स्थिति हो। पूँजीपति वर्ग ने अपनी वर्गीय चेतना का विकास इस तरह किया कि सामंतवाद से संघर्ष के दौरान उसमें अपने सदस्यों के साझे हितों की जागरूकता थी। पूँजीवाद समाज का शासक वर्ग मौजूदा व्यवस्था की रक्षा की साझी आवश्यकता को भी समझता है। हालांकि यह वर्ग अनेक आंतरिक, गिरोहबंद टकरावों के कारण बंटा हुआ है।

सर्वहारा के लिए एक वर्ग होने की चेतना पाने का संघर्ष एक लम्बी प्रक्रिया है। जैसा कि **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में कहा गया है, अपने जन्म के समय से ही सर्वहारा पूँजीपति वर्ग से संघर्ष करता आया है। लेकिन आरंभ में स्थानीय शोषकों के तथा स्थानीय पूँजीपतियों के खिलाफ केवल छिटपुट, स्थानीय संघर्ष ही चले। उद्योगों के विकास के साथ सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ती है तथा वह अधिकाधिक केन्द्रित होता जाता है। पूँजीपति वर्ग के साथ सर्वहारा वर्ग के टकराव धीरे-धीरे दो वर्गों के टकरावों का रूप लेते जाते हैं। मज़दूर संगठित होने लगते हैं; वे गठजोड़ और स्थायी संगठन बनाने लगते हैं। स्थानीय संघर्ष केन्द्रीकृत होकर वर्गों के बीच एक राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले लेते हैं। पूँजी के दृष्टिकोण से मज़दूरों का समूह पहले ही एक वर्ग था लेकिन सर्वहारा संघर्ष के दौरान ही 'निज-हेतु' एक वर्ग बनता है। वर्ग से वर्ग का संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है।

संघर्ष में ही **सर्वहारा अपनी वर्गीय चेतना को विकसित और व्यक्त करता है।** मार्क्स के लिए इसका बुनियादी अर्थ यह था कि सर्वहारा यह बात समझ लेता है कि उसकी अपनी मुक्ति तथा पूरे समाज की मुक्ति के लिए पूँजीवाद का विनाश आवश्यक है, और वह उसके

MADHYAM IAS

विकास की इच्छाशक्ति विकसित करता है। **सर्वहारा की वर्गीय चेतना एक क्रांतिकारी चेतना होती है।** सर्वहारा को विश्वास होता है कि समाज का क्रांतिकारी रूपातंरण आवश्यक है, और वह उसके लिए प्रतिबद्ध है। **मार्क्स** और **एंगेल्स** की राय में वर्गीय चेतना का अर्थ इसी सामान्य क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य की चेतना है।

इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं कि मज़दूर मार्क्सवादी सिद्धान्तों को दिलों में बिठाए हुए हैं। घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने कहा कि कम्युनिस्ट कोई अलग पंथ नहीं हैं, बल्कि वे हमेशा और हर जगह पूरे आंदोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सर्वहारा का आंदोलन किस दिशा में बढ़ना चाहिए, इसके बारे में उनकी समझ सबसे उन्नत होती है। लेकिन उनका और दूसरी सर्वहारा पार्टियों का तात्कालिक उद्देश्य एक हैः एक वर्ग के रूप में सर्वहारा का रूपांतरण तथा पूँजीवादी प्रभुत्व की समाप्ति।

लेकिन मार्क्स एक बात बार-बार कहते हैंः *'मज़दूर वर्ग की मुक्ति स्वयं मज़दूर वर्ग का कार्य होना चाहिए।'* मार्क्स को आशा थी कि **सर्वहारा स्वयं में आवश्यक क्रांतिकारी चेतना का विकास करेगा और स्वयं को मुक्त कराएगा।** इसलिए **मज़दूर वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष के लिए संगठन की** आवश्यकता है। ट्रेड यूनियनें और पार्टी मज़दूर वर्ग के संगठन के प्रमुखतम रूप हैं।

लेकिन इतिहास में क्या हुआ? भारी कठिनाई औद्योगिक मज़दूरों की इस स्पष्ट असफलता से पैदा हुई कि वे अनुमानित ढंग से कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं कर सके। वर्ग के सिद्धान्त से पैदा भविष्यवाणियों तथा ऐतिहासिक विकासक्रम की वास्तविक प्रवृत्ति का अंतर बहुत साफ तौर पर 1917 में रूस की अक्टूबर क्रांति से स्पष्ट हुआ। **इस विरोधाभास पर गौर करें।** *समाजवादी रूपांतरण के मार्क्सवादी वचन को पूरा करने का दावा करने वाली क्रांति एक ऐसे समाज में हुई जहाँ पूँजीवादी विकास बहुत कम हुआ था, जबकि औद्योगिक मज़दूरों की बड़ी आबादियों वाले सचमुच पूँजीवादी देशों में समाजवादी क्रांति के सारे प्रयास असफल रहे।* सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जो चीज एक हैरान करने वाली असंगति या इतिहास का विरोधाभास दिखाई पड़ती थी, उसने मार्क्सवादी विचारकों में और अधिक रुचि पैदा की। उनका सरोकार यह था कि पहले का अनुमान साकार क्यों नहीं हुआ।

ये सिद्धांतकार कौन थे और उन्होंने क्या काम अंजाम दिए, इसका अध्ययन हम नीचे के अनुच्छेदों में करेंगे।

इन सिद्धान्तकारों में पहले व्यक्ति लुकास थे। उनके 'मिथ्या चेतना' के सिद्धान्त ने 'वर्ग की चेतना' और 'वर्गीय चेतना' में अंतर किया। पहले का संबंध वर्ग के सदस्यों के उन विचारों और उत्प्रेरकों से हैं जो उनकी दैनिक जीवन संबंधी अनुभवहीनता से पैदा होते हैं। दूसरे का विकास उस सामाजिक प्रणाली से संबंधित सूचनाओं की समग्रता का एक बुद्धिसंगत अध्ययन करके और उसके बाद ही किया जा सकता है जिसके वे सदस्य हैं। **लुकास** की राय में पहले से दूसरे में संक्रमण स्वतः नहीं होता, आदर्श 'वर्गीय चेतना' के निर्माण के लिए आवश्यक सूचना वैयक्तिक अनुभव के अंदर उपलब्ध नहीं होती क्योंकि वह अनुभव रोजमर्रा के जीवन-रक्षा के कार्यों से बाधित होता है। केवल वर्ग के सदस्यों के राजनीतिक संगठन द्वारा किया गया एक वैज्ञानिक विश्लेषण ही वर्गीय चेतना पैदा कर सकता है। यहीं आकर विचारधारा की एक सक्रिय भूमिका हो जाती है।

MAADHYAM IAS

इसी से जुड़ी एक और बहस में मार्क्सवादी वर्षों तक उलझे रहे हैं। इसका संबंध मज़दूर वर्ग की संरचना से है। वर्ग की व्याख्या के लिए **निकोलस पोलंतज़ास** ने एक व्यापक ढांचा तैयार किया और यह निष्कर्ष निकाला कि मज़दूर वर्ग पूरी तरह उत्पादक, अधीनस्थ, हाथ से मेहनत करने वाले उज़रती मज़दूरों से बना होता है। जहाँ उत्पादक श्रम अतिरिक्त मूल्य

पैदा करता है वहीं अनुत्पादक श्रम, मिसाल के लिए सरकारी कर्मचारियों, सेवाकर्मियों या प्रशासकों को इसी स्रोत से भुगतान किया जाता है।

10.3.2 वेबरवादी सिद्धान्त

इस भाग में हम केवल मैक्स वेबर नहीं, उनकी परंपरा का अनुसरण करने वाले विचारकों, जैसे **एंथनी मिडिंस**, के विचारों का भी अध्ययन करेंगे।

मैक्स वेबर ने सिर्फ वर्ग का सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया बल्कि दो अन्य धारणाएँ भी प्रस्तुत कीं, अर्थात् स्थिति समूह (स्टेटस ग्रुप) और पार्टी की धारणाएँ। उनकी राय में वर्ग ऐसे लोगों का समूह है जिनकी वस्तुगत स्तर पर, बाज़ार में स्थिति या बाज़ार की शक्ति की दृष्टि से, एक जैसी स्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि इन लोगों को जीवन के एक जैसे अवसर प्राप्त होते हैं। इसका निश्चय उन संसाधनों के उपयोग की शक्ति से होता है जिन पर बाज़ार में आय पाने के लिए उनका नियंत्रण होता है। वेबर ने 'जीवन के अवसर' (लाइफ चांसेज) शब्दों का प्रयोग केवल भौतिक लाभों के लिए नहीं बल्कि तमाम वांछित वस्तुओं के लिए किया है, जैसे अवकाश, यात्रा, संस्कृति आदि। वेबर मानते हैं कि संपत्ति के वितरण का ढर्रा वर्ग की संरचना के मूलभूत और आम आधारों में एक है। लेकिन वेबर की राय में संपत्ति का स्वामित्व या अस्वामित्व किसी वर्गीय स्थिति का मात्र एक मानदंड होता है। **स्वामित्व वाली संपत्ति के प्रकार** या **पेश की जाने वाली कुशलता या सेवा** के आधार पर वर्गों में आगे भी विभाजन होते हैं।

वर्ग और स्थिति समूह का आपस में गहरा संबंध होता है। वेबर कहते हैं कि वर्गीय स्थिति को निरूपित करने के अलावा संपत्ति का प्रयोग अक्सर एक स्थिति समूह की सदस्यता के मानंदड के रूप में भी किया जाता है। आम तौर पर स्थिति को एक सुस्पष्ट जीवन-शैली तथा ग़ैर-सदस्यों से सामाजिक अंतःक्रिया संबंधी प्रतिबंधों को रूप में व्यक्त किया जाता है। बोलचाल का ढंग, वस्त्र, आचार-विचार, आवास, आदतें, अवकाशकालीन कार्यकलाप, विवाह के ढर्रे -- ये सब स्थिति के भेदों की अभिव्यक्तियाँ हो सकते हैं। **वेबर** की राय में एक स्थिति समूह वांछित वस्तुओं को पाने के लिए कुछ विशेष अधिकारों, विशेषाधिकारों और अवसरों से संपन्न समूह होता है। इनका निर्धारण बाज़ार में समूह की स्थिति से नहीं बल्कि कुछ विशेषताओं से होता है जिनका मूल्यांकन क्षमता, प्रतिष्ठा, स्वीकार्यता आदि के आधार पर होता है।

वेबर का कथन है कि *वर्ग और स्थिति समूह, दोनों मूलतः शक्ति पर आधारित होते हैं। वे पार्टी की परिभाषा बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं कि यह ऐसा कोई समूह है जिसका उद्देश्य समाज में शक्ति का व्यवहार करना हो तथा जिसका सरोकार शक्ति पाने की प्रतियोगिता से हो।* यह राजनीतिक दलों के प्रचलित अर्थ से अधिक व्यापक एक धारणा है और इसमें ऐसा कोई भी गठजोड़ या संगठन आ जाएगा जिसका उपरोक्त उद्देश्य हो। एक पार्टी का संबंध किसी विशेष वर्ग या स्थिति समूह से हो सकता है, पर यह कोई आवश्यक नहीं। उपजाति, नस्ल, धर्म या क्षेत्र समेत कोई भी सामाजिक विभाजन एक पार्टी का आधार हो सकता है। हालांकि हो सकता है कि वर्ग, स्थिति और शक्ति एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करें, पर आमतौर पर किसी विशेष प्रकार के समाज में इनमें से किसी एक की प्रधानता होती है।

MADHYAM IAS

एंथनी गिडिंस ने मूलतः वेबरवाद को ही अपनी धारणा का आधार बनाया है। गिडिंस, मार्क्स और वेबर दोनों की तरह वर्ग और आर्थिक क्षेत्र के बीच एक संबंध बनाए रखना चाहते हैं। सामान्य अर्थ में वर्गों की परिभाषा ऐसे बड़े, समाजव्यापी समूहों के रूप में की जा सकती

है जो, कम से कम सिद्धान्त के स्तर पर, 'खुले' हों। तात्पर्य यह कि जन्म, वंशगत स्थिति आदि इसकी सदस्यता का निर्धारण नहीं करते। गिडिंस केवल युद्ध आर्थिक दृष्टि से परिभाषित श्रेणियों की बजाय जिसे वे 'सामाजिक वर्ग' कहते हैं उसको परिभाषित करने के प्रयास करते हैं। कारण कि विभिन्न बाज़ारी क्षमताओं से उत्पन्न हितों की बहुलता अनंत हो सकती है जबकि सामाजिक वर्गों की संख्या सीमित ही होती है।

उनकी राय में समकालीन समाज में बुनियादी तौर पर तीन वर्ग हैं -- उच्च, मध्य तथा निम्न या मज़दूर वर्ग।

वर्गीय संरचना की दृष्टि से आधुनिक पूँजीवाद में श्रम-विभाजन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष वह है जो प्रशासनिक और शारीरिक कार्यों के बीच पाया जाता है। सफेदपोश और सियाहपोश समूहों के काम बहुत भिन्न-भिन्न होते हैं तथा हरेक के पास उपयुक्त कुशलताएँ होती हैं।

दूसरे, उद्यम में सत्ता (अथारिटी) के संबंधों का ढर्रा इस श्रम-विभाजन को बल प्रदान करता है। सफेद-पोश कामों से अक्सर कुछ सत्ता जुड़ी होती है जबकि सियाहपोश कामों से आम तौर पर नहीं होती और ये काम अक्सर सत्ता के अधीन होते हैं। तीसरे, उपभोग के विभिन्न ढर्रे और विभिन्न जीवन-शैली के ये अलग-अलग ढर्रे जहाँ तक विभिन्न समूहों से जुड़े होते हैं, वहाँ तक उन्हें गिडिंस वितरणमूलक समूह बतलाते हैं। वितरणमूलक समूहों के लिए आधार का काम करने वाले इन उपभोग के भिन्न-भिन्न ढर्रों की प्रतिष्ठा जहाँ अलग-अलग होती है, वहीं यहाँ केन्द्रीय मानदंड खुद उपभोग का वास्तविक ढर्रा ही होता है। वर्गीय संबंधों की संरचनाओं के तीन प्रकार जिस सीमा तक एक दूसरे पर आरोपित होते हैं तथा वे वर्गीय संबंधों की मध्यवर्ती संरचना के साथ-साथ जिस सीमा तक चलते हैं, उस सीमा तक विभिन्न वर्गों के निर्माण को बढ़ावा मिलता है।

अंतिम बात। एक सामाजिक वास्तविकता बनने के लिए आवश्यक है कि एक वर्ग व्यवहार व दृष्टिकोण के साझे प्रतिमान अपनाए। इसके लिए स्वयं के एक वर्ग होने के प्रति सजग होना पड़ेगा।

दूसरे वेबरवादी सफेदपोश व्यवसायों की विविधता को स्वीकार करते हुए शारीरिक और मानसिक काम के अंतर को महत्वपूर्ण मानते हैं।

जान गोल्डथार्प एक 11 वर्गों का मॉडल प्रस्तुत करते हैं। लेकिन उनका सुझाव यह है कि इन 11 वर्गों को तीन वर्गों में श्रेणीबंद किया जा सकता है: सेवाकर्मी वर्ग, मध्यवर्ती वर्ग और मज़दूर वर्ग।

सेवाकर्मी वर्ग में प्रबंधक, प्रशासक और पेशेवर (वेतन भोगी अभिजात) तथा 'बड़े संपत्ति-स्वामी' भी आ जाते हैं। सेवाकर्मी वर्ग के नीचे मध्यवर्ती श्रमिकों का एक कम सुगठित समूह आता है जिसमें **गोल्डथार्प** छोटे संपत्ति-स्वामियों, किसानों, मिस्त्रियों, अशारीरिक श्रम करने वाले श्रमिकों या सेवाकर्मी श्रमिकों को शामिल करते हैं। इनमें से अनेक समूहों को मार्क्सवादी सर्वहारा के अंग मानते हैं। जहाँ गोल्डथार्प और दूसरे नव-वेबरवादियों का कथन है कि काम और बाज़ार में मध्यवर्ती समूहों की सुस्पष्ट स्थितियाँ होती हैं, वहीं वे इस समूह की अपक्षय प्रकृति को भी स्वीकार करते हैं और इस तथ्य को भी कि इन व्यावसायिक क्षेत्रों से व्यक्ति बाहर जाते और इसमें आते रहते हैं। अमेरिका और कनाडा के साक्ष्यों से पता चलता है कि निचली श्रेणियों की नौकरियों में अपनी जीवनवृत्ति का आंरभ कर रहे युवक और छात्र भरती होते हैं जो हो सकता है अंततः सेवाकर्मी वर्ग तक पहुँच जाएँ। दूसरी ओर कुछ यूरोपी समाजों में ये नौकरियाँ अपेक्षाकृत आयु के श्रमिक स्वीकार करते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

टिप्पणीः क) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के साथ अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) सर्वहारा की वर्गीय चेतना से क्या अभिप्राय है?

....

....

....

....

2) वेबरवादी सिद्धान्त में 'स्थिति समूह' क्या है?

....

....

....

....

3) गिडिंस के अनुसार वर्ग क्या होता है?

....

....

....

....

4) गोल्डथार्प के अनुसार तीन वर्ग कौन-कौन से हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

10.4 नए विकासक्रम

1970 के दशक के बाद अनेक विकसित समाजों में असमानताएँ व्यापक रूप से बढ़ी हैं। प्रौद्योगिक प्रवर्तन (इनोवेशन) के कारण एक विशेष परिमाण में उत्पादन के लिए अब पहले से कम व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। मिसाल के लिए ब्रिटेन में निचले दर्जे की नौकरियाँ, जो पिछले दो दशकों में व्यावसायिक प्रसार का प्रमुख स्रोत रही हैं, कुल मिलाकर कम वेतन दिलाती हैं, अंशकालिक होती हैं और अक्सर अस्थायी होती हैं। अमेरिका में एक मज़दूर के लिए अपने ही वर्ग में ऊपर उठने या उठकर किसी और वर्ग

में पहुँचने के लिए यूरोप से अधिक अवसर प्राप्त हैं, और उसकी सामाजिक स्थिति को अधिक आदर दिया जाता है।

आज जबकि परंपरागत मज़दूर वर्ग तेज़ी से अपनी क्रांतिकारी क्षमता खोता जा रहा है, एक क्रांतिकारी वर्ग की तलाश में अनेक मार्क्सवादी भी दूसरी ओर निगाह दौड़ाने लगे हैं। परंपरागत मज़दूर वर्ग के पूँजीवादीकरण के कारण कुछ तो परवर्ती पूँजीवाद के तकनीशियनों/अभियंताओं/कंप्यूटर विशेषज्ञों की ओर देखने लगे हैं। कुछ 1968 और उसके बाद के सक्रिय छात्रों में क्रांतिकारी गुण तलाश कर रहे हैं। लेकिन सबसे दूरगामी मोड़ तीसरी दुनिया के उत्पीड़ित जनगणों की ओर निगाह करना था। अगर पश्चिम का मज़दूर वर्ग कमज़ोर और भ्रष्ट हो चुका है वे समझते है कि तीसरी दुनिया के दुबले-पतले और भूखे किसान शहरों को घेरेंगे और सपनों की दुनिया में ले जाएँगे।

लेकिन कुछ तो तीसरी दुनिया के मज़दूरों तक को 'श्रमिक अभिजात वर्ग' मानते हैं जो बिका हुआ और सुधारवादी हैं। वे शहरों की झुग्गी-झोंपड़ियों के 'सीमांत जन' के उपनगर क्रांतिकारी को 'क्रांतिकारी' परियोजना का संभावित रक्षक मानते हैं। उत्तर-मज़दूर वर्ग कर्ताओं की संख्या बढ़ते जाने के कारण कुछ वामपंथियों तक ने 'वर्ग से पीछे हटने' की प्रवृत्ति को रोकने की बात की। ***अर्नेस्तो लैक्लो*** और **शंतल मूफ** जैसे उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने समकालीन सामाजिक संघर्षों की बहुलता तथा राजनीति की असंबद्ध प्रकृति पर जोर दिया है।

ये नए विकासक्रम आज के पूँजीवाद की विविधता और सामाजिक संघर्षों की बहुलता के संकेत हैं। यहाँ वर्ग के साथ और उससे जुड़ा हुआ नस्ल, लिंग, यौन-वृत्ति, धर्म, विकलांगता और क्षेत्र, सब कुछ है। लगता है कि सामाजिक रूपांतरण का कोई नया केन्द्र या स्थान नहीं है। दमन अनेकों प्रकार के हैं तथा प्रतिरोध हर जगह हो रहा है। रूपांतरण की क्षमता एक परिकल्पित सर्वहारा, या किसी और कर्ता के हाथों में केन्द्रित नहीं है बल्कि पूरे समाज में बिखरी हुई है।

ये ही विषय हैं जिन्हें 1980 के दशक के 'नए' सामाजिक आंदोलन - शांति आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन और सबसे बढ़कर महिला आंदोलन - उठाने लगे है। जाहिर है कि औद्योगिक से उत्तर-औद्योगिक समाज में होने वाले संक्रमण ने एक नए सामाजिक टाइप को जन्म दिया है। वितरण संबंधी पुराने टकरावों की जगह अस्मिता (आइडेंटिटी) और समाज के गुणात्मक रूपांतरण जैसे नए सरोकार जन्म लेने लगे हैं। एक तरह से कहें तो अर्थव्यवस्था पर जोर की जगह संस्कृति पर जोर दिया जाने लगा है। इन 'नए' सामाजिक आंदोलनों को शत्रुता के उन नए रूपों का प्रत्युत्तर समझा जाने लगा जो परवर्ती पूँजीवाद में पैदा हुए।

MAADHYAM IAS

ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में, यहाँ तक कि अमेरिका में भी, 'नए संघवाद' की कार्य पद्धतियाँ और रणनीतियाँ फल-फूल रही हैं। यूनियन के अंदर लोकतांत्रिक तौर-तरीकों, लैंगिक समानता तथा परिमाणात्मक की जगह गुणात्मक रणनीतियों संबंधी सरोकार अब पहले से बहुत अधिक आम हैं। राज्य पर केन्द्रित पुरानी रणनीतियों की जगह अब नागरिक समाज की ओर रुझान पहले से बहुत अधिक है। ट्रेड यूनियनें अब यह स्वीकार करने लगी हैं कि मज़दूर वर्ग में दो लिंग हैं और यह कि अतिसरण सूत्रों के सहारे नस्ल (रेस) पर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

और हाल के वर्षों में **भूमंडलीकरण** के विषय ने मज़दूर वर्गों के आलोचनात्मक अध्ययन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर से ऊपर उठकर आर्थिक संबंध सही अर्थों में भूमंडल व्यापी बन चुके हैं। यह एकीकरण की एक प्रक्रिया है जो काम की दुनिया

पर दूरगामी प्रभाव डाल रही है। जैसा कि मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी, पूँजी ने रास्ते में बाधक बननेवाली सभी राष्ट्रीय सीमाओं को परे कर दिया है। पूँजीवाद पूरे भूमंडल के आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक, सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो चुका है। नए 'भूमंडलीय कारखानों' में मज़दूर फिर एक बार मात्र माल बनकर रह गए हैं।

भूमंडलीकरण के साथ-साथ पूँजी प्रौद्योगिकी के एक नए क्षेत्र में कूदकर जा पहुँची है जहाँ सूचना और ज्ञान का साम्राज्य है। उन्नत सूचना प्रौद्योगिकी तथा उससे उत्पन्न काम के पुनर्गठन के कारण और भी पेचीदा ढंगों से कार्य स्थल का विकेंद्रीकरण हो रहा है। हम जहाँ काम करते हैं वह 1980 के दशक तक नजर आने वाले कार्यालय-समूहों और उत्पादन-स्थलों से अधिक बिखरा हुआ है। उद्यम के अंदर यह नया विकेंद्रित कार्यस्थल भी आंतरिक प्रभाव डाल रहा है क्योंकि सोपान (हायरार्की) की जगह अब **नेटवर्क** लेने लगा है।

डेनियल बेल, जान गोल्डथार्प और एलन तोरेन ने 'ज्ञान और वृत्ति' के क्षेत्र के विकास का वर्णन किया है। इसमें शिक्षक, वैज्ञानिक, पेशेवर व्यक्ति, प्रशासक और प्रबंधक शामिल हैं। इस क्षेत्र की तीव्र संवृद्धि ने नए 'सेवाकर्मी' या 'ज्ञान-संपन्न' वर्ग के जन्म की दशाएँ पैदा की हैं। यह वर्ग अपने राजनीतिक हितों को किस प्रकार निरूपित, संगठित और व्यक्त करेगा, इसके बारे में अलग-अलग विचार हैं। **तोरेन** का तर्क है कि यह नया वर्ग पुराने मज़दूर वर्ग से एक गठजोड़ कायम कर सकता है। वहीं **गोल्डथार्प** इस बात पर जोर देते हैं कि इस नए वर्ग के व्यक्तियों के हित उत्पादन-प्रक्रिया में उनकी स्वायत्तता की ओर उन्मुख हैं और इसलिये ये हित सियाहपोश मज़दूरों के हितों के विरोधी हैं। 1980 व 1990 के दशकों के साक्ष्यों से संकेत मिलता है कि उत्तर-औद्योगिक समाज वास्तव में विविध हितों वाले विविध नए समूहों को जन्म दे रहा है, सामान्यतः वर्गीय संबंधों को कमज़ोर बना रहा है तथा औद्योगिक वर्गीय टकरावों को एक नए प्रमुख टकराव से विस्थापित किए बग़ैर उनको महत्वहीन बना रहे हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणीः क) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के साथ अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) 'नए' सामाजिक आंदोलन कौन-कौन से हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) मज़दूर वर्गों पर भूमंडलीकरण के क्या प्रभाव पड़ रहे हैं?

....

....

....

....

10.5 साराश

प्रस्तुत इकाई में पहले हमने वर्गीय संरचना के इतिहास की विवेचना की और फिर यह देखा कि वर्ग क्या है और इस बारे में कुछ विचारकों के क्या-क्या विश्लेषण हैं। वर्गीय संरचना के विभिन्न सिद्धान्तों, जैसे वेबरवादी, मार्क्सवादी और उत्तर-औद्योगिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई। नई वर्गीय संरचनाओं को प्रभावित करने वाले नए विकासक्रमों की चर्चा भी की गई। जहाँ वर्गीय संरचना के विभिन्न सिद्धान्तों के बीच तीखे मतभेद मौजूद हैं, वहीं वर्ग का मुद्दा आज भी प्रासंगिक है क्योंकि उत्तर-औद्योगिक युग तक में सभी समाजों में भारी असमानताएँ दिखाई पड़ रही हैं। खेतिहर और औद्योगिक वर्गीय संरचनाएँ वर्गों की जारी प्रासंगिकता के संकेत देती है हालांकि बहुत से दूसरे नए विकासक्रम स्थिति और संस्कृति जैसे नए तत्वों की बढ़ती हुई भूमिका के संकेत देते हैं।

10.6 शब्दावली

जीवन के स्तर : यह विचार है कि समाज में भौतिक प्रतिदान और ऊँची स्थिति पाने के बारे में किसी व्यक्ति की संभावनाएँ उसकी वर्गीय स्थिति से प्रभावित होती हैं।

बुर्जुबाजी : इसे पूँजीपति वर्ग (कैपिटलिस्ट क्लास) भी कहते हैं। यह उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है, मज़दूरी पर मज़दूरों से काम लेता है और मुनाफा इसकी आय का स्रोत होता है।

वर्ग : वह समूह जो उत्पादन के साधनों से अपने आर्थिक संबंधों के आधार पर बनता है।

वर्ग संघर्ष : उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों का ऐतिहासिक टकराव।

वर्गीय चेतना : एक विशेष वर्ग के सदस्य होने की जागरूकता तथा उस वर्ग के राजनीतिक हितों का सचेतन ज्ञान।

सर्वहारा : मज़दूर वर्ग जो मालों का उत्पादन करता है तथा मज़दूरी के रूप में आय अर्जित करता है।

स्थिति (स्टेट्स) : एक समाज में किसी व्यक्ति का सामाजिक पद या प्रतिष्ठा।

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS

एलिंग - एंडरसन, जी (1993) : *चेंजिंग क्लासेज,* लंदनः सेज।

गिडिंस, ए (1973) : *द क्लास स्ट्रक्चर ऑफ द एडवांस्ड सोसायटीज,* लंदन : हचिंसन।

गोल्डथार्प, जे. एच. (1982) : *सोशल मोबिलिटी एंड क्लास स्ट्रक्चर इन माडर्न ब्रिटेन,* आक्सफर्ड क्लैरेंडन प्रेस।

पोलांजा, एन (1978): *क्लासेज इन कंटेंपोरेरी कैपिटलिज्म,* लंदनः वर्सो।

बेल, डी. (1974) : *द कमिंग आफ द पोस्ट-इंडस्ट्रियल सोसायटी : ए वेंचर इन सोशल फोरकास्टिंग,* न्यूयार्कः बेसिक बुक्स।

राइट, ई ओर (1985) : *क्लासेज,* लंदन : वर्सो।

हैमिल्टन, एम. और हर्त्सोवित्ज (1993) : *क्लास एंड इनइक्वैलिटीः कंपेरेटिव पर्सपेक्टिव्स*, न्यूयार्क, हर्विस्टर व्हीटशीफ।

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वर्ग के वस्तुनिष्ठ आधारों में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व या अस्वामित्व, जीवन स्तर, सांस्कृतिक और मनोरंजन संबंधी संभावनाएँ शामिल हैं।

2) खेतिहर वर्गीय संरचना, उदाहरण के लिए, गृहयुद्ध से पहले के अमेरिका में **दास-प्रथा** पर, मध्यकालीन यूरोप और उपनिवेशी लैटिन अमेरिका में **सामंती व्यवस्थाओं** पर तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के उपनिवेशी क्षेत्रों में **कृषक पूँजीवाद** पर आधारित रही हैं।

3) रूस, फिनलैण्ड और जर्मनी में जहां विरोध का दमन करके अभिजात वर्ग सत्ता से चिपके हुए थे, तीखी वर्गीय टकराव हुए। दूसरी ओर इंग्लैण्ड और स्विटज़रलैण्ड जैसे लोकतंत्रों में वर्गीय टकराव कम हिंसक रहा क्योंकि विभिन्न अधिकारों और स्वतंत्रताओं ने मज़दूरों को यह अवसर दिया कि वे वैध उपायों से अपनी माँगे मनवाने के लिए दबाव डाल सकें।

बोध प्रश्न 2

1) मार्क्स की राय में सर्वहारा अपनी वर्गीय चेतना को संघर्ष के दौरान ही विकसित और व्यक्त करता है। संयुक्त प्रयास से समाज का रूपांतरण आवश्यक है, यह आस्था सर्वहारा को एक क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है।

2) स्थिति समूह ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनके पास जो कुछ वांछित है उसे पाने के लिए संपत्ति या समाज में प्रतिष्ठा के कारण कुछ विशेष अधिकार, विशेषाधिकार और अवसर होते हैं।

3) वर्ग बाज़ार में मिलती-जुलती स्थिति वाले व्यक्तियों का समूह होता है। जन्म, वंशगत स्थिति आदि एक वर्ग की सदस्यता का निर्धारण नहीं करते।

4) सेवाकर्मी वर्ग में प्रबंधक, प्रशासक और पेशेवर व्यक्ति आते हैं। दूसरे, मध्यवर्ती श्रमिक समूह में छोटे संपत्ति-स्वामी, कृषक, मिस्त्री, अशारीरिक श्रम करने वाले व्यक्ति या नौकरीपेशा व्यक्ति आते हैं। आखिरी वर्ग शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूर वर्ग का है।

बोध प्रश्न 3

1) ये नए सामाजिक आंदोलन शत्रुता के उन नए रूपों के प्रत्युत्तर हैं जो परवर्ती पूँजीवाद में पैदा हुए। शांति, पर्यावरण और महिला आंदोलन इन नए सामाजिक आंदोलनों के विभिन्न विषय हैं।

2) आर्थिक संबंध एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर से आगे बढ़कर सही अर्थों में भूमंडलव्यापी बन चुके हैं। नए 'भूमंडलीय कारखानों' में पिछले युगों की तरह मज़दूर फिर एक बार मात्र माल बनकर रह गए हैं।

MAADHYAM IAS

इकाई 11 शक्ति के सामाजिक आधार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अर्थ

11.3 शक्ति का वर्गीकरण

11.4 शक्ति का वितरणः विभिन्न सिद्धान्त

- 11.4.1 अभिजातवादी सिद्धान्तः पैरेटो और मोस्का
- 11.4.2 अमरीका में अभिजातवादी सिद्धान्तः राइट मिल्स
- 11.4.3 बहुलवाद
- 11.4.4 शक्ति बल प्रयोग के रूप में: मैक्स वेबर

11.5 शक्ति के प्रति परस्पर विरोधी दृष्टिकोण

- 11.5.1 शक्ति की बहुलवादी धारणा
- 11.5.2 अमरीका का अनुभवाश्रित लोकतांत्रिक सिद्धान्त या शास्त्रीय बहुलवाद
- 11.5.3 समूह सिद्धान्त
- 11.5.4 निगमवादी सिद्धान्त

11.6 मार्क्सवादी सिद्धान्त

11.7 सारांश

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में शक्ति और उसके सामाजिक आधारों की विवेचना की गई है। जिन सिद्धान्तों ने शक्ति और उसके वितरण का अध्ययन किया है, इसमें उनकी भी चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्नलिखित को समझ सकेंगेः

- शक्ति का अर्थ;
- वर्गीकरण और वितरण; तथा
- शक्ति के विभिन्न सिद्धान्त

MAADHYAM IAS

11.1 प्रस्तावना

शक्ति सभी राजनीतिक धारणाओं में सबसे बुनियादी धारणा है। यह राजनीति विज्ञान के आधारों में एक है। शक्ति के महत्व के बारे में राजनीतिक शास्त्री लगभग पूरी तरह सहमत हैं। फिर भी इसकी परिभाषा के बारे में तथा इसकी धारणा और माप को लेकर उनमें मतभेद हैं।

11.2 अर्थ

मोटे अर्थ में शक्ति से अभिप्राय वांछित प्रभाव पैदा करना है। **व्यक्ति जो कुछ पाना चाहता है, यह उसी को पाने की क्षमता का नाम है।** शक्ति संबंधी अनेक दृष्टिकोणों में **टाल्कट पार्सनस** से जुड़ा दृष्टिकोण 'की शक्ति' (power to) सबसे महत्वपूर्ण है। पार्सनस के अनुसार शक्ति से अभिप्राय **सामाजिक, राजनीतिक** और **आर्थिक** लक्ष्यों को पाने के लिए अपने नागरिकों की प्रतिबद्धता का उपयोग करने के बारे में सरकार की क्षमता है। सरकार की **शक्ति** इससे तय होती है कि **वह समुदाय के लक्ष्यों को कितने प्रभावी ढंग से पूरा करती है।** इस तरह **पार्सनस** की राय में **शक्ति वह साधन है जिसके द्वारा शासन** या **शासक समाज के उद्देश्यों को पूरा करते हैं।** यह राज्य पर नियंत्रण पाने की दिशा में किसी एक या दूसरे समूह की योग्यता नहीं है।

पार्सनस की शक्ति की परिभाषा पर्याप्त क्यों नहीं समझी गई?

इसके सकारात्मक अर्थ के बावजूद अनेक राजनीतिशास्त्री पार्सनस की शक्ति की परिभाषा को बहुत संकीर्ण मानते हैं। पार्सनस से मतभेद रखनेवालों के लिए **राजनीति इन संबंधित परस्पर विरोधी मतों का युद्धक्षेत्र है कि किन लक्ष्यों के या किसके लक्ष्यों के, बल्कि किस समूह के लक्ष्यों के लिए प्रयास किया जाना चाहिए।**

शक्ति का निहित तत्व **सहमति नहीं, टकराव है।** शक्ति का अर्थ प्रायः विरोध के बावजूद अपनी बात को मनवाने की योग्यता है। **राबर्ट डाहल** और दूसरे **बहुलवादियों** द्वारा समर्थित a विचार **"की शक्ति"** (Power to) की बजाय **'पर शक्ति'** (Power over) की बातें करता है। अपने अस्तित्व के अंतिम वर्षों में भूतपूर्व सोवियत संघ में 'पर शक्ति' और **'की शक्ति'** का ऐसा ही भेद देखा गया। किसी केन्द्रीय सरकार को प्राप्त शक्ति में इतनी कमी भी आ सकती है कि उसके वितरण का मुद्दा गौण हो जाए।

11.3 शक्ति का वर्गीकरण

शक्ति केवल सत्ता, हिंसा, बल या युद्ध का नाम नहीं है। इसीलिए **केनेथ बोल्डिंग** ने अपनी रचना *थ्री फेसेज़ ऑफ पावर* में इसके रूपों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

बल प्रयोग की धमकी (बोल्डिंग इसे 'डंडा' कहते हैं) सेना और पुलिस द्वारा दी जाती है जो राज्य की बलप्रयोगी संस्थाएँ हैं। राज्य को अधिकार प्राप्त होता है कि अगर कर न अदा किए जाएँ, अगर कानूनों का पालन न हो, आदि, तो वह अपने नागरिकों की स्वाधीनता छीन सकता है हालांकि अनेक अवसरों पर राज्य की बल प्रयोग की शक्ति निहित मात्र होती है। यही उसकी प्रभाविता का सूचक है।

विनिमय शक्ति (केनेथ बोल्डिंग इसे 'सौदा' कहते हैं) अधिक प्रभावी होती है क्योंकि शक्ति के इस स्वरूप में सकारात्मक दृष्टिकोण है। इसमें सौदेबाजी की अवधारणा है और सौदा किसी प्रतिदान (रिवार्ड) पर आधारित होता है। तो भी यह सौदा शक्ति का ही एक रूप है क्योंकि इसमें एक व्यक्ति दूसरे के व्यवहार में परिवर्तन लाता है। लगभग सभी आधुनिक राज्यों में नागरिक और राज्य का संबंध विनिमय या अनुबंध का संबंध है। नागरिक राज्य की सत्ता को मानने, उसका पालन करने की सहमति देते हैं और राज्य नागरिकों के भरण-पोषण, उनकी रक्षा की सहमति देता है। यह अनुबंध काल्पनिक होता है पर इसमें विनिमय का अस्तित्व अवश्य रहता है।

MAADHYAM IAS

अनुग्रह का निर्माण (बोल्डिंग के अनुसार 'चुंबन' की पद्धति) एक और विधि है जिसके द्वारा निष्ठा, सम्मान और प्रतिबद्धता जगाने की क्षमता पैदा होती है। परिवार और धार्मिक संस्थाएँ ऐसी दो सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाएँ हैं जो शक्ति का ऐसे अनुग्रही ढंग से उपयोग करती हैं। अधिकांश इस्लामी राज्यों में **तत्ववादी** संगठन इसी तर्ज पर काम करते हैं।

एस. ल्यूकास जैसे अन्य व्यक्तियों का दावा है कि **शक्ति सिर्फ वहीं नहीं है जो बोल्डिंग बतलाते हैं। इसका व्यवहार वहीं होता है जहाँ जनता के यथार्थ हित उपेक्षित किए जाते हैं।** प्रदूषण फैलाने वाला एक कारखाना आसपास रहने वालों को प्रभावित करता है। यह उनकी जानकारी के बिना उन पर शक्ति का व्यवहार करता है। इसी तरह जो सरकार देशभक्ति का जोश जगाकर फौजी भरती करती हैं वह भी दूसरों के ज्ञान, मूल्यों और वरीयताओं का इस्तेमाल करके अपनी जनता पर शक्ति का व्यवहार करती है।

हम इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि एक आधुनिक राज्य की शक्ति अनुग्रह के बहुत व्यापक स्रोतों पर आधारित होती है। *थ्री फेसेज ऑफ पावर* में केनेथ बोल्डिंग ने शक्ति के प्रति जो तीन दृष्टिकोण सामने रखे हैं वे ज्ञानवर्धक हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि **शक्ति अनेक तत्वों के संभोग पर आधारित होती है।**

11.4 शक्ति का वितरण: विभिन्न सिद्धान्त

शक्ति क्या है, इसका व्यवहार कैसे होता है, इसे मापा कैसे जाता है - इससे जुड़े विवादों के अलावा शक्ति से संबंधित एक और महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि **समाजों में इसका वितरण किस प्रकार होता है।** राजनीतिक प्रणालियों, अर्थात् लोकतंत्र व तानाशाही, दोनों को ध्यान से देखें तो दोनों के बीच अंतर दिखाई देते हैं। सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त **अभिजातवादी और बहुलवादी सिद्धान्तों** का है। **अभिजातवादियों** का कथन है कि दोनों के बीच कोई खास अंतर नहीं है।

11.4.1 अभिजातवादी सिद्धान्त : पैरेटो और मोस्का

अभिजातवादियों (एलीटिस्ट्स) का विचार है कि दोनों व्यवस्थाओं में कोई खास अंतर नहीं है। अभिजातवादी सिद्धान्त के तीन प्रतिपादक हैं: **विल्फ्रेडो पैरेटो** और **गेतानो मोस्का** (दोनों इटली के) और जर्मनी का **राबर्ट मिशेल्स**। उनकी रचनाओं ने 20वीं सदी में शक्ति की धारणा संबंधी चिंतन पर गहरा प्रभाव डाला।

> **पैरेटो** को पूरा-पूरा विश्वास था कि सभी समाज
>
> एक छोटे से शासक अभिजात वर्ग,
>
> एक गैर-शासक अभिजात वर्ग और
>
> जनसमूह या गैर-अभिजातों में विभाजित होते हैं।

MAADHYAM IAS

अभिजातों का परिचलन (सरकुलेशन ऑफ एलीट्स) हो सकता है, पर अभिजातों का अस्तित्व फिर भी रहता है।

मोस्का का तर्क था कि एक **श्रेष्ठतर संगठन** और **बुद्धि** ही शासक अभिजातों की सत्ता का आधार होती है। असंगठित बहुसंख्यक जनता पर एक छोटे से असंगठित अल्पसंख्यक समूह का वर्चस्व अपरिहार्य है।

अपने इतालवी समकक्षों के विपरीत **राबर्ट मिशेल्स** ने विशिष्ट संगठनों का अध्ययन किया। उसने अपना सुप्रसिद्ध **'अल्पतंत्र का लौह नियम'** प्रतिपादित किया। अल्पतंत्र (ओलिगार्की) का अर्थ थोड़े से लोगों का शासन है। अपने नया रास्ता दिखाने वाले अध्ययनों में मिशेल्स ने साबित किया कि उनका यह नियम सोशलिस्ट पार्टियों पर, अधिकांश संगठनों पर, यहाँ तक कि इंग्लैण्ड की लेबर पार्टी पर भी लागू होता है।

11.4.2 अमरीका में अभिजातवादी सिद्धान्तः राइट मिल्स

यूरोप में जन्म लेने वाले इन सिद्धान्तों के आधार पर 1920 के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए। उन्होंने स्थानीय समुदायों में शक्ति के वितरण की छानबीन की। उनमें से अधिकांश का निष्कर्ष था कि या तो उच्चवर्गीय या मध्यवर्गीय पृष्ठभूमियों वाले लोगों का एक छोटा सा अल्पसंख्यक समूह हमेशा इन समुदायों में अपना प्रभुत्व बनाए रखता है। सिटी कौंसिलों या सामुदायिक संस्थाओं में बार-बार ये लोग ही स्थान पाते हैं। इस तथ्य ने अमेरिका जैसे तथाकथित लोकतांत्रिक देश तक में स्थानीय सुरक्षा में एक शासक अभिजात वर्ग की धारणा की पुष्टि की।

सी राइट मिल्स अभिजातवादी सिद्धान्त के एक और महत्वपूर्ण समर्थक थे। अपने सुप्रसिद्ध अध्ययन **द पावर एलीट** में मिल्स ने तर्क दिया कि राजनीतिक नेता वे प्रमुख समूह हैं जो या तो पृष्ठभूमि में रहकर या कभी-कभी निर्वाचित पदों पर आसीन होकर अमेरिकी राजनीति को संचालित करते हैं।

आज मिल्स के सिद्धान्त को **निगमवाद (कारपोरेटिज्म)** का एक संस्करण कहा जाता है। इसके अनुसार यथा-विधि निर्वाचित जन-प्रतिनिधि व्यापार और सेना जैसे अन्य संस्थाबद्ध हितों के आगे अपनी शक्ति खोते जा रहे हैं।

11.4.3 बहुलवाद

राजनीतिशास्त्र में बहुलवाद (प्ल्यूर्टलिज्म) शक्ति से संबंधित दूसरा सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जहाँ अभिजातवाद **एक** अल्पमत समूह के शासन की बात करता है, वहीं बहुलवाद अल्पमत **समूहों** के शासन की बात करता है। यह एक विविधता का सिद्धान्त है। इसका मुख्य तर्क यह है कि शासन के आधुनिक रूपों में खुलापन है तथा विभिन्न हित और समूह आपस में प्रभाव पाने के लिए प्रतियोगिता करते हैं।

बहुलवादियों में सबसे प्रमुख हैं **राबर्ट डाहल** जिनका निष्कर्ष था कि शासक अभिजातों का अस्तित्व नहीं होता और शक्ति **हितों और समूहों की विविधिता** के द्वारा स्वयं को व्यक्त करती है। उनका यह निष्कर्ष कनेक्टीकट (अमेरिका) के न्यू हैवेन शहर के गहन अध्ययन पर आधारित था। 1970 के दशक तक अमेरिका में राजनीतिशास्त्र के अधिकांश लेखक एक वांछित और आदर्श सिद्धान्त के रूप में बहुलवाद का समर्थन करने लगे थे। वे बहुलवाद के लाभ भी समझने लगे क्योंकि उसकी विखंडित प्रकृति का अर्थ यह था कि सुविचारित दृष्टिकोणों को विशेष महत्व मिलता है। यह एक व्यक्ति, एक मत (वोट) की और बहुमत के शासन के लोकतांत्रिक सिद्धान्त का एक बेहतर रूप भी था।

MADHYAM IAS

आलोचनाः लेकिन आलोचकों ने बहुलवादियों पर निर्णय-प्रक्रिया पर अधिक जोर देने का आरोप लगाया क्योंकि बहुलवादियों ने अनिर्णयों की उपेक्षा की। इसके अलावा जनता का एक छोटा सा महत्वपूर्ण भाग उपेक्षा का भाव अपनाता है तथा इतना कटा-कटा रहता है कि वह इसमें शामिल नहीं होता। इसलिए यह तर्क अधिकाधिक दिया जा रहा है कि बहुलवादियों ने पश्चिमी समाजों में **शक्ति के केवल एक रूप** को देखा।

11.4.4 शक्ति बल प्रयोग के रूप में: मैक्स वेबर

बल प्रयोग शक्ति का एक और रूप है। अधिकांश शासकों की समस्या यह होती है कि अपनी स्थिति को वैध सत्ता का रूप कैसे दें। सत्ता (अथारिटी) शासन करने का अधिकार है। सत्ता के संबंधों का एक सोपान (हायरार्की) होता है। जर्मन समाजशास्त्री **मैक्स वेबर** ने सत्ता के अनेक आधारों का एक मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने इनको **परंपरागत, करिश्माई और वैधानिक-बुद्धिसंगत** नाम दिया। पहला प्रकार परंपरागत (ट्रेडिशनल) सत्ता का है। वेबर कहते हैं: "परंपरागत सत्ता में मौजूदा व्यवस्था को पवित्र, शाश्वत और अनुल्लंघनीय माना जाता है। प्रायः वंशगत रूप से निर्धारित प्रभुत्वशाली व्यक्ति या समूह को बाकी जनता पर शासन करने के लिए पूर्व-निर्दिष्ट माना जाता है। प्रजा शासक से निजी निर्भरता और निष्ठा की परंपरा के कारण बंधी होती है जो **'राजाओं के दैवी अधिकार'** जैसे सांस्कृतिक विश्वासों के कारण और भी पुष्टि होती है।"

करिश्माई सत्ता वेबर की दूसरी श्रेणी है। नेताओं की आज्ञा का पालन इसलिए किया जाता है कि वे अपने अनुयायियों को प्रेरित करते हैं। अक्सर नायकों का अनुसरण करने वाली जनता उनको असाधारण और पराप्राकृतिक गुणों से विभूषित मानती है। लेकिन करिश्माई सत्ता सामान्यतः एक **अल्पकालिक वस्तु** होती है।

तीसरी श्रेणी **वैधानिक-बुद्धिसंगत** (लीगल रेशनल) सत्ता की है। इसमें सत्ता सिद्धान्तों पर आधारित होती है और कानून के शासन का पालन किया जाता है। सभी आधुनिक नौकरशाहियाँ इसी प्रकार की सत्ता के उदाहरण हैं।

मैक्स वेबर के अपने शब्दों में, 'शक्ति दूसरों के विरोध के बावजूद एक सामुदायिक कार्रवाई में किसी व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों के लिए **अपनी इच्छा** को सरकार करने का अवसर होती है।'

बोध प्रश्न 1

टिप्पणीः क) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के साथ अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) *थ्री फेसेज ऑफ पावर* के लेखक कौन हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) अभिजातवादी सिद्धान्त का विश्वास क्या है?

....

....

....

....

3) अभिजातवाद बहुलवाद से किस अर्थ में भिन्न है?

....

....

....

....

11.5 शक्ति के प्रति परस्पर विरोधी दृष्टिकोण

समकालीन राजनीतिशास्त्र की इस सबसे महत्वपूर्ण धारणा को समझने के लिए सैद्धान्तिक स्तर पर तीन प्रमुख दृष्टिकोणों की पहचान की जा सकती है। जैसा कि कहा गया है, **बहुलवादी या अनुभावाश्रित लोकतांत्रिक सिद्धान्तकार** किसी विशेष समाज में **शक्ति की विखंडित प्रकृति** पर ध्यान देते हैं; **निगमवाद के सिद्धान्तकार राज्य की नीतियों और निर्णयों के निर्धारण में शासनेतर संस्थाओं के महत्व** पर जोर देते हैं। एक विचारधारा के रूप में **मार्क्सवाद** के घटते-बढ़ते महत्व के बावजूद पश्चिमी देशों में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की सरकारों के कार्यकलाप को ध्यान में रखकर **एक वर्ग-राज्य के रूप में राज्य की पुनर्रचना** के प्रयास करते आए हैं। उन्हें राजनीतिक शक्ति और वर्गीय शक्ति के बीच संबंध दिखाने में सफलता भी मिली है।

11.5.1 शक्ति की बहुलवादी धारणा

जैसा कि प्रस्तावना में कहा गया, बहुलवादियों के लिए शक्ति विरोधों के बावजूद व्यक्ति द्वारा अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करने की क्षमता का नाम है। **राबर्ट डाह्ल** ने शक्ति का वर्णन इस प्रकार किया हैः 'एक बुद्धिसंगत संबंध, जैसे **'अ'** की इस प्रकार काम करने की क्षमता कि वह **'ब'** के प्रत्युत्तरों को नियंत्रित कर सके।' उन्होंने इसका वर्णन इस प्रकार भी किया हैः **'अ'** द्वारा **ब** से कुछ ऐसा काम कराने का सफल प्रयास जिसे **ब** अन्यथा नहीं करता।' डाह्ल ने शक्ति की धारणा का इस प्रकार वर्णन और निरूपण किया है कि वह उद्देश्य और तत्परता जैसे मनोनिष्ठ तत्व पर जोर देते हैं तथा उसमें एक टकराव के संबंध का भाव निहित है। केन्द्रीय मुद्दा **ब** के विरोध पर काबू पाना है। ऐसी स्थिति में शक्ति तात्कालिक घटनाओं के नियंत्रण पर आधारित होती है।

न्यू हैवेन शहर में राबर्ट डाह्ल के अनुभवाश्रित अध्ययनों का शीर्षक हू *गर्वन्स* है। (प्रस्तावना में इसका उल्लेख किया गया है।) इसमें नीतियों के निर्माण में शामिल कर्ताओं की क्षमताओं की खोज की गई है। इस परियोजना-अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि नगर में निर्णय की प्रक्रिया बहुत से गठजोड़ों का बहुलवादी लोकतंत्र है। शक्ति बिखरी हुई और असंग्रही है। पूरे समाज में बिखरे तथा विभिन्न और परस्पर विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक समूह शक्ति में भागीदार हैं। ऐसी बहुलता शक्ति की असमानता में योगदान देती है तथा धन, स्थिति, शिक्षा आदि के असमान वितरण में भी। नीतियों के निर्धारण में शक्ति संबंधी टकराव, नगर के मेयर के पद के लिए विभिन्न हितबद्ध समूहों के परस्पर विरोधी दावे अंततः नागरिकों की भलाई के लिए सकारात्मक नीतियों के निर्धारण में सहायता देते हैं। शक्ति के लिए विभिन्न **समूहों की प्रतियोगिता** लोकतंत्र में संतुलन पैदा करती है तथा अनुकूल नीतियों के निर्धारण में भी सहायता देती है। यही अमेरिका के अनुभवाश्रित लोकतंत्र (इंपीरिकल डेमोक्रेसी) के सिद्धान्त की दूसरी सबसे महत्वपूर्ण मान्यता है। यह शक्ति की व्यक्तिवादी और स्वैच्छावादी धारणाओं से भी मेल खाती है।

MAADHYAM IAS

11.5.2 अमेरिका का अनुभवाश्रित लोकतांत्रिक सिद्धान्त या शास्त्रीय बहुलवाद

अमेरिका के अनुभवाश्रित लोकतंत्र के सिद्धान्त या शास्त्रीय (क्लासीकल) बहुलवाद का जन्म **जेम्स मैडिसन** और **फेडरलिस्ट पेपर्स** के युग में हुआ। मैडिसन ने हाब्स की इस मान्यता को फिर दोहराया कि व्यक्तियों में अपने साथ के व्यक्तियों पर शक्ति पाने की एक स्वाभाविक इच्छा होती है। उन्होंने फेडरलिस्ट नंबर 10 में कहा कि 'गुटबंदी के प्रच्छल कारण ..... मनुष्यों के स्वभाव में मौजूद है।' उन्होंने 'संपत्ति के असमान वितरण' की पहचान गुटबंदी के सबसे आम और स्थायी स्रोत के रूप में की। लेकिन मैडिसन के तर्कों के समकालीन समर्थकों ने उनके मत को मूलगामी ढंग से बदल दिया है। अनुभवाश्रित लोकतंत्र के सिद्धान्तकारों का दावा है कि गुट मुक्त संगठन के सामाजिक समकक्ष से अधिक भी कुछ होते हैं। समकालीन समाज में गुट हितबद्ध समूहों का रूप ले लेते हैं और लोकतंत्र में स्थायित्व के स्रोत व उसकी केन्द्रीय अभिव्यक्ति हैं।

11.5.3 समूह सिद्धान्त

लोकतंत्र के सिद्धान्त के सबसे मुखर प्रतिपादकों के रूप में समूह सिद्धान्त के समर्थकों ने अमेरिकी लोकतंत्र में **संतुलन की प्राप्ति के लिए समूहों की अंतःक्रिया** के महत्व पर जोर दिया है। इसमें **डेविड ट्रूमैन** जैसे इन सिद्धान्तकारों की शक्ति की परिकल्पना वेबरवादी ढंग से की गई है। लेकिन राज्य स्वायत्त इकाई नहीं है, न तो वेबरवादी अर्थ में और न मार्क्स के अर्थ में जिन्होंने राज्य की परिवर्तन की क्षमता को समाज के लिए केन्द्रीय तत्व कहा। समूह सिद्धान्त के समर्थकों की राय में राज्य शक्ति के सोद्देश्य व्यवहार की प्रतिक्रिया है। शक्ति समाज के अंदर विखंडित होती है। ट्रूमैन को भी यही आशा थी कि परस्पर विरोधी हितों से एक अपेक्षाकृत सुसंगत नीति का जन्म होता है।

राबर्ट डाह्ल डेविड ट्रूमैन के बाद एक और समूहवादी सिद्धान्तकार थे। उन्होंने **गुटों** के बारे में मैडिसन के केन्द्रीय सरोकार को स्वीकार किया और उन्हें लोकतंत्र की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति माना। डाह्ल ने इसे **'पालिआर्की'** नाम दिया और कहा कि विभिन्न हितों की प्रतियोगिता लोकतंत्र की सुरक्षा सुनिश्चित करती है। अपनी रचना *पावर : ए रैडिकल व्यू* में **एस ल्यूक्स** का तर्क है कि 'किसी व्यवस्था का झुकाव व्यक्तिगत स्तर पर चुनी गई क्रियाओं की श्रृंखला से ही नहीं बल्कि सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समूहों के सामाजिक स्तर पर ढांचाबंद और सांस्कृतिक रूप से निर्धारित व्यवहारों और संस्थाओं के कार्यकलापों से भी सहारा पाता है।' विरोध के बावजूद व्यक्तियों की अपनी इच्छा पूरी करने की क्षमता के रूप में शक्ति की यह धारणा सामूहिक शक्तियों और सामाजिक व्यवस्थाओं के महत्व को अनदेखा करती है। इसी कारण से शास्त्रीय बहुलवादी वर्गों, नस्लों, लिंगों, राजनीतिज्ञों और नागरिकों के बीच शक्ति के असंतुलन को समझने में नाकाम रहे और इस तरह वे शास्त्रीय बहुलवाद की मान्यताओं को चूर-चूर करने के जिम्मेदार बने। **नए वामपंथ (न्यू लेफ्ट)** से जुड़े राजनीतिक समहों के उदय ने भी अमेरिका में राजनीतिक संतुलन को बदला। वियतनाम युद्ध विरोधी आंदोलन, छात्र आंदोलन, नागरिक अधिकार आंदोलन आदि के नाम पर राजनीतिक ध्रुवीकरण हुआ। न्यू लेफ्ट और उसका राजनीतिक ध्रुवीकरण बहुलवाद की मान्यताओं से मेल नहीं खाते थे और इसके फलस्वरूप शक्ति की प्रकृति और वितरण को समझने में बहुलवाद की कमजोरियों से वास्तविकता को समझने में बहुत सारी कठिनाइयाँ पैदा हुईं। शक्ति की समझ के लिए किए गए बहुत सारे अनुभवाश्रित अनुसंधानों ने भी यही साबित किया कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता के लिए बहुत सारे समूहों के पास संसाधन भी नहीं हैं क्योंकि राष्ट्रीय राजनीति पर शक्तिशाली

MAADHYAM IAS

राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय निगमों का नियंत्रण है और वे ही इसमें जोड़-तोड़ करते रहते हैं। अनुभवाश्रित व अवधारणात्मक, दोनों दृष्टियों से इन समस्याओं की स्वीकारोक्ति ने शास्त्रीय बहुलवादी सिद्धान्त को समाप्त कर दिया तथा नए और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को जन्म दिया।

11.5.4 निगमवादी सिद्धान्त

1970 के दशक के अंत तक निगमवादी (कारपोरिटिस्ट) सिद्धान्त अनुभवाश्रित लोकतांत्रिक सिद्धान्त की तीखी आलोचना करने लगा। 1977 में **लियो पैनिख्** ने अपने लेख **'द डवलपमेंट ऑफ कारपोरोटिज्म इन लिबरल डेमोक्रेसीज'** (पत्रिका *कंपरेटिव पोलिटिकिल स्टडीज* में प्रकाशित) में स्पष्ट किया कि 'वर्गीय समन्वय व जीवंत एकता समाज के लिए अनिवार्य हैं और इसे तभी प्राप्त किया जा सकता हैं जब विभिन्न प्रकार्यात्मक समूह, खासकर पूँजी और श्रम के संगठन, प्राकृतिक अधिकारों व दायित्वों की ऐसी भावना से ग्रस्त हो जो उससे मिलती-जुलती भावना हो जो मध्यकालीन जनवर्गों (एस्टेट्स) को बांधकर रखे हुए थी।' **जीवंत एकता** (आर्गेनिक यूनिटी) का सिद्धान्त ही निगमवाद का केन्द्रीय विचार है। **जे.टी. विंकलर** ने कहा है कि इसमें "समाज को ऐसे विविध तत्वों से निर्मित माना गया है जो एक निकाय में एकजुट हों, एक काया (कार्जस) बनाते हों, निगमवाद नाम इसी कारण पड़ा है।" फासीवादी इटली और नाजीवादी जर्मनी यूरोपीय निगमवाद के प्रमुख उदाहरण माने जाते थे।

लेकिन उत्तर-उदारवादी, उन्नत पूँजीवादी राज्यों के उदय के साथ, (ये राज्य साथ ही साथ सुसंगठित लोकतंत्र और कल्याणकारी राज्य भी है), निगमवाद का एक नया रूप पैदा हुआ जिसे सामाजिक निगमवाद (सोसाइटल कारपोरेटिज्म) कहते हैं। **फिलिप श्मिटर** '(स्टिल द सेंचुरी ऑफ कारपोटिज्म?', *रिव्यू ऑफ पोलिटिकिल स्टडीज,* 1974) के शब्दों में समकालीन या सामाजिक निगमवाद '*हितों के प्रतिनिधित्व की ऐसी व्यवस्था है जिसमें घटक इकाइयाँ सीमित संख्या में एकक, अनिवार्य, सोपानबद्ध और प्रकार्यात्मक दृष्टि से विभेदीकृत श्रेणियों में संगठित होती हैं।* ये श्रेणियाँ राज्य द्वारा (रचित न सही) मान्यता प्राप्त या अनुमति प्राप्त होती हैं तथा नेताओं के चयन में और मांगों व समर्थन की अभिव्यक्ति में थोड़े-बहुत नियंत्रण के बदले अपनी अपनी सीमाओं के अंदर उन्हें जाने-बूझे ढंग से प्रतिनिधित्व का एकाधिकार दिया जाता है।'

सामाजिक निगमवाद के उदय का कारण क्या था? 1920 के दशक से ही विभिन्न वर्गीय शक्तियों ने जो संतुलन बना रखा था उसमें आए परिवर्तनों ने बहुलवाद को समाप्त कर दिया और उसकी जगह सामाजिक निगमवाद को जन्म दिया। **श्मिटर** की राय में **निगमवाद का सिद्धान्त मार्क्सवादी और बहुलवादी सिद्धान्तों की केन्द्रीय अवधारणात्मक मान्यताओं का समन्वय है।**

निगमवादी बहुलवादियों की इस बात से सहमत हैं कि नीतियों का निर्धारण हितबद्ध संगठनों के परस्पर विरोधी दावों से होता है। पर उनका तर्क यह है कि ये संगठन अब अल्पतंत्रों की तर्ज पर विकसित हो रहे हैं। निगमवादियों ने मार्क्सवादियों के इस तथ्य को स्वीकार किया कि वर्गीय टकरावों का अस्तित्व बुनियादी है तथा राज्य और समाज की अधिकांश गतिविधियाँ वर्गीय पुनरुत्पादन करती हैं। साथ ही साथ परंपरागत निगमवादी भी जीवंत एकता के सिद्धान्त को सुरक्षित रखता है।

अनुभवाश्रित दृष्टिकोण से निगमवाद केवल **आस्ट्रिया** और **नीदरलैण्ड** में सफल हुआ।

MADHYAM IAS

11.6 मार्क्सवादी सिद्धान्त

1970 और 1980 के दशकों में मार्क्सवादी लेखकों में राजसत्ता में महत्वपूर्ण ढंग से और नए सिरे से रुचि जागी। **राल्फ मिलिबांड** ने यूरोप और अमेरिका के समाजों में राज्य की केन्द्रीयता को स्पष्ट किया। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से **वर्ग-राज्य** संबंधों का तथा बहुलवादी दृष्टिकोण से राज्य-समाज संबंधों का अध्ययन किया। मिलिबांड ने इस विचार का विरोध किया कि राज्य सामाजिक हितों का एक तटस्थ मध्यस्थ होता है। उन्होंने यूरोपीय समाजों में एक ऐसे शासक वर्ग को मौजूद पाया जो उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करता है। उन्होंने राजनीतिक दलों, सेना, विश्वविद्यालयों और संचार माध्यमों से इस वर्ग के संबंध दिखाए, राज्य के लगभग सभी विषयों में इस वर्ग की नेतृत्वकारी स्थिति दिखाई, नागरिक कर्मचारियों की सामाजिक पृष्ठभूमि दिखाई और उनका वैचारिक मानसिक झुकाव दिखाया। इसका मतलब यह था कि (मिलिबांड के शब्दों में) **'राज्य उन्नत पूँजीवाद में निहित शक्तियों व विशेषाधिकारों की संरचना को' बढ़ावा देता है**।

निकोलस पोलांजा और माइकेल फोकाल्ट दूसरे प्रमुख आधुनिक मार्क्सवादी विचारक हैं। पोलांजा का प्रमुख सैद्धान्तिक योगदान राजसत्ता के ही बारे में है। उनकी राय में राजसत्ता राज्य के संस्थागत स्वरूप तथा राजनीतिक वर्गीय शक्तियों के बदलते चरित्र के बीच होने वाली अंतःक्रिया का परिणाम है।

शक्तिः वर्गीय हितों को पूरा करने की क्षमता

शक्ति व रणनीतियों के बारे में **पोलांजा** का विश्लेषण *पोलिटिकल पावर एंड सोशल क्लास* में पाया जाता है। उन्होंने एक विशेष संदर्भ में **शक्ति** की पहचान **वर्गीय हितों को पूरा करने की क्षमता** के रूप में की और फिर इन हितों की परिभाषा ऐसी वस्तुओं के रूप में की जिनको व्यावहारिक **वर्गीय उद्देश्यों** का एक दायरा माना जा सकता है। यहाँ जोर वर्गीय हितों की व्यावहारिकता और उन्हें पूरा किए जा सकने की क्षमता पर था। उन्होंने इस पर भी जोर दिया कि शक्ति कोई निश्चित राशि नहीं होती। *पोलिटिकल पावर एंड सोशल क्लास* तथा अपनी बाद की रचना *स्टेट, पावर, सोशलिज्म* दोनों में उन्होंने यह तर्क विकसित किया कि राज्य स्वयं एक सामाजिक संबंध है और वर्गीय हित, वर्गीय शक्ति और वर्गीय रणनीतियाँ सभी आपस में जुड़ी होती हैं।

माइकेल फोकाल्ट एक फ्रांसीसी दार्शनिक और इतिहासकार थे। अपनी रचनाओं *डिसिप्लीन एंड पनिश* तथा *दि विल टू नो* में उन्होंने आधुनिक समाजों में शक्ति की प्रकृति की विस्तार से विवेचना की है।

फोकाल्ट और पोलांजा, दोनों ही शक्ति के बारे में किन बातों पर सहमत हैं?

अ) **शक्ति एक संबंध होती है।** तात्पर्य यह कि शक्ति राज्य के विकास के दौरान परिस्थितियों के एक विशेष संयोग से पैदा होती है।

ब) **शक्ति मात्र दमनात्मक और नकारात्मक की बजाय उत्पादक और सकारात्मक भी होती है। फोकाल्ट** ने शक्ति के दमनात्मक मानने वाले विचारों को अस्वीकार किया। **पोलांजा** ने राज्य को एक वर्ग-विभाजित समाज में सामाजिक एकजुटता का कारक माना। इस तरह **शक्ति का केन्द्रीय साधन** अर्थात् **राज्य** एक उत्पादक भूमिका वाली संस्था है। राज्य परस्पर टकराने वाले वर्गों के बीच संतुलन लाता है और किसी वर्ग को शक्ति से वंचित नहीं करता।

MAADHYAM IAS

स) शक्ति प्रतिरोध को जन्म देती है। प्रतिरोध जवाबी प्रतिरोध को जन्म देता है।

द) उन्होंने शक्ति के प्रति उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों को अस्वीकार किया क्योंकि ये दृष्टिकोण शक्ति को आर्थिक प्रकार्यों के अधीन बतलाते हैं।

य) उन्होंने कहा कि शक्ति और ज्ञान के बीच एक गहरा संबंध है। उनका निष्कर्ष था कि मानसिक और शारीरिक श्रेणियों में ज्ञान का विभाजन राजनीतिक व वैचारिक वर्गीय प्रभुत्व को जन्म देता है।

र) उन्होंने सभी सामाजिक संबंधों में शक्ति को व्याप्त माना।

ल) **संघर्षों की समझ** सभी सामाजिक संघर्ष शक्ति जतलाने का एक रूप हैं।

फोकाल्ट और पोलांजा के बीच सहमति के क्षेत्रों को देखने के बाद अब हम उनमें असहमति के क्षेत्रों को देखेंगे। **पोलांजा** ने **फोकाल्ट** की आलोचना इस आधार पर की कि:

1) उन्होंने शक्ति के संबंधों को एकमात्र वस्तु कहा,

2) उन्होंने शक्तियों के बिखराव का तर्क दिया। उन्होंने कहा व्यक्ति के लिए स्वयं को राजसत्ता के बाहर स्थित कर सकना असंभव है। लोक-संघर्ष और आंदोलन राज्य और शक्ति की व्यवस्थाओं को प्रभावित करते हैं।

फिर भी फोकाल्ट और पोलांजा, दोनों ही शक्ति की विवेचना सभी सामाजिक संघर्षों की एक बुनियादी विशेषता के रूप में करते हैं। इस कार्य में उन्होंने शक्ति-संबंधों के रणनीतिक चरित्र को तथा शक्ति के विभिन्न केन्द्रों की महत्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट किया है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: क) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के साथ अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) निगमवादियों ने शक्ति और राज्य को किस प्रकार समझा?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

2) शक्ति की विस्तृत विवेचना करने वाले दो नव-मार्क्सवादी कौन-कौन से हैं?

....

....

....

....

3) बतलाइए कि निम्नलिखित वक्तव्य **सही** हैं या **गलत** हैंः

अ) पोलांजा एक बहुलवादी थे।

ब) फोकाल्ट ने कहाः 'राज्य को समाप्त हो जाना चाहिए।'

स) पोलांजा ने कहाः 'शक्ति और ज्ञान परस्पर संबंधित होते हैं।'

द) राबर्ट डाह्ल हू *गवर्न्स* के लेखक हैं।

य) अमेरिका के अनुभवाश्रित लोकतंत्र के सिद्धान्त के मूल फेडरलिस्ट पेपर्स में पाए जा सकते हैं।

11.7 सारांश

इस इकाई में हमने **शक्ति** का तथा **राज्य** और **वर्गों** से उसके **संबंध** का अध्ययन किया। हमने यह भी देखा कि **विभिन्न सिद्धान्तकारों** ने **शक्ति-संबंधों** को किस प्रकार समझने का प्रयास किया है। हमने राज्य-समाज संबंधों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन भी किया। **कार्ल मार्क्स** का तर्क था कि सामान्यतः राज्य और विशेषकर नौकरशाही द्वारा संचालित विभिन्न संस्थाएँ स्वयं को विभिन्न रूपों में व्यक्त करती हैं और शक्ति का स्रोत होती हैं। नौकरशाही के बारे में **मैक्स वेबर** का वर्णन ऐसे ही विचारों पर आधारित है। जहाँ मार्क्सवादियों ने वर्ग, शक्ति और राज्य के प्रश्नों को इस प्रकार समझा है वहीं एक बहुलवादी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने शक्ति की छानबीन के महत्व को अनदेखा किया है। दूसरी ओर **निगमवाद** ने **हितबद्ध समूहों के व्यवहार** को राज्य समाज संबंधों की **पूँजीवादी समझ** से जोड़ने का प्रयास किया है। हमने सामाजिक निगमवाद के विचारों को भी देखा जिनके अनुसार घटक **इकाइयाँ सुव्यवस्थित सोपानिक सिद्धान्तों** के आधार पर संगठित होती हैं तथा उन्हें कुछ नियंत्रणों के व्यवहार के कारण प्रतिनिधित्व की स्वायत्तता दी जाती है।

संक्षेप में, **शक्ति** सिर्फ एक कर्ता द्वारा दूसरे के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता ही नहीं होती। समाज में विभिन्न कर्ता अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यमान संस्थाओं और सामूहिक निकायों के अंदर शक्ति का व्यवहार एक सुविधा के रूप में करते हैं। सरकार और राज्य के कार्मिकों द्वारा शक्ति का व्यवहार अभिप्रायों और उद्देश्यों की दृष्टि से किया जाता है।

शासन व्यवस्थाएँ प्रभुत्वशाली समूहों की शक्ति से तथा संसदीय व लोकतांत्रिक प्रणालियों के सिद्धान्तों से भी सीमाबद्ध होती हैं। शासन व्यवस्थाओं की शक्ति और राज्य की नीति को तीन प्रमुख विधियाँ निर्धारित करती हैंः **औपचारिक नियम** जो शासन की शक्ति तक पहुँच प्रदान करते हैं; नीतियों को लागू करने की **संस्थागत व्यवस्थाएँ**, तथा संसाधन प्रदान करके राज्य की नीतियों को बल प्रदान करने के बारे में **अर्थव्यवस्था की योग्यता**।

MAADHYAM IAS

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) केनेथ बोल्डिंग - *थ्री फेसेज ऑफ पावर* के लेखक।

2) अभिजातवादी सिद्धान्त छोटे से एक शासक वर्ग अभिजात वर्ग के अस्तित्व को तथा उस विशाल जनसंख्या के अस्तित्व को मानकर चलता है जिस पर ये अभिजात शासन करते हैं।

3) अभिजातवाद और बहुलवाद के बीच अंतर यह है कि जहाँ अभिजातवाद एक अल्पमत के शासन की बात करता है वहीं बहुलवाद बहुमत के शासन की बात करता है। बहुलवाद विविधता का सिद्धान्त हैं।

बोध प्रश्न 2

1) निगमवादी जीवंत एकता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। विभिन्न प्रकार्यात्मक समूहों, खासकर पूँजी और श्रम के संगठनों को चाहिए कि समाज में वर्गीय समन्वय और जीवंत एकता सुनिश्चित करने के लिए अपने प्राकृति अधिकारों और दायित्वों को समझें। राज्य को चाहिए कि प्रकार्यात्मक आधार पर विभेदीकृत श्रेणियों के लिए प्रतिनिधित्व की स्वायत्तता सुनिश्चित करें। उनके पास राज्य द्वारा दी गई स्वायत्तता के अंदर कार्य करने का एकाधिकार होता है।

2) फोकाल्ट और निकालए पोलांजा

3) अ) गलत

   ब) गलत

   स) सही

   द) सही

   य) सही

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 12 विकास संबंधी कार्यनीतियाँ

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 अल्प विकास का तात्पर्य
12.3 प्राचीन पूँजीवादी प्रतिरूप
12.4 सोवियत समाजवादी पद्धति
12.5 विकास संबंधी चीनी कार्यनीति
12.6 तीसरी दुनिया की कार्यनीतियाँ
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में विकास संबंधी सिद्धान्त एवं व्यवहार पर विचार किया गया है तथा पूँजीवादी, समाजवादी एवं विकासशील देशों द्वारा अपनाई विभिन्न कार्यनीतियों को समझाया गया है। इस इकाई के पढ़ने के पश्चात् आपः

- अल्प-विकास तथा विकासहीनता में अंतर समझ सकेंगे;
- पश्चिमी देशों तथा जापान में विकास के प्राचीन पूँजीवादी ढंग को समझ सकेंगे;
- विकास के सोवियत-प्रतिरूप और उसकी असफलता का विवरण दे सकेंगे;
- विकास के संबंध में चीन की परिवर्तनशील कार्यनीति के प्रक्षेप-पथ को समझ सकेंगे; और
- वैश्वीकरण एवं निजीकरण पर आधारित, विकास की नव्य उदारवादी कार्यनीति को समझ सकेंगे।

MAADHYAM IAS

12.1 प्रस्तावना

आप राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन की प्रकृति तथा उसके प्रति राजनीतिक, आर्थिक दृष्टिकोण से परिचित हो चुके हैं। इस इकाई में विकास और अल्पविकास की अवधारणाओं तथा तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में विकास की विविध कार्यनीतियों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। विकास संबंधी कार्यनीतियों पर विचार करते हुए **उदारवादी** लेखक; इस संदर्भ में **लोकतंत्र**, **राष्ट्रीयता** एवं **आधुनिकीकरण** आदि अवधारणाओं पर ज़ोर देते हैं किंतु **अतिवादी** एवं **मार्क्सवादी** चिंतक; **अल्पविकास**, **निर्भरता** और **साम्राज्यवाद** जैसी अवधारणाओं पर ज़ोर देना पसंद करते रहे हैं।

12.2 अल्पविकास का तात्पर्य

19वीं शताब्दी के तीसरे दशक में जब लैटिन अमरीका के बहुत से देश स्पेनी एवं पुर्तगाली शासन की पराधीनता से मुक्त हुए तो वहाँ के लोगों के राजनीतिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन की व्याख्या करने के लिए उन देशों के लेखकों ने अल्पविकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यद्यपि राजनीतिक रूप से उन्हें 150 वर्ष पहले स्वतंत्रता मिल चुकी थी किंतु लोकतंत्र, आधुनिकीकरण एवं राष्ट्रीय राज्य की दृष्टि से वे आर्थिक विकास की अत्यंत मंद गति से ग्रस्त थे।

आन्द्रे गुंडर फ्रैंक की दृष्टि से लैटिन अमेरिकी देशों के अतीत तथा कुछ अफ़्रीकी-एशियायी देशों के वर्तमान के अल्पविकास का तात्पर्य, परिमाण की दृष्टि से विकास का अभाव मात्र नहीं था। औद्योगीकरण से पूर्व यूरोप तथा अन्यत्र के सभी समाज अविकसित तो कहे जा सकते थे किन्तु उन्हें उस अर्थ में अल्प विकसित नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में राजनीतिक उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद लैटिन अमेरिकी या अफ़्रीकी-एशियायी देशों ने अपने आपको पाया था।

तथ्य यह है कि 'विकास' की तरह ही 'अल्पविकास' भी एक आधुनिक घटना है। उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों एवं नव्य उपनिवेशों के अल्प विकास तथा, साम्राज्यवाद के महानगरीय केन्द्रों के विकास, ऐतिहासिक प्रक्रिया के भागों के रूप में तथा वर्तमान एवं भविष्य में निरंतर पारस्परिक प्रभाव का प्रयोग करने की दृष्टि से, एक दूसरे से संबंधित हैं। **पॉल बैरन** ने कहा है कि अल्पविकास मूलतः एवं व्यवस्थापूर्वक उपनिवेशवाद, राजनीतिक प्रभुत्व एवं आर्थिक क्षेत्र में शोषक-शोषित-संबंध का सहचर रहा है।

विकास एवं अल्पविकास के अध्ययन में आर्थिक अधिशेष की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। आर्थिक अधिशेष किसी सामाजिक इकाई के उत्पादन का वह वास्तविक या संभाज्य अधिक भाग है जिसका निवेश या उत्पादन किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता। इस संदर्भ में, आय या संपत्ति की हानि के रूप में पराजित राष्ट्र का त्याग अथवा प्राप्तकर्त्ता देश का कुल लाभ बहुत महत्वपूर्ण नहीं होता वरन् साम्राज्यवादी देश को प्रोद्भुत आर्थिक अधिशेष में उपनिवेश के योगदान का विशेष महत्व होता है। उपनिवेश के लिये यह तात्कालिक एवं संभाव्य पूँजी की हानि होती है।

जहाँ उपान्तीय समाजों को इस पूँजी के द्वारा विकास की संभावनाओं से वंचित रखा जाता है वहाँ महानगरीय साम्राज्यवादी देश इसका उपयोग अपने आर्थिक विकास के लिये कर सकता है। परिमाण की दृष्टि से अनुचर देश का योगदान कम हो या अधिक किन्तु अल्पविकास के रूप में उपनिवेश, अर्द्ध-उपनिवेश या नव्य उपनिवेश का बलिदान बहुत भारी होता है। जहाँ साम्राज्यवादी देश का थोड़ा सा लाभ होता है वहीं आश्रित देश की हानि दस या बीस गुनी होती है। इस प्रकार उपनिवेश को अपने संसाधनों, अनिवार्य सिंचाई व्यवस्था, अपनी सभ्यता, यहाँ तक कि अपने भौतिक अस्तित्व तक से हाथ धोना पड़ सकता है। यूरोपीय लोगों ने जब जातीय संहार करते हुए अमेरिका में उपनिवेश बनाए तो न जाने कितनी मूल अमेरिकी आदिम जातियाँ और राष्ट्रीयताएँ लुप्त प्रायः हो गईं। अतः विकास एवं अल्पविकास केवल आर्थिक राशियों का योगफल नहीं होता। वह उनका संचय होता है जिसे संपूर्ण सामाजिक संरचना एवं प्रक्रिया निर्धारित करती है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

यह स्पष्ट है कि अल्पविकसित देश यदि अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवादी व्यवस्था में सम्मिलित होते हैं तो उन्हें सदैव अल्पविकसित ही रहना पड़ेगा। अल्पविकसित क्षेत्र को अल्पविकास का यह उपहार, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद आज भी दिए चले जा रहे हैं। संयुक्त राज्य

अमेरिका, लैटिन अमेरिकी देशों के संसाधनों का दोहन करके उनकी उतनी हानि नहीं पहुँचाता जितनी हानि इन देशों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक यहाँ तक कि सैन्य क्षेत्रों को अपनी आर्थिक, राजनैतिक तथा सैन्य शक्ति के प्रभाव में रखकर अल्पविकास की संरचना बनाए रखकर पहुँचाता है।

अल्पविकास की इस संरचना के कारण इन देशों के अधिकतर लोगों में ग़रीबी, राजनीतिक स्वतंत्रता के अभाव, सांस्कृतिक क्षति, वर्तमान उत्पादन में, ह्रास, बाल मृत्यु, असुविधाग्रस्त लोगों में भुखमरी, बीमारियों और महामारियों आदि का प्रसार होता रहता है। संभाव्य पूँजी का निरंतर निवास सभी अनुचर देशों तथा साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था में एक नाजुक भूमिका का निर्वाह करता है। भारत तथा अन्य उपनिवेशों से संपत्ति के असीमित निकास ने इंगलैण्ड में व्यापार-वृद्धि तथा औद्योगिक क्षेत्र को प्रोत्साहित किया था किन्तु भारत तथा अन्य उपनिवेशों में उसके कारण उद्योगबंदी की प्रक्रिया तीव्र हो गई थी। अफ़्रीकी दासों के व्यापार ने यूरोप में व्यापारियों तथा अमेरिका में बगीचों के मालिकों को लाभ पहुँचाया किंतु मध्य तथा पश्चिमी अफ़्रीका के अनेक देशों की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि दक्षिण एशिया तथा अंतः सहारयी अफ़्रीका में आज भी प्रति व्यक्ति औसत आय संसार में सब से कम है।

महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का नियंत्रण अल्पविकास के ढाँचे को बनाए रखने में भारी भूमिका अदा करता है। इसका एक उदाहरण है अल्पविकसित देशों से खनिज संसाधानों का निकाला जाना। दूसरा उदाहरण तेल को निकालने और वितरित करने का है। समय-समय पर ऐसे उदाहरण बदलते रहते हैं। सबसे प्रमुख क्षेत्र विदेशों के साथ व्यापार का होता है जिसपर उस देश का नियंत्रण रहता है जिसने अन्य देशों को अपने आश्रित कर रखा हो।

किसी क्षेत्र का बुर्जुआ वर्ग और नौकरशाही का सम्मिलित प्रभुत्व उस क्षेत्र को अनिश्चित काल तक अल्पविकसित बनाए रखने और भविष्य में अल्पविकास को गुरुतर करने के लिये पर्याप्त होता है। अनेक अफ़्रीकी, एशियायी और लैटिन अमेरिकी देशों का बुर्जुआ वर्ग बहु-राष्ट्रीय कंपनियों की आर्थिक शक्तियों तथा उन्नत देशों की सरकारों की राजनीतिक शक्तियों पर अत्यधिक निर्भर होता है। इसीलिए अल्पविकसित देशो में सत्ताधारी अभिजात वर्ग का निहित स्वार्थ, अल्पविकास के ढाँचे को अनिश्चितकाल तक सुरक्षित रखने में ही, सिद्ध होता है।

12.3 प्राचीन पूँजीवादी प्रतिरूप

MAADHYAM IAS

21वीं शताब्दी के प्रारंभ में हमें पूँजीवाद, विकास के एक ऐसे प्रभावी प्रतिरूप की तरह प्राप्त हुआ है जिसने विकास की वैकल्पिक कार्यनीति के रूप में उभरे समाजवाद द्वारा दी गई चुनौती पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त की है। विकास के पूँजीवादी प्रतिरूप की प्रथम सफलता इंगलैण्ड के औद्योगीकरण में दिखाई पड़ी। यह सफलता 1760 ई. और 1820 ई. के बीच की घटना थी। यह उपनिवेशों में (इंगलैण्ड के) एकाधिकार वाले व्यापार के अंतर्गत निःशुल्क उद्यम पर आधारित व्यवस्था थी जिसे प्रायः उपनिवेशी संसाधनों की प्रत्यक्ष लूट का सहारा मिला होता था। कुछ स्थानीय विभिन्नताओं के साथ जिन अन्य देशों ने इसी प्रतिरूप को लागू किया, वे थे, फ़्रांस, हॉलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, इटली और कालान्तर में जापान।

विकास की दृष्टि से पूँजीवादी तंत्रों ने जिस मार्ग को अपनाया था उसका राजनीतिक

इतिहास न तो सहज था न सरल। पूँजीवादी विकास में पूँजी-संचय की अपेक्षाओं तथा राजनीतिक वैधता की आवश्यकताओं के बीच एक अंतर्विरोध झलकता है। इस अंतर्विरोध को, पूँजीवादी विकास के छह भिन्न-भिन्न चरणों के द्वारा हल करने का प्रयत्न किया गया था जिनके लिये वह क्रमागत स्थिति-निर्माणों की आवश्यकता हुई।

एलन वोल्फ़ के अनुसार, संचयी स्थिति, पूँजीवादी औद्योगीकरण के विकास के प्रथम चरण के अनुरूप थी। संचय की वैधता की अपनी ही क्रियाविधि थी। क्योंकि संपत्ति-संचय की कोई भी रीति न्यायसंगत मानी जाती थी अतः संचयी स्थिति सैद्धान्तिक रूप से क़ानून के मनमानेपन से बँधी हुई नहीं थी। इस स्थिति ने उत्पादन को नवोदित व्यवस्था के पैमानों को परिभाषित करने, कामगारों में अनुशासन बनाए रखने, दीर्घ आर्थिक दशाओं को समायोजित करने, औपनिवेशिक युद्धों को लड़ने, पूँजीवादी हितों को जारी रखने, पूँजीपतियों को आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करने तथा विविध गतिविधियों को प्रोत्साहन देने के लिये सरकारी हस्तक्षेप का समर्थन किया।

एडम स्मिथ एवं **रिकार्डो** ने संचय का संकट बढ़ने पर समन्वित स्थिति एवं समन्वय को पूँजीवादी उत्पादन के अनिवार्य तत्व माना था। उन्होंने माना कि बाज़ार की निर्बाधता उत्पादकों के हितों का सामंजस्य उपभोक्ता के हितों से कराती तथा पूँजीपतियों के हितों का कामगारों के हितों से। यह कल्पना असंगति से ग्रस्त थी, सामाजिक डार्विनवाद (विकासवाद) की ओर ले जाती थी अतः एक न्यायसंगत कार्यविधि के रूप में असफल रही।

पूँजीवादी विकास की तीसरी अवस्था प्रसार की स्थिति थी। यद्यपि वित्तीय पूँजी के हित में साम्राज्यवादियों के द्वारा लागू की गई प्रसार की नीति, कामगार वर्ग को स्वदेशी दबावों से छुटकारा दिलाने वाली प्रतीत होती थी किंतु प्रसारवाद का अर्थ था प्राचीन (आभिजात्य) उदारवाद का क्षय। शिक्षा एवं जन संस्कृति के माध्यम से उपनिवेशों में एक अर्द्ध-उपनिवेशों में निर्बाध व्यापार के अंत, असीमित आप्रवास तथा पूँजी के निर्यात की, सैद्धान्तिकता और कामगारों पर नियंत्रण के साथ संगति बिठाई गई थी। प्रथम विश्वयुद्ध ने पूँजीवादी साम्राज्यवाद के इस युग को समाप्त कर दिया।

मताधिकार की स्थिति, पूँजीवादी विकास की चौथी अवस्था थी। इसमें वर्गों और स्तरों के बीच के संघर्ष को नियमानुकूलता प्रदान करने के लिये सार्वजनिक शक्ति निजी निकायों को सौंपने का प्रयत्न किया गया था। इसमें शक्ति के बहुलतावादी विसर्जन की झलक मिलती थी। 'बहुलतावादी लोकतंत्र' की इस पूँजीवादी अवस्था से शक्ति के विसर्जन (सौंपे जाने) की आशा की गई थी, उसके प्रयोग में लाए जाने की नहीं। यह रहस्यात्मकता थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक मताधिकार की स्थिति क्षीण हो गई। निजी हित-समुदाय अपने आपको प्रभावशाली ढंग से व्यवस्थित करने में असमर्थ रहे। यूरोपीय देशों में आर्थिक योजनाओं पर और संयुक्त राज्य अमेरिका में सेना पर बढ़ाए गए व्यय के कारण ये देश अत्यधिक शक्तिशाली हो गए।

MAADHYAM IAS

पूँजीवादी विकास का पाँचवाँ चरण, 'द्वैत स्थिति' थी। इस स्थिति में दो समान्तर संरचनाएँ अस्तित्व में आईं -- एक, जिस पर दमन के माध्यम से व्यवस्था बनाए रखने का भार था और दूसरी, जो लोकतंत्रीय मुखौटा प्रस्तुत करती थी। इस चरण में पूँजीवाद द्विशाखायी हो गया था जिसकी एक शाखा सेना एवं **नौकरशाही** थी तथा दूसरी शाखा जो जनसाधारण के लिये अधिक प्रत्यक्ष थी वह थी **मताधिकार पर आधारित संसदीय क्रियाविधि**।

पूँजीवादी विकास का छठा और वर्तमान चरण राष्ट्रीयता पारीय स्थिति है जिसपर बहुराष्ट्रीय निगमों के उदय ने प्रभुत्व जमा रखा है। यह पूँजी के अंतर्राष्ट्रीयकरण और बाज़ार के भूमंडलीकरण की देन है। किन्तु इस स्थिति में राष्ट्र-राज्य की समस्याओं से छुटकारा नहीं

मिल सका क्योंकि बहुराष्ट्रीय निगमों को सरकारों की सहायता की उस रूप में आवश्यकता पड़ी जैसी इससे पहले कभी नहीं देखी गई थी। इस स्थिति में विश्व-अर्थव्यवस्था तथा विश्व-बाज़ार के नियमन के लिये विश्व-बैंक, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि एवं विश्व-व्यापार-संगठन जैसी संस्थाओं का आविर्भाव हुआ।

भूमंडलीकरण (या वैश्वीकरण), उदारीकरण एवं निजीकरण के अपने नारों के साथ नव्य उदारवाद का विजय घोष ही राष्ट्रीयतापारीय पूँजीवाद है। जो भी सही, संख्य की अपेक्षाओं एवं वैधता की आवश्यकताओं के बीच के तनावों को हल करने में पूँजीवाद की छह स्थितियों में से प्रत्येक असफल रही है। सोवियत पद्धति के समाजवाद की असफलता के बावजूद, आर्थिक विकास की विश्वव्यापी कार्यनीति के रूप में परवर्ती पूँजीवाद को अपनी युक्ति संगतता अभी सिद्ध करनी है।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) अल्पविकास और विकासहीनता में अंतर बताइए।

....

....

....

....

....

....

2) पूँजीवादी विकास के किन्हीं दो चरणों का उल्लेख कीजिए और उनकी संगत स्थितियों के निर्माण को समझाइए।

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही है?

क) अल्पविकास, परिमाणात्मक दृष्टि से विकास का अभाव है।

ख) औपनिवेशीकरण, अल्पविकास का कारण होता है।

ग) पूँजीवादी विकास का प्रथम प्रतिरूप जर्मनी था।

MAADHYAM IAS

घ) पूँजीवादी विकास का प्रथम एवं मूल लक्षण संचय होता है।

ङ) मताधिकार-स्थिति, हित-समुदायों के आत्म-नियमन पर आधारित नहीं थी।

च) आज विकासशील देशों द्वारा स्वीकार की गई कार्यविधियों में अंतर्राष्ट्रीय-आर्थिक-निधि तथा विश्व-बैंक की भूमिका महत्वपूर्ण है।

छ) अल्पविकास का मुख्य कारण आर्थिक अधिशेष का अपव्यय होता है।

12.4 सोवियत समाजवादी पद्धति

सोवियत संघ तथा पूर्वी एवं मध्य यूरोप के सोवियत पद्धति के समाजवादी देशों में जिस सिद्धान्त एवं निर्देशक कार्यविधि को आधिकारिक रूप से अपनाया गया था उसका नाम **मार्क्सवाद-लेनिनवाद** था। पहले से विद्यमान तंत्र के सामाजिक आर्थिक आधार को परिवर्तित करने के लिये इसने उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था को ही समाप्त करने का प्रयास किया।

मार्क्सवाद ने उत्पीड़ित कृषक वर्ग और कामगार वर्ग के गठबंधन द्वारा किए गए **वर्ग-संघर्ष** के माध्यम से **समाजवादी क्रान्ति कराई** तथा साम्यवादी दल के नेतृत्व में श्रमजीवी वर्ग के अधिनायकवाद की स्थापना द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश का लक्ष्य निर्धारित किया।

किंतु पश्चिम के किसी भी उन्नत देश ने मार्क्स की समाजवादी कल्पना के आगे घुटने नहीं टेके। रूस में अवश्य क्रान्ति हुई जो उस समय, अपेक्षाकृत कम विकसित पूँजीवादी देश था। द्वितीय विश्वयुद्ध में नाज़ी जर्मनी की पराजय के बाद पूर्वी तथा मध्य यूरोप के "जनवादी लोकतंत्रीय देशों" पर सोवियत पद्धति का समाजवाद तो लाद दिया गया किंतु उसमें कृषि-कर्म का सामूहिकीकरण शामिल नहीं किया गया। एशिया के चीन एवं कुछ अन्य पड़ोसी देशों तथा बाद में क्यूबा में भी उनकी अपनी अपनी समाजवादी क्रान्तियाँ घटित हुई।

सोवियत रूस तथा उसके अन्य मित्र देशों की समाजवादी व्यवस्थाओं में सभी बड़े आर्थिक क्षेत्रों पर सार्वजनिक या सरकारी स्वामित्व का प्रावधान किया गया। देशी एवं विदेशी बाज़ार पर कठोर नियंत्रण लागू कर दिया गया। सोवियत पद्धति की अर्थव्यवस्था, क्रमागत पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से, राष्ट्रीय संसाधनों के व्यापक आयोजन पर आधारित थी। सभी प्रमुख क्षेत्रः जैसे, उद्योग, कृषि, व्यापार, बैंकिंग, परिवहन एवं संचार आदि; केन्द्रीकृत योजना के अंतर्गत लाए गए।

सोवियत रूस के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अलग-अलग पड़ जाने के कारण, केन्द्रीकृत योजना में; इस्पात, मशीनों और हथियारों जैसे भारी उद्योगों के विकास पर विशेष ज़ोर दिया गया। यह योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था, पूँजीवादी ढंग की मंदी और सुस्ती से मुक्त थी अतः इसमें आर्थिक विकास की दर तेज़ हुई। व्यापारिक समझौते अधिकतर समाजवादी गुट के देशों तक ही सीमित रखे गए किन्तु 1960 के बाद चीन को ऐसे समझौतों से बाहर कर दिया गया क्योंकि उसने अपने आपको समाजवादी राष्ट्रों के सोवियत गुट से अलग कर लिया था।

MAADHYAM IAS

सोवियत संघ में कृषि-कार्य को सामूहिक किया गया था किन्तु अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों में ऐसा नहीं किया गया। यद्यपि अर्थव्यवस्था में यह (कृषि) अपेक्षाकृत छोटा क्षेत्र था किंतु इसमें श्रमजीवियों की बहुत बड़ी संख्या काम करती थी। राज्य, व्यापक रूप से, उपभोक्ता माल के उत्पादन एवं वितरण पर नियंत्रण रखता था। मज़दूर संघ, आधिकारिक राज्य-अभिकरण होते थे और निर्णय लेने में श्रमिक परिषदों की सीमित भूमिका भी होती थी।

समाजवादी देशों की राजनीतिक प्रणाली, लोकतंत्रीय केन्द्रीकरण और एक दल; साम्यवादी दल; या इसी दल के नेतृत्व वाले किसी गठबंधन की तानाशाही पर आधारित थी। विकास के लक्ष्यों एवं क्रियाविधि का निर्धारण मार्क्सवादी-लेनिनवादी दल ही करता था। सशक्त एकदलीय प्रणाली के आदेशों से ही हितों की अभिव्यक्ति एवं सामूहिकता नियंत्रित होती थी। औद्योगिक प्रबंधन एवं प्रशासन के निर्देशक सिद्धान्त, **अनुशासन** एवं **केन्द्रीकरण** थे।

निवेश के लिये आर्थिक अधिशेष लोगों को आवश्यक उपभोक्ता सामान से वंचित रखकर प्राप्त किया जाता था। सभी सामाजिक स्तरों, विशेषकर किसानों ने, औद्योगीकरण में तेज़ी लाने के उद्देश्य से पूँजी-संचयन में सोवियत राज्य की सहायता की। द्वितीय विश्वयुद्ध ने बहुत बड़े स्तर पर जिंदगियों और संपत्ति का विनाश हुआ था। युद्धोत्तर पुनर्वास की मार्शल योजना के अंतर्गत सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों को जो सहायता मिलनी चाहिए थी, संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसे देने से इंकार कर दिया। शीतयुद्ध ने उन्हें सुरक्षा मामलों के लिये अधिक राशि निर्धारित करने के लिये विवश कर दिया था।

पूँजीवादी देशों के आक्रमण की धमकी तथा युद्धजनित विनाश के बावजूद सोवियत संघ, स्तालिन तथा स्तालिनोत्तर काल में 1970 तक, तेज़ी से आर्थिक विकास के पथ पर बढ़ता गया। योजनाबद्ध समाजवादी अर्थव्यवस्था ने निश्चित रूप से सोवियत संघ को विश्व की दूसरी महाशक्ति के रूप में स्थापित होने में समर्थ बनाया। सोवियत प्रणाली के समाजवाद ने पूर्वी यूरोप के कुछ देशों की पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं औद्योगिक समाजों में रूपान्तरित भी कर दिया।

साम्यवादी चीन ने भी 1949 से 1956 तक की क्रान्ति की सफलता के तुरंत बाद सोवियत प्रणाली की आर्थिक आयोजना की होड़ की। तीसरी दुनिया के अनेक राष्ट्रों; जैसे; नेहरू के नेतृत्व में भारत, नासिर के नेतृत्व में मिस्र एवं सुकर्णो के नेतृत्व में इंडोनेशिया आदि ने मुख्यतः सोवियत संघ से प्रेरणा लेते हुए राज्य-पूँजीवाद तथा अधिक व्यापक सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण की दिशा में प्रयोग किए।

यद्यपि एक लंबे समय तक आर्थिक विकास की सोवियत कार्यनीति, पूँजीवादी ढंग की मंदी एवं घाटे का परिहार करने में समर्थ रही किंतु अंततः उसने गतिहीनता एवं अत्यधिक सैन्यीकरण जैसी ख़राबियों के कारण दम तोड़ दिया। **गोर्बाचोब** ने **ग्लासनोस्त** (खुलेपन) एवं **पेरेस्तोइका** (पुनर्निर्माण) के द्वारा सोवियत प्रणाली में सुधार लाने का प्रयत्न किया किंतु उसका परिणाम सोवियत संघ के विघटन और रूस तथा अन्य गणराज्यों में पूँजीवाद के पुनर्स्थापन के रूप में सामने आया। पूर्वी यूरोप के अन्य देश भी पूँजीवादी प्रति क्रान्ति के सामने घुटने टेक गए। इसी सबने यूरोप में सोवियत प्रणाली के समाजवाद की असफलता पर मुहर लगा दी।

12.5 विकास संबंधी चीनी कार्यनीति

MAADHYAM IAS

आर्थिक विकास की चीनी कार्यनीति का प्रतिरूप का अध्ययन सोवियत प्रणाली के विकास के साथ अंतर को भी स्पष्ट करता है और तुलना को भी। सोवियत संघ में **लेनिन** के नेतृत्व में **श्रमजीवी** वर्ग ने **क्रान्ति** की थी और वहाँ उद्योग, बैंकिंग, व्यापार, परिवहन तथा संचार व्यवस्था के राष्ट्रीयकरण द्वारा अर्थव्यवस्था को सीधे-सीधे समाजवादी ढाँचे में ढाल दिया गया था। **स्तालिन** के नेतृत्व में कृषि-कार्य का **सामूहिकीकरण** कर दिया गया। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के रूप में वहाँ की अर्थव्यवस्था के ह्रास की अंतिम स्थिति से पूर्व क्रमागत पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से केन्द्रीकृत नियंत्रित अर्थव्यवस्था चलती रही थी।

चीन में 1949 में घटित **माओज़ेदुंग** की **क्रान्ति** को **'नव्य लोकतांत्रिक'** कहा गया था। इसमें 1954 तक राष्ट्रवादी एवं छोटे मध्यवर्गीय लोगों को भी चीन के आर्थिक विकास में भाग लेने की अनुमति दी गई थी। इस अवधि में एक आमूल परिवर्तनकारी भूमि सुधार क़ानून लागू किया गया जिसमें भूमि पर से सामंती ज़मींदारों का स्वामित्व समाप्त कर दिया गया और उसे वास्तविक खेतिहरों में बाँट दिया गया। उसके बाद माओ ने समाजवादी क्रान्ति का लगातार समर्थन किया। परिणामस्वरूप चीन के किसान सहकारी समितियों और समूहों में पुनर्विभक्त हो गए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1953-1957) का लक्ष्य यह रखा गया कि तेज़ गति से व्यापक औद्योगिक ढाँचे की नींव रखी जाए। पूँजीगत माल के क्षेत्र में निवेश को प्राथमिकता दी गई (50 प्रतिशत से अधिक का निवेश किया गया)। उपभोक्ता माल की वृद्धि को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया। कृषि को केवल 6.2 प्रतिशत दिया गया तथा उसे प्रायः किसानों की व्यक्तिगत पहल के लिये छोड़ दिया गया। सोवियत संघ ने चीन को ऋण के रूप में लगभग 3 अरब डॉलर की राशि दी तथा तकनीकी एवं विशेषज्ञता संबंधी अत्यावश्यक सहायता भी प्रदान की।

आशबुक के अनुसार चीनी साम्यवादियों ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में कृषि क्षेत्र में बड़े पैमाने पर मशीनों का प्रयोग नहीं किया। यह एक सही कार्यनीति थी। पहले औद्योगिक आधार को विस्तृत करना अधिक आवश्यक था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत तक, आर्थिक विकास की दृष्टि से, चीन पर्याप्त प्रगति कर चुका था।

1958 की **'लंबी छलाँग'** और 1958-1961 के संकटपूर्ण वर्षों में **कम्यूनों** (घनिष्ठताबद्ध गुटों) का सर्जन हुआ तथा **'द्विपद चालित'** औद्योगिक नीति लागू की गई जिसका अर्थ था, छोटे एवं बड़े उद्योगों का साथ-साथ विकास तथा देशी तकनीकों एवं आधुनिक विधियों का साथ-साथ प्रयोग।

'पीपल्स कम्यून', केवल नई प्रशासनिक इकाई नहीं थी वरन उनका गठन भूमि संबंधी समाजवाद की दिशा में एक प्रयोग भी था। उनका उदय सहकारी समितियों के विलय का परिणाम था। पूरे चीन में सितंबर 1958 तक 90 प्रतिशत किसान कम्यूनों के रूप में संगठित हो चुके थे। 'लंबी छलांग', जिसके अंतर्गत प्रत्येक कस्बे या गाँव में भी इस्पात की ढलाई के कारखाने स्थापित करने की योजना को प्रोत्साहन दिया गया था, आर्थिक विकास के लिये ग़लत नीति सिद्ध हुई। बाढ़ और अकाल जैसी राष्ट्रीय आपदाओं (जिनमें **अमर्त्य सेन** के मत से लाखों लोगों की जानें गईं), सोवियत संघ द्वारा आर्थिक सहायता बंद करने और कम्यूनों में गंभीर संगठनात्मक समस्याओं ने 1958-1961 के संकटपूर्ण वर्षों में चीन की अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया। परिणामस्वरूप चीन का आर्थिक विकास काफ़ी धीमा हो गया। कालान्तर में चीनी नेतृत्व ने एक नई आर्थिक नीति लागू की जिसे **'बाज़ारी समाजवाद'** नाम दिया गया।

MAADHYAM IAS

चीनी नेताओं ने समझ लिया कि 'पीपल्स कम्यूनों' का प्रयोग इसलिए विफल हुआ था क्योंकि उसमें विकास के लिये आवश्यक ऐतिहासिक चरणों की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पहले तीन वर्ष गंभीर आर्थिक मंदी में और अंतिम दो वर्ष पुनर्योजन की नीति में बीतें। फिर 1963-65 के तीन वर्षों में, और भी अधिक पुनर्योजन किया गया। इसे द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं के बीच का संक्रमण काल माना गया।

सन् 1966 मे चीन ने अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का सफलतापूर्वक पुनर्योजन कर लिया था, गंभीर आर्थिक कठिनाइयों पर काबू पा लिया था और तृतीय पंचवर्षीय योजना को लागू

करना प्रारंभ कर दिया था। ठीक उसी समय **माओ ज़ेदुंग** ने अपनी **'सांस्कृतिक क्रान्ति'** प्रारंभ की। **डैंग ज़िओपिंग** के मत से उसमें क्रान्ति जैसी कोई बात थी ही नहीं। वह एक आंतरिक अव्यवस्था थी जिसने पूरे एक दशक के लिये चीन के आर्थिक विकास को तहस नहस कर दिया।

माओ ज़ेदुंग ने सांस्कृतिक क्रान्ति चीन में पूँजीवाद की वापसी को रोकने के लिये प्रारंभ की थी। वह मानता था कि ल्यू शाओंक़ी और डैंग ज़िओपिंग जैसे चीनी नेता, 'पूँजीवादी मार्ग के पथिक' थे जो चीन को पूँजीवादी विकास के अतीत की ओर वापस ले जाना चाहते थे। सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा पैदा हुई अस्त-व्यस्तता के कारण 1967-68 में चीन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तेज़ी से लड़खड़ा गई।

चीन के प्रधानमंत्री ज़ाउ-एन-लाइ व्यावहारिक नीतियों का पालन करते हुए अर्थव्यवस्था की क्षति पर किसी सीमा तक अंकुश लगाने में समर्थ रहे थे। माओं के बाद के नेता, सांस्कृतिक क्रान्ति को एक ऐसा युग मानते हैं जिसमें 'वाम पंथी' भूलों के कारण आर्थिक विकास की प्रक्रिया पूरी तरह पटरी से उतर गई थी। इस अवधि में राष्ट्रीय आय में 500 अरब युआन की कमी हुई थी और लोगों का जीवन-स्तर बहुत गिर गया था।

1976 में माओ ज़ेदुंग की मृत्यु के तथा माओ की वफ़ादार 'चौकड़ी' के दमन के पश्चात्, सत्ता डैंग ज़िओपिंग एवं तथाकथित 'पूँजीवादी मार्ग के पथिकों' के हाथों में आ गई। नए नेतृत्व ने बड़े पैमाने पर उस दिशा में आर्थिक सुधार लागू किए जिसे उन्होंने 'चीनी लक्षणों वाला समाजवाद' कहा। व्यवहार में यह क़दम विकास के लिये माओं द्वारा लागू की गई उस नीति का निराकरण था जिसमें माओ ने चीन की अर्थव्यवस्था में प्रारंभिक स्थितियों में ही समाजवादी सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न किया था। इस नीति ने चीन को नव्य उदारवाद की दिशा में धकेल दिया यद्यपि आधिकारिक रूप से डैंग ने कहा था कि आर्थिक विकास की नई कार्यनीति का 'बुर्जुआ उदारवाद' से कोई संबंध नहीं था।

सरकार ने सामूहिक स्वामित्व वाली कृषि-भूमि को उत्तराधिकार के प्रावधानों सहित, दीर्घकालीन पट्टेदारी के आधार पर, किसानों में बाँटकर खेती में **'पारिवारिक दायित्व पद्धति'** को लागू किया। यह, चोर दरवाज़े से, चीन में निजी स्वामित्व वाली खेती को पुनर्प्रविष्ट कराना ही था। जो भी सही, यद्यपि इस नई पद्धति ने किसी सीमा तक ग्रामीण समाज में असमानता को बढ़ावा दिया किंतु इससे कृषि-उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। चीन में सोवियत संघ की अपेक्षा यंत्रीकरण का स्तर नीचा होते हुए भी, चीन की परिवार-आधारित खेती सोवियत संघ की सामूहिक खेती की अपेक्षा उत्पादन की दृष्टि से बेहतर सिद्ध हुई थी। साम्यवादी दल के बारहवें और तेरहवें सम्मेलनों के बीच के पाँच वर्षों में आर्थिक सुधारों तथा बाहरी जगत के लिये अपनी अर्थव्यवस्था में छूट देने की शुरुआत दृष्टि से चीन ने बहुत प्रगति की। औद्योगिक पुनर्संरचना सम्पन्न हो गई थी। उत्पादक एवं लाभकारी उद्यमों में निवेश बढ़ा दिया गया था। कृषि, ऊर्जा संसाधनों, परिवहन एवं संचार को विशेष समर्थन दिया गया था। सन् 1990 तथा 1999 के बीच सकल राष्ट्रीय उत्पाद की औसत वृद्धि दर 10 से 11 प्रतिशत वार्षिक हो गई। इस दौर में, चीन की अर्थव्यवस्था तेज़ी से उदारीकृत एवं निजीकृत हुई थी। यह जिस पद्धति से किया गया था उसे चीनी **'संविदात्मक उत्तरदायित्व पद्धति'** कहना पसंद करते हैं। इसमें भूमि तथा संपत्ति प्राप्तकर्त्ताओं को पट्टेदारी के दीर्घकालीन अधिकार दिए गए थे।

MAADHYAM IAS

चीन ने विदेशी पूँजी-निवेश को प्रोत्साहन प्रदान किया तथा सभी विदेशी निवेशकों पर अनुकूल शर्तें लागू कीं। तटीय प्रान्तों में चौदह विशिष्ट क्षेत्र बनाए गए जहाँ विदेशी

व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को 100 प्रतिशत निवेश की अनुमति दी गई थी। भारी परिणाम में विदेशी पूँजी का चीन में निवेश किया गया। विदेशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान तथा पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ चीन का व्यापार खूब फला फूला। हांगकांग तथा मकाओ अब इस आश्वासन के साथ साम्यवादी चीन के भाग बन चुके हैं कि आगामी 50 वर्षों तक उनकी (वर्तमान) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बनी रहने दी जाएगी। साम्यवादी चीन ने यह वचन भी दिया है कि जब कभी भी ताईवान मुख्य भूमि में शामिल होगा, उसकी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को निरंतर संरक्षण दिया जाएगा।

चीनी विकास की कार्यनीति की शक्ति निम्नलिखित कार्यों में निहित हैः

1) ज़मींदारी प्रथा की समाप्ति, अनुत्पादक कम्यून प्रणाली का अंत, कृषि में पारिवारिक पट्टेदारी वाले खेतों की स्थापना, ग्रामीण उद्यमों में किसानों की पहल को प्रोत्साहन।

2) जनसाधारण की ग़रीबी का उन्मूलन, शिक्षा को प्रोत्साहन तथा निरक्षरता का निराकरण, व्यापक स्वास्थ्य सेवाएँ, एक संतान के मानक का पालन करते हुए जनसंख्या-नियंत्रण।

3) आर्थिक सुधार, जिनमें अर्थव्यवस्था को उदार बनाया गया और उसे शेष विश्व के लिये मुक्त किया गया।

4) चीन में अपनी नीतियों में बाज़ार, लाभप्रदता, प्रतिस्पर्द्धा तथा विश्व अर्थव्यवस्था के एकीकरण के महत्व को अपनी शर्तों पर मान्यता प्रदान की।

5) चीनी नेतृत्व मानता है कि चीन में समाजवाद अभी प्रारंभिक अवस्था में है और उसका यह संक्रमण काल एक शताब्दी तक चल सकता है।

6) चीन के विकास की कार्यनीति व्यावहारिकता पर आधारित होनी चाहिए। जैसा डैंग ने कहा है कि बिल्ली काली हो या सफ़ेद (इससे फ़र्क नहीं पड़ता) मुख्य बात यह है कि उसमें चूहों को पकड़ने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित क्रय-शक्ति-समता के मानदंडों के आधार पर चीन सकल घरेलू उत्पाद में, संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर पहुँच चुका है। यहाँ तक कि जापान भी उसकी तुलना में पिछड़कर आज तीसरे स्थान पर रह गया है।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) सोवियत-विकास-कार्यनीति की तीन मुख्य विशेषताएँ बताइए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) चीन में माओ-परवर्ती-कार्यनीति अपनी पूर्ववर्ती नीति से निम्नलिखित संदर्भों में भिन्न है।

....

....

....

....

12.6 तीसरी दुनिया की कार्यनीतियाँ

एशिया, अफ़्रीका एवं लैटिन अमेरिका के अल्पविकसित देशों ने अपने अपने यहाँ 1950 से 1970 तक अर्थव्यवस्था के उस प्रतिरूप को लागू किया जिसे **चार्ल्स बैटेल्हीम** ने **राज्य-पूँजीवादी-प्रतिरूप** कहा है। यह ठीक है कि इनकी अर्थव्यवस्थाओं में राज्य की भूमिका हर देश में अलग-अलग रही। इसका उद्देश्य अवसरंचना को सुदृढ़ करना तथा स्वतंत्र आर्थिक आधार तैयार करना था जिसके लिये निजी पूँजी उपलब्ध नहीं हो पा रही थी। सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान काफ़ी कम; जैसे इंडोनेशिया में 20 प्रतिशत या काफ़ी अधिक जैसे अल्जीरिया में 70 प्रतिशतः रहता था।

किंतु अनेक विकासशील देशों ने न तो राज्य-पूँजीवाद की कार्यनीति को लागू किया और न किसी बड़े सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया। लैटिन अमेरिका के अधिकतर देशों; जैसे, ब्राज़ील, अर्जेंटाइना और चिली ने पूँजीवादी प्रतिरूप को लागू किया जिसमें विदेशी पूँजी की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। मैक्सिको जैसे देश में भी, जहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रयोग किया गया था, विदेशी पूँजी सर्वथा अनुपस्थित नहीं थी। दक्षिण पूर्वी एशियायी देशों ने भी आर्थिक विकास की बाज़ार-आधारित नीति को ही पसंद किया था। कालान्तर में दक्षिण कोरिया, ताइवान, हांगकांग तथा सिंगापुर एशिया के आर्थिक शिखरों के रूप में उभरे और पूँजीवादी विकास के उत्कृष्ट एशियायी प्रतिरूप बन गए।

पॉल बैरेन के अनुसार, तीसरी दुनिया के देशों की विकास संबंधी कार्यनीतियों में दो भिन्न प्रकारों के अभिविन्यास दिखाई पड़ते हैं। वह कहता है कि पिछड़े हुए देशों में से बहुत बड़ी संख्या उन देशों की है जो स्पष्टतः पुनर्निवेशवादी अभिलक्षण वाली शासन प्रणाली द्वारा शासित हैं और उनकी कार्यनीतियाँ भी पुनर्निवेशी पूँजीवादी विकास पर आधारित हैं। **बैरेन** के अनुसार दूसरे अल्पविकसित देश वे हैं जहाँ 'नव्य व्यवहार' के अभिविन्यास वाली सरकारें हैं, जैसे, भारत, इंडोनेशिया तथा बर्मा (मयनमार) आदि। पहली श्रेणी में उसने मध्य-पूर्व, लैटिन अमेरिका एवं अफ़्रीकी-एशियायी तेल उत्पादक देशों तथा लैटिन अमेरिकी मूल्यवान खनिजों एवं खाद्य पदार्थों के उत्पादक देशों को रखा। इन में से बहुत से देशों में पश्चिम समर्थक तानाशाहों का शासन है जो विकास की पुनर्निवेशी पूँजीवाद पर आधारित नीति का पालन करने के लिये बाध्य है। ऐसे शासनों के लिये बैरेन द्वारा कथित अभिलक्षण, 'पुनर्निवेशी', अब अतीत का विषय हो चुका है और प्रचलन में नहीं रहा।

MAADHYAM IAS

दूसरी श्रेणी, **'नव्य व्यवहारवादियों'** में बैरेन ने उन देशों को रखा था जहाँ कोई राष्ट्रवादी बुर्जुआ सत्ता में था और जो अन्य शोषित वर्गों के सहयोग से, देश के सर्वांगीण विकास के लिये एक स्वतंत्र आर्थिक आधार तैयार करने का प्रयत्न कर रहा था। इन देशों में सामाजिक मुक्ति के लिये बहुत दबाव नहीं था अतः यहाँ की सरकारों ने औद्योगिक पूँजीवाद के लिये एक स्वदेशी प्रकार की विकसित करने वाली कार्यनीति को अंगीकार किया जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र, दोनों में सहयोग का संबंध हो।

किन्तु **नव्य व्यवहारवादी** शासन प्रणाली भी कुछ अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। उदाहरण के लिये यह **भू-स्वामियों** को अप्रसन्न नहीं कर सकती अतः कृषक-समर्थक भूमि-सुधारों को लागू नहीं कर सकती। यह प्रणाली, व्यापारियों और (ऋणजीवी) महाजनों को प्राप्त विशेष सुविधाओं में हस्तक्षेत्र नहीं कर सकती। यह शासन प्रणाली कामगारों की जीवन-दशाओं को सुधारने में असमर्थ है क्योंकि यह व्यापारी वर्ग को नाराज़ नहीं कर सकती। साम्राज्यवाद विरोधी होते हुए भी यह प्रणाली विदेशी पूँजी का समर्थन करती है।

इस शासन-प्रणाली में छोटे मोटे सुधार आमूल परिवर्तनों के स्थानापन्न हो जाते हैं और क्रान्तिकारी कार्यों का स्थान क्रान्तिकारी शब्द ले लेते हैं। यह प्रणाली औद्योगीकरण के लिये लड़ने में असमर्थ रहती है और राष्ट्र के पिछड़ेपन, ग़रीबी, निरक्षरता या अस्वस्थता आदि के विरुद्ध निर्णायक प्रहार के लिये लोगों को जुटाने में भी असमर्थ रहती है। राज्य-पूँजीवादी-प्रतिरूप, सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात-संयंत्र लगा सकता है, उर्वरक-संयंत्रों की स्थापना कर सकता है, जल-विद्युत-शक्ति का विकास कर सकता है, तेल एवं गैस उत्पादक संयंत्रों का निर्माण कर सकता है; आदि आदि; किंतु सरकार कभी भी निजी क्षेत्र के किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं करती। दूसरी ओर निजी क्षेत्र से जिस भूमिका को निभाने की अपेक्षा की जाती है उसमें वह असमर्थ रहता है। जनसंख्या-वृद्धि पर नियंत्रण नहीं रह पाता और सच्चे अर्थों में उसके कारण प्रायः आर्थिक विकास निष्प्रभावी हो जाता है।

राज्य-पूँजीवादी प्रतिरूप पर आधारित विकास-कार्यनीतियों को आज लगभग सभी विकासशील देशों ने अस्वीकार कर दिया है। प्रायः सभी देशों में, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की सलाह से और उन्हीं के द्वारा समर्थित नव्य उदारवादी आर्थिक सुधार, भिन्न-भिन्न गतियों से चल रहे हैं। भारत सहित सभी विकासशील देशों में सरकारी क्षेत्र को धीरे-धीरे हटाया जा रहा है।

नव्य-उदारवादी सुधारों को लागू करने में चीन, दक्षिण कोरिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर, मलेशिया, इंडोनेशिया, फिलिपीन्स और कुछ लैटिन अमरीकी देशों ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इसके विपरीत भारत में सुधार-कार्यक्रमों के क्षीणकाय प्रभावों पर अभी बहस ही चल रही है। दक्षिण-अफ्रीका को अपवाद मान लें तो अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष - विश्व बैंक - प्रतिरूप ने, अफ्रीकी देशों की मदद, सराहनीय ढंग से नहीं की है। यह ठीक है कि सभी विकासशील देशों के आभिजात्य-शासक-वर्ग द्वारा उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण को विकास के मार्गदर्शक सिद्धान्तों के रूप में सार्वभौमिक मान्यता प्रदान की गई है। मूलतः यह आर्थिक विकास की **बाज़ारोन्मुख, पूँजीवादी** कार्यनीति है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) तीसरी दुनिया के देशों द्वारा अपनाई गई विकास संबंधी कार्यनीतियों के मूल लक्षणों को गिनाइए।

....

....

....

....

12.7 सारांश

नव्य उदारवाद के भारी प्रसार के वर्तमान दौर में अध्ययन करते हुए यह माना जा चुका है कि विकास के क्षेत्र में सरकार की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। अल्पविकास का अर्थ, केवल इतना ही नहीं है कि प्रति व्यक्ति की आय कम हो वरन् उसमें सुदृढ़ संरचनाओं का अभाव, अनुपलब्ध बाज़ार एवं बाहरी दबाब भी शामिल होते हैं। विकास की समुचित कार्यनीति के लिये, उत्पादन पद्धति का सक्षम प्रबंध, मानव-विकास एवं मानवाधिकारों के दृष्टिकोण तथा पुनर्वितरण की नीतियों के पालन की आवश्यकता होती है। विकास की कार्यनीतियों का उद्देश्य, क्षेत्रों के बीच किसी अर्थव्यवस्था तथा विभिन्न देशों के बीच अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की असमानताओं में कटौती, होना चाहिए। सोवियत प्रणाली के समाजवाद के पतन से पूँजीवाद, अर्थात् बाज़ारोन्मुखी अर्थ-व्यवस्था; की संगति असंदिग्ध रूप से प्रमाणित नहीं हो गई। यह अर्थव्यवस्था अब भी आय के अनुचित वितरण एवं समय-समय पर होने वाली मंदी से ग्रसित रहती है। आज भी बहुत से देश अल्पविकसित हैं।

12.8 शब्दावली

अल्प विकास : किसी आश्रित अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप द्वारा प्रेरित विकृत विकास।

जाति-संहार : किसी पराजित जाति का जानबूझकर किया गया विनाश।

बहुराष्ट्रीय : समस्त भूमंडल पर बहुत से देशों में सहायक प्रचालन वाली कंपनियाँ।

पूँजीवाद : उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था।

समाजवाद : उत्पादन के साधनों के सामाजिक या सरकारी स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था।

नव्य उदारवाद : पूरे संसार में मुक्त उद्यम एवं मुक्त व्यापार का समर्थन करने वाला नया दृष्टिकोण।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद : भूतपूर्व सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन द्वारा आधिकारिक रूप से स्वीकृत समाजवादी प्रतिरूप का सिद्धान्त।

पूँजीवादोन्मुख पथिक : डैंग ज़िओपिंग जैसे चीनी नेता, जो माओ ज़ेदुंग के मत में, चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे।

क्रय-शक्ति-समतुल्यता : राष्ट्रीय मुद्रा की क्रय-शक्ति के अनुरूप सकल घरेलू उत्पाद की गणना की विधि।

अनुचर देश : कोई उपनिवेश अथवा स्वतंत्र देश जो किसी उपनिवेशवादी राज्य अथवा प्रभावी (प्रबल) शक्ति पर आश्रित हो।

परिधीय समाज : ऐसे समाज (समुदाय) जिन्हें शक्ति-आकलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। उन्हें प्रायः उपनिवेश बनकर रहना पड़ा था।

MAADHYAM IAS

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Asirvatham, E & Mishra, K.K. 2001, *Political Theory*, Chapters 12, 13 and 14, S.Chand & Company, New Delhi

Baran, Paul, A., 1973, *Political Economy of Growth*, Penguins, Chapters 4, 5, 6 and 8.

Clzilcote, Ronald H., 1981, *Theories of Comparative Politics*, Chapter 7, Westview Press, Boulder – Colorado.

Frank, Arthur, Gunder, 1967, *Capitalism and Underdevelopment in Latin America,* Monthly Review Press, New York.

Kay, Geoffrey, 1975, *Development and Underdevelopment – A Marxist Analysis*, Macmillan Press, London.

Misra, K.K. & Iyengar, Kalpana M., 1988, *Modern Political Theory, Part 111,* Chapters 5, 6, 12 and 13, S. Chand & Company, New Delhi.

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अल्पविकास, पूँजीवादी साम्राज्यवाद कृत विकृत विकास होता है जबकि विकासहीनता वह ऐतिहासिक दशा होती है जो साम्राज्यवाद द्वारा शोषित न किए गए किसी देश में औद्योगीकरण से पूर्व विद्यमान थी। भारत, 1947 में अल्प विकसित था किंतु जापान 1868 में अविकसित (विकासहीन) था।

2) निम्नलिखित छह में से कोई दोः

   1) संचय (संचयी स्थिति)
   2) समन्वय (समन्वयी स्थिति)
   3) बहुलतावाद (मताधिकार स्थिति)
   4) प्रसार (प्रसारवादी स्थिति)
   5) द्वैतवाद (द्वैत-स्थिति) तथा
   6) बहुराष्ट्रीयतावाद (राष्ट्रीयतापारीय स्थिति)

3) क) ग़लत।
   ख) सही
   ग) ग़लत।
   घ) सही।
   ङ) ग़लत।
   च) सही।
   छ) सही।
   ज) सही।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) 1) केन्द्रीकृत आर्थिक योजना।

2) उद्योग, व्यापार, बैंकिंग, परिवहन एवं संचार का राष्ट्रीयकरण।

3) कृषि का सामूहिकीकरण।

2)

माओ की कार्यनीति	**उत्तर-माओ कार्यनीति**
कृषि का सामूहिकीकरण।	पारिवारिक खेत।
पीपल्स कम्यून।	कम्यूनों का उन्मूलन।
राजकीय क्षेत्र का प्रभुत्व।	चरणबद्ध निजीकरण।
विदेशी पूँजी का विरोध।	विदेशी पूँजी का स्वागत।
सैद्धान्तिक समाजवाद।	नव्य-उदारवादी सुधार।

बोध प्रश्न 3

1) तीसरी दुनिया के देशों द्वारा अपनाई गई विकास-नीतियाँ सर्व सामान्य नहीं थीं -

1) कुछ देशों; जैसे, भारत, मिस्र एवं अल्जीरिया, ने राज्य-पूँजीवादी-प्रतिरूप स्वीकार किया और अर्थव्यवस्था के राजकीय क्षेत्र का सर्जन किया।

2) किंतु सार्वजनिक क्षेत्र के साथ-साथ, इन देशों में एक निजी क्षेत्र भी सह-अस्तित्व में रहा जिसे आर्थिक विकास में योगदान के लिये प्रोत्साहित किया गया।

3) ब्राज़ील, अर्जेण्टाइना, दक्षिण कोरिया, सिंगापुर आदि ने प्रारंभ से ही विकास की बाज़ारोन्मुखी कार्यनीति को स्वीकार किया।

4) दोनों ही प्रकार के विकासशील देशों में विदेशी पूँजी को आमंत्रित किया गया किन्तु बाज़ारोन्मुखी अर्थव्यवस्थाओं को विदेशी पूँजी अधिक उपलब्ध हुई।

5) कुछ देशों; जैसे, कंबोडिया, उत्तरी कोरिया एवं क्यूबा; ने विकास की समाजवादी कार्यनीति को सोत्साह अपनाया।

6) 1970 के बाद सभी विकासशील देश धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक के निर्देशक सिद्धान्तों के प्रभाव में आते गए क्योंकि एक-एक करके उन सबके सामने विदेशी मुद्रा का संकट उपस्थित होता गया।

7) चीन सहित सभी विकासशील देशों में, चरणबद्ध रूप से किंतु अलग अलग वेग से नव्य उदारवादी आर्थिक सुधार लागू किए गए।

8) नव्य उदारवाद, मुक्त व्यापार एवं मुक्त उद्यम के आधार पर, जहाँ तक संभव हो, तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं के वैश्वीकरण का समर्थन करता है।

9) सभी विकासशील देश, आर्थिक विकास को मानवोत्थान एवं पुनर्वितरण संबंधी न्याय के साथ संयुक्त करने के लिये प्रयास करते रहते हैं।

10) व्यवहार में चीन, वियतनाम एवं क्यूबा जैसे समाजवादी देशों को छोड़कर अन्य विकासशील देशों की विकास नीतियों ने सामाजिक असमानताओं में वृद्धि की है।

MAADHYAM IAS

इकाई 13 शासन प्रणालियों के वर्गीकरण की पद्धतियाँ

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 वर्गीकरण की समस्याएँ

13.3 प्राचीन युग में वर्गीकरण

13.3.1 अरस्तू का वर्गीकरण

13.3.2 अरस्तू के वर्गीकरण का विस्तार

13.4 आधुनिक वर्गीकरण

13.5 समकालीन वर्गीकरण

13.6 शक्ति-विभाजन के आधार पर वर्गीकरण

13.6.1 एकात्मक सरकार

13.6.2 संघात्मक सरकार

13.7 विधायी-कार्यपालिका संबंधों के आधार पर वर्गीकरण

13.7.1 संसदीय सरकार

13.7.2 अध्यक्षात्मक सरकार

13.8 सारांश

13.9 शब्दावली

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिवेश में राज्यों और सरकारों के वर्गीकरण की विधियों का अध्ययन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण की विभिन्न रीतियों/विधियों की पहचान कर सकेंगे;
- राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण के समय-समय पर अपनाए गए आधारों और सिद्धान्तों का वर्णन कर सकेंगे;
- राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण की किसी सार्वभौमिक विधि अपनाने की समस्याओं की पहचान कर सकेंगे;
- वर्गीकरण के बदलते प्रतिमानों का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- विभिन्न, लोकतान्त्रिक सरकारों की व्याख्या कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

13.1 प्रस्तावना

राजनीतिक पद्धतियों का अध्ययन, अति प्राचीन काल से किया जाता रहा है। उनका वर्गीकरण उतना ही पुराना है जितना राजनीति का अध्ययन। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से ही इस दिशा में अनेकों प्रयास किए गए हैं। ग्रीक युग में वर्गीकरण का आधार अत्यंत सीमित था, तथा इसका मुख्य दायरा शासकों की संख्या तथा उनके शासन की गुणवत्ता तक ही सीमित था। मध्यकाल में **बोदाँ**, **माँतेस्कयू**, **रूसो**, **कांत** इत्यादि ने अरस्तू के वर्गीकरण में सुधार करने के प्रयास किए, परन्तु वे अधिक सफल न हो सके। आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के उदय के साथ वर्गीकरण की नई पद्धतियों का विकास हुआ। अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों से राजतन्त्र को गहरा धक्का लगा, तथा लोकतन्त्र का उदय हुआ। साथ ही, सरकार के विभिन्न अंगों -- विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका -- के कार्यों को भी परिभाषित किया गया। अमरीकी संविधान ने संघवाद एवं शक्ति-पृथक्करण की अवधारणाओं को स्पष्ट किया, तथा **अध्यक्षात्मक सरकार** की स्थापना की। आधुनिक समय में राजनीति शास्त्रियों ने वर्गीकरण की नई रीतियाँ अपनाई, और सरकारों को सीमित राजतन्त्र, लोकतान्त्रिक - गणराज्य, संसदीय, अध्यक्षात्मक, एकात्मक तथा संघात्मक श्रेणियों में रखा। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सरकारों के वर्गीकरण को और भी परिष्कृत किया गया। यह उत्तर-उपनिवेश युग में अनेक संप्रभु राज्यों की स्थापना ने आवश्यक बना दिया। साथ ही अनेक साम्यवादी/समाजवादी राज्यों की स्थापना भी हुई थी। आज इक्कीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संसार में अनेक प्रकार की शासन पद्धतियाँ हैं, परन्तु उनके वर्गीकरण का कोई एक सर्वमान्य आधार संभव नहीं है। हम सबसे पहले राजनीतिक प्रणालियों के वर्गीकरण सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं का विवेचन करेंगे, और फिर समय-समय पर विभिन्न लेखकों द्वारा अपनाए गए वर्गीकरण की समीक्षा करेंगे।

13.2 वर्गीकरण की समस्याएँ

राजनीतिक प्रणालियों के वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य यह निर्धारित करना है कि विभिन्न व्यवस्थाओं के सबसे महत्वपूर्ण तथा सबसे कम महत्व के तत्वों का भेद मालूम किया जा सके। वर्गीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश अवश्य डाला जाता है। इसका अर्थ यह भी है कि विविध राजनीतिक पद्धतियों में क्या सम्बन्ध है। इस संदर्भ में सामाजिक - आर्थिक संरचना का विशेष महत्व है। सरकारों के प्रकार अनेक होने के कारण अध्ययन मूल रूप से इस पर निर्भर करेगा कि किस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर तलाश किया जा रहा है।

MAADHYAM IAS

यह स्मरण रखना होगा कि कोई अध्ययनकर्ता किसी राजनीतिक पद्धति के किस पक्ष को अलग कर उस पर बल देना चाहता है। अतः सभी परिस्थितियों के लिए वर्गीकरण की कोई एक व्यवस्था नहीं हो सकती है। प्रश्न यह होगा कि किसी वर्गीकरण विशेष का उद्देश्य क्या है। यद्यपि अध्ययन के परिणाम आन्तरिक हो सकते हैं, फिर भी अच्छे वर्गीकरण का आधार सरलता होना चाहिए।

सरलता के मार्ग में भी कठिनाइयाँ हो सकती हैं। **प्रथम,** जिस अवधारणा का प्रयोग किया जा रहा है उसको परिभाषित करने की समस्या। उदाहरण के लिए, अमेरिका और रूस में स्वतंत्रता के अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं। **द्वितीय**, एक ही स्तर की राजनीतिक संस्थाएँ

विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों में एक जैसे कार्य कर सकती हैं। अर्थात्, ब्रिटिश राजतन्त्र के कार्य लगभग वैसे ही हैं जैसे कि जर्मन राष्ट्रपति के। कहा जा सकता है कि फ्रांस के राष्ट्रपति की शक्तियाँ अमरीकी राष्ट्रपति से भी अधिक हैं। पुनः, वर्गीकरण का उद्देश्य कभी कभी किसी व्यवस्था की प्रशंसा करना, या किसी की निंदा करना हो सकता है। सरकारों को प्रायः अपनी पसंद के आधार पर लोकतान्त्रिक या अधिनायकवादी कह दिया जाता है।

13.3 प्राचीन युग में वर्गीकरण

13.3.1 अरस्तू का वर्गीकरण

राजनीतिक प्रणालियों के वर्गीकरण की परम्परा ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान (ग्रीस) में आरम्भ हुई। **अरस्तू** ने सर्वप्रथम क्रमबद्ध रूप से विभिन्न संविधानों का अध्ययन एवं वर्गीकरण किया, यद्यपि उससे पूर्व हेरोडोटस तथा प्लैटो ने भी सरकारों के वर्गीकरण के प्रयास किए थे। **हेरोडोटस** ने सभी राज्यों को तीन श्रेणियों - **राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र** तथा **लोकतन्त्र** - में वर्गीकृत किया था। अपनी पुस्तक ***रिपब्लिक** (The Republic)* में प्लैटो ने पाँच प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया। वे थेः **वैचारिकतन्त्र** (ldeocracy), **समयतन्त्र** (Timocracy), **गुटतन्त्र** (Oligarchy), **लोकतन्त्र** तथा **उत्पीड़कतन्त्र** (Tyranny)। परन्तु, अरस्तू के वर्गीकरण की विशेषता यह रही कि उसने अपना परिणाम 158 संविधानों की समीक्षा पर आधारित किया। उन तत्कालीन संविधानों का अध्ययन एवं वर्गीकरण प्रायः वैज्ञानिक तथा सर्वमान्य पाया गया। अरस्तू ने, अपनी पुस्तक *(Politics)* में, संविधानों को दो मूल वर्गों में रखाः वे थे अच्छे या बुरे (सामान्य या दूषित)। इनमे से प्रत्येक प्रकार में उसने तीन प्रकार की सरकारों की पहचान की, जिनका आधार था कि सत्ता का प्रयोग कितने व्यक्ति करते थे -- एक, कुछ अथवा अनेक। इन दो आधारों, अर्थात् **गुण** (सामान्य अथवा दूषित), तथा संख्या (एक, कुछ, अनेक) के अध्ययन के फलस्वरूप अरस्तू **ने छह प्रकार** के संविधानों में वर्गीकृत किया। इनमें से तीन को अच्छे या सामान्य श्रेणी में रखा गयाः **राजतन्त्र** (एक व्यक्ति का कुशल शासन), **कुलीनतन्त्र** (कुछ व्यक्तियों का कुशल शासन) तथा **लोकतन्त्र** जिसे उसने **Polity** कहा (अनेक व्यक्तियों का अच्छा/सामान्य शासन)। साथ ही उसने तीन दूषित प्रणालियों का वर्णन भी कियाः **उत्पीड़कतन्त्र** (Tyranny) (एक व्यक्ति का दूषित शासन); **गुटतन्त्र** (Oligarchy) (कुछ व्यक्तियों का दूषित शासन); तथा **भीड़तन्त्र**, जिसे उसने **democracy** कहा (अनेक वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है।

अरस्तू का वर्गीकरण

शासकों की संख्या	सामान्य प्रकार	दूषित प्रकार
एक	राजतन्त्र	उत्पीड़कतन्त्र
कुछ	कुलीनतन्त्र	गुटतन्त्र
अनेक	लोकतन्त्र (Polity)	भीड़तन्त्र (Democracy)

अरस्तू के अनुसार, राजतन्त्र एक दयालु राजा का निस्वार्थ शासन होता है जो नैतिकता के मूल्यों पर आधारित होता है। उसका दूषित रूप उत्पीड़कतन्त्र है जिसमें शासक बल प्रयोग,

MAADHYAM IAS

धोखा और स्वार्थ का सहारा लेता है। कुलीनतन्त्र को कुछ लोगों के श्रेष्ठ वर्ग का शासन कहा जिसमें नैतिकता और सम्पत्ति का मेल होता है, जबकि उसके दूषित रूप गुटतन्त्र में स्वार्थ और धन का लोभ हावी होता है। अंत में, अनेक लोगों के नैतिक और सामरिक मूल्यों पर आधारित, मध्य वर्ग के, शासन की पॉलिटी का नाम दिया गया। उसके दूषित रूप को अरस्तू ने भीड़तन्त्र (democracy) कहा जिसमें योग्य-अयोग्य का ध्यान रखे बिना अनेक निर्धन शासन का कार्य करते हैं।

अरस्तू के वर्गीकरण की एक विशेषता यह है कि उसके द्वारा वर्णित छः में से कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं है। उन सबमें परिवर्तन का चक्र (cycle of change) चलता रहता है। राजतन्त्र भ्रष्ट होकर जब उत्पीड़कतन्त्र बन जाता है, तब कुलीन लोगों के संगठित विरोध के समक्ष भ्रष्ट राजा को झुकना पड़ता है। कुलीनतन्त्र स्थापित होता है, परन्तु धीरे-धीरे उसमें भी भ्रष्टाचार, स्वार्थ इत्यादि उत्पन्न होते हैं, और वह स्वार्थी गुटतन्त्र का रूप ले लेता है। शीघ्र ही जनता का एक प्रमुख भाग सत्ता अपने हाथ में लेकर जनतन्त्र स्थापित करता है, फिर स्वयं वह भी अराजकता का शिकार होकर दूषित भीड़तन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। यह स्थिति भी अधिक नहीं चलती, और एक कुशल नेता सत्ता अपने हाथों में लेकर राजतन्त्र की स्थापना करता है। यह चक्र चलता ही रहता है।

अरस्तू की प्रमुख चिंता यह मालूम करना थी कि किन परिस्थितियों में कोई सरकार स्थायी

उसने कहा कि वह राज्य सर्वश्रेष्ठ होगा जिसकी सांविधानिक सरकार ऐसी हो जिसमें सभी नागरिकों को कोई न कोई पद प्राप्त हो सके ताकि वे शासक और शासित दोनों की भूमिका निभा सकें। शायद वह ऐसी व्यवस्था का समर्थक था जिसमे कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र का समन्वय हो, तथा जिसमें मध्यम वर्ग शक्ति सम्पन्न हो। यदि नियन्त्रण मध्यम वर्ग के हाथों में होगा तो वह शासन अधिक स्थायी हो सकेगा। इसीलिए उसने उस शासन का समर्थन किया जिसको उसने 'polity' का नाम दिया।

अरस्तू के वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि सभी नागरिकों का एक समान उद्देश्य होता है -- वह है **सुरक्षा**। अतः सुरक्षा के लिए वह कुछ भी बलिदान करने को तैयार रहते हैं। परन्तु, आधुनिक समय में अरस्तू के वर्गीकरण का महत्व लगभग समाप्त हो गया है क्योंकि वह आधुनिक राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है।

13.3.2 अरस्तू के वर्गीकरण का विस्तार

MAADHYAM IAS

सोलहवीं शताब्दी में, **बोदाँ** ने अरस्तू के वर्गीकरण को आगे बढ़ाया। बोदाँ, यद्यपि सर्वश्रेष्ठ संविधान की पहचान करना चाहता था, तथापि उसने **आर्थिक**, **भौगोलिक** एवं **राजनीतिक तत्वों** पर सरकार की निर्भरता पर बल दिया। उसने **कानूनी संप्रभुता** पर भी बल दिया। यह अवधारणा राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख सिद्धान्त बन गई। एक अन्य फ्रांसीसी विद्वान **माँतेस्क्यू** ने अठारहवीं सदी में वर्गीकरण का एक महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत किया। इसके अनुसार वर्गीकरण था - **गणराज्य, राजतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र**। उसके वर्गीकरण का आधार भी यही था कि सत्ता कितने व्यक्तियों के हाथों में है। माँतेस्क्यू ने सरकार के रूप तथा समाज के रूप के सम्बन्धों को महत्वपूर्ण मान्यता प्रदान की। उसका विचार था कि सरकार के रूप के निर्धारण में शिक्षा, नैतिकता, देशभक्ति तथा आर्थिक समानता का स्तर सभी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य का क्षेत्रफल भी एक प्रमुख कारक है। कुछ वर्ष

पश्चात् **रूसो** ने भी सरकारों के वर्गीकरण में तीन प्रकार बताएँ - **अधिनायकवाद, कुलीनतन्त्र** तथा **लोकतन्त्र**। परन्तु उसने कहा कि राज्य का एक ही श्रेष्ठ रूप है। वह है, **गणतन्त्र**। **काँट** ने, रूसो की भाँति राज्यों के तो तीन रूप बताए, परन्तु सरकारें केवल गणतन्त्र हो सकती हैं, अथवा अधिनायकतन्त्र। आधुनिक युग में जर्मन लेखक **ब्लांश्ली** (Bluntschli) ने, अरस्तू के वर्गीकरण में सुधार करते हुए **राज्य के एक चौथे रूप** का उल्लेख किया। इसको उसने **धर्मतन्त्र** (Theocracy or Ideocracy) का नाम दिया, जिसमें सर्वोच्च शासक को ईश्वर या उसका प्रारूप माना जाता है। परन्तु, यह सभी वर्गीकरण आधुनिक वास्तविकताओं पर खरे नहीं उतरते।

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) जिन आधारों पर अरस्तू ने राज्यों का वर्गीकरण किया उनकी व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

2) अरस्तू द्वारा वर्गीकृत राज्यों का, उनकी विशेषताओं सहित, वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

13.4 आधुनिक वर्गीकरण

आधुनिक प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र-राज्यों के उदय, उदार-संवैधानिक-लोकतान्त्रिक राज्यों के विकास तथा अठारहवीं - उन्नीसवीं शताब्दियों में अमरीकी संघ की स्थापना के साथ राजनीतिक प्रणालियों के पुराने वर्गीकरण की प्रासंगिता निश्चय ही कम हो गई है। नई घटनाओं ने वर्गीकरण के आधार में आमूल परिवर्तन कर दिया है। वर्गीकरण के जिन नए प्रतिमानों का विकास हुआ वे **संविधान की प्रकृति, राज्य के अंदर शक्ति के केन्द्रीकरण** अथवा **विकेन्द्रीकरण, विधायिका के साथ कार्यपालिका के सम्बन्धों, नागरिक स्वतन्त्रताओं की प्रकृति, जनसाधारण की भागीदारी तथा विचारधारा की भूमिका**, सभी से प्रभावित हुए। परन्तु, हमको यह ध्यान में अवश्य रखना होगा कि राज्यों की समस्त शक्तियां एक समान ही होती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक राज्य संप्रभु होता है; अतः एकमात्र आधार जिस पर राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है वह है सरकार के संगठन की संरचनात्मक विशेषताएँ।

MAADHYAM IAS

राज्य की संप्रभुता तथा उसकी संरचना के संदर्भ में अनेक लेखकों ने समय-समय पर राजनीतिक संगठनों का वर्गीकरण करने के प्रयास किए हैं। उदाहरण के लिए, जर्मन विद्वान **जैलिनेक** ने राजनीतिक प्रणालियों का दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजन किया: **राजतन्त्र** तथा **गणतन्त्र**। उसने राजतन्त्र का पुनः विभाजन किया - वंशानुगत अथवा

निर्वाचित जिसमें राजा के पास असीमित शक्ति होती है; तथा गणतन्त्र जिसमें जनता के पास असीमित शक्ति होती है; तथा गणतन्त्र को तीन उप-श्रेणियों में विभाजित किया – अर्थात् लोकतान्त्रिक, कुलीनतान्त्रिक अथवा गुटतान्त्रिक। अंत में, उसने लोकतन्त्र का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में वर्गीकरण किया। इसको निम्नलिखित तालिका प्रदर्शित करती हैः

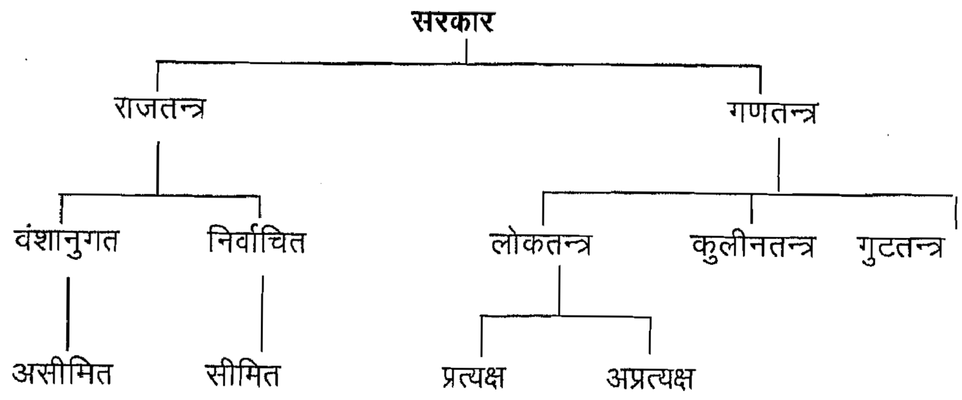

एक अन्य विद्वान **बर्गेस** ने **चार विविध सिद्धान्तों** के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तुत किया, तथा सरकारों के अनेक रूपों को इन श्रेणियों में वर्गीकृत किया। उसके चार सिद्धान्त, तथा सरकारों के रूप इस प्रकार हैं:

- राज्य और सरकार के साथ समरूपता या उसका अभाव - प्राथमिक तथा प्रतिनिधि।
- कार्यपालिका का कार्यकाल - वंशानुगत या निर्वाचित
- कार्यपालिका - विधायिका संबंध - संसदीय या अध्यक्षात्मक
- शक्ति का केन्द्रीकरण अथवा विभाजन - एकात्मक या संघात्मक

लीकॉक ने सरल रूप से सरकारों का जो वर्गीकरण किया उसको निम्नलिखित तालिका की सहायता से समझा जा सकता है।

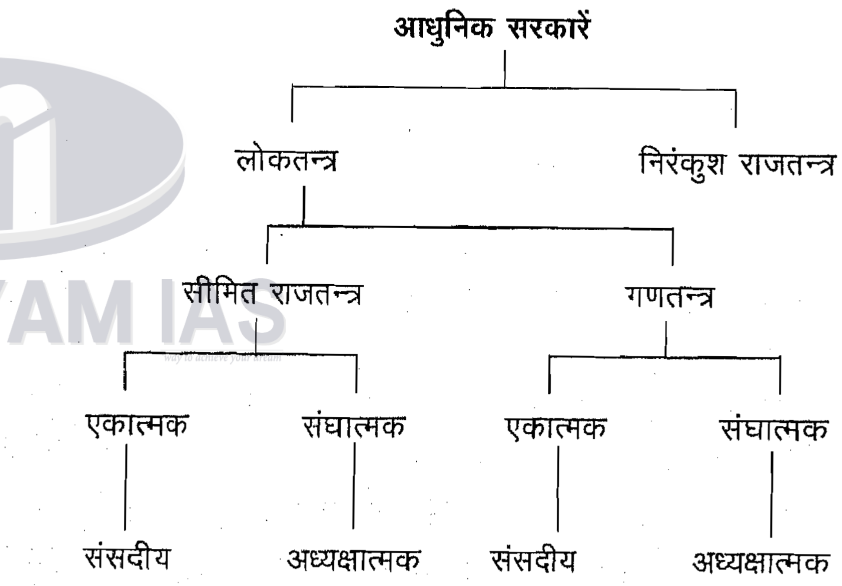

MAADHYAM IAS

बीसवीं शताब्दी के एक अन्य विद्वान **एफ. सी. स्ट्राँग** ने अपना अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। उसने पाँच श्रेणियाँ बताई जिनमें विभिन्न सरकारों को रखा जा सकता है। स्ट्राँग का प्रतिमान इस प्रकार हैः

	वर्गीकरण का आधार	प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
1.	उस राज्य की प्रकृति जिसमें संविधान लागू होता है।	एकात्मक	संघात्मक
2.	स्वयं संविधान की प्रकृति	सुपरिवर्तनशील (आवश्यक नहीं कि लिखित ही हो)	कठोर (आवश्यक नहीं कि पूरी तरह लिखित हो)
3.	विधायिका की प्रकृति	(i) वयस्क मताधिकार (ii) एक-सदनीय निर्वाचन क्षेत्र (iii) ग़ैर-निर्वाचित द्वितीय सदन (iv) प्रत्यक्ष लोकप्रिय नियन्त्रण	(i) सीमित वयस्क मताधिकार (ii) बहु-सदनीय निर्वाचन क्षेत्र (iii) पूर्ण या आंशिक रूप से निर्वाचित द्वितीय सदन (iv) नियन्त्रणों का अभाव
4.	कार्यपालिका की प्रकृति	संसदीय (संसदात्मक)	अध्यक्षात्मक
5.	न्यायपालिका की प्रकृति	विधि के शासन के अधीन (कॉमन लॉ वाले देशों में)	प्रशासकीय क़ानून के अधीन (विशेषाधिकारों वाले देश)

ऊपर वर्गीकरण के जिन प्रतिमानों का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। **प्रथम**, विभिन्न प्रतिमानों के बावजूद, वर्गीकरण के विषय में कोई एक सर्वसम्मत एवं वैज्ञानिक आधार नहीं है। **द्वितीय**, सभी प्रतिमानों का आधार राज्य, सरकार तथा उसके अंग जैसे विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका, संविधान, कानून तथा राजनीतिक संगठन हैं। राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले सामाजिक - आर्थिक, ऐतिहासिक, एवं सांस्कृतिक तत्त्वों पर ध्यान नहीं दिया गया। **तृतीय**, तथा सबसे महत्वपूर्ण यह कि इन सभी वर्गीकरणों को यूरोप और अमेरिका में विकसित राजनीतिक संस्थाओं तक सीमित रखा गया। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्थाओं की पूरी तरह अवहेलना की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, जब उपनिवेशवाद उन्मूलन के फलस्वरूप यह देश स्वाधीन हुए तभी उन पर भी ध्यान दिया गया। अतः, नए प्रतिमानों की आवश्यकता अनुभव की गई।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) लीकॉक के वर्गीकरण में दिए गए सरकारों के विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

2) सरकारों के आधुनिक वर्गीकरण की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

13.5 समकालीन वर्गीकरण

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, आधुनिक वर्गीकरण यूरोप एवं अमेरिका में विकसित उदार लोकतान्त्रिक सरकारों पर आधारित है। यह विकास उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों की देन है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्, दो स्तरों पर नई राजनीतिक प्रणालियों का उदय हुआ। वे थीं:

1) वे अनेक उत्तर-औपनिवेशिक राज्य जिन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, और जहाँ उदार लोकतान्त्रिक संस्थाओं का उदय नहीं हुआ था, जो आर्थिक रूप से विकसित नहीं (या अल्प विकसित) थे, तथा जिनकी संस्कृति, सामाजिक संस्थाएँ तथा राजनीतिक संरचनाएँ भिन्न भिन्न थीं।

2) समाजवादी/साम्यवादी राज्यों का एक गुट के रूप में उदय हुआ, जिसका उद्देश्य (पाश्चात्य उदार पूँजीवादी व्यवस्था के विपरीत) समाजवादी समाज की स्थापना करना था, तथा जिन देशों में लोकतन्त्र, संसद, दल-व्यवस्था, संघीय व्यवस्था तथा राजनीतिक शक्ति की अवधारणाएँ बिल्कुल अलग थीं।

इन कारणों से राजनीति शास्त्रियों ने सरकारों के वर्गीकरण के नए प्रतिमानों का विकास किया ताकि उनमें युद्धोत्तर राजनीतिक प्रणालियों को शामिल किया जा सके। इस दिशा में कुछ अमरीकी विद्वानों ने पहल की, और नई परिस्थितियों के अनुसार सरकारों का वर्गीकरण करने के प्रयास किए। उन्होंने राजनीतिक संस्थाओं को विकास एवं आधुनिकीकरण से जोड़ने की चेष्टा की। फलस्वरूप उन्होंने वर्गीकरण के नए आधार बनाए जैसे कि, औद्योगिकरण का स्तर, शहरीकरण, प्रौद्योगिकी का विकास, शिक्षा का स्तर, वाणिज्य, संस्कृति, तथा सामाजिक उपलब्धियाँ और संचार व्यवस्था। युद्धोत्तर चार दशकों में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए। इनमें प्रमुख थे: **ऐड्वर्ड शिल्स, कॉट्स्की, डेविड ऐप्टर, आल्मंड** तथा **पॉवेल, रॉबर्ट डल, डेविड ईस्टन, जीन ब्लांडल, ऐलेन बॉल** इत्यादि। इनमें से कुछ के विचारों की समीक्षा यहाँ की जा सकती है।

MAADHYAM IAS

ऐड्वर्ड शिल्स ने अपनी पुस्तक *Political Development in New States* में आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों का **पाँच-सूत्री** वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उसने लिखा कि वे हैं:

i) ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति **राजनीतिक लोकतन्त्र**;

ii) **नाममात्र के लोकतन्त्र** - वे देश जिनमें लोकतन्त्र है तो नहीं, परन्तु वे राजनीतिक लोकतन्त्र की नकल करने की कोशिश करते हैं;

iii) **आधुनिकीकृत गुटतन्त्र** - जिन देशों में सत्ता भले ही कुछ असैनिक नेताओं के हाथों में हो, परन्तु वे सशस्त्र सेनाओं की सहायता से शासन करते हैं, या फिर इसके विपरीत भी हो सकता है;

iv) **अधिनायकवादी गुट व्यवस्था** - या तो साम्यवादी या फिर फ़ासीवादी प्रकार की।

v) **परम्परागत (पारम्परिक) गुटतन्त्र** - जिन देशों पर वंशानुगत शासकों के हाथों में सत्ता है, और जो पारम्परिक धार्मिक विश्वासों पर चलते हों।

डेविड ऐप्टर ने विकासशील समाजों पर बल दिया। उसने उन देशों की सरकारों के रूप तथा नैतिक मूल्यों की समीक्षा की थी। इस संदर्भ में उसने तीन प्रकार की राजनीतिक प्रणालियों का उल्लेख किया:

i) आधुनिकीकृत निरंकुशतन्त्र

ii) सैनिक शासन

iii) दोनों का मिला जुला रूप।

अपने वर्गीकरण के लिए **एस. ई. फाईनर** ने कुछ नए आधार बनाए। उसके अनुसार, प्रत्येक व्यवस्था का सार यह है कि थोड़े लोग अधिकांश जनता पर शासन करते हैं। जो नीतियाँ निर्धारित करने वाले और उनको लागू करने वाले होते हैं, उनकी संख्या सदा कम होती है। इस संदर्भ में उसने तीन प्रकार की व्यवस्थाओं का उल्लेख किया:

i) उदार लोकतान्त्रिक देश - जैसे कि यूरोप तथा अमेरिका के उदार पूँजीवादी देश;

ii) अधिनायकवादी देश - जैसे कि साम्यवादी राज्य;

iii) निरंकुश शासन तथा गुटतन्त्र - ऐसी राजनीतिक प्रणालियाँ जिनमें सेना की राजनीतिक भूमिका प्रमुख होती है। यह व्यवस्थाएँ न तो लोकतान्त्रिक हैं, और न तानाशाही। यह एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के उन देशों में व्यापक रूप से विद्यमान हैं जहाँ सेना की भूमिका निर्णायक होती है।

जीन ब्लॉंडल ने राजनीतिक प्रणालियों के अपने वर्गीकरण के तीन आधार स्वीकार किए:

i) राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति

ii) सामाजिक दर्शन एवं नीतियाँ

iii) राजनीतिक विचारधारा तथा उप-व्यवस्थाओं की स्वायत्तता।

इस आधार पर उसने, प्रत्येक श्रेणी में, दो-दो प्रकार की राजनीतिक प्रणालियों का उल्लेख किया। वे हैं: (क) राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र, (ख) पारम्परिक तथा आधुनिक (ग) उदार तथा सर्वाधिकारवादी (totalitarian)।

आल्मँड एवं पॉवेल ने भी संरचनात्मक विभेदों तथा कार्यों; तथा सांस्कृतिक धर्मनिरपेक्षता के आधारों पर त्रिकोण वर्गीकरण प्रस्तुत किया। वे हैं: (क) आदिमकालीन, (ख) पारम्परिक तथा (ग) आधुनिक। क़बायली शासन पर आधारित आदिमकालीन शासन तीन प्रकार का हो सकता था; आदिमकालीन गिरोह; खंडित व्यवस्था या फिर पदसोपानीय व्यवस्था। पारम्परिक राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है: पैतृक व्यवस्था, केन्द्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था तथा सामंती राजनीतिक व्यवस्था। यह सभी व्यवस्थाएँ मूल रूप से कृषि पर, धार्मिक पुजारियों और सामंतों के प्रभाव में और औद्योगीकरण के अभाव में स्थापित थीं। परन्तु, आधुनिक परिष्कृत व्यवस्थाएँ वे हैं जो कि संरचनात्मकता

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

तथा सांस्कृतिक धर्मनिरपेक्षता पर आधारित हैं। वे लोकतान्त्रिक भी हो सकती हैं, या अधिनायकवादी (निरंकुश) भी। हम निम्नलिखित तालिका की सहायता से इस वर्गीकरण को समझ सकते हैं।

आल्मँड एवं पॉवेल ने राजनीतिक संस्कृति के आधार पर भी राजनीतिक प्रणालियों का वर्गीकरण किया। लोगों की निष्ठा, उदासीनता अथवा अलग-थलग रहने की प्रवृत्तियों के आधार पर राजनीतिक संस्कृति तीन प्रकार की हो सकती है: संकीर्ण (parochial), आत्मनिष्ठ (subjective), अथवा भागीदारी। इन आधारों पर, उन्होंने राजनीतिक प्रणालियों को चार वर्गों में विभाजित किया:

क) आँग्ल-अमरीकी,

ख) यूरोपीय महाद्वीपीय,

ग) ग़ैर-पाश्चात्य, तथा

घ) सर्वाधिकारवादी (totalitarian)।

बोध प्रश्न 3

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) राजनीतिक प्रणालियों के समकालीन वर्गीकरण के लिए किन दो तत्वों ने भूमिका निभाई?

....

....

....

....

....

....

....

2) एस. ई. फ़ाईनर तथा जीन ब्लाँडल द्वारा प्रस्तुत सरकारों के वर्गीकरण और उसके आधारों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

13.6 शक्ति विभाजन के आधार पर वर्गीकरण

आधुनिक समय में सरकारों के वर्गीकरण का एक आधार शक्ति का भौगोलिक विभाजन भी है। अर्थात्, सरकार की शक्तियाँ केन्द्र तथा अन्य प्रशासकीय इकाइयों में किस प्रकार विभाजित होती है। इस आधार पर सरकारें या तो एकात्मक अथवा संघात्मक होती है।

13.6.1 एकात्मक सरकार

वह राजनीतिक व्यवस्था जिसमें समस्त शक्ति एक सरकार में केन्द्रित होती है उसको एकात्मक सरकार कहते हैं। यह भौगोलिक रूप से शक्ति के केन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। सर्वोच्च शक्ति एक केन्द्र सरकार के अंगों द्वारा प्रयोग की जाती है। फ़ाईनर के अनुसार, एकात्मक सरकार वह है जिसमें समस्त शक्ति तथा सत्ता एक केन्द्र में निहित होती है, और उसके प्रतिनिधि सम्पूर्ण प्रदेश पर अबाध शक्ति का प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार, **ब्लॉंडेल** के अनुसार, "किसी एकात्मक राज्य में केवल एक केन्द्रीय संस्था वैधानिक रूप से स्वतन्त्र होती है, तथा अन्य सभी निकाय केन्द्रीय सरकार के अधीन होते हैं।" एकात्मक सरकार का सार यह है कि संप्रभुता अविभाजित होती है। संविधान किसी अन्य विधायी संस्था को स्वीकार नहीं करता। एकमात्र विधायिका सभी विषयों पर क़ानून बना सकती है, तथा कार्यपालिका बिना किसी रुकावट के उनको लागू कर सकती है। परन्तु, इसका यह अर्थ भी नहीं है कि सरकार मनमाने निर्णय ले सकती है। एकात्मक देश में भी समस्त क्षेत्र को, प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से, दो या अनेक प्रदेशों में विभाजित किया जा सकता है जो कि स्वायत्त नहीं होते। इन प्रान्तों के पास केवल वहीं अधिकार होते हैं जो केन्द्र उन्हें प्रदान करता है, तथा जब चाहे वापस भी छीन सकता है। इस प्रकार, एकात्मक सरकार की दो विशेषताएँ होती हैं: **केन्द्रीय संसद की सर्वोच्चता**, तथा **अधीन संप्रभु निकायों का अभाव**।

13.6.2 संघात्मक सरकार

संघात्मक सरकार वह व्यवस्था है जिसमें **केन्द्र** तथा **प्रान्तीय सरकारों के मध्य शक्तियों का विभाजन** होता है, तथा दोनों के अपने-अपने निश्चित कार्यक्षेत्र होते हैं। समस्त शक्तियों का विभाजन देश के **संविधान** के द्वारा किया जाता है।

संघात्मक सरकार एक समझौते पर आधारित मानी जाती है; तथा इसकी कुछ विशेषताएँ होती हैं। वे हैं:

i) एक लिखित संविधान;

ii) शक्तियों का विभाजन; तथा

iii) स्वतंत्र न्यायपालिका।

MAADHYAM IAS

प्रथम, संघीय सरकार एक समझौते का परिणाम होती है जो कि एक लिखित संविधान के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसमें संघ और प्रान्तीय सरकारों की शक्तियों और उनके अधिकारों का उल्लेख होता है। यह अपेक्षा होती है कि यह **संविधान लिखित एवं कठोर** होगा ताकि कोई भी (केन्द्र या प्रान्तीय) सरकार स्वेच्छा से शक्तियों में परिवर्तन न कर सके। **संविधान संप्रभु** होता है, क्योंकि सभी सरकारें इसके अधीन होती हैं।

द्वितीय, संघीय व्यवस्था की एक आवश्यक अपेक्षा होती है केन्द्र सरकार तथा प्रान्तीय या राज्य सरकारों के मध्य **शक्तियों का विभाजन**। सामान्यतया, राष्ट्रीय महत्व के विषय जैसे

कि रक्षा, विदेश विभाग, रेलवे, संचार इत्यादि केन्द्र को सौंपे जाते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, क़ानून व्यवस्था जैसे विषयों पर इकाइयों (राज्यों/प्रान्तों) का नियंत्रण होता है। किसी देश में, जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका में, संविधान केन्द्र की शक्तियों की व्याख्या करता है तथा शेष सभी राज्यों के क्षेत्राधिकार में छोड़ दी जाती हैं। परन्तु, भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों दोनों की ही शक्तियों का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

तृतीय, एक ऐसा **स्वतन्त्र** और **निष्पक्ष न्यायालय** भी होना चाहिए जो किसी भी क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवाद में केन्द्र और राज्यों के मध्य न्याय कर सके। ऐसा न्यायालय **सर्वोच्च न्यायालय** ही हो सकता है जो कि संविधान की रक्षा करता है तथा उसके द्वारा प्रदत्त केन्द्र और राज्यों की शक्तियों को संरक्षण प्रदान करता है। संघीय व्यवस्था में यह न्यायालय केन्द्र-राज्य विवादों को निपटाने वाला उच्चतम न्यायालय होता है।

बोध प्रश्न 4

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) एकात्मक राज्य की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं:

क) ....

....

ख) ....

....

2) संघात्मक सरकार की तीन विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

क) ....

ख) ....

ग) ....

13.7 विधायी-कार्यपालिका सम्बन्धों के आधार पर वर्गीकरण

राजनीतिक प्रणालियों का सरकारों के विधायी और कार्यपालिका अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर भी वर्गीकरण किया जाता है। इस संदर्भ में, दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं। एक वह जिसमें विधायिका तथा कार्यपालिका के घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं, तथा अपने सभी कार्यों के लिए कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है; दूसरी वह प्रणाली जिसमें सरकार के दोनों अंग अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र में पृथक शक्तियों के आधार पर कार्य करते हैं। प्रथम प्रणाली को **संसदीय** तथा दूसरी को **अध्यक्षात्मक** सरकार कहते हैं।

MAADHYAM IAS

13.7.1 संसदीय सरकार

संसदीय (अथवा संसदात्मक) सरकार ग्रेट ब्रिटेन के संवैधानिक इतिहास के विकास का परिणाम है। इसको 'मन्त्रिमण्डलीय सरकार' भी कहते हैं। अब तो इसे 'प्रधानमन्त्रित्व सरकार' तक कहने लग गए हैं। इस सरकार की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें **वास्तविक**

कार्यपालिका (मन्त्रिपरिषद) **विधायिका** का अंग होती है, तथा अपनी नीतियों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी भी होती है।

संसदीय सरकार में कार्यपालिका के दो भाग होते हैं -- **नाममात्र** की, तथा **वास्तविक कार्यपालिका**। राज्य का अध्यक्ष मात्र **औपचारिक प्रधान** होता है जिसके कार्यों का सम्पादन व्यवहार में **मन्त्रिगण** करते हैं। राज्याध्यक्ष का प्रभाव सीमित होता है। वह **ब्रिटेन** की तरह **राजा** (रानी) हो सकता है, अथवा भारत की भांति **राष्ट्रपति**। वास्तविक कार्यपालिका का अध्यक्ष **प्रधानमन्त्री** होता है जो मन्त्रियों का चयन करता है, तथा मन्त्रिपरिषद् का प्रधान होने के नाते उसका मार्गदर्शन करता है। प्रधानमन्त्री सहित सभी मन्त्री विधायिका में से लिए जाते हैं, वह उसके सदस्य होते हैं, उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं, तथा विधायिका का लोकप्रिय सदन उन्हें 'अविश्वास प्रस्ताव' पारित करके उन्हें अपदस्थ कर सकता है। नाममात्र के राज्याध्यक्ष के नाम पर, समस्त प्रशासकीय कार्य प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रिगण करते हैं।

13.7.2 अध्यक्षात्मक सरकार

अध्यक्षात्मक सरकार **शक्ति-पृथक्करण** के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका अर्थ हुआ कि **विधायिका** तथा **कार्यपालिका** एक दूसरे से पृथक होते हैं। **गार्नर** के अनुसार, यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें **कार्यपालिका** (राज्याध्यक्ष और मन्त्रिगण), अपने कार्यकाल के लिए, विधायिका से स्वतन्त्र होती हैं, तथा अपनी राजनीतिक नीतियों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होती। मुख्य कार्यकारी अधिकारी वास्तविक कार्यपालिका होने के साथ-साथ सरकार का प्रधान भी होता है। जनता द्वारा वह एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है । विधायिका का अंग न होने के कारण कार्यपालिका को वह, महाभियोग की वैधानिक प्रक्रिया के अतिरिक्त, किसी भी प्रकार से समय से पूर्व अपदस्थ नहीं कर सकती है। उधर, कार्यपालिका भी न तो विधायिका को भंग कर सकती है और न समय से पूर्व चुनाव ही करवा सकती है। सरकार के दोनों अंग निश्चित अवधि के लिए चुने जाते हैं।

परन्तु, सरकार के **तीनों अंगों** को किसी न किसी प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध रखने के लिए **रुकावट और संतुलन** की पद्धति अपनाई जाती है। इसका एक उद्देश्य यह भी होता है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि राष्ट्रपति कहीं तानाशाह न बन जाए। संवैधानिक प्रावधानों के द्वारा सरकार के तीनों अंग एक दूसरे को अपनी-अपनी सीमाओं में रहने के लिए कुछ बंधन लगा सकते हैं, ताकि अंततः तीनों के मध्य संतुलन बना रहे। इस प्रणाली का विकास **सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका** में हुआ, तथा बाद में लैटिन अमेरिका के कुछ अन्य देशों ने भी इसका अनुकरण किया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 5

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका द्वारा सीमा उल्लंघन पर विधायिका किस प्रकार अंकुश लगाती है?

....

....

....

....

....

2) अध्यक्षात्मक सरकार किस प्रकार संसदीय सरकार से भिन्न है?

....

....

....

....

....

13.8 सारांश

राजनीतिक पद्धतियों का वर्गीकरण उतना ही प्राचीन है जितना कि राजनीति का अध्ययन। वर्गीकरण करने के लिए अनेक प्रयास किए गए, तथा अवधारणाओं को परिभाषित करने की चेष्टा की गई। **ग्रीक युग** में वर्गीकरण का आधार अत्यंत सीमित था। इसका प्रमुख उद्देश्य **शासकों की संख्या** तथा **शासन की गुणवत्ता** होता था। **मध्यकाल** में **बोदाँ, मॉतेस्क्यू, रूसो, कांत (कांट)** इत्यादि ने भी इस दिशा में प्रयास किए, तथा **अरस्तू** के वर्गीकरण को सुधारने के प्रयत्न भी किए, जिसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली।

आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के उदय के साथ नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किए गए। अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों ने राजतन्त्र को आघात पहुँचाया, तथा **गणतन्त्र** का जन्म हुआ। उस समय सरकार के तीन अंगों, **विधायिका, कार्यपालिका** एवं **न्यायपालिका** के कार्यक्षेत्रों का निर्धारण किया गया। अमेरिका के संविधान ने **संघवाद** और **शक्ति पृथक्करण** की अवधारणाओं का स्पष्टीकरण किया, तथा **अध्यक्षात्मक सरकार** की स्थापना की। **जैलिनेक, बर्गेस, मैरिएट, लीकॉक** तथा **एफ़. सी. स्ट्राँग** इत्यादि ने आधुनिक वर्गीकरण प्रस्तुत किए। इसमें सीमित राजतन्त्र, लोकतन्त्र, गणतन्त्र, संसदीय, अध्यक्षात्मक, एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों की व्याख्या शामिल थी। परन्तु, इस प्रकार के वर्गीकरण यूरोप एवं अमेरिका में विकसित राज्यों और सरकारों की संस्थाओं के आधार पर किए गए। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अनेक देश औपनिवेशिक दासता से स्वतन्त्र हुए। उनकी राजनीतिक संरचनाएँ भिन्न-भिन्न थी। अनेक साम्यवादी/समाजवादी राज्य भी स्थापित हुए। लोकतन्त्र, राजनीतिक दलों, संसद इत्यादि की उनकी अवधारणाएँ अलग ही थीं। अतः पारम्परिक व्यवस्थाओं से लेकर आधुनिक उदार तथा सर्वाधिकारवादी राज्यों तक को नए वर्गीकरणों में स्थान दिया गया। आज विश्व में अनेक प्रकार की सरकारें हैं, परन्तु किसी एक सर्वमान्य वर्गीकरण पर पहुँच पाना संभव नहीं है।

MAADHYAM IAS

13.9 शब्दावली

राजतन्त्र : ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें एक राजमुकुटधारी व्यक्ति के हाथों में सर्वोच्च तथा अंतिम सत्ता होती है। यह व्यक्ति वंशानुगत भी

हो सकता है, या फिर निर्वाचित। शासन की सभी प्रक्रियाएँ इसी एक व्यक्ति की इच्छा ही मानी जाती है।

कुलीनतन्त्र : यह शासन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें सत्ता श्रेष्ठ (कुलीन) नागरिकों के हाथों में होती है। इस प्रणाली में जनता का एक छोटा सा भाग नीतियाँ निर्धारित करता है। यह वर्ग या तो धार्मिक पुजारियों का हो सकता है, या फिर सैनिकों का, भूमि के स्वामियों का या फिर कुछ धनवान व्यक्तियों का। शक्ति का प्रयोग एक कुलीनवर्ग ही करता है।

लोकतन्त्र : थोड़े शब्दों में लोकतन्त्र की परिभाषा कर पाना कठिन कार्य है। इस प्रणाली में सत्ता जनता के हाथों में निहित होती है। इसमें जनसाधारण की उच्च कोटि की भागीदारी होती है। इसमें जनता को नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं, तथा नागरिकों के मध्य राजनीतिक सत्ता के लिए स्वस्थ प्रतियोगिता होती है।

अधिनायकवादी : यह प्रणाली लोकतन्त्र-विरोधी है। यहाँ शक्ति एक तानाशाह, अथवा सैन्यगुट अथवा निरंकुश राजा के हाथों में निहित होती है। शासक न तो किसी संविधान से बाध्य होता है, और न वह किसी भी प्रकार से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है।

सर्वाधिकारवाद : इसका आधार सर्वाधिकारवादी विचारधारा में होता है। यह एक-दलीय राज्य होता है, जिसमें गोपनीय पुलिस बल होता है। अर्थव्यवस्था, संस्कृति, सूचना व्यवस्था सभी पर सरकार का एकाधिकार होता है। राज्य और समाज में कोई अंतर नहीं किया जाता।

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS

Ball, A.R., and Peters B. Guy 2000, *Modern Politics and Government*, Macmillan, London.

Blondel, Jean, 1970, *Comparative Government : A Reader*, Macmillan, London.

Gabriel and Powell, 1964, *Comparative Politics: A Development Approach*, Vakils, Jeffers and Simons.

Gena, C.B., 1978, *Comparative Politics and Political*, Vikas Publishing House, New Delhi.

Robert Dahl, 1964, Modern *Political Analysis*, Englewood Cliffs, New Jersery.

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अरस्तू के वर्गीकरण के दो आधार थेः **शासकों की संख्या** - एक, कुछ, अनेक; तथा उनकी **गुणवत्ता** (कुशलता) – सामान्य निस्वार्थी शासन, अथवा दूषित और स्वार्थी शासन।

2) छः प्रकार की शासन पद्धतियाँः संख्या के आधार पर सामान्य शासन - **राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र** तथा **लोकतन्त्र** (Polity); और गुण या कौशल के आधार पर दूषित व्यवस्थाएँ - **उत्पीड़कतन्त्र, गुटतन्त्र** (Obigarchy) तथा **भीड़तन्त्र** (Democracy)।

बोध प्रश्न 2

1) **लीकॉक का वर्गीकरण - लोकतान्त्रिक** अथवा **निरंकुश राजतन्त्र**। लोकतन्त्र दो प्रकार का - **सीमित राजतन्त्र** अथवा **गणतन्त्र**। इन दोनों प्रकार की सरकारों का **शक्ति के केन्द्रीकरण** अथवा विभाजन के आधार पर; **एकात्मक** अथवा **संघात्मक**; तथा **विधायिका - कार्यपालिका** सम्बन्धों के आधार पर; **संसदीय** अथवा **अध्यक्षात्मक**। उदाहरणः भारत एक गणतन्त्र है, संसदीय लोकतन्त्र तथा संघ राज्य है, जबकि ब्रिटेन में सीमित राजतन्त्र, संसदीय लोकतन्त्र तथा एकात्मक व्यवस्था है।

2) **आधुनिक वर्गीकरण के आधार :** संविधान की प्रकृति, शक्तियों का देश के भीतर केन्द्रीकरण, अथवा विभाजन, कार्यपालिका – विधायिका सम्बन्ध, नागरिक स्वतन्त्रताओं की प्रकृति और जनता की भागीदारी का स्तर। सभी आधुनिक वर्गीकरण राज्यों और सरकारों तथा उनके अंगों पर आधारित।

बोध प्रश्न 3

1) द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् उत्तर-औपनिवेशिक व्यवस्था के नवोदित राज्यों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रकृति भिन्न-भिन्न थीं। उनके लोकतन्त्र की, संसद की, संघीय व्यवस्था तथा राजनीतिक दलों की अवधारणाएँ भी भिन्न थीं। अतः उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों के लिए वर्गीकरण के नए प्रतिमान अपनाए गए।

MAADHYAM IAS

2) **फ़ाईनर** के अनुसार अधिकांश जनता पर थोड़े लोगों का शासन होता है। अतः राजनीतिक प्रणालियाँ हैंः यूरोप तथा अमेरिका के उदार लोकतन्त्र; पूर्व सोवियत संघ, क्यूबा एवं चीन में **सर्वाधिकारवादी व्यवस्था**; तथा एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कुछ देशों में गुटतन्त्र अथवा मनमाने शासन जैसे कि सैनिक शासन इत्यादि।

   ब्लॉंडेल के अनुसार आधारः (i) राजनीतिक पद्धति की प्रकृति; (ii) सामाजिक दर्शन तथा नीतियाँ; (iii) राजनीतिक विचारधारा तथा उप-व्यवस्था की स्वायत्तता। अतः,

(i) सरकार या तो राजतन्त्र होगी या लोकतन्त्र; **(ii)** पारम्परिक अथवा आधुनिक; (iii) उदार अथवा सर्वाधिकारवादी।

बोध प्रश्न 4

1) केन्द्रीय संसद की सर्वोच्चता, तथा अधीनस्थ संप्रभु संस्थाओं का अभाव।

2) एक लिखित संविधान, केन्द्र तथा इकाइयों (राज्यों/प्रान्तों) के मध्य शक्तियों का विभाजन; तथा केन्द्र राज्य विवादों के समाधान के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका।

बोध प्रश्न 5

1) वास्तविक कार्यपालिका अपनी नीतियों और अपने कार्यों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी। विधायिका, मन्त्रिपरिषद् को अविश्वास प्रस्ताव पारित करके अपदस्थ कर सकती है; तथा कार्यपालिका। विधायिका (लोकप्रिय सदन) को भंग करके नए चुनाव करवा सकती है।

2) अध्यक्षात्मक सरकार में राज्य और सरकार का अध्यक्ष संवैधानिक रूप से विधायिका से कार्यकाल के संदर्भ में स्वतन्त्र होता है। वह अपनी नीतियों के लिए भी विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। कार्यपालिका अध्यक्ष को महाभियोग द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है, अन्यथा नहीं क्योंकि वह विधायिका का भाग नहीं होता। कार्यपालिका एवं विधायिका दोनों के कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होते हैं। यह प्रणाली **शक्ति-पृथक्करण** पर आधारित है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 14 लोकतान्त्रिक तथा अधिनायकवादी शासन प्रणालियाँ/ पद्धतियाँ

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सरकार, राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक पद्धति

14.3 राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण का उद्देश्य

14.4 लोकतान्त्रिक प्रणालियों का विकास

14.5 विकसित राज्यों में लोकतान्त्रिक प्रणाली

14.6 विकासशील राज्यों में लोकतान्त्रिक प्रणाली

14.7 अधिनायकवादी प्रणालियों की प्रकृति

14.7.1 अधिनायकवादी प्रणालियों की विशेषताएँ

14.7.2 द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में अधिनायकवादी पद्धतियाँ

14.8 सारांश

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में समकालीन लोकतान्त्रिक और अधिनायकवादी सरकारों की समीक्षा की गई है। यह द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में उभरी राजनीतिक प्रणालियों का सामान्य वर्गीकरण है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य होंगे कि आपः

- सरकार, राजनीतिक प्रणाली तथा राजनीतिक पद्धति में भेद कर सकें;
- लोकतान्त्रिक पद्धतियों के विकास का वर्णन कर सकें;
- आधुनिक लोकतान्त्रिक पद्धतियों के रूपों, तथा उनकी प्रकृति एवं विशेषताओं की समीक्षा कर सकें;
- अधिनायकवादी पद्धतियों की विशेषताओं की पहचान कर सकें; तथा
- द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में स्थापित अधिनायकवादी पद्धतियों की समीक्षा कर सकें।

MAADHYAM IAS

14.1 प्रस्तावना

जैसा कि हमने पिछली इकाई में पढ़ा, विभिन्न राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण का आरम्भ **ईसा पूर्व चौथी शताब्दी** में **अरस्तू** ने आरम्भ किया था। उसने तत्कालीन राजनीतिक

पद्धतियों का वर्णन करने के लिए **उत्पीड़कतन्त्र** (tyranny), गुटतन्त्र (oligarchy) तथा **भीडतन्त्र** (democracy), जैसे शब्दों का प्रयोग किया था। आधुनिक समय के अनेक लेखक भी राजनीतिक पद्धतियों का वर्णन करते समय इन शब्दों का प्रयोग करते हैं।

समकालीन राजनीतिक प्रणालियों/पद्धतियों को मोटे तौर पर **लोकतान्त्रिक** तथा **अधिनायकतन्त्र** में विभाजित किया जाता है। जैसा कि हम देखेंगे, यह वर्गीकरण **बीसवीं शताब्दी** में विकसित कुछ शासनों के लिए किया गया। यह थेः सोवियत संघ, फ़ासीवादी इटली एवं स्पेन तथा नात्सी जर्मनी। इससे पूर्व कि हम आधुनिक लोकतन्त्र शासनों एवं अधिनायकवादी व्यवस्थाओं की प्रकृति और उनके विकास की व्याख्या करें, यह आवश्यक है कि इस संदर्भ में कुछ प्रमुख सैद्धान्तिक मुद्दों की व्याख्या की जाए। इसका सम्बन्ध सरकार, राजनीतिक प्रणाली तथा राजनीतिक पद्धति जैसी कुछ अवधारणाओं से है।

14.2 सरकार, राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक पद्धति

सरकार, राजनीतिक प्रणाली तथा राजनीतिक पद्धति तीनों शब्दों का प्रयोग चाहे पर्याय के रूप में किया जा सकता है, फिर भी इनमें अंतर अवश्य है। सरकार शब्द का प्रयोग प्रायः उस संस्थागत प्रक्रिया के लिए किया जाता है जिसके अनुसार सामूहिक तथा सामान्यतया बाध्य निर्णय लिए तथा लागू किए जाते हैं। सरकार के मूल कार्य हैं क़ानून बनाना (विधायन), कानून लागू करना (कार्यकारक) तथा कानून की व्याख्या करना (न्यायिक कार्य)। यह तीनों कार्य क्रमशः **विधायिका**, **कार्यपालिका** तथा **न्यायपालिका** करती हैं।

राजनीतिक पद्धति अथवा राजनीतिक प्रणाली अधिक वृहत अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वृहत अर्थ इसलिए कि इसमें न केवल सरकार के अंग और राज्य की राजनीतिक संस्थाएँ शामिल होती हैं, परन्तु उनकी संरचना, मूल्य एवं प्रक्रियाएँ भी जिनके द्वारा वे समाज के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। यह भी है कि विभिन्न राजनीतिक पद्धतियों ने अपनी-अपनी प्राथमिकताएँ निर्धारित की हुई होती हैं। राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकण में जिन बातों पर सामान्यतया ध्यान दिया जाता है वे हैंः

शासन कौन करता है? क्या राजनीतिक भागीदारी की प्रक्रिया में केवल अभिजन (विशिष्ट) वर्ग होते हैं, अथवा सभी देशवासियों की भागीदारी होती है?

आज्ञापालन किस प्रकार होता है? क्या राजनीतिक व्यवस्था के आदेशों का पालन बल प्रयोग के द्वारा करवाया जाता है, अथवा यह आम सहमति से, सौदेबाज़ी से या समझौतों के द्वारा होता है?

क्या राजनीतिक पद्धति की शक्ति **केन्द्रित** (centralised) है, अथवा **खंडित** (fragmented) है? सम्बद्ध पद्धति में शक्तियों के पृथक्करण तथा रुकावट एवं संतुलन को सुनिश्चित करने के लिए क्या व्यवस्था पाई जाती है?

सरकार की शक्ति किस प्रकार प्राप्त की जाती है और किस प्रकार वह हस्तांतरित की जाती है? क्या पद्धति खुली एवं प्रतियोगी है अथवा एकाधिकार पूर्ण (monolithic) है?

व्यक्ति और राज्य में किस प्रकार के सम्बन्ध हैं? या सरकार और नागरिकों के मध्य अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का वितरण किस प्रकार किया जाता है?

MAADHYAM IAS

राजनीतिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति कैसी है? क्या अर्थव्यवस्था बाज़ार-आधारित है, अथवा राज्य द्वारा नियोजित एवं नियन्त्रित है?

राजनीतिक पद्धति की कार्यप्रणाली की क्या सीमाएँ हैं, तथा उनका कार्यक्षेत्र क्या है? क्या सरकार सीमित है, अथवा असीमित तथा लोकतान्त्रिक शासन की परिधि क्या है?

किन परिस्थितियों और बाध्यताओं में कार्य किया जाता है? राजनीतिक पद्धति के सुचारू कार्य के मार्ग में क्या-क्या सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ आती हैं?

कोई राजनीतिक पद्धति कितनी स्थायी है? क्या कोई व्यवस्था/पद्धति अधिक समय तक बनी रही है, और क्या उसमें नई माँगों तथा चुनौतियों का सामना करने की क्षमता है?

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) सरकार और राजनीतिक पद्धति में भेद स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

14.3 राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण का उद्देश्य

राजनीतिक पद्धतियों/प्रणालियों के वर्गीकरण की प्रक्रिया के तीन उद्देश्य होते हैं। **प्रथम,** राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण की प्रक्रिया सरकार और राजनीति को समझने की दिशा में एक महत्वपूर्ण क़दम है। इसमें वे मुद्दे सम्मिलित होते हैं जिनकी व्याख्या पिछले प्रभाग **(14.2)** में की गई है। **द्वितीय**, वर्गीकरण की प्रक्रिया से किसी राजनीतिक प्रणाली विशेष के मूल्यांकन में सहायता मिलती है ताकि शासन की कुशलता में वृद्धि हो सके। **तृतीय**, इन सामान्य मुद्दों के अतिरिक्त, परिस्थिति विशेष में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों के समाधान में भी सहायता मिलती है, जैसे कि "क्या पूर्व साम्यवादी देशों में जनवादी लोकतान्त्रिक प्रणालियों से, (उदार) लोकतन्त्र में होने वाले परिवर्तन का स्वागत किया जाए या नहीं"? या फिर, "क्या विकासशील देशों को, दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की भांति, निर्देशित (guided) लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ स्वीकार करनी चाहिए अथवा नहीं"? इत्यादि।

MAADHYAM IAS

14.4 लोकतान्त्रिक प्रणालियों का विकास

लोकतन्त्र (democracy) शब्द अति प्राचीन शब्द है, जिसकी उत्पत्ति ग्रीक भाषा के **डेमॉस** अर्थात् जनता और क्रैटिया (Kratia), अर्थात् शासन अथवा सत्ता से हुई। इसका अर्थ हुआ लोगों (जनता) का शासन। डेमोक्रैटिया शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम **ग्रीस** (यूनान) में **पाँचवी शताब्दी** (ई.पू.) के मध्य में किया गया। इसका प्रयोग ग्रीस के नगर राज्यों के शासन के लिए किया गया था। इसका प्रयोग उस समय प्रचलित व्यवस्थाओं राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र एवं लोकतन्त्र के लिए किया गया।

लोकतन्त्र के समर्थकों में इस विषय पर विवाद चलता रहा है कि **डेमॉस** में किनको शामिल किया जाए। न केवल प्राचीन ग्रीस में बल्कि आधुनिक समय में भी कुछ व्यक्तियों को अवश्य अयोग्य घोषित कर जनता (डेमॉस) में शामिल नहीं किया जाता। जब ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में एथेन्स का जनतन्त्र अपनी चरम सीमा पर था तब उस नगर राज्य के डेमॉस में वयस्क जनसंख्या का केवल एक छोटा भाग ही सम्मिलित था। राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी करने वालों की संख्या अत्यंत सीमित थी। यह तो अब, बीसवीं शताब्दी में आकर लगभग उन सभी लोगों को मताधिकार दिया गया जो किसी देश के स्थायी निवासी होते हैं। इस व्यवस्था को **सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार** कहा जाता है। **जर्मनी** में वयस्क मताधिकार **1919** में, **ब्रिटेन** में **1928** में, **संयुक्त राज्य अमेरिका** में **1920** में, **फ्रांस** में **1946** में तथा **भारत** में **1950** में लागू संविधान के द्वारा सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार लागू किया गया।

जनता (लोग) में किन को शामिल किया जाए इसकी परिवर्तित होती धारणा के साथ ही, यह धारणा भी बदली कि 'जनता द्वारा शासन' से क्या अभिप्राय है। समकालीन राजनीतिक पद्धतियों में, 'जनता द्वारा शासन' को सुनिश्चित करने के लिए अनेक राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रणालियों का विकास हुआ। जिन संस्थाओं और व्यवस्थाओं का, तथा राजनीतिक जीवन सम्बन्धी जिन विचारों का बीसवीं शताब्दी में विकास हुआ, वे मूल रूप से उनसे भिन्न हैं जो प्राचीन ग्रीस, रोमन गणराज्य या इटली के मध्यकालीन गणराज्यों और पुनरुत्थान युग में पाए जाते थे। अतः सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की स्थापना के साथ ही लोकतन्त्र के सिद्धान्त और व्यवहार में लोकतान्त्रिक राष्ट्र-निर्माण को ध्यान में रखते हुए परिवर्तन हुए। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि लोकतन्त्र का रूप छोटे नगर राज्यों से विशालकाय आधुनिक **राष्ट्र-राज्यों** में परिवर्तित हो गया।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति भी लोकतान्त्रिक शब्दावली में इस प्रकार हुई कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रणाली को सामूहिक आत्म-निर्णय की अवधारणा से सम्बद्ध कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि जहाँ नवोदित उत्तर-औपनिवेशिक राज्य वास्तविक स्वाधीनता (स्वशासन) प्राप्त नहीं कर सके, वहाँ भी उन्होंने अपने उपनिवेश-विरोधी संघर्ष के अनुभव के आधार पर स्वयं को लोकतन्त्र घोषित किया। उसी प्रकार, द्वितीय एवं तृतीय विश्व की उन राजनीतिक पद्धतियों को भी लोकतान्त्रिक मान्यता मिली जो कि जनवादी प्रणालियाँ कहलाती थीं। ऐसा अर्थशास्त्रीय भाषा में इसलिए किया गया क्योंकि उनका आधार पूँजी, उत्पादन और वितरण का सामूहिक उत्तरदायित्व था; वे नियोजित अर्थव्यवस्था सभी के लिए काम की व्यवस्था में विश्वास करते थे, चाहे उन पद्धतियों में जनसाधारण के राजनीतिक एवं कानूनी अधिकारों की अवेहलना की गई, तथा बहुदलीय चुनाव प्रणाली और संसदीय राजनीति की अनुमति नहीं दी गई। पाश्चात्य देशों की लोकतान्त्रिक प्रणालियों ने पारम्परिक राजनीतिक और कानूनी भाषा का सहारा लिया, चुनावी एवं नागरिक अधिकारों, लोकतान्त्रिक संविधान और संस्थाओं पर बल दिया। साथ ही राजनीतिक प्रणाली की औपचारिक स्वतन्त्रता और समानता को मान्यता दी गई।

MAADHYAM IAS

ऊपर लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली का जो संक्षिप्त ऐतिहासिक वर्णन किया गया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि जनतन्त्र में अस्पष्टता के साथ साथ तीव्र दार्शनिक और वैचारिक विवाद भी हुए। पूर्व या पश्चिम के देश, या फिर विकसित अथवा विकासशील देशों में लोकतन्त्र की अपनी-अपनी विशेषताएँ पाई गईं।

14.5 विकसित राज्यों में लोकतान्त्रिक प्रणाली

विकसित राज्यों की लोकतान्त्रिक प्रणालियों को **रॉबर्ट डल** (Dahl) ने, अपनी पुस्तक *'Polyarchy: Participation and Opposition'* में **बहुलतान्त्रिक पद्धति** (Polyarchical Regime) का नाम दिया। अनेक पाश्चात्य लेखकों ने **'बहुलतन्त्र'** (Polyarchy) शब्द को 'उदार लोकतन्त्र' की अपेक्षा अधिक पसन्द किया। इसके दो कारण हैंः **प्रथम**, "उदार लोकतन्त्र" का प्रयोग प्रायः एक राजनीतिक आदर्श की अवधारणा के रूप में किया गया, न कि राजनीतिक प्रणाली के रूप में। अतः इसमें अधिक व्यापक मान्यताएँ निहित हैं। **द्वितीय**, "बहुलतन्त्र" का प्रयोग यह मानकर चलता है कि अधिकांश देशों, विशेषकर पाश्चात्य देशों में, लोकतन्त्र व्यवस्था अनेक प्रकार से उस मापदंड पर खरी नहीं उतरती जिसका राजनीतिक सिद्धान्तों में विकास किया गया है।

उदार लोकतन्त्र, अथवा बहुलतन्त्रीय पद्धतियाँ, उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों, तथा ऑस्ट्रेलिया इत्यादि में स्थापित हैं। परन्तु, जापान, भारत तथा दक्षिण अफ्रीका जैसे अन्य देश भी हैं जिनमे उदार लोकतन्त्र की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इनमें से कुछ विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं।

- इन लोकतान्त्रिक प्रणालियों में कुछ महत्वपूर्ण संस्थाओं प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व होता है, जिनमें सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार शामिल है। निश्चित समय के लिए चुने गए नागरिकों को सार्वजनिक पदों की प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता में भाग लेने के समान अवसर प्राप्त होते हैं। राजनीतिक दलों एवं उनके नेताओं को जनसमर्थन प्राप्त करने के प्रयास करने की पूर्ण सुविधा प्राप्त होती है। सरकार का निर्माण स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनावों के आधार पर होता है। दलों के साथ, दबाव समूह भी प्रायः सक्रिय रहते हैं। यह समूह अनेक उपायों द्वारा सरकारी तन्त्र को प्रभावित करने के प्रयत्न करते रहते हैं।
- लोकतन्त्र में विपक्ष को सहन करने का उच्चस्तरीय आदर्श अपनाया जाता है। विपक्ष सरकार की मनमानी पर अंकुश लगाता है। इस दिशा में, सरकारी तन्त्र से स्वतन्त्र, सूचना माध्यम सहायक होते हैं। मूल-नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों को सांविधानिक मान्यता प्राप्त होने के साथ-साथ, नए सामाजिक आन्दोलन भी अधिकारों की सुरक्षा में सहायक होते हैं।
- समाज में मतविभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न विविधता को लोकतन्त्र स्वीकार करता है। अतः, राजनीतिक मतभेद (या कभी-कभी संघर्ष) को राजनीतिक जीवन के अनिवार्य अंश के रूप में स्वीकार किया जाता है। लोकतन्त्र की विचारधारा मतभेद को सामान्य मानती है, अनावश्यक नहीं।
- आधुनिक लोकतान्त्रिक पद्धतियों की एक विशेषता यह भी है कि इसमें अनेक स्वायत्त संघों और संगठनों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। यह सभी सरकार से, तथा एक दूसरे से, सामान्यतया स्वतन्त्र होते हैं।
- इन पद्धतियों का आधार पाश्चात्य उदार वैयक्तिक विचारधारा की राजनीतिक परम्परा है। अतः व्यक्तियों के अधिकारों के साथ-साथ स्वतन्त्र प्रतियोगी बाज़ार-व्यवस्था को भी स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार, लोकतन्त्र की सांस्कृतिक तथा वैचारिक प्रेरणा भी पाश्चात्य उदारवाद से प्रेरित होती है।

MAADHYAM IAS

- विकसित देशों की सभी राजनीतिक प्रणालियाँ एक समान नहीं हैं। कुछ तो केन्द्रीयकरण तथा बहुमत पर आधारित शासन को स्वीकार करते हैं तो कुछ बिखराव (खंडन या fragmentation) तथा बहुलवाद के पक्षधर हैं। अतः तुलनात्मक राजनीति के कुछ विद्वान जैसे लिज्फार्ट (Lijphart) 'बहुमत' आधारित लोकतान्त्रिक पद्धति तथा 'बहुलवादी' पद्धति में स्पष्ट भेद बताते हैं।

बहुमत आधारित लोकतन्त्र प्रायः **वेस्टमिन्सटर मॉडल** के अनुसार **संगठित संसदीय** प्रणाली को कहा जाता है। इस प्रकार की लोकतान्त्रिक प्रणालियाँ ग्रेट ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कनाडा, तथा इज़राईल आदि में पाई जाती हैं। इनकी सामान्य विशेषताएँ हैं **एक बहुमत- प्राप्त** राजनीतिक दल की सरकार, कार्यपालिका-विधायिका के सम्बन्धों में शक्ति पृथक्करण का अभाव, साधारण बहुमत (simple majority) चुनाव पद्धति जिसे First-past-the-post system भी कहा जाता है, एकात्मक अथवा अर्धसंघीय व्यवस्थाएँ, तथा विधायिका की सर्वोच्चता इत्यादि।

अमरीकी शासन प्रणाली पर आधारित **बहुलवादी लोकतान्त्रिक प्रणाली शक्ति पृथक्करण एवं रुकावट और संतुलन के सिद्धान्तों पर आधारित** होती है। सांविधानिक प्रावधान **संस्थागत बिखराव** (fragmentation) को मान्यता देते हैं। बेल्जियम, ऑस्ट्रिया, दि नीदरलैंड्स, तथा स्विटज़रलैण्ड जैसे देश, जिनमें अनेक धार्मिक, वैचारिक, क्षेत्रीय भाषायी एवं सांस्कृतिक विविधताएँ हैं उन्हें **आम सहमति** (consociational) लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ भी कहा जा सकता है। इन पद्धतियों में शक्ति की ऐसी भागीदारी तथा सौदेबाजी को प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे आम सहमति हो सके। इनकी कुछ समान विशेषताएँ हैं; **मिली-जुली सरकारें** (coalition governments), **शक्तियों का पृथक्करण** (separation of powers), प्रभावी दो-सदनीय प्रतिनिधित्व संघवाद अथवा शक्तियों का विकेन्द्रीकरण, तथा मौलिक **का घोषणा-पत्र** (Bill of Rights) इत्यादि।

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) बहुलवादी लोकतान्त्रिक पद्धतियों की क्या विशेषताएँ हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

14.6 विकासशील राज्यों में लोकतान्त्रिक प्रणाली

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्, एशिया और अफ्रीका के अनेक देश औपनिवेशिक शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्र नवोदित राष्ट्रों के रूप में उभरे। उपनिवेशवाद उन्मूलन से यह आशा जाग्रत हुई थी कि नवोदित देशों के आधुनिकीकृत अभिजन वर्ग राष्ट्रीय, उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों को सफलतापूर्वक लोकतान्त्रिक व्यवस्था में परिवर्तित कर लेंगे। इस प्रकार वे राष्ट्र-निर्माण और राज्य-निर्माण के महान कार्य को सम्भव बना सकेंगे। परन्तु,

इनमें से अधिकांश देशों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनमें से कुछ देशों में साक्षरता का अभाव, औद्योगिक विकास का अभाव तथा लोकतान्त्रिक अनुभव जैसी पारम्परिक संस्कृति के अभाव ने अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कीं। परिणाम यह हुआ कि चाहे अधिकांश नवोदित एशियाई-अफ्रीकी राज्यों ने लोकतन्त्र को अपनाया, परन्तु शीघ्र ही उनमें अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ उभर कर आ गईं। विकासशील देशों में से अनेक में कभी लोकतन्त्र, तो कभी अधिनायकतन्त्र को अपनाया गया। पाकिस्तान इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। ऐसा भी है कि कुछ देशों में लोकतन्त्र का दिखावा तो होता है, परन्तु व्यवहार में वहाँ अधिनायकतन्त्र की प्रक्रिया पाई जाती है।

भारत अवश्य एक ऐसा देश है जिसने सामान्य लोकतान्त्रिक परम्पराओं को बनाए रखा है, तथा सांविधानिक प्रावधानों एवं प्रक्रियाओं का पालन किया है।

विकासशील देशों में लोकतान्त्रिक प्रणालियों की सफलता के मार्ग में एक बड़ी कठिनाई है जनता का भाषा, कबीलों तथा धार्मिक आधार पर जातीय (ethnic) विभाजन। विभिन्न जातीय समूहों की राजनीतिक विकास की स्थिति एक समान नहीं है। जातीय विविधताएँ निश्चित रूप से राजनीतिक संगठन में प्रतिबिम्बित होती हैं। राजनीतिक भागीदारी के स्तर के ऊपर उठते रहने के कारण किसी भी सरकार से समूहों की अपेक्षाएँ भी बढ़ जाती हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि ऐसे उपाय किए जाएँ जिनके द्वारा विभिन्न समूहों तथा उनकी आकांक्षाओं में नियन्त्रण एवं समन्वय सुनिश्चित किया जा सकें। यह उपाय प्रायः अधिनायकवादी उपायों का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भागीदारी के तीव्र गति से बढ़ने के कारण अनेक लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ अधिनायकवादी सैनिक अथवा नौकरशाही प्रणालियों में परिवर्तित हो जाती हैं। ऐसा विशेषकर लैटिन अमेरिका के राज्यों में हुआ है।

विकासशील देशों की लोकतान्त्रिक प्रणालियों की एक अन्य समस्या है अल्प विकास (under development), जैसा कि निर्भरता सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है। इसका सामना करने के लिए सशक्त उपाय करने की आवश्यकता है। इसीलिए पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया में राज्यों का ध्यान अधिकतर आर्थिक लक्ष्यों पर केन्द्रित होता है, न कि राजनीतिक उद्देश्यों पर। उनकी प्राथमिकता आर्थिक विकास है, न कि पाश्चात्य विचारों के अनुसार व्यक्तिगम स्वतन्त्रता के लिए प्रयास। मूल से राजनीतिक लक्ष्यों पर जिन देशों में बल दिया जाता है वे हैं: दक्षिणी कोरिया, ताईवान, सिंगापुर, इन्डोनेशिया, थाईलैण्ड तथा मलेशिया। **द्वितीय**, पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों में शक्तिशाली राजनीतिक पद्धतियों को जनसमर्थन प्राप्त होता है। जनता सशक्त राजनीतिक दलों को सहन करती है, तथा आमतौर पर सरकारों की इस क्षमता में विश्वास किया जाता है कि वे निजी एवं सार्वजनिक संस्थाओं के निर्णयों को नियन्त्रित करेंगे तथा राष्ट्रीय विकास की रणनीति बनाएगी। **तृतीय**, एशिया की इन राजनीतिक पद्धतियों को इस आधार पर मान्यता प्राप्त होती है कि उनको अनुशासन, कर्त्तव्य परायणता एवं निष्ठा प्राप्त होगी। इन तीनों कारणों से सम्बद्ध एशियाई देशों को लोकतन्त्र का स्तर दिया जा सकता है, चाहे उनमें भी कुछ अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं।

चीन या उत्तरी कोरिया जैसे 'जनवादी लोकतन्त्रों' को औपचारिक रूप से लोकतन्त्र नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ प्रतियोगिता, उत्तरदायित्त्व एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव है। परन्तु, पूर्वी यूरोप के भूतपूर्व साम्यवादी देशों के विपरीत, इन एशियाई देशों में, कम से कम स्थानीय स्तर पर मतदान के द्वारा राजनीतिक भागीदारी प्राप्त है।

MAADHYAM IAS

हंटिंग्टन (Samuel P. Huntington) ने अपनी पुस्तक *'Clash of Civilisations'* में तर्क दिया है कि उत्तरी अफ्रीका, मध्य-पूर्व तथा दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ देशों में इस्लाम धर्म का महत्वपूर्ण प्रभाव है। पिछले दो दशकों में शहर-समर्थक, निर्धन उग्रवादी इस्लामी समूहों द्वारा तत्कालीन राजनीतिक पद्धतियों को दी गई चुनौतियों के फलस्वरूप, इस्लाम के आधार पर कई नई लोकतान्त्रिक प्रणालियों की रचना या पुर्नरचना की गई है। ईरान, सूडान तथा पाकिस्तान को इनके प्रमुख उदाहरण माना जाता है।

परन्तु, इन नई इस्लामी राजनीतिक पद्धतियों को पाश्चात्य विद्वान दो आधारों पर ग़ैर-उदार मानते हैं। **प्रथम**, यह पद्धतियाँ निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के भेद की अवहेलना करती हैं, क्योंकि वे निजी और राजनीतिक व्यवहार दोनों में ही धार्मिक नियमों को लागू करवाती हैं। **द्वितीय**, इन देशों में शासन को लगभग असीमित शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि राज्य की शक्ति आध्यात्मिक ज्ञान से प्राप्त होती है। इस प्रकार इन देशों में यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी शासन प्रणालियाँ जनता की सहमति पर अथवा सांविधानिक संरचना पर आधारित हैं। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि पाकिस्तान तथा मलेशिया जैसे देशों में जहाँ **निर्देशित** (guided) **लोकतान्त्रिक** पद्धतियाँ पाई गईं/पाई जाती हैं वहाँ इस्लाम और बहुलवाद में कोई विरोधाभास नहीं पाया जाता। संक्षेप में, यह कहना होगा कि इस्लामी प्रणालियों में अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट पाई जाती हैं, चाहे उन्हें कट्टरपंथी (fundamentalist) कहना उचित न भी हो।

बोध प्रश्न 3

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) विकासशील देशों में लोकतान्त्रिक पद्धतियों की सफलता के मार्ग में उत्पन्न कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

14.7 अधिनायकवादी प्रणालियों की प्रकृति

MAADHYAM IAS

लोकतान्त्रिक और अधिनायकवादी पद्धतियों में उनके उद्देश्यों तथा उनकी उपलब्धि के साधनों के आधार पर भेद किया जाता है। अधिनायकवादी शासन स्वयं यह तय करते हैं कि व्यक्ति के हित में क्या है। नागरिकों की इच्छाओं की चिंता किए बिना शासन करने वाले अभिजन अपनी इच्छा उन पर थोपते हैं। यह ऐसी सरकार है जो पूर्ण आज्ञाकारिता माँगती है, और चाहती है कि सभी उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करें, तथा यदि आवश्यक हो तो वह बल प्रयोग भी करती है। वास्तव में यह लोकतन्त्र की पूर्ण विरोधी व्यवस्था है।

जब शक्ति का स्वेच्छा से पालन किया जाता है, उसका स्वेच्छा से आदर किया जाता है, जब अधिकांश जनता इसे मान्यता देती है तब यह सत्ता वैध और बाध्यकारी होती है। इसको ही सत्ता कहते हैं। सत्ता वास्तव में स्वेच्छा से स्वीकृत शक्ति है। इसका स्तर नैतिक होता

है। सत्ता में शक्ति का वैध प्रयोग निहित होता है। लोकतान्त्रिक प्रणालियाँ इस प्रकार की सत्ता को मान्यता प्रदान करती हैं। परन्तु जब कोई पद्धति जनइच्छा की चिंता किए बिना, तथा बल प्रयोग करके शासन करती हैं तब इसे ही अधिनायकवादी कहते हैं। इस प्रकार, यदि लोकतन्त्र का आधार "नीचे" (जनइच्छा) से है, तो अधिनायकवाद "ऊपर" से लादी गई व्यवस्था है।

"ऊपर" से शासन की व्यवस्था का सम्बन्ध राजतन्त्रीय **असीमितता** (absolutism), पारम्परिक तानाशाही, अधिकांश एक-दलीय व्यवस्थाओं, तथा अधिकांश सैनिक शासनों से भी है। वे सभी अधिनायकवादी हैं, क्योंकि इन सब पद्धतियों में विपक्ष एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का दमन किया जाता है।

अधिनायकवादी (authoritarian) पद्धति तथा **सर्वाधिकारवादी** (totalitarian regime) पद्धति एक ही व्यवस्था नहीं हैं। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में आधुनिक तानाशाही के तत्व पाए जाते हैं क्योंकि इसमें सरकार की समस्त शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है, तथा राजनीतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन सभी को सैनिक कमान की भांति एक सूत्र में बांध दिया जाता है। इन अर्थों में यह अतीत की सभी अतिवादी, उत्पीड़क शासन प्रणालियों से अधिक कठोर है। सर्वाधिकार का जनसाधारण की गतिविधि पर अबाध नियन्त्रण होता है। इस अर्थ में सर्वाधिकारवाद वास्तव में बीसवीं शताब्दी की ही देन है। इस शब्द (व्यवस्था) का प्रयोग दो विश्व युद्धों के अंतराल की तीन अतिवादी प्रणालियों से किया जाता है। वे हैं: इटली की फ़ासी सरकार, जर्मन नात्सी शासन तथा सोवियत संघ का स्टालिनवाद।

सारांश यह निकलता है कि सभी सर्वाधिकारवादी शासन अधिनायकवादी होते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी अधिनायकतन्त्र सर्वाधिकारवादी ही हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिनायकवादी शासन (authoritarian regimes) विपक्ष तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का दम करते हैं। परन्तु, सर्वाधिकारवादी व्यवस्था की तरह यह राज्य और समाज के अंतर को धूमिल या समाप्त नहीं करना चाहते हैं। अधिनायकवादी पद्धतियाँ कुछ सीमा तक आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य स्वतन्त्रताओं को बर्दाश्त करती हैं।

14.7.1 अधिनायकवादी प्रणालियों की विशेषताएँ

अधिनायकवादी व्यवस्था में सार्वजनिक विचार-विमर्श तथा मतदान इत्यादि को, सत्ता (authority) में जो व्यक्ति होते हैं वे दबा देते 81

- अधिनायकवादी (authoriarian) प्रणाली इतनी शक्ति का प्रयोग आसानी से कर लेते हैं कि वे संवैधानिक मर्यादाओं की अवेहलना कर सकें।
- इस व्यवस्था में जो लोग सत्तारूढ़ होते हैं वे यह दावा नहीं करते कि उनकी शक्ति के पीछे शासितों (जनसाधारण) की स्वीकृति होती है; परन्तु उन की शक्ति का आधार उनके कोई विशेष गुण होते हैं।
- बल पर आधारित, यह प्रणाली नागरिकों के विरुद्ध बड़ी सुविधा से हिंसात्मक उपायों का सहारा ले लेती हैं, तथा नागरिकों (जनता) की इस शासन में कोई भूमिका नहीं होती। शक्ति (सत्ता) नियन्त्रित होती है, सत्ता-परिवर्तन या नेता-परिवर्तन सरल नहीं होता। यह कार्य प्रायः शांतिपूर्वक उपायों से सम्पन्न होता ही नहीं है। सत्ता में परिवर्तन या सैनिक क्रान्ति (coup d'etat) के द्वारा, या फिर किसी अन्य क्रान्ति के द्वारा ही

MAADHYAM IAS

होता है। जहाँ तक अफ्रीकी देशों की अधिनायकवादी पद्धतियों का प्रश्न है वहाँ प्रायः सैनिक क्रान्तियों से ही सत्ता परिवर्तन होते हैं।

- अधिनायकवादी देश अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों में भी बल प्रयोग का सहारा लेते हैं। इस व्यवस्था में संस्थाएँ जनता की भागीदारी पर आधारित नहीं होती, तथा जनता के प्रति वे उत्तरदायी भी नहीं होती, इसलिए जनमत का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार, अधिनायकतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय शांति में बिल्कुल सहायक नहीं होता।
- यह शासन व्यवस्था जनता की सीमित तथा अत्यंत कम राजनीतिक पहल पर आधारित होता है। जनसाधारण का अराजनीतिकरण हो जाता है तथा शासक वर्ग स्वेच्छा से सीमित बहुलवाद के आधार पर सत्ता का उपयोग करता है।
- जहाँ लोकतन्त्र संस्थागत रूप में बहुलवाद का लगभग असीमित रूप में प्रतिनिधित्व करता है, वहीं अधिनायक व्यवस्था सीमित बहुलवाद का प्रतीक है। सीमित बहुलवाद कानूनी भी हो सकता है या मात्र व्यावहारिक (de facto)। यह सत्तारूढ़ राजनीतिक समूह, अथवा हित समूहों तक सीमित होता है।
- इस व्यवस्था में शासक समूह की सत्ता कानूनन जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, चाहे कभी कभी वह उनकी इच्छा का आदर बेशक करे। यह लोकतान्त्रिक व्यवस्था के एकदम विपरीत है, जहाँ राजनीतिक शक्ति नागरिकों के औपचारिक समर्थन पर निर्भर रहती है।

14.7.2 द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में अधिनायकवादी पद्धतियाँ

अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ प्रायः लैटिन अमेरिका, मध्य पूर्व, अफ्रीका एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के विकासशील देशों में स्थापित हुईं। द्वितीय विश्व के पश्चात्, स्पेन, पुर्तगाल तथा ग्रीस जैसे विकसित देशों में भी यह पद्धतियाँ पाई गईं। इन शासन व्यवस्थाओं का सामान्य आधार राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा वैचारिक तत्त्व नहीं होता। वे सामान्यतया सैनिक बल और क्रमबद्ध दमन पर निर्भर करती हैं। इन देशों में औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार की लोकतान्त्रिक संस्थाएँ या तो शक्तिहीन हो गई हैं या उनका उन्मूलन कर दिया गया। वहाँ राजनीतिक तथा कानूनी अधिकार तो पाए ही नहीं जाते।

सैनिक शासन तन्त्र में प्रायः तीनों सेनाओं के वरिष्ठ अधिकारियों का वर्चस्व होता है। ऐसा 1978-1983 में अर्जेन्टीना में हुआ, या फिर ऐसी ही व्यवस्था वर्तमान मायनमान में है। परन्तु कुछ ऐसे भी शासन तन्त्र हैं जहाँ सेना द्वारा समर्थित किसी एक व्यक्ति की तानाशाही स्थापित है। इस व्यवस्था में एक सैनिक अथवा असैनिक व्यक्ति का वर्चस्व होता है। **ग्रीस** (यूनान) में **कर्नल पापाडोपूलाज़** (Col. Papadopoulas), **चिली में जनरल पिनोचेट, नाईजीरिया** में **जनरल अबाचा, पाकिस्तान** में **जनरल ज़िया-उल-हक़** (या अब **जनरल परवेज़ मुशर्रफ़**), **घाना में फ़्लाइट लेफ्टीनेंट जैरी रॉलिंग**, तथा **लाईबीरिया** में **सार्जेन्ट** डो **(Samuel Doe)** के शासन कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। एक अन्य प्रकार की प्रणाली वह होती है जिसमें कोई असैनिक शासन सशस्त्र सेनाओं के समर्थन से सत्तारूढ़ रहता है। इन परिस्थितियों में सेना प्रायः पृष्ठभूमि में रहती है, तथा किसी असैनिक शासक के मुखौटे के पीछे शासन का निर्देशन करती है। ज़ेयर (Zaire) में मोबूटू (Mobutu) 1965 में सैनिक क्रान्ति के फलस्वरूप सत्तारूढ़ हुआ था, परन्तु उसने क्रमशः सेना की (शासन में) भूमिका

MAADHYAM IAS

कम कर दी, और वह लोकप्रिय आन्दोलनों की सहायता से शासन करता रहा। मिश्र (Egypt) में भी कुछ ऐसा ही हुआ जहाँ सैनिक शासन के स्थान पर कर्नल नासिर और फिर अनवर सादात के नेतृत्व में अधिनायकवादी असैनिक शासन स्थापित रहा।

बोध प्रश्न 4

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) अधिनायकवादी और सर्वाधिकारवादी शासन पद्धतियों में क्या अंतर है?

....

....

....

....

2) अधिनायकवादी पद्धति की तीन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

14.8 साराश

वृहत अर्थ में सरकार उस व्यवस्था का प्रतीक है जिसके द्वारा संतुलित शासन स्थापित किया जाता है। इसका मुख्य महत्व इस बात में है कि यह सामूहिक निर्णय लेकर उन्हें लागू कर सकती है। किसी राजनीतिक पद्धति, अथवा व्यवस्था में, न केवल सरकार और उसकी संस्थाओं के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। बल्कि राजनीतिक पद्धतियों के वर्गीकरण से हमको सरकार और राजनीति को समझने और उसके मूल्यांकन में सहायता मिलती है। इससे किसी शासन प्रणाली विशेष की समस्याओं की समीक्षा करना भी सरल हो जाता है।

दोनों विश्व युद्धों की मध्यावधि में राजनीतिक प्रणालियों के वर्गीकरण करने की प्रक्रिया में फेर बदल होते रहे। सामान्यतयाः दो प्रकार की प्रणालियों लोकतन्त्र और अधिनायकतन्त्र को स्वीकार किया गया।

यूनानी (ग्रीक) नगर-राज्यों से लेकर आधुनिक राष्ट्र-राज्यों तक लोकतान्त्रिक प्रणाली में भी आमूल परिवर्तन हुए हैं।

MAADHYAM IAS

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत **तीन विश्वों** (three worlds) का विकास हुआ, जिसे वर्गीकरण में भी शामिल किया गया। **प्रथम** विश्व **उदार पूँजीवादी देशों के समूह** को कहा गया, **द्वितीय साम्यवादी देशों** को; तथा **तृतीय** विश्व में अनेक वैचारिक और भौतिक विविधताओं से लिप्त **विकासशील** देश थे।

विकसित देशों में लोकतन्त्र शासन बहुमुखी होता है, क्योंकि वह आधुनिक प्रतिनिधि (अप्रत्यक्ष) लोकतन्त्र की संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के माध्यम से कार्य करता है। इस कारण

शासकों को नागरिकों के अधिकारों, हितों, तथा उनकी अभिलाषाओं को ध्यान में रखना पड़ता है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों में लोकतान्त्रिक शासन प्रणालियाँ, जातीय विविधताओं और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण काफी परेशानी में रहती हैं। कुछ विकासशील देशों में राजनीतिक प्रणालियों को इस्लाम जैसे धर्मों की भूमिका ने अलग श्रेणी (वर्ग) में रखा है।

अधिनायकवादी राजनीतिक प्रणालियाँ अलोकतान्त्रिक होती हैं क्योंकि वे लोकतान्त्रिक भागीदारी, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं कानूनों का दमन करती है। इन प्रणालियों में आँख बंद करके आज्ञा पालन करना पड़ता है, उनको बलपूर्वक शासन के साथ चलाया जाता है। अधिनायकवाद तथा सर्वाधिकारवाद में भी इस आधार पर अंतर किया जाता है कि सर्वाधिकार के विपरीत अधिनायकतन्त्र समाज और राज्य के अंतर को धूमिल नहीं करता।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, विकसित एवं विकासशील दोनों प्रकार के देशों में, सेना के प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन और सहयोग से अनेक अधिनायकवादी शासन स्थापित किए गए।

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bodganor, Vernon (1987) (ed.), *The Blackwell Encyclopaedia of Political Institutions,* Blackwell Reference, Oxford.

Heywood, Andrew (1997), *Politics,* Macmillan, London.

Millar, David, (1987) (ed.), *The Blackwell Encyclopaedia of Political Thought,* Blackwell Reference, Oxford.

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सरकार से उस व्यवस्था का बोध होता है जिसमें संस्थागत प्रक्रिया के द्वारा सामूहिक और बाध्य निर्णय लिए जाते हैं; राजनीतिक पद्धति या प्रणाली अधिक विस्तृत व्यवस्था है जिसमें संरचनाएँ, मूल्य एवं प्रक्रियाएँ, नागरिक समाज के साथ मिल कर करती हैं।

बोध प्रश्न 2

1) इनसे उन मूल्यों, सौदेबाजी और शक्ति (सत्ता) में भागीदारी ऐसी संस्थागम व्यवस्था से होती है जिसमें विभिन्न अंगों में रुकावट और संतुलन, बहुदलीय व्यवस्था, तथा शक्ति का विभाजन या विकेन्द्रीकरण होता है।

बोध प्रश्न 3

1) गहरे जातीय विभाजन, अल्प विकास की समस्या तथा शासन द्वारा गहन पहल की आवश्यकता के संदर्भ में राजनीतिक भागीदारी का उच्च स्तर होता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 4

1) सर्वाधिकारवादी प्रणालियों की विशेषता है कि उनमें पूर्ण केन्द्रीकरण के साथ-साथ, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक (बुद्धिजीवी) जीवन में, सेना के अनुशासन की भांति, एकरूपता लाई जाती है। समाज और राज्य के मध्य अंतर को मिटा दिया जाता है। अधिनायकवादी राज्य कुछ सीमा तक बहुलवाद को सहन करते हैं, तथा व्यक्तिगत जीवन के सभी पक्षों पर नियन्त्रण आवश्यक नहीं होता।

2) बल प्रयोग, सीमित राजनीतिक भागीदारी, तथा सांविधानिक उत्तरदायित्त्व के अभाव पर आधारित।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

इकाई 15 असैनिक और सैनिक शासन प्रणालियाँ

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 सैनिक-असैनिक सम्बन्ध

- 15.2.1 भारत
- 15.2.2 रूस
- 15.2.3 नाईजीरिया
- 15.2.4 ईराक़
- 15.2.5 पाकिस्तान
- 15.2.6 संयुक्त राज्य अमेरिका
- 15.2.7 चीन

15.3 सैनिक शासनः अर्थ और विशेषताएँ

- 15.3.1 सैनिक शासन के प्रकार
- 15.3.2 शासन की रणनीतियाँ

15.4 राजनीति में सेनाः परिणाम

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

सरकारों के वर्गीकरण का एक अन्य प्रमुख आधार यह है कि क्या सशस्त्र सेनाएँ विधि द्वारा स्थापित राज्य सत्ता के अधीन हैं, अथवा सत्ता पर सेना का नियन्त्रण है। इस इकाई में विकासशील देशों में सैनिक शासन तन्त्र की समीक्षा की जाएगी। इसमें सेना और असैनिक तन्त्र के सम्बन्धों की व्याख्या भी की गई है। यह सम्बन्ध विभिन्न सरकारों में भिन्न-भिन्न होता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- सैनिक-असैनिक सम्बन्धों के विविध आयामों की व्याख्या कर सकेंगे;
- सैनिक प्रणालियों का और उनकी विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे;
- विभिन्न प्रकार की सैनिक शासन व्यवस्थाओं की पहचान कर सकेंगे; तथा
- समाज, अर्थ-व्यवस्था तथा राजव्यवस्था के लिए सैनिक तन्त्र के परिणामों का वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

15.1 प्रस्तावना

राज्यों के समकालीन समाज में सेना एक प्रमुख संस्था बन गई है। चाहे कोई भी शासन व्यवस्था हो यह अपेक्षित होता है कि सेनाएँ कार्यपालिका के आदेशानुसार, उसके अधीन, कार्य करेंगी। दूसरी ओर, कार्यपालिका को चाहिए कि वह सशस्त्र सेनाओं की उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करें। अन्य शब्दों में, असैनिक कार्यपालिका तथा सेनाओं दोनों से यह अपेक्षा होती है कि वे अपने-अपने निर्धारित कार्यक्षेत्र में काम करेंगी, तथा दूसरे के सामान्य कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। परन्तु, एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अनेक (सभी नहीं) नवोदित देशों में राजनीति में सेना का हस्तक्षेप स्पष्ट दिखाई देता है। अनेक नवोदित देशों में समय-समय पर सैनिक क्रान्तियाँ (military coup) हुई हैं। समकालीन पूर्वी यूरोप में लोकतन्त्र की बलवती लहर के बावजूद, कई विकासशील देशों में अब भी सैनिक शासन विद्यमान है। स्वयं हमारे पड़ोस में मायनमार (बर्मा) में कई दशकों से चला आ रहा सैनिक शासन समाप्त होता दिखाई नहीं देता। उधर पाकिस्तान में, चौथी बार अक्टूबर 1999 में जनरल परवेज़ मुशर्रफ का सैनिक शासन स्थापित हुआ। अतः कार्यपालिका के अधीन सेना, अथवा शासन पर सेना का प्रभुत्त्व राजनीतिक प्रणालियों के वर्गीकरण का महत्वपूर्ण आधार बन गया है। हम कुछ देशों विशेष के अध्ययन के आधार पर सैनिक - असैनिक सम्बन्धों की समीक्षा करेंगे। उसके पश्चात्, हम सैनिक शासन की विशेषताओं का परीक्षण करके, विकासशील देशों पर सैनिक शासन के प्रभाव की व्याख्या करेंगे।

15.2 सैनिक-असैनिक सम्बन्ध

सैनिक-असैनिक सम्बन्ध की बात करते समय हमारा ध्यान उन प्रवृत्तियों तथा उस व्यवहार पर जाता है जो कि जनसाधारण तथा सशस्त्र सैन्य बल एक दूसरे के प्रति व्यक्त करते हैं। संकीर्ण अर्थ में, अथवा राजनीतिक परिवेश में हमारा मतलब राज्य की विधि द्वारा स्थापित राजनीतिक सत्ता (सरकार) के साथ सशस्त्र सेनाओं के सम्बन्धों की व्याख्या करना है -- अर्थात् क्या सेना असैनिक सरकार के अधीन है, अथवा वह राजनीति पर हावी है। परन्तु व्यवहार में "सैनिक" एवं "असैनिक" शब्दों का प्रयोग किसी निश्चित सीमा में नहीं किया जाता। ऐसे समाज भी हैं जहाँ क़बालयी नेता तथा शासक युद्ध में सैनिक रह चुके हैं। इसी प्रकार, यूरोप के सामंतशाही राजतन्त्रों में बैरन (Barons) योद्धा एवं राजनीतिक नेता दोनों ही हुआ करते थे। अठारहवीं शताब्दी के अंत में, विशेषकर फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात् सेना की निष्ठा (राजभक्ति) वंशानुगत राजा (अथवा निर्वाचित अधिकारियों) से हटकर राष्ट्रभक्ति (देश के प्रति निष्ठा) में परिवर्तित हुई। इसके साथ ही, सेना के अधिकारियों के व्यवहार में इस अर्थ में भी बदलाव आया कि उनका जीवनयापन (रहनसहन), प्रशिक्षण, सामाजिक स्तर, तथा भौतिक आवश्यकताएँ आदि सभी परिवर्तित हो गए। सैनिक अधिकारी अपने प्रशिक्षण के कारण अधिक कार्यनिष्ठ हो गए। इस पृष्ठभूमि में सेना तथा सरकार दोनों के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हुए। परन्तु सैनिक-असैनिक सम्बन्धों की समीक्षा सभी राजनीतिक प्रणालियों में एक समान नहीं होती। अन्य शब्दों में, सैनिक-असैनिक सम्बन्ध विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होते हैं। साथ ही समय के साथ सम्बन्धों के प्रमुख विषय भी बदलते रहते हैं। अब हम कुछ प्रमुख देशों (जिनकी राजनीतिक प्रणालियाँ भिन्न हैं) में सैनिक-असैनिक सम्बन्धों की समीक्षा करेंगे।

MAADHYAM IAS

15.2.1 भारत

भारत संसार का सबसे विशाल लोकतन्त्र है। जब से भारत ने 1947 में अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता प्राप्त की तभी से यह सशक्त परम्परा रही है कि सशस्त्र सेनाएँ राजनीति से दूर (apolitical) रहती हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् काफी समय तक राज्य द्वारा सेनाओं की जैसे अवहेलना होती रही। विदेश नीति तथा सुरक्षा नीति दोनों ही क्षेत्रों में निर्णय प्रक्रिया से सेना को पृथक रखा गया। इसका एक नकारात्मक परिणाम यह हुआ कि 1962 में साम्यवादी चीन की सेना के समक्ष भारत को अपमानित होना पड़ा। परन्तु, उसके बाद परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। फिर भी राजनीतिक क्षेत्र में सेना की कोई भूमिका नहीं है।

भारत में राजनीतिक नेतृत्व तथा सेना के सम्बन्ध सदा मधुर नहीं रहे हैं। शायद कुछ ऐसे अवसर भारत में भी आए हैं जब सेना और उसके राजनीतिक स्वामियों के मध्य रस्साक़सी होती पाई गई। परन्तु ऐसे अवसर गिने चुने, अपवाद रूप में ही पाए गए। सबसे अधिक चर्चित घटना उस समय की है जब तत्कालीन थलसेना अध्यक्ष जनरल थिमैय्या ने प्रधानमन्त्री नेहरू को अपना त्यागपत्र सौंप दिया था। उन्होंने ऐसा उस समय किया जब कुछ ही घंटों बाद पाकिस्तानी सेनाध्यक्ष दिल्ली आने वाले थे। अनेक वर्षों बाद सेना के एक दस्ते को उसके शांतिकालीन तैनाती स्थल से, बिना रक्षा मन्त्रालय की अनुमति के, हस्तांतरित कर दिया गया। दिसम्बर 1999 में तत्कालीन नौसेना अध्यक्ष ऐडमिरल भागवत को इसलिए बर्ख़ास्त कर दिया गया क्योंकि उन पर आरोप था कि उन्होंने राष्ट्रीय सुरक्षा के विरुद्ध कार्य किया, तथा अपने रक्षामन्त्री (जॉर्ज फ़र्नान्डीस) के आदेश का पालन नहीं किया। एक कम गम्भीर घटना तब घटी जब तत्कालीन सेना अध्यक्ष जनरल रोड्रिग्स (General S.F. Rodrigues) ने कुछ देशों की आलोचना की, जिसके कारण संसद में उनको बर्ख़ास्त किए जाने की माँग की गई क्योंकि उन्होंने एक राजनीतिक वक्तव्य दिया था। संकट टल गया, तथा सेना अध्यक्ष अपने पद पर बने रहे।

भारत में सैनिक-असैनिक सम्बन्धों की सबसे गम्भीर घटना 1999 में ऐडमिरल भागवत को पद से हटाए जाने की थी। नौसेना अध्यक्ष की बर्ख़ास्तगी और उससे पूर्व के घटनाक्रम में जो कहा-सुनी हुई, तथा जो आरोप-प्रत्यारोप लगाए गए वे दुर्भाग्यपूर्ण थे। देश में एक विवाद पैदा हो गया था। चाहे उसका कोई निश्चित परिणाम नहीं निकला, फिर भी सशस्त्र सेनाओं के दिन-प्रति-दिन के कार्यों में नौकरशाही की भूमिका पर प्रश्न चिन्ह अवश्य लग गए। उस समय यह तर्क दिया गया कि असैनिक (राजनीतिक)अंग का कार्य नीति निर्धारण करना तथा रणनीतिक उद्देश्य निर्धारित करना होता है, जबकि उनको वास्तविक रूप देकर लागू करना सेना का कार्य है। सेनाओं के दिन-प्रतिदिन के कार्य में असैनिक हस्तक्षेप से सेना में अनुशासन हीनता की वृद्धि होगी, तथा उनके व्यावसायिक कार्यों में रुकावट उत्पन्न होगी। उसी विवाद के फलस्वरूप यह प्रस्ताव किया गया कि तीनों सेनाओं के एक संयुक्त प्रधान (Joint chiefs of staff) के पद की व्याख्या की जाए ताकि वह तीनों सशस्त्र सेनाओं की ओर से मन्त्रिमण्डल को परामर्श दे सके और उसके आधार पर सरकार रणनीतिक निर्णय कर सके।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

15.2.2 रूस

रूस पूर्व सोवियत संघ का सबसे विशाल एवं महत्वपूर्ण उत्तराधिकारी देश है। वहाँ सेना ने स्वयं को राज्य के दिन-प्रतिदिन के कार्यों एवं राजनीतिक भूमिका से अलग रखा है। एक

प्रसिद्ध विद्वान का कहना है कि रूस की सेना **त्बीलीसी संलक्षण** (Tbilisi Sndroma) से पीड़ित है। इसलिए वह स्वयं को राजनीति से दूर रखती है। सन् 1989 में रूस के त्बीलीसी नामक स्थान पर आंतरिक सुरक्षा का प्रबंध करने तथा सामान्य नागरिकों के विरुद्ध कार्य करने के लिए सेना को बुलाया गया था। इसने सेना को बदनाम कर दिया, तथा संचार माध्यमों ने उसकी निन्दा की। दो अन्य अवसरों पर भी रूसी सेना को आंतरिक सुरक्षा कार्य करने के आदेश दिए गए थे, यद्यपि सेना का सामान्य कार्य विदेशी शत्रुओं से देश की रक्षा करना होता है। इन दोनों अवसरों पर भी सेना की कटु आलोचना की गई। इसलिए रूसी सेना आन्तरिक सुरक्षा का उत्तरदायित्त्व सम्भालने में सदैव संकोच करती है। निंसदेह सेना देश के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का भाग होती है। अतः देश में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों से सेना प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती है। इस कारण सेना की **व्यावसायिक प्रकृति** (professional nature) निश्चय ही प्रभावित होती है, और सेना के राजनीति में हस्तक्षेप करने की संभावना बनी रहती है। अतः, यदि सरकार के आदेश पर सेना देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करती है, तब वह ऐसा संकोच के साथ ही करती है।

15.2.3 नाईजीरिया

नाईजीरिया में लगभग तीन दशकों तक सेना का शासन रहा। अतः जब असैनिक, लोकतान्त्रिक सरकार सत्तारूढ़ हुई तो उसने यह प्रयास किया कि देश की राजनीति में सेना की भूमिका को यदि समाप्त न भी किया जा सके, तो उसे जितना कम हो सके किया जाए। नाईजीरिया की सेना इतने लम्बे समय तक सत्ता में रही, जो स्वतन्त्रता के पश्चात् का अधिकांश समय था, इसलिए उस देश में सेना अत्यंत शक्तिशाली हो गई। सैनिक-असैनिक सम्बन्धों का संतुलन सेना के पक्ष में रहा। सेना स्वयं में कानून बन गई। वास्तव में सेना देश के भविष्य की विधाता बन गई।

यहाँ तक कि जब अस्सी के दशक में कुछ समय के लिए असैनिक शासन सत्तारूढ़ रहा, या अब जबकि एक बार फिर असैनिक शासन है, दोनों को ही सेना की दया पर निर्भर माना जाता है। वर्तमान् असैनिक शासन की स्थापना में भी सेना की विशेष भूमिका रही है। इसलिए यह नहीं कह सकते कि सेना की राजनीति में भूमिका समाप्त हो गई है। लम्बे समय तक राजनीतिक भूमिका निभाने के कारण, सेना का काफ़ी प्रभाव बना हुआ है। वास्तव में, अनेक पूर्व सैनिक अधिकारी चुनाव जीतकर नई सरकार में निर्वाचित पदों पर आरूढ़ हुए हैं। स्वयं राष्ट्रपति एक पूर्व सैनिक अधिकारी हैं, जो अब लोकतान्त्रिक चुनाव जीतकर सत्तारूढ़ हुए हैं। सेना की हित समूह के रूप में प्रमुख भूमिका है। अतः सशस्त्र सेनाओं की संतुष्टि के लिए बजट का एक बड़ा भाग रक्षा व्यय के लिए रखा गया है।

MAADHYAM IAS

15.2.4 ईराक़

ईराक़ एक तानाशाही शासन के अधीन है। देश का राष्ट्रपति सरकार का असैनिक प्रधान होने के साथ-साथ सशस्त्र सेनाओं का प्रधान कमांडर भी है। वह फील्ड मार्शल के पद को ग्रहण किए हुए है। राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन का सेना पर पूर्ण नियन्त्रण है, तथा सेना को ध्यानपूर्वक राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग किया जाता है। सत्तारूढ़ होने के शीघ्र पश्चात् सद्दाम हुसैन ने सेना में छटनी करने का जो कार्य किया था उसने भी राष्ट्रपति को और शक्तिशाली बना दिया। ऐसा ही कुछ एक बार फिर कुर्द के अभियान के बाद भी हुआ।

सद्दाम हुसैन की बाथ पार्टी ने, 1963 में एक सैनिक क्रान्ति के द्वारा ईराक़ में राजनीतिक सत्ता ग्रहण कर ली थी। इस दल का घोषित उद्देश्य एक विचारधारा आधारित (वैचारिक) सेना का गठन करना है। यहीं नहीं, सेना में भर्ती सरलता से नहीं होती। यह कार्य पूरी तरह नियन्त्रित होता है। केवल पार्टी के सदस्यों/कार्यकर्त्ताओं को ही सेना में प्रवेश मिलता है। इसके अतिरिक्त, पार्टी ने अपने कुछ प्रमुख असैनिक समर्थकों को महत्वपूर्ण सैन्य पदों पर नियुक्त करके अपना नियन्त्रण कड़ा किया है। इसी व्यवस्था पर सद्दाम हुसैन ने अपना नियन्त्रण स्थापित किया था। उसने स्वयं को सत्ता का केन्द्र बनाया तथा सेना और उसके सभी मामलों को अपने अंकुश में रखा। समय-समय पर सेना द्वारा बल प्रयोग से अपनी नीतियों को लागू करवाया, चाहे अनेक सैनिक अधिकारी इसके पक्ष में नहीं थे।

अपनी दूरदर्शिता से सद्दाम हुसैन ने सेना को अपने पूर्ण नियन्त्रण में रखा। उसने अपनी पकड़ मज़बूत करने के लिए अपने विश्वासपात्र लोगों को प्रमुख पदों पर नियुक्त किया। उदाहरण के लिए, सद्दाम के चचेरे भाई को, सद्दाम के राष्ट्रपति पद ग्रहण करने से पूर्व ही, रक्षामन्त्री बना दिया गया था। इन नियुक्तियों ने हुसैन की सत्ता को शक्ति प्रदान की, तथा सेना और राजनीति दोनों पर उसकी पकड़ मज़बूत करने में सहायता की।

15.2.5 पाकिस्तान

पाकिस्तान एक ऐसा देश है जो अपने अस्तित्व के दीर्घकाल तक सैनिक शासन में रहा है। अक्टूबर 1999 में यह चौथी बार सैनिक शासन के अधीन आया। 12 अक्टूबर 1999 को प्रधानमन्त्री नवाज़ शरीफ़ को, एक रक्तहीन सैनिक क्रान्ति में, अपदस्थ कर, सेना अध्यक्ष जनरल पर्वेज़ मुशर्रफ़ ने सत्ता अपने हाथों में ले ली। शरीफ़ को लम्बे कारावास का दंड सुनवाया गया, तथा बाद में उन्हें देश से निष्कासित कर सऊदी अरब भेज दिया गया। इस सैनिक क्रान्ति के विरुद्ध न तो कोई प्रदर्शन हुए, और न कोई क्रोध व्यक्त किया गया। पाकिस्तान की सामान्य जनता ने प्रधानमन्त्री नवाज़ शरीफ़ के अपदस्थ किए जाने पर चाहे प्रसन्नता व्यक्त नहीं की, परन्तु आक्रोश भी नहीं जताया।

मुशर्रफ़ शासन ने शीघ्र ही पाकिस्तान के संविधान को निलम्बित कर दिया, और न्यायपालिका की निष्ठा प्राप्त कर ली। सैनिक क्रान्ति के कुछ ही दिन बाद, पाकिस्तान के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पुनः शपथ लेने के लिए कहा गया, जो कि नई व्यवस्था के प्रति निष्ठा की अभिव्यक्ति मानी गई। इसके बाद, सर्वोच्च न्यायालय, ने सैनिक क्रान्ति को कानूनी मान्यता प्रदान कर दी, और तीन वर्ष तक सैनिक शासन को वैध घोषित किया। सैनिक शासन ने सर्वोच्च न्यायालय को आश्वासन दिया कि वह तीन वर्ष के भीतर (अक्टूबर 2002 तक) देश में लोकतन्त्र को बहाल करेंगे।

एक विद्वान के अनुसार, 1999 की सैनिक क्रान्ति इससे पूर्व के सैनिक शासनों से इस प्रकार भिन्न थी कि इस बार मार्शल ला लागू नहीं किया गया, जबकि पहले ऐसा हुआ था। इससे पूर्व, 1958-62, 1969-71, तथा 1977-85 तक सेना ने प्रत्यक्ष रूप से शासन किया था, तथा 1962-69 और 1985-88 में अप्रत्यक्ष रूप से, सैनिक शासक पूर्ववत् सत्तारूढ़ रहे थे। (1958-69) तक फ़ील्ड मार्शल अयूब खाँ, 1969-71 की अवधि में जनरल याहया खाँ, 1977-88 की अवधि में जनरल ज़िया-उल-हक़ सत्ता में रहे। 1999 में पर्वेज़ मुशर्रफ़ का सैनिक शासन आरम्भ हुआ।

MAADHYAM IAS

दीर्घकालीन सैनिक शासन का परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान में लोकतान्त्रिक व्यवस्था जड़ें नहीं पकड़ सकी। एक पाकिस्तानी विद्वान के अनुसार, बार-बार के सैनिक शासन ने लोकतान्त्रिक मूल्यों, नियमों एवं संस्थाओं को निरर्थक बना दिया है। इनमें लोकतन्त्र को प्रोत्साहन देने वाली संस्थाएँ, अर्थात् राजनीतिक दल, स्वायत्त समूह तथा स्वतन्त्र एवं उत्तरदायी प्रेस शामिल हैं। प्रत्येक सैनिक हस्तक्षेप से उस समय विशेष पर किसी न किसी समूह के हितों का सम्बर्धन अवश्य हुआ। इसके फलस्वरूप लोकतान्त्रिक मूल्यों को धक्का लगा तथा सांविधानिक और कानूनी प्रक्रियाओं की अवहेलना हुई।

पाकिस्तान में सेना की प्रमुख भूमिका के कारण, तथा उस देश की शक्तिहीन राजनीतिक संस्थाओं के कारण, निर्वाचित असैनिक प्रधानमन्त्री सेना को नियन्त्रित करने में पूरी तरह असफल रहे। सेना ने यह बात कहने में कभी संकोच नहीं किया कि यदि सेनाध्यक्ष चाहे तो वे प्रसन्नतापूर्वक सत्ता छीन सकती थीं। सैनिक तानाशाह जनरल ज़िया-उल-हक़ की 1988 में विमान दुर्घटना के कारण जब मृत्यु हो गई, तब (11 वर्ष बाद) चुनाव हुए, तथा असैनिक सरकार स्थापित हुई। उस समय के सेना अध्यक्ष जनरल मिर्ज़ा अस्लम बेग ने यह डींग मारी कि लोकतन्त्र की बहाली पाकिस्तान की जनता को सेना का तोहफ़ा थी। इसीलिए असैनिक शासक कभी भी निश्चित नहीं हो सके। उन्हें निरंतर चौकसी बर्तनी पड़ी।

यह ध्यान में रखने योग्य है कि पाकिस्तान के राजनीतिक मामलों में सेना की निर्णायक भूमिका होती है, विशेषकर, इसलिए भी कि प्रतियोगी राजनीतिक नेतागण एक दूसरे से सहमत नहीं हो सके। उदाहरण के लिए तत्कालीन राष्ट्रपति फ़ारूक़ अहमद लेघारी तथा प्रधानमन्त्री बेनज़ीर भुट्टो में लगातार संघर्ष (रस्साकशी) होता रहा। अंततः लेघारी ने प्रधानमन्त्री बेनज़ीर को बर्ख़ास्त कर दिया। परन्तु, कुछ समय बाद स्वयं लेघारी को ही जाना पड़ा। यद्यपि सेना ने खुलकर किसी का समर्थन नहीं किया, परन्तु ऐसा विश्वास किया गया कि पर्दे के पीछे से सेना सदैव गतिशील रही।

15.2.6 संयुक्त राज्य अमेरिका

अमेरिका में रुकावट और संतुलन की सुदृढ़ व्यवस्था पाई जाती है। अमेरिका के संविधान निर्माताओं ने सेना को किसी एक राजनीतिक संस्था के नियन्त्रण में नहीं रखा था। उसे दो प्रमुख अभिकर्ताओं के अधीन रखा गया। जहाँ राष्ट्रपति सशस्त्र सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति है, वहीं विधायिका (कांग्रेस) को सैन्य बलों से संगठन एवं वित्तीय आवंटन, तथा अन्य देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने का अधिकार है। इन उपायों से संविधान ने यह सुनिश्चित किया कि सेना स्वयं में एक अति शक्तिशाली संस्था के रूप में न उभर सकें, तथा यह भी कि वह असैनिक सत्ता के नियन्त्रण में रहे।

MAADHYAM IAS

समय बीतने के साथ, जहाँ अमरीकी सैन्य बलों की संख्या में वृद्धि हुई, वहीं इसकी भूमिका का भी विस्तार हुआ। संयुक्त राज्य के एक महाशक्ति के रूप में उभरने के साथ ही, सैनिक-असैनिक सम्बन्धों में भी कुछ परिवर्तन हुआ। अतः, कुछ विद्वानों के अनुसार, वियतनाम युद्ध के दौरान तथा उसके तुरन्त बाद सेना के निर्णय लेने की प्रक्रिया पर नागरिक सरकार का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा।

यह प्रवृत्ति अस्सी के दशक के मध्य तक चलती रही, जब **रेगन** देश के राष्ट्रपति थे। इस समय अमरीकी सशस्त्र सेनाओं के बल और उसकी शक्ति में निरंतर वृद्धि होती रही, तथा

राष्ट्रीय कोष से बड़ी राशि, सैनिक व्यय के लिए, आवंटित की गई। जैसा कुछ प्रेक्षकों का विश्वास है, सैनिक-असैनिक हितों में अधिकाधिक साम्य हुआ, तथा उनके सम्बन्ध और भी अधिक मधुर हो गए।

परन्तु, हाल के वर्षों में सुरक्षा-सम्बन्धी निर्णय-प्रक्रिया में सेना की भूमिका पहले से कहीं अधिक हो गई है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि राष्ट्रीय सुरक्षा निर्णय-प्रक्रिया में हाल में हुई सेना के प्रभाव में वृद्धि, उस गुणात्मक परिवर्तन का परिणाम है जो कि वरिष्ठ सैनिक और असैनिक अधिकारियों के अनुभव के स्तर में वृद्धि के द्वारा हुआ।

15.2.7 चीन

चीन का समस्त प्रशासन साम्यवादी दल द्वारा मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर चलाया जाता है। सेना सत्तारूढ़ संरचना का भाग होते हुए भी पार्टी के पूर्ण नियंत्रण में है। कम से कम साम्यवादी शासन के आरम्भिक वर्षों में सेना और पार्टी में घनिष्ठ सम्बन्ध था। **माओत्से तुंग** ने सेना और पार्टी के मध्य सीमा रेखा अवश्य निर्धारित की थी। उसने यह स्पष्ट कहा था "पार्टी को अवश्य सदैव सेना पर नियन्त्रण रखना होगा।" समय के साथ सेना का व्यावसीयकरण (professionalisation) हुआ, जिसके फलस्वरूप, कई अवसरों पर, सेना-पार्टी मतभेद सामने आए, चाहे अब भी पार्टी का पूर्ण नियन्त्रण है। दूसरे शब्दों में सेना सदैव पूरी तरह पार्टी के अधीन नहीं रही है।

देश की उच्चतम निर्णय करने वाली संरचना में सामान्यतया सेना की भागीदारी रही है। सैनिक अधिकारी स्थायी समिति और पौलिटब्यूरो के सदस्य रहे हैं। परन्तु, उल्लेखनीय है कि 1987 में स्थायी समिति में सेना का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। उस समय जो सुधार लागू किए गए उन्होंने पार्टी, सरकार तथा सेना में स्पष्ट अंतर स्थापित करने का प्रयास किया। उसके बाद 1989 में पार्टी की नीतियों के विरुद्ध जो प्रदर्शन हुए (छात्र प्रदर्शन तियेनमिएन चौक पर) उस समय सेना ने पार्टी के निर्देशों का उतने उत्साह से निर्वहन नहीं किया जितना पार्टी ने अपेक्षा की थी। अतः 1992 में सेना को पुनः स्थायी समिति का भाग बना दिया गया। अब यह कहा जाता है कि पार्टी एवं सेना में, उच्चतर स्तर पर, पारस्परिक निर्भरता जितनी है उतनी निचले स्तरों पर नहीं है।

क्या भविष्य में पार्टी पर सेना का वर्चस्व बढ़ सकता है, अर्थात् क्या सेना की राजनीतिक शक्ति में वृद्धि हो सकती है, यह अब विवाद का विषय बन गया है। यह विवाद तब आरम्भ हुआ जब सेना को आर्थिक आधुनिकीकरण में शामिल किया गया, तथा जब से देश की अर्थव्यवस्था में उसकी भागीदारी बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया। परन्तु, 1998 में अचानक सेना को कहा गया कि वह अपने व्यापारिक कार्यक्रम समाप्त कर दे, क्योंकि यह अनुभव किया गया कि सेना असैनिक नियन्त्रण से बाहर होती जा रही थी। यही नहीं, सेना के विरुद्ध भ्रष्टाचार और जमाख़ोरी के आरोप भी लगाए गए। साथ ही पुलिस और न्यायपालिका को व्यापारिक गतिविधियाँ बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। यह भी कहा जाता है कि व्यापारिक कार्यों के फलस्वरूप सेना की व्यावसायिक प्रकृति को ठेस पहुँची।

MAADHYAM IAS

इन देशों के अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सैनिक-असैनिक सम्बन्धों की तीन प्रमुख श्रेणियाँ है।

प्रथम, भारत और अमेरिका के उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सेना का **अराजनीतिकरण** (apolitical) पूर्ववत् बना हुआ है। इन देशों में सेना पूरी तरह स्थापित

राजनीतिक सत्ता के निर्देशन में कार्य करती है, चाहे उनके राजनीतिक विचार कुछ भी क्यों न हों। हमारे इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सेना को पर्याप्त राजनीतिक प्रभाव डालने से वंचित नहीं किया जा सकता है। शर्त यह है कि असैनिक सत्ता सदा सर्वोच्च रहनी चाहिए।

द्वितीय, हमने देखा कि चीन और ईराक़ में सशस्त्र सेनाओं और सत्तारूढ़ (एकमात्र) दल के मध्य सांकेतिक सम्बन्ध स्थापित है। सभी मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित राज्यों में इसी प्रकार के सैनिक-असैनिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। यही स्थिति अन्य एक-दलीय प्रणाली वाले, तथा विचारधारा - विशेष पर आधारित देशों में भी है। पूर्व सोवियत संघ तथा मायनमार भी इस व्यवस्था के उदाहरण रहे हैं।

अंतिम, हमने देखा कि पाकिस्तान तथा नाईजीरिया में कई बार सेना ने सांविधानिक रूप से गठित लोकतान्त्रिक सरकारों को उखाड़ फेका, तथा सैनिक शासन स्थापित किए। सैनिक शासन वाले, अथवा वे देश जिनमें सेना की राजनीतिक निर्णयों में प्रमुख भूमिका है वे प्रायः विकासशील विश्व के देश हैं यद्यपि कुछ यूरोपीय देशों में भी राजनीति में सेना का वर्चस्व रहा है। उदाहरण के लिए, स्पेन (1920 और 30 के दशकों में), पुर्तगाल (1920 से 1970 के दशकों में) तथा ग्रीस (1960 के दशक के अंतिम वर्षों एवं 1970 के दशक के आरम्भ में) सैनिक सत्ता के अधीन रहे। विकासशील विश्व में सैनिक शासन की प्रवृत्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् (साम्यवादी तथा बहुत छोटे देशों को छोड़कर) विकासशील (तृतीय) विश्व के 56 प्रतिशत देशों में एक या अधिक बार सैनिक शासन स्थापित हुए। लैटिन अमेरिका में, इक्वाडोर (1978), अलसल्वाडोर (1980), बोलीविया (1982) ग्वाटेमाला (1985), होन्डुरास (1986) तथा परागुए (1993) में असैनिक शासन पुनः स्थापित हुए, परन्तु अधिकांश सहारा (अफ़्रीका) देश में सैनिक तन्त्र बने रहे। यहाँ सैनिक क्रान्तियाँ, सरकारों के परिवर्तन के लिए, चुनावों के विकल्प के रूप सामने आती रहती हैं। अफ़्रीका के 25 देशों में 1990 तक 64 सफल (तथा अनेक असफल) सैनिक क्रान्तियाँ हुई और सैनिक सरकारों की स्थापना हुई।

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) "त्रीलीसी संलक्षण" क्या है?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित देशों में सैनिक-असैनिक सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

3) पाकिस्तान की राजनीति को, लम्बे समय तक राजनीतिक गतिविधियों की अनुपस्थिति ने किस प्रकार प्रभावित किया?

....

....

....

....

15.3 सैनिक शासनः अर्थ और विशेषताएँ

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, सैनिक शासन पद्धति वाले देशों में सशस्त्र सेनाओं के उच्च अधिकारी या तो पूरी तरह, या फिर अधिकांश, राजनीतिक निर्णय लेते हैं। इस शब्द का प्रयोग विदेशी सैनिक सत्ता के लिए भी किया जा सकता हैं जैसे कि जर्मनी या इटली पर (उनके आत्मसमर्पण के पश्चात्) मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का शासन। परन्तु यह तो अपवाद है। सामान्यतया जिस देश में, जैसे मायनमार या पाकिस्तान, असैनिक (लोकतान्त्रिक) शासन की बलपूर्वक अपदस्थ करके सेना स्वयं सत्तारूढ़ हो जाती है, उसको सैनिक शासन की संज्ञा दी जाती है।

सैनिक शासन में राजनीतिक नेताओं को प्रायः सभी महत्वपूर्ण पदों से वंचित रखा जाता है। परन्तु, इसमें भी नौकरशाही (असैनिक सिविल अधिकारियों) की बहुसंख्या अपने पदों पर रहती है। साथ में प्रबंधक एवं प्रौद्योगिकी-विशेषज्ञ भी कार्यरत रहते हैं। इसलिए कुछ लोग यह मानते हैं कि सैनिक - असैनिक भेद को अधिक दूर तक बनाए नहीं रखा जा सकता है। **अमोस पर्लम्यूटर** (Amos Perlmutter) का तर्क है कि "आधुनिक सैनिक शासन रचना की दृष्टि से पूर्णरूपेण सैनिक नहीं हैं। परन्तु उनमें सैनिक-असैनिक सम्मिलन है।" वास्तव में कुछ असैनिक तकनीकी विशेषज्ञों तथा कुख्यात राजनीतिज्ञों की शासन में भागीदारी से सैनिक और असैनिक शासन के अंत को मिटाया नहीं जा सकता है। सैनिक शासन में सम्मिलित असैनिक परामर्शदाता सैनिक अधिकारियों की दया पर निर्भर रहते हैं। साथ ही, सैनिक शासक के सैनिक परामर्शदाता ही निर्णायक भूमिका निभाते हैं। अतः सैनिक शासन को स्पष्ट रूप से अधिनायकवाद का एक उप-प्रकार माना जाता है।

सैनिक शासन अन्य अधिनायकवादी सरकारों से, उनकी उत्पत्ति, वैधता, तथा समाज में शासन की पहुँच इत्यादि इन सभी कारणों से भी, भिन्न होता है। आधुनिक सैनिक शासन वैधता के स्रोत की दृष्टि से असैनिक अधिनायकवादी शासन से भिन्न होता है। तृतीय विश्व के विकासशील देशों के असैनिक तानाशाहों की वैधता का स्रोत प्रायः स्वतन्त्रता संघर्ष में उनका नेतृत्व, अथवा उनके द्वारा स्थापित एकमात्र राजनीतिक दल का नेतृत्व, अथवा किसी धाँधली से जीते हुए चुनाव में होता है। वे अपने व्यक्तिगत लम्बात्मक सम्बन्ध (अपनी जनता के साथ) ग्राहक (patron-client relations) के रूप में बनाए रखते हैं। सैनिक शासन भी प्रायः सम्बन्धों की इस रणनीति को अपनाते हैं। परन्तु सैनिक शासन वास्तविक वैधता से वंचित रहता है।

सैनिक शासन और सर्वाधिकारवादी शासन में भेद अवश्य है। इनमें तीन प्रमुख भेद पाए जाते हैं। वे हैं: **प्रथम**, सर्वाधिकारवादी शासन विचारधारा - विशेष के आधार पर वैधता का दावा करते हैं। वे अपनी विचारधारा को लोकतन्त्र से श्रेष्ठ बताते हैं। दूसरी ओर सैनिक शासक

MAADHYAM IAS

किसी मार्गदर्शक विचारधारा की दुहाई नहीं देते हैं। **द्वितीय**, जहाँ सैनिक शासन कुछ सैनिक अधिकारियों द्वारा सत्ता पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लेने से स्थापित होता है, वही असैनिक तानाशाह अपने राजनीतिक दल के द्वारा बल प्रयोग के फलस्वरूप सत्तारूढ़ होते हैं। एक बार सत्ता में आते ही तानाशाह, सेना सहित सरकार के सभी अंगों और निकायों पर अपने दल का प्रभुत्त्व स्थापित कर लेते हैं। **अंतिम**, सैनिक शासन प्रायः सीमित बहुलवाद को सहन करता, अथवा उसकी अनुमति देता है, यद्यपि वहाँ उत्तरदायी शासन नहीं होता है। दूसरी ओर सर्वाधिकारवादी शासन समाज की सभी गतिविधियों को, अपनी एकमात्र पार्टी तथा आतंक के द्वारा, नियन्त्रित करता है।

15.3.1 सैनिक शासन के प्रकार

मौटे तौर पर विभिन्न सैनिक शासनों को इस आधार पर विभाजित किया जा सकता है कि राज्य की निर्णय-प्रक्रिया में सेना की क्या भूमिका है, अथवा वह अपनी शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करती है।

उच्च-स्तरीय निर्णय प्रक्रिया में सेना की भूमिका अलग-अलग होती है। यह प्रायः दो प्रकार की व्यवस्था हो सकती है। **प्रथम,** ऐसा सैनिक शासन जिसमें सेना के कुछ अधिकारियों का समूह (military-junta) क्रान्ति के द्वारा सत्तारूढ़ हुआ होता है, जिसमें तीनो सेनाओं के वरिष्ठ अधिकारियों की कमान परिषद् सर्वशक्तिमान होती है। सैनिक परिषद् सामान्यतया एक असैनिक मन्त्रिमंडल नियुक्त कर देती है, जो सैनिक परिषद् की ओर से शासन का संचालन करती है। राजनीतिक दलों तथा विधायिका का या तो दमन कर दिया जाता है, अथवा केवल एक सरकारी दल की अनुमति होती है। राजनीतिक दल तथा विधायिकाएँ प्रायः नाममात्र के लिए अस्तित्व में होते हैं जो सैनिक कार्यपालिका के एजेन्ट मात्र के रूप में काम करते हैं। सेना के वरिष्ठ अधिकारीगण नीतियों का निर्माण करते हैं। **द्वितीय,** एक अध्यक्षात्मक व्यवस्था हो सकती है जिसमें सेना की भूमिका प्राथमिक न होकर समर्थक की होती है। इस व्यवस्था में मन्त्रिमंडल लगभग पूरी तरह असैनिक मन्त्रियों से निर्मित होता है। उदाहरण के लिए ज़ेयर (Zaire) में सेना की भूमिका राष्ट्रपति के समर्थक की रही है, जबकि सरकारी भूमिका नाममात्र की होती है। उधर ईराक़ और सीरिया में स्थानीय बाथ पार्टी शासन में अग्रणी है। यहाँ सेना की भूमिका समर्थक मात्र की नहीं होती, वरन् उसकी सक्रिय एवं प्राथमिक भूमिका होती है। परन्तु, राष्ट्रपति का अपना एक दल होने के कारण राष्ट्रपति आवश्यकता पड़ने पर सैनिक और असैनिक तत्वों के बीच मध्यस्थ की भूमिका अदा कर के अपनी स्वतन्त्र सत्ता को और भी प्रभावी बनाता है।

सैनिक शासनों का इस आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है कि सेना किस प्रकार अपनी शक्ति का प्रयोग करती है। कुछ सैनिक शासन समाज पर निरीक्षण करने मात्र का कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए थाईलैण्ड में अधिकांश सेना अधिकारियों वाला मन्त्रिमंडल, नौकरशाही को शासन संचालन में पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान करता है। वह एक उदार अर्थव्यवस्था को संचालित करता है। परन्तु घाना एवं नाईजीरिया में पूर्व सैनिक शासक (वर्तमान् पाकिस्तान का शासन भी) राष्ट्रीय कार्यक्रम निश्चित करते हैं, परन्तु नौकरशाही को उसे लागू करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अंत में बर्मा (मायनमार) जैसे कुछ सैनिक शासन हैं जहाँ सशस्त्र सेनाएँ न केवल नीति निर्धारण में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करती हैं, वरन् वास्तविक दिन-प्रतिदिन के शासन में भी पूर्ण भागीदारी निभाती हैं।

MAADHYAM IAS

15.3.2 शासन की रणनीतियाँ

विविध प्रकार के सैनिक शासनों की भिन्नताओं के बावजूद उन सबमें कुछ समान रणनीतियाँ अपनाई जाती हैं। उनकी प्रथम रणनीति होती है अपने आधार (जिसे अंग्रेज़ी में Constituency भी कहा जाता है), अर्थात् सशस्त्र सेनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण बनाए रखना, या उनका प्रबंधन करना। सैनिक जत्था (Junta) या शासक समूह समस्त सेना पर अपना वर्चस्व बनाए रखता है। इस वर्चस्व को बनाए रखने के लिए कई बार कठोर बल प्रयोग और हिंसा का सहारा लेना पड़ सकता है ताकि सेना का कोई भी गुट शासकों के विरुद्ध सिर न उठा सकें।

निरंकुश बल प्रयोग और हिंसा का प्रयोग जनसाधारण को, सैनिक शासन की अधीनता स्वीकार करते रहने के लिए आतंकित करके बाध्य करने के उद्देश्य से भी किया जाता है। जब शासकों द्वारा दमन की रणनीति अपनाई जाती है, तब साथ ही गुप्तचर सेवाओं का जाल भी फैला दिया जाता है ताकि किसी सम्भावित विद्रोह या आक्रमण की पूर्व सूचना प्राप्त करके उसको रोका जा सके। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान में जनरल ज़िया-उल-हक़ ने लगभग एक लाख अधिकारियों और कर्मचारियों का सेवा गुप्तचर निदेशालय (Inter-Services Intelligence Directorate) स्थापित किया था जिससे अधिकारियों और राजनीतिज्ञों की गतिविधियों पर नज़र रखी जा सके।

हिंसा तथा गुप्तचरों को शासकों की नकारात्मक रणनीति माना जाता है। कुछ शासक सेना को प्रसन्न रखने के लिए सकारात्मक रणनीति भी अपनाते हैं। इनमें सैनिक अधिकारियों और जवानों के वेतन और भत्तों में वृद्धि शामिल होती है। सत्तारूढ़ होने के तुरन्त बाद लगभग सभी सैनिक शासक रक्षा बजट में वृद्धि करते हैं। एक बार यह वृद्धि हो जाए तो आने वाले वर्षों में बनी रहती है।

15.4 राजनीति में सेनाः परिणाम

1950 और 1960 के दशकों में जब सशस्त्र साम्यवादियों ने दक्षिण-पूर्व एशिया को भयभीत करना आरम्भ कर दिया था, तब पश्चिम के पूँजीवादी देशों ने सशस्त्र साम्यवादियों को रोकने और पराजित करने के लिए, अपनी सेनाओं का महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रयोग किया। समाज शास्त्रियों ने, विशेषकर अमेरिका में, विकासशील देशों के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सेना की भूमिका को आवश्यकता से अधिक महत्वपूर्ण माना। उदाहरण के लिए **लूशियन पाई** (Lucian Pye), **हाल्पर्न** (M. Halpern) तथा **जे. जे. जॉनसन** ने सैद्धान्तिक प्रतिमान (models) विकसित किए जिनमें सेना को अत्यधिक आधुनिक यन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया गया, जो कि सरकार और प्रशासन के क्षेत्र में संगठनात्मक तथा तकनीकी क्षमता को आधुनिक बनाने में सहायक हो सकती थी। परन्तु, बाद में किए गए कई अध्ययनों ने इन अपेक्षाओं को ग़लत सिद्ध कर दिया। विकासशील देशों में सैनिक शासन पर किए गए अनेक आनुभाविक (empirical) अध्ययनों ने यह सिद्ध किया कि सामाजिक-आर्थिक आधुनिकीकरण के कार्य में सेना की भूमिका या तो नकारात्मक रही, या फिर उसका कोई विशेष योगदान नहीं रहा।

MAADHYAM IAS

आर्थिक विकास के कार्यों की अपेक्षा, राजनीतिक विकास के क्षेत्र में सैनिक शासनों की भूमिका कही अधिक विध्वंसक रही है। यह तर्क दिए गए थे कि, विकासशील देशों में जहाँ

धर्म, जाति, भाषा तथा क्षेत्रीय आधार पर विभाजित समाज पाए जाते हैं, वहाँ केवल सेना ही राष्ट्रीय एकीकरण सुनिश्चित कर सकती है, जो कि राजनीति विकास की महत्वपूर्ण शर्त होती है। परन्तु, इस अनुमान को व्यवहार में सैनिक शासनों की भूमिका सही सिद्ध नहीं कर सकती है। तृतीय विश्व में सर्वप्रथम, पृथकतावादी आन्दोलन का आरम्भ पाकिस्तान में पचास और साठ के दशकों में हुआ। उसी प्रकार, नाईजीरिया के विघटन की माँग ने जनवरी 1966 की सैनिक क्रान्ति के साथ जोर पकड़ा था जब सेना ने अनेक राजनीतिक एवं असैनिक व्यक्तियों ने भीषण अत्याचार आरम्भ किए। लगभग दो वर्ष तक चले गृह युद्ध में नाईजीरिया की सेना ने भूमिका निभाई जिसके फलस्वरूप लाखों लोगों की जानें गई। उसी प्रकार 1958 से सूडान के सैनिक शासक देश के दक्षिणी भाग में छापामार सैनिकों (gueruillas) का सामना करते रहे।

वास्तव में, राजनीति में सेना का हस्तक्षेप सामान्यतया एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर देता है जिसके फलस्वरूप राजनीतिक अल्पविकसित बना रहता है, जिसके कारण ही आरम्भ में सेना सत्ता में आई होगी।

जैसा कि **हंटिंग्टन** का तर्क है, राजनीतिक विकास का मुख्य तत्व है स्थायी राजनीतिक संस्थाएँ। किसी भी देश में राजनीतिक संस्थाओं के विकास का संसाधन होता है राजनीतिज्ञों का राजनीतिक कौशल। स्थायी राजनीतिक व्यवस्था के विकास के लिए जिस कौशल (skill) की आवश्यकता होती है उसमें वैचारिक प्रतिबद्धता, नई चुनौतियों का सामना करने की क्षमता, तथा प्रशासन, समझौता-वार्ता, प्रतिनिधित्त्व और सौदेबाज़ी शामिल होते हैं। यह कौशल राजनीतिक जीवन से ही प्राप्त होता है।

सैनिक शासन से राजनीतिक प्रक्रिया का स्वतन्त्र प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। स्वयं को सत्तारूढ़ रखने के लिए सैनिक शासक विरोध (protest) को पनपने नहीं देते। सामान्यतया, सत्ता में आते ही सैनिक शासक प्रदेश की स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध लगा देते हैं, तथा राजनीतिक गतिविधियाँ अवैध घोषित कर देते हैं। राजनीतिक नेता या तो स्वयं विवश होकर देश से बाहर चले जाते हैं, या उन्हें सुदूर देशों में निष्कासित कर दिया जाता है। सैनिक शासन के कारण, भविष्य के राजनीतिक कार्यकर्ताओं को राजनीतिक कौशल प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता है, और न वे राजनीतिक परम्पराओं से ही परिचित हो पाते हैं। विकासशील देशों में जहाँ सैनिक शासन स्थापित हुए, वहाँ अधिकांश में अब असैनिक लोकतान्त्रिक सरकारें पुनः सत्तारूढ़ हो गई हैं। परन्तु, अनेक देशों में जहाँ लोकतन्त्र की पुनः स्थापना हुई वहाँ के राजनेता सफल नहीं हो सके। वे जनता की आकांक्षाओं के अनुसार कार्य नहीं कर सके। इसके दो प्रमुख कारण रहे। एक तो यह कि इन देशों की समस्याएँ अत्यंत गंभीर थीं, और दूसरे यह कि असैनिक नेतागण राजनीतिक कौशल इसलिए प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि उन्हें पूर्व सैनिक शासन के समय कौशल प्राप्ति के अवसर ही नहीं मिले। इसके फलस्वरूप कई देशों में (जैसे नाईजीरिया, पाकिस्तान इत्यादि) सेना को बार-बार राजनीति में हस्तक्षेप करने के अवसर मिलें, क्योंकि सैनिक नेताओं के द्वारा यह आरोप लगाया गया कि राजनीतिज्ञ तो सफल हो ही नहीं सकते थे। इस प्रकार राजनीतिक अविकास, या अल्पविकास, की कड़ी पूर्ववत् बनी रहती है।

सेना की राजनीतिक भूमिका के कारण, उन देशों की सेना अपने निर्धारित (रक्षा सम्बन्धी) कार्यों से विमुख हो जाती है। अनेक देशों की सेनाओं की क्षमता पर राजनीतिक भूमिका का नकारात्मक प्रभाव पड़ा, तथा उन्हें अन्य व्यावसायिक कुशल सेनाओं के समक्ष पराजय का

MAADHYAM IAS

मुँह देखना पड़ा। सन् 1967 के अरब-इज़रायली युद्ध में सीरिया की सेना की पराजय का एक कारण उसके अधिकारियों की गुटबन्दी तथा फूट बताया गया। इसी प्रकार, आंतरिक द्वेश के कारण ईराक़ी सेना भी सफल नहीं हो सकी। मिश्र (Egypt) की सेना भी व्यावसायिक (professional) कौशल से वंचित रही। इज़रायल के कुशल और व्यावसायिक ज्ञान प्राप्त अनुभवी सैनिकों ने अरब देशों की सेनाओं को अपमानजनक रूप से पराजित किया। युगान्डा की सेना जो पहले ईदी अमीन की अमानुषता एवं आंतक का साधन थी, वह 1979 में तन्ज़ानिया की कम शस्त्रास्त्रों से लैस सेना तथा स्वयं युगान्डा के निष्कासित सैनिकों के समक्ष पराजित होकर विघटित हो गई। फ़ाकलैंड्स (Falklands) के युद्ध में दक्ष ब्रिटिश सेना ने बड़ी सरलता से अर्जेन्टीना की सेना को पराजित कर दिया क्योंकि वह राजनीति में हस्तक्षेप करती रही थी।

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) सैनिक तानाशाही सर्वाधिकारवादी तानाशाही से किस प्रकार भिन्न होती है?

....

....

....

....

2) हंटिंग्टन के अनुसार राजनीतिक विकास का एक प्रमुख तत्व क्या है?

....

....

....

....

3) सैनिक शासकों द्वारा शासन की क्या-क्या रणनीतियाँ अपनाई जाती हैं?

....

....

....

....

15.5 सारांश

MAADHYAM IAS

सैनिक शासन बल प्रयोग के द्वारा राजनीतिक शक्ति पर क़ब्जा करके सत्तारूढ़ होता है। असैनिक सरकारों के विपरीत, प्रायः सैनिक शासन की वैधता नहीं होती।

जो सैनिक अधिकारी राजनीतिज्ञों की भूमिका अदा करने का प्रयास करते हैं, वे सम्बद्ध देशों के प्रमुख सामाजिक-आर्थिक विकास कार्यों को आगे बढ़ाने में विफल रहते हैं। राजनीतिक विकास के क्षेत्र में तो सेना की भूमिका और भी दोषपूर्ण रहती है। राजनीतिक विकास की जिन समस्याओं का सामना असैनिक सरकार कर रही होती है, सेना उनको

और भी उलझा देती है। सेना, भविष्य के राजनीतिज्ञों के राजनीतिक कौशल प्राप्त करने के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। इस प्रकार राजनीतिक विकास की गति तेज़ हो ही नहीं पाती। राजनीतिक भूमिका निभाने के कारण सेना अपने व्यावसायिक कौशल से भी वंचित हो जाती है। अतः देश की सुरक्षा पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

किसी भी देश के सुचारू सर्वोन्मुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक कार्यपालिका तथा सेना में सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहें। सरकार के रूप के आधार पर विभिन्न देशों में सैनिक - असैनिक सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जहाँ कुछ देशों में सेना सदा असैनिक सत्ता के अधीन रहकर उसकी आज्ञा का पालन करती रही है, वहीं अन्य अनेक देशों में सेना ने षडयंत्र के द्वारा निर्वाचित सरकारों को उखाड़ फेका है। परन्तु, उन देशों में भी जहाँ सेना पूर्ण निष्ठा से असैनिक सत्ता की आज्ञा पालन करती रही है, वहाँ भी कुछ ऐसे अवसर आए हैं जब सेना और राजनीतिक शासन के बीच गंभीर मतभेद उत्पन्न हुए। अनेक विद्वानों का ऐसा मत है कि वर्तमान् समय में, अनेक देशों में, सैनिक-असैनिक सम्बन्धों में संतुलन सेना के पक्ष में हो गया है।

15.6 शब्दावली

कार्यपालिका : सरकार का वह अंग जो क़ानूनों को लागू करवाता तथा प्रशासन का संचालन करता है।

सैनिक क्रान्ति (Coup d'etat) : असैनिक सरकार को बलपूर्वक उखाड़ फेकना, जो कार्य प्रायः कुछ सेना-अधिकारी करते हैं।

अधीनस्थ : अधीन रहना।

लोकतान्त्रिक मध्यांतर (Democratic Interregnum) : असैनिक शासन का वह अल्पकाल जब किसी देश के दो सैनिक शासनों के मध्य चुनी हुई सरकार सत्तारूढ़ होती है।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Finer, S.E. (1969), *The Man on the Horseback : The Role of the Military in Politics*, London, Pall Mall Press.

Johnson, J.J. (eds), (1962) *The Role of Military in Under-developed Countries*, Princeton, Princeton University Press.

Maniruzzaman, T. (1987), *Military Withdrawal from Politics: A Comparative Study,* Cambridge, Ballinger Publications.

Huntington S. and C.H. Moore (eds.), (1970), *Authoritarian Politics in Modern Society,* New York, Basic Books.

Zoleberg, A.R., (eds.) (1966), *Military Intervenes: Case Studies in Political Development,* New York, Russel Sage.

MAADHYAM IAS

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जब त्बीलीसी में रूसी सेना को आंतरिक सुरक्षा के कार्य करने तथा नागरिकों (असैनिकों) के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए बुलाया गया तब समाज के बड़े भाग ने इसका विरोध किया। उस समय से रूसी सेना आन्तरिक सुरक्षा के कार्य करने में संकोच करती है।

2) मार्क्सवादी शासन में सशस्त्र सैन्य बलों तथा सत्तारूढ़ पार्टी के मध्य सांकेतिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

3) राजनीति संस्थाएँ कमज़ोर हो जाती हैं। राजनीतिक कौशल राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी से प्राप्त होता है। इस कौशल के अभाव में राजनेता देश की समस्याएँ सुलझाने में सक्षम नहीं होते। यहीं नहीं, सेना एक दबाव समूह के रूप में कार्य करते हुए, प्रायः पर्दे के पीछे से असैनिक शासन को निर्देश देती रहती है।

बोध प्रश्न 2

1) सर्वाधिकारवादी शासन सैनिक शासन से भिन्न होता है, क्योंकि वह किसी विचार-विशेष द्वारा प्रेरित एवं निर्देशित होता है। वह अपनी पार्टी को सशस्त्र रूप से संगठित करके सत्ता में आता है तथा मानव जीवन के सभी पक्षों को नियन्त्रित करता है।

2) राजनीतिक संस्थाओं का स्थायी विकास।

3) सशस्त्र सेनाओं तथा राजनीतिक विपक्ष को नियन्त्रित और प्रबंधित करने के लिए, सैनिक शासक अमानुषिक हिंसा का सहारा लेते हैं, प्रेस की स्वतन्त्रता पर आँख रखी जाती है, तथा राजनीतिक गतिविधियों को सीमित किया जाता। वे सशस्त्र सेनाओं के अधिकारियों तथा जवानों के वेतन एवं भत्तों में भी वृद्धि करके उनको प्रसन्न करते हैं।

MAADHYAM IAS

इकाई 16 धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मविलम्बित/धर्म-आधारित शासन प्रणालियाँ

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 धर्म निरपेक्षता तथा धर्मनिरपेक्ष शासन प्रणालियाँ

16.2.1 प्रोटेस्टैन्टवाद

16.2.2 धर्मनिरपेक्षता का सामाजिक आधार

16.2.3 धर्मनिरपेक्ष शासन प्रणालियाँ : अर्थ और विशेषताएँ

16.3 धर्मविलम्बित/धर्म आधारित शासन प्रणालियाँ, अथवा पुरोहिततन्त्र

16.4 धर्मनिरपेक्ष राजव्यवस्थाः संगति और प्रवृत्तियाँ

16.5 सारांश

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्य और धर्म के सम्बन्धों की प्रकृति की समीक्षा की गई है। यह समकालीन शासन प्रणालियों के वर्गीकरण का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- धर्म निरपेक्षता की परिभाषा, तथा इसकी उत्पत्ति की व्याख्यां कर सकेंगे;
- धर्म निरपेक्ष शासन प्रणालियों की विशेषताओं की पहचान कर सकेंगे;
- धर्म आधारित शासन का अर्थ और उसकी विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- धर्म निरपेक्ष राजव्यवस्था की संगति और उसके महत्व को समझ सकेंगे।

MAADHYAM IAS

16.1 प्रस्तावना

धर्म और राजनीति के सम्बन्धों में सदा से संघर्ष की सम्भावना निहित रही है। सभी समाजों में धर्म को वैधता एवं राजनीतिक सक्रियता का प्रमुख स्रोत माना गया है। ऐसा सभी शासन प्रणालियों में देखा गया है चाहे वे साम्यवादी शासन प्रणालियों की भांति घोषित धर्मनिरपेक्ष हों, अथवा धर्म आधारित राज्य हों। यह तथ्य, तथा 1970 के दशक के अंत में ईरान में इस्लामी गणराज्य की स्थापना, 1980 के दशक में राजनीति से सम्बद्ध धार्मिक आन्दोलनों के उदय और विकास, पश्चिम में नव दक्षिण पंथ के पुनरोदय, तथा धर्मनिरपेक्ष साम्यवादी शासन प्रणालियों के विघटन (समाप्ति), की घटनायें सार्वजनिक जीवन में धर्म की भूमिका

की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इसी संदर्भ में राज्य और धर्म के सम्बन्ध की प्रकृति समकालीन शासन प्रणालियों के वर्गीकरण का एक प्रमुख आधार बन गई है। पहले हम धर्म निरपेक्षता की अवधारणा एवं उसके विकास की समीक्षा करेंगे, और फिर धर्मनिरपेक्ष तथा धर्म आधारित राजव्यवस्थाओं की विशेषताओं की व्याख्या करेंगे। अंत में हम समकालीन संसार में धर्मनिरपेक्ष राजव्यवस्था (polity) की प्रवृत्तियों एवं उसकी संगति की समीक्षा करेंगे।

16.2 धर्म निरपेक्षता तथा धर्म निरपेक्ष शासन प्रणालियाँ

धर्मनिरपेक्ष शब्द, जिससे धर्मनिरपेक्षता निकला है, का अर्थ है सांसारिक या लौकिक (Temporal), अर्थात् जिसका सम्बन्ध, धर्म या परलोक से न होकर, इस संसार के मामलों से होता है। एक सिद्धान्त के रूप में धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह उन सिद्धान्तों का संग्रह है जो तर्कसंगत (rational) ज्ञान और अनुभव पर आधारित मानव आचरण को नियन्त्रित करते हैं। इनका सम्बन्ध धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों से नहीं होता। राजनीति के संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है धर्म के प्रभाव को व्यक्ति और समाज तक सीमित होना चाहिए, तथा राज्य को धर्म से स्वतन्त्र रहना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि जब हम धर्म के प्रभाव अथवा धर्म से स्वतन्त्रता की बात करते हैं तो हम धर्म सामाजिक राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित व्यवस्था की बात करते हैं, पवित्र विश्वासों पर आधारित व्यवस्था (धर्म) की नहीं।

धर्मनिरपेक्षता आधुनिक समय की प्रमुख विशेषता है। धर्मनिरपेक्षता, अथवा धर्म के प्रभाव और उसकी प्रतिष्ठा में कमी यूरोप में आरम्भ हुई। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में मध्यकालीन सामंतवाद के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। चौथी शताब्दी में जब रोमन सम्राट **कॉन्सटेन्टाइन** (Constantine) ने ईसाई धर्म को अपना राज्य धर्म घोषित किया तब से ईसाई धर्म ने मध्यकालीन यूरोप तक अपना शक्तिशाली प्रभाव स्थापित कर लिया। रोम के निकटवर्ती क्षेत्रों पर चर्च (अर्थात् पोप) का प्रत्यक्ष शासन स्थापित हुआ। साथ ही, समस्त यूरोप को इसके प्रभाव से दूर नहीं रखा जा सका। चर्च सांसारिक (temporal) एवं धार्मिक (religious) दोनों सत्ताओं का प्रतीक बन गया। यूरोप की किसी भी सरकार के पास इतनी शक्ति नहीं थी जितनी कि चर्च के पास आ गई थी। इसका एक कारण यह भी था कि उस समय राजाओं और सम्राटों की शक्ति इसलिए सीमित थी क्योंकि राज्य छोटी छोटी सामंती जागीरदारियों में विभक्त हो गए थे। व्यवहार में, इन जागीरदारियों के स्वामी, सामंत, स्वतंत्र शासक बन बैठे थे। अधिकांश शासक चर्च (और पोप) के हाथों की कठपुतली बन गए थे। चर्च के राजनीतिक और ग़ैर-आध्यात्मिक कार्यों में व्यस्त होने के कारण, इसके नेताओं, अर्थात् पोप, बिशपों एवं पादरियों ने धर्म संचय करना आरम्भ कर दिया, तथा वे अन्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लिप्त हो गए। उन्होंने राजाओं तथा सैनिक अधिकारियों की भांति आचरण करना आरम्भ कर दिया। राजनीतिक हथकंडों एवं दाँवपेचों, चर्च की निरंतर बढ़ती शक्ति एवं सम्पत्ति ने उसे आध्यात्मिक शक्ति के रूप में खोखला बना दिया।

MAADHYAM IAS

धर्म और चर्च के वर्चस्व का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यूरोप के बुद्धिजीवी पर्यावरण पर पड़ा। मानव के विचारों और उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति धार्मिक मूल्यों के रूप में की गई। ईसाई धर्म का विश्वास था कि ज्ञान के स्रोत के रूप में मानव का मस्तिष्क और उसके तर्क विश्वसनीय नहीं होते। वास्तव में ईसाई धर्म और परमात्मा की सहायता से ही मानव सत्य

और असत्य में अंतर कर सकता है। दूसरे शब्दों में, तर्क की अपेक्षा विश्वास कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह धारणा इतनी प्रबल हो गई कि ज्ञान की खोज आध्यात्मिक मामलों तक सीमित हो गई, जिनमें बाइबिल की व्याख्या, तथा पोप एवं अन्य धार्मिक नेताओं के लेख शामिल थे। इटली के पदुआ (Padua) एवं बोलोग्ना विश्वविद्यालयों, फ्रांस में सॉरबोन और ब्रिटेन में ऑक्सफ़ोर्ड तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में शिक्षण कार्य अधिकतर धार्मिक विषयों तथा पादरियों के प्रशिक्षण तक सीमित हो गया था। यद्यपि अनेक अन्य विषयों, जैसे खगोलशास्त्र, भूगर्वशास्त्र, चिकित्सा विज्ञान, रसायन शास्त्र एवं कानून का अध्ययन-अध्यापन भी होता था, परन्तु विश्व के ईसाई दृष्टिकोण ने अनुसंधान का दायरा संकीर्ण कर दिया था। चर्च (तथा पोप) की सत्ता को कोई भी चुनौती नहीं दे सकता था, क्योंकि उसे ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप तथा कभी गलती न करने वाला माना जाता था। जो लोग चर्च की सत्ता को चुनौती देते थे या इसकी शिक्षा से असहमत होते थे उन्हें कारावास का दंड दिया जाता था, या देश से निष्कासित कर दिया जाता था, या कभी-कभी तो मृत्युदंड तक दे दिया जाता था। इसीलिए कई विद्वानों ने मध्यकाल को **अंधेरे युग** (Dark Ages) की संज्ञा दे डाली थी।

ईसाई धर्म की अभेद्य मानी जाने वाली बुद्धिजीवी तथा राजनीतिक नींव, मानववाद (humanism), पुनरुत्थान और प्रोटेस्टैंट सुधारवाद के प्रभाव में आकर डगमगाने लगी। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में कई ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने सामूहिक रूप से मध्यकालीन सामंती व्यवस्था को डगमगा दिया। **मार्को पोलो** जैसे मध्यकालीन भ्रमणकर्ताओं द्वारा पूर्व के साथ स्थापित सम्बन्धों तथा धर्मयुद्धों ने यूरोप के लिए ज्ञान और सूचना के नए द्वार खोल दिए। साथ ही देशों के मध्य व्यापार में भी वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप, यूरोप में, विशेषकर भूमध्य सागर क्षेत्र में, नए नगरों की स्थापना हुई। समाज में एक नए, मध्यम वर्ग का उदय हुआ। इस पृष्ठभूमि में यूनानी शिक्षा एवं मूल्यों का पुनः विकास हुआ। पुनरुत्थान, अथवा पुरातन विचारों के 'पुनर्जन्म' का एक प्रमुख कारण **कुस्तुन्तुनिया** (Constantinople) का पतन माना गया। इस प्राचीन पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी पर 1453 में मुस्लिम तुर्कों का अधिकार हो गया था। कुस्तुन्तुनिया के अनेक बुद्धिजीवी विद्वान पश्चिम की ओर पलायन कर गए, तथा वे अपने साथ पुरातन यूनानी पांडुलिपियाँ भी ले गए। यूनानी शिक्षण की यूरोप में पुनः खोज के साथ ही यूरोप का बुद्धिजीवी परिवेश अनेक प्रकार से बदल गया।

पुरातन मानवी विचार, जो कि मानव की प्रतिष्ठा पर बल देते थे, लोकप्रिय हो गए। साहित्य एवं कला में यह विचार प्रतिबिम्बित हुए, और इन्होंने धर्म के प्रकरण से मनुष्य की प्रकृति के प्रकरण की ओर मोड़ दिया। यह मानवी चिंता धर्मनिरपेक्षता के उदय की प्रथम किरण कही जा सकती है।

MAADHYAMIAS

नई बुद्धिजीवी जागृति ने मनुष्य की ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा को जन्म दिया। मानव तर्क और ज्ञान-प्राप्ति की अभिलाषा, जिस का सम्बन्ध मात्र धार्मिक ज्ञान से नहीं था, उसे प्राथमिकता प्राप्त होने लगी। इसके फलस्वरूप, महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोज आरम्भ हुई। **कोपरनिकस, आईज़क न्यूटन** और **चार्ल्स डार्विन** जैसे वैज्ञानिकों की खोजों ने विश्व के धार्मिक विचारों को खुली चुनौती दी। अतः हम कह सकते हैं कि धार्मिक विश्वास के युग को प्रभावी चुनौती दी गई, और इसका स्थान पुनरुत्थान के साथ ही **तार्किक युग** (Age of Reason) ने ले लिया।

राजनीति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अनेक विचारकों ने चर्च की सत्ता, तथा राजाओं और सम्राटों पर ईसाई नैतिकता के प्रभाव को चुनौती दी। तेरहवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ विचारक **ऐक्विनास** (Aquinas) ने, अरस्तू के विचारों का अनुसरण करते हुए, नागरिक शक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि की, राज्य को संपूर्ण समाज घोषित किया (चर्च को एक अन्य सम्पूर्ण समाज माना जाता था), तथा उसे आवश्यक रूप से श्रेष्ठ कहा गया। पुनरुत्थान युग के लेखक **मैकियाविली** (Niccolo Machiavelli) ने इस विचार का प्रचार किया कि राजाओं तथा शासकों को धार्मिक नैतिकता से प्रतिबद्ध नहीं होना चाहिए। उसने लिखा कि शासक को राजनीति का संचालन मात्र अपने राज्य की शक्ति की वृद्धि करने के लिए करना चाहिए। कभी-कभी इस विचार ने ख़तरनाक रूप धारण कर लिया, क्योंकि इसका परिणाम यह हो सकता था कि शासक राजनीति में नैतिकता का पालन करें ही नहीं। परन्तु, एक अन्य अर्थ में यह विचार बहुत महत्वपूर्ण था। इस विचार ने, चर्च के विरुद्ध शासक की शक्ति को सुदृढ़ करने मे सहायता की। यूरोप में राजनीति धर्म के प्रभाव से मुक्त हो गई। इस विचारधारा का प्रसार शासकों और राजाओं की (धर्म से) स्वतंत्र हो जाने की इच्छा के साथ-साथ हुआ। इस सबका परिणाम यह हुआ कि यूरोप में राष्ट्रवाद के विचार के आधार पर स्वतन्त्र राजतन्त्रों का उदय हुआ, तथा धीरे-धीरे इसका अन्य क्षेत्रों में भी विस्तार हुआ।

16.2.1 प्रोटेस्टैन्टवाद

मानववादियों ने बुद्धिजीवियों को जो प्रेरणा दी उसने सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया, जिसके कारण चर्च की शक्ति का और भी ह्रास हुआ। सोलहवीं शताब्दी में एक पवित्र जर्मन कैथोलिक पादरी, **मार्टिन लूथर** ने चर्च को भ्रष्टाचार से मुक्त करवाने के प्रयास किए। उसने **जीसस क्राईस्ट** (ईसा मसीह) के इन शब्दों का सहारा लिया कि "जो कुछ सीज़र (अर्थात् शासक) का हो वह सब सीज़र को सौंप दो; तथा ईश्वर को वह सब कुछ दो जो ईश्वर का है।" इस विचार को लूथर ने आध्यात्मिकता के साथ-साथ धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का रूप दिया। उसने न केवल चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार की निंदा की, वरन् चर्च की भूमिका पर भी प्रश्न चिन्ह लगा दिया। उसने यह तर्क दिया कि कोई भी व्यक्ति स्वयं, चर्च की मध्यस्थता के बिना, ईश्वर तक पहुँच सकता है। लूथर ने 1520 में कैथोलिक चर्च से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया; उस समय अनेक चर्च-कार्यकर्ता चर्च को चुनौती देने के कार्य में लूथर के साथ मिल गए। इसके फलस्वरूप **सुधारवाद** (Reformation) एक प्रमुख आन्दोलन बन गया। यूरोप के अनेक भागों में लोगों ने चर्च के प्रति निष्ठा वापस ले ली, और उसकी आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर दिया। इसके साथ ही ईसाई धर्म का एक नया रूप उपजा जिसे बाद में **प्रोटेस्टेन्टवाद** (Protestentism) के नाम से जाना गया। यह कोई अकेला आन्दोलन नहीं था। कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने कैथोलिक चर्च का विरोध करने में लूथर का साथ दिया, परन्तु वे कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक और धार्मिक मुद्दों पर उसके साथ सहमत नहीं थे। आज प्रोटेस्टेन्ट में विश्वास रखने वालों के 100 से भी अधिक पंथ, या धार्मिक समुदाय (sect) पाए जाते हैं। परन्तु, महत्वपूर्ण बात यह है कि कैथोलिक चर्च को इस आधार पर सफल चुनौती दी गई कि ईसाई लोग बाईबिल को समझने और ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग तलाश करने में स्वतन्त्रता चाहते थे।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

चर्च का विभाजन होने से शक्तिशाली शासकों को अपनी सत्ता को और भी सुरक्षित करने के अवसर मिले। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड के **राजा हेनरी अष्टम** (Henry VIII) ने रोम स्थित चर्च से अपने सम्बन्ध विच्छेद कर लिए, तथा वह स्वयं इंग्लैण्ड की चर्च (Church

of England) का प्रधान बन गया। चर्च के विभाजन के फलस्वरूप, सोलहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट देशों के मध्य कई युद्ध हुए। केवल 18वीं शताब्दी के बाद यूरोप में एक दूसरे के विचारों को सहन करने, तथा ज्ञान की निष्पक्ष खोज करने के मार्ग प्रशस्त हुए। धर्म पर आधारित युद्धों के परिणामस्वरूप राज्य का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप सशक्त हुआ। राज्य ने तटस्थ जनता की धारण को प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप राज्य ने जीवन की रक्षा और क़ानून-व्यवस्था के धर्म निरपेक्ष कार्यों पर उचित ध्यान देना आरम्भ किया। ईसाई धर्म जो अनेक पंथों (sects) में विभाजित हो गया था, अब उसके पास यह क्षमता और साहस नहीं बचा कि वह धर्मनिरपेक्षता को चुनौती दे सकता।

16.2.2 धर्मनिरपेक्षता का सामाजिक आधार

धर्मनिरपेक्षता तथा राज्य सत्ता में धर्मनिरपेक्षता का स्वीकार किया जाना, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, उससे कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया थी। राज्य सत्ता को धर्मनिरपेक्ष रूप देने में यूरोप में, आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के उदय की महत्वपूर्ण भूमिका रही। जैसा कि हमने देखा है, व्यापार तथा वाणिज्य ने पुनरुत्थान तथा सुधारवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने में प्रमुख भूमिका निभाई थी। जिन शक्तिशाली शासकों ने राष्ट्र-राज्यों का निर्माण किया, उन्होंने एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अर्थात् सामंती सत्ता को दूर करवाने में उभरते मध्य वर्ग का उपयोग किया। मध्य वर्ग की शक्ति का रहस्य वह सम्पत्ति थी जो उसने व्यापार और वाणिज्य के द्वारा अर्जित की थी। मध्य वर्ग को वे रुकावटें स्वीकार्य नहीं थीं जो कि भूमि के स्वामी सामंती कुलीनतन्त्र द्वारा व्यापार एवं वाणिज्य के मार्ग में उपस्थित की गई थीं। अतः उसने (मध्य वर्ग ने) उन शासकों का समर्थन किया जो देश तथा विदेशों में व्यापार तथा वाणिज्य को नियमित करने का सामर्थ्य रखते थे। जैसे-जैसे पूँजीवाद का प्रसार हुआ और उसका विकास औद्योगिक चरण तक पहुँच गया, वैसे-वैसे निरंकुश शासकों द्वारा अर्थव्यवस्था का नियमन अधिक विकासशील औद्योगीकरण के मार्ग में बाधक के रूप में देखा गया। इसके अतिरिक्त, शिल्पियों, अन्य कलाकारों, औद्योगिक श्रमिकों तथा बिचौलियों जैसे लोगों की उत्पत्ति निम्न वर्ग में हुई थी, परन्तु वे अधिक प्रमुख हो गए थे, वे अब नए सामाजिक और राजनीतिक अवसरों की माँग करने लगे। इन दबाव प्रक्रियाओं से अंततः उदारवाद तथा यूरोपीय लोकतान्त्रिक संस्थाओं की उत्पत्ति हुई।

उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षता उस प्रक्रिया का ही अंश है जिसमें पहले चर्च और फिर निरंकुश शासकों से मानव ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास और संघर्ष किए। यूरोप में, इसने निरंकुशवाद, कट्टरपंथिता एवं रूढ़िवादिता पर अंकुश लगाने में सहायता की। इसने यह भी सुनिश्चित किया कि कोई एक धर्म दूसरे धर्म के मार्ग में बाधक न बने, तथा धार्मिक विवादों को सुलझाने में भी वह बाधा उपस्थित न करे।

MAADHYAM IAS

चाहे यूरोप के अधिकांश भाग पर एक राजनीतिक शक्ति के रूप में धर्मनिरपेक्षता स्वीकार कर ली गई थी, फिर भी 1791 तक धर्म और राजनीति का औपचारिक पृथक्करण नहीं हुआ था। उस वर्ष (1791 में) अमरीकी संविधान का प्रथम संशोधन पारित हुआ। उस संशोधन में यह प्रावधान किया गया कि काँग्रेस ऐसा कोई कानून नहीं बनाएगी जिसका सम्बन्ध या तो किसी धर्म की स्थापना से हो, या फिर जो धर्म के स्वतन्त्र, स्वेच्छा से पालन पर प्रतिबन्ध लगाता हो।

समय के साथ-साथ धर्मनिरपेक्षता का प्रसार विश्व के अन्य भागों में भी हुआ, तथा राज्य के कानूनों की धर्म से अलग रखने की प्रक्रिया अपनाई गई। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अधिकांश विकासशील देशों में औपनिवेशिक युग में ही धर्मनिरपेक्षता को अपना लिया गया था। उत्तर-औपनिवेशिक युग में इन देशों ने, धार्मिक विवादों पर अंकुश लगाने तथा राष्ट्रीय एकीकरण के प्रसार के लिए, धर्मनिरपेक्षता को और भी उपयोगी पाया।

बोध प्रश्न 1

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) एक सिद्धान्त के रूप में धर्मनिरपेक्षता की क्या अपेक्षाएँ हैं?

....

....

....

....

2) सुधारवाद ने धर्मनिरपेक्ष सत्ता के विकास में किस प्रकार योगदान दिया?

....

....

....

....

3) उभरते मध्य वर्ग ने सशक्त राष्ट्र-राज्यों के उदय का समर्थन क्यों किया?

....

....

....

....

16.2.3 धर्मनिरपेक्ष शासन प्रणालियाः अर्थ और विशेषताएँ

किसी भी धर्मनिरपेक्ष राज्य में तीन भिन्न-भिन्न परन्तु पारस्परिक सम्बन्धित सम्बन्ध होते हैं जो कि राज्य, धर्म तथा व्यक्ति से सम्बद्ध होते हैं। **प्रथम**, व्यक्ति और धर्म के सम्बन्ध जिनसे राज्य को अलग रखा जाता है। **द्वितीय**, व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध जहाँ धर्म को पृथक रखा जाता है। अर्थात्, प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का नागरिक होता है चाहे उसका धर्म कुछ भी हो। इन सम्बन्धों की संस्थागत व्यवस्था राज्य और धर्म की पृथकता होती है। अर्थात्, धर्म के मामलों में राज्य तटस्थ होता है। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता।

MADHIYAM IAS

धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक प्रणालियों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैंः

क) धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी धर्म विशेष पर आधारित नहीं होता। अर्थात् ऐसे राज्य की किसी धर्म विशेष के प्रति निष्ठा नहीं होती। यह राजनीतिक प्रणाली किसी विशेष धर्म के सिद्धान्तों पर नहीं चलती।

ख) यद्यपि धर्मनिरपेक्ष किसी धर्म विशेष का पक्षपात नहीं करता, तथापि यह धर्म-विरोधी राज्य नहीं होता। इसे अधर्मी नहीं कह सकते। ऐसे राज्य को अनैतिक अथवा नास्तिक भी नहीं कहा जा सकता। धर्मनिरपेक्ष राज्य निश्चय ही **धार्मिक मूल्यों** पर आधारित होता है। वे हैं: **सत्य**, **अहिंसा**, **स्नेह** तथा **नैतिकता**। परन्तु यह सिद्धान्त सभी धर्मों के हैं, किसी धर्म विशेष के नहीं। दूसरे शब्दों में, धर्मनिरपेक्ष राज्य कुछ सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों को अपनाता है, परन्तु वह किसी धर्म विशेष को अपनी नीतियों पर प्रभाव नहीं डालने देती।

ग) धर्मनिरपेक्ष राज्य इस बात की चिंता नहीं करता कि उसके नागरिक अमुक धर्म में विश्वास करते हैं, या किसी अन्य धर्म में। धर्मनिरपेक्ष राज्य मूल रूप से व्यक्ति के बाह्य जीवन की चिंता करता है। वह किसी व्यक्ति के धार्मिक सम्बन्धों पर ध्यान नहीं देता। धर्म को मानव के आंतरिक जीवन से सम्बद्ध माना जाता है, अर्थात् यह व्यक्ति का बिल्कुल निजी मामला है।

घ) धर्म और राजनीति को पृथक रखते हुए, धर्मनिरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को एक समान दृष्टि से देखता है। यह धर्म को राजनीतिक मुद्दों पर प्रभाव डालने नहीं देता। धर्म राज्य के मार्ग में बाधक नहीं बनता, और न ही वह राज्य के निर्णयों में हस्तक्षेप करता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य में कोई धार्मिक भेदभाव नहीं होता।

ङ) **धर्मनिरपेक्ष राज्य** के क्षेत्राधिकार में अनेक धर्म आते हैं। यह **धार्मिक सहिष्णुता**, **सद्भावना** एवं **सहयोग** के प्रति वचनबद्ध होता है। सभी धार्मिक संगठनों को एक समान व्यवहार तथा सम्मान दिया जाता है। अतः, धर्मनिरपेक्ष राज्य को **बहु-धर्मीय राज्य** भी कहा जा सकता है।

च) धर्मनिरपेक्ष राज्य स्वभाव से **लोकतान्त्रिक** राज्य होता है। यह लोकतान्त्रिक है, क्योंकि वह व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ही देखता है। यह व्यक्ति को एक या दूसरे धर्म में आस्था रखने वाले के रूप में नहीं देखता।

धर्म के सन्दर्भ में आज **धर्मनिरपेक्षता** सर्वाधिक मान्य नीति है। समकालीन विश्व के अधिकांश देशों में यह प्रवृत्ति है कि धर्म की भूमिका को समाज के धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाए। धर्मनिरपेक्ष शासन प्रणालियों को **दो श्रेणियों** में रखा जा सकता है - **उदार** तथा **मार्क्सवादी**। उदार धर्मनिरपेक्ष शासन में धर्म को सामाजिक संसाधन माना जाता है, तथा व्यक्तिगत एवं सामूहिक धार्मिक स्वतन्त्रता को न्यूनाधिक स्तर पर मान्यता प्राप्त होती है। उदार लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक जीवन में भी धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों में से अधिकांश इसी श्रेणी में आती हैं - उनमें प्रमुख हैं: **संयुक्त राज्य अमेरिका**, **भारत**, **कनाडा**, **ऑस्ट्रेलिया**, **दक्षिण अफ्रीका** तथा **अधिकांश यूरोपीय** देश। धर्मनिरपेक्ष **मार्क्सवादी** देशों में प्रमुख हैं: **पूर्व सोवियत** संघ तथा **आधुनिक चीन**, जिनका धर्म के विषय में विचारधारा - आधारित नकारात्मक दृष्टिकोण है। मार्क्सवाद से प्रेरित, इन देशों तथा कुछ अन्य देशों में धर्म और राजनीति के मध्य वैचारिक विभाजन रेखा होती है, तथा धार्मिक स्वतन्त्रता को प्रायः राजनीति के अधीन रखा जाता है।

MAADHYAM IAS

16.3 धर्मविलम्बित/धर्म आधारित शासन प्रणालियाँ, अथवा पुरोहिततन्त्र

धर्मआधारित शासन (Theocracy) में समाज धार्मिक नेताओं - पुजारियों, पादरियों, मुल्लाओं - के प्रभाव में रहता है, तथा सरकार पर भी उनका प्रभावी नियन्त्रण होता है। आरम्भ में, धर्मविलम्बित राज्य उसको कहते थे जिसमें सभी मानव-निर्मित कानूनों का आधार दैवी कानून होता था, तथा जिसमें धार्मिक और राजनीतिक पदसोपान मिलकर पुरोहित तन्त्र की स्थापना करते थे। आधुनिक समय में धर्म-आधारित राज्य (या पुरोहिततन्त्र) का अभिप्राय ऐसी व्यवस्था से है जिसमें राज्य पर धर्म का वर्चस्व होता है।

धर्मविलम्बित राज्य (पुरोहिततन्त्र) स्वाभाविक रूप से एक **धार्मिक** राज्य होता है। यह एक धर्म-विशेष से सम्बद्ध होता है। यह धार्मिक विश्वासों पर आधारित व्यवस्था होती है जो किन्हीं विशेष धार्मिक सिद्धान्तों पर आचरण करती है। पुरोहिततन्त्र न केवल किन्हीं विशेष धार्मिक सिद्धान्तों के अधीन होता है, परन्तु व्यवहार में वह उनके द्वारा ही निर्देशित और नियन्त्रित होता है। दूसरे शब्दों में, इन प्रणालियों में राजनीति तथा धर्म आत्मसात होते हैं। राजनीति पर धर्म का वर्चस्व होता है, तथा राजनीति का संचालन धार्मिक विश्वासों एवं सिद्धान्तों के अनुसार होता है। यह राज्य केवल एक ही धर्म को मान्यता देते हैं, और वहाँ केवल वही एक राज्य-धर्म फलफूल सकता है, तथा उसकी नीतियों का दिशा निर्देश करता है। अन्य धर्मों को राज्य से दूर रखा जाता है। अन्य धर्मों में विश्वास करने वाली जनता को द्वितीय श्रेणी के नागरिक माना जाता है। न तो वहाँ धार्मिक सौहार्द होता है, और न धार्मिक सहनशीलता।

पुरोहिततन्त्र की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

क) **धर्मविलम्बित राज्य** (पुरोहिततन्त्र) **का सम्बन्ध किसी एक धर्म-विशेष से होता** है। यह जिस धर्म पर आधारित होता है, केवल उसी को प्रोत्साहन देता है। राज्य द्वारा निर्मित सभी कानून, नियम और विनियम सम्बद्ध राज्य धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप ही होते हैं।

ख) पुरोहिततन्त्र अपने राज्य धर्म का प्रचार और प्रसार करता तथा उसको प्रोत्साहित करता है। वह सभी राज्यवासियों से अपेक्षा करता है कि वे राज्य धर्म पर ही विश्वास करेंगे। यह धर्म को व्यक्ति या निजी मामला नहीं मानता। यह सार्वजनिक धर्म, या विश्वास, माना जाता है। यह राज्य का और उसके सभी निवासियों का धर्म होता है। **पुरोहिततन्त्र यह मांग करता है कि सभी देशवासी राज्य धर्म के प्रति निष्ठा** रखेंगे।

ग) धर्मविलम्बी राज्य (पुरोहिततन्त्र) **धर्म** को **राजनीति से पृथक नहीं** करता। न ही राजनीति को धर्म से अलग रखा जाता है। ऐसे राज्य में धार्मिक नियम ही राज्य के नियम बन जाते हैं। **राज्य के कानून** इस प्रकार बनाए जाते हैं कि वे **राज्य धर्म के नियमों** में **कोई हस्तक्षेप** न करें।

घ) **पुरोहिततन्त्र किसी अन्य धर्म को** (देश के अंदर या विदेशों में) **वह आदर** और **सम्मान नहीं देता जो अपने धर्म को देता** है। वास्तव में धर्म आधारित राज्य अन्य धर्मों की निन्दा और अवमानना करने में भी संकोच नहीं करता।

MAADHYAM IAS

ङ) **धर्मविलम्बी राज्य** मुख्य रूप से एक **सर्वाधिकारवादी** (totalitarian) राज्य होता है, या वह ऐसा बनने का प्रयास करता है। यह व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष को नियन्त्रित करता है तथा स्वयं को केवल इस विश्व का मार्गदर्शक ही नहीं वरन् स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करने वाला भी बताता है।

च) **स्वभाव से धर्मविलम्बी राज्य कठोर राज्य होता है।** अतः उस दृष्टि से वह कट्टरपंथी, अधिनायकतन्त्र होता है, जो कि स्वाभाविक रूप से लोकतन्त्र-विरोधी होता है।

समकालीन विश्व में ऐसे धर्म-आधारित, पुरोहिततन्त्रों की संख्या निश्चय ही कम है, परन्तु जहाँ वे विद्यमान हैं वे प्रायः कट्टरपंथी ही हैं। इस श्रेणी में भी दो प्रकार के राज्य हैः एक वे जो स्पष्ट रूप से पुरोहिततन्त्र हैं, तथा दूसरे वे शासन जो किसी न किसी धर्म से सम्बन्धित हैं। प्रथम श्रेणी में ईरान का इस्लामी गणराज्य है जहाँ पर राज्य की सभी संस्थाएँ धर्म के अधीन हैं, तथा राजनीतिक मामलों में धार्मिक नेताओं का हस्तक्षेप होता रहता है। पाकिस्तान भी इस्लामी गणराज्य है, तथा काफ़ी हद तक धर्म और राजनीति एक दूसरे पर निर्भर हैं। बांग्लादेश भी स्वयं को इस्लामी गणतन्त्र घोषित करता है। विश्व में नेपाल ही एकमात्र ऐसा देश हैं जिनका एक राज्य धर्म तो हैं, परन्तु जहाँ धार्मिक नेता और संस्थाएँ राज्य के हितों के अधीन रह कर कार्य करते हैं। मुस्लिम बहुमत वाले देश जैसे मिश्र (Egypt), मलेशिया, इन्डोनेशिया, ईसाई बाहुल्य वाला स्वीडन तथा बौद्ध धर्मविलम्बी थाईलैण्ड इसी दूसरी श्रेणी के राज्यों में आते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) धर्मनिरपेक्ष राजव्यवस्था में व्यक्ति, राज्य और धर्म के सम्बन्ध किस प्रकार के होते हैं?

....

....

....

....

2) धर्मविलम्बित राज्यों (पुरोहिततन्त्र) की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) भारत के पड़ोस में स्थित कुछ धर्मविलम्बी/धर्म आधारित राज्यों की पहचान कीजिए।

....

....

....

....

....

16.4 धर्मनिरपेक्ष राजव्यवस्था : संगति और प्रवृत्तियाँ

जैसा हमने इस इकाई में पहले उल्लेख किया है, धर्मनिरपेक्षता दमन और उत्पीड़न से मानव की मुक्ति की प्रक्रिया का फल है, तथा यह आधुनिक युग की एक विशेषता है। धर्म भी धर्मनिरपेक्ष दर्शन और दृष्टिकोण से अछूता नहीं रह सका। उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका में कैथोलिक चर्च पर भी धर्मनिरपेक्षता का प्रभाव पड़ा है। जब 1960 के दशक में सम्पत्ति की विषमताओं एवं निर्धनता ने लैटिन अमेरिका में सामाजिक तनाव और क्रान्ति को उत्पन्न किया, तब अनेक कैथोलिक पादरी, बिशप तथा अन्य चर्च नेताओं ने जनता के साथ मिलकर शोषण और दमन के विरुद्ध संघर्ष किया। ऐसा करके उन्होंने **"मुक्ति पुरोहिततन्त्र"** (liberation theology) की नींव रखी। इस विचारधारा ने धर्म एवं राजनीति के मध्य पारम्परिक भेद को अस्वीकार कर दिया, तथा कार्ल मार्क्स के दर्शन के अनुसार इतिहास की समीक्षा की। उन्होंने वर्गहीन समाज की दिशा में वर्ग संघर्ष का नाम दिया। वैटिकन (Vatican) स्थित रोमन कैथोलिक चर्च ने इस मुक्ति पुरोहितवाद को, सामाजिक पुनर्निर्माण के रूप में, रद्द कर दिया। परन्तु, मुक्ति पुरोहितवाद का यह प्रयास कि ईसाई धर्म को सामाजिक परिवर्तन की वचनबद्धता के साथ सम्बद्ध किया जाए यह दिखाता है कि धर्मनिरपेक्षता का समकालीन समाज कितना सम्मान करता है।

साथ ही, पिछले लगभग तीन दशकों में धर्मनिरपेक्षता-विरोधी आन्दोलनों में भी वृद्धि हुई है। ईरान में 1979 की इस्लामी क्रान्ति के पश्चात्, धर्म की राजनीतिक भूमिका का समर्थन करने वाले धर्मनिरपेक्षता विरोधी आन्दोलन को बल मिला। मध्य पूर्व में, राजनीतिक उद्देश्यों के लिए चलाए गए इस्लामी आन्दोलनों पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। परन्तु, जैसा कि हम देखेंगे धर्मनिरपेक्षता - विरोधी, अथवा राजनीति से प्रेरित धार्मिक आन्दोलन, जिन्हें प्रायः कट्टरपंथी कहा जाता है, वे किसी क्षेत्र-विशेष या धर्म विशेष तक सीमित नहीं हैं।

अफ्रीकी महाद्वीप में, अल्जीरिया के इस्लामी मुक्ति मोर्चे (Islamic Salvation Front) ने देश शरिया (Sharia) पर आधारित इस्लामी राज्य स्थापित करने का प्रयास किया। सूडान के मुस्लिम ब्रदरहुड का भी कुछ ऐसा ही लक्ष्य है, और उसने इस्लामीकरण की दिशा में काफ़ी सफलता प्राप्त की है। सेनेगल में, जहाँ 90 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या मुसलमानों की है, इस्लामी समूह धर्मनिरपेक्षता - विरोधी कार्य करते हुए सूफ़ी परम्परा से संघर्षरत् हो गए। टोगो, सिएरा लिओन, केन्द्रीय अफ्रीकी गणराज्य (Central African Republic), लाईबीरिया और कीनिया में, कट्टरपंथी ईसाई चर्च, स्वयं को अराजनीतिक घोषित करते हुए भी, तानाशाही प्रवृत्ति वाले शासकों के समर्थन का प्रमुख आधार बन गया है। तन्ज़ानिया में, 'मुस्लिम खतरे' का सामना करने के लिए नए कट्टरपंथी ईसाई वर्ग का उदय हुआ है।

MAADHYAM IAS

एशिया में भी धर्मनिरपेक्षता-विरोधी तत्त्वों का विस्तार हुआ है। भारत में अस्सी के दशक के आरम्भ से विश्व हिन्दू परिषद् हिन्दुत्त्व को शक्तिशाली बनाने का प्रयास कर रही है। आरोप यह है कि वह भारत को हिन्दू राज्य में परिवर्तित करने का प्रयास कर रही है। श्रीलंका में बौद्ध धर्म की राजनीतिक भूमिका को शक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से ही आन्दोलनों का उदय हुआ है। इसका एक कारण शायद अल्पसंख्यक तमिलों के विरुद्ध संघर्ष हो सकता है। पाकिस्तान में इस्लामीकरण तेज़ी से कट्टरपंथी होता जा रहा है। इस दिशा में सबसे प्रमुख घटना है अफ़गानिस्तान के अधिकांश भागों पर कट्टरपंथी (पाकिस्तान प्रशिक्षित) तालिबान का क़ब्ज़ा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में, नेशन ऑफ इस्लाम (Nation of Islam) नामक एक संगठन के अनुदार (कट्टर) ईसाइयों के विरुद्ध शक्तिशाली विरोध किया है। यह समूह धर्मनिरपेक्षता तथा सम्पूर्ण अमरीकी राजनीतिक प्रणाली का भी विरोध करता है। रूस में, मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा के पतन के पश्चात्, कट्टर (Orthodox) ईसाई वर्ग, रूस में नव-उदारवाद के साथ मिलकर, पाश्चात्य उदार लोकतान्त्रिक विचारधारा के विरुद्ध तथा कैथोलिक चर्च के विरुद्ध अविश्वास का वातावरण है। उन देशों में धार्मिक राष्ट्रवाद साम्यवाद के प्रमुख विकल्प के रूप में सामने आया है।

राजनीति में धर्म के बढ़ते प्रभाव का एक प्रमुख कारण राष्ट्रवाद और जातीयता से सम्बन्धित समस्याएँ हैं। एक विद्वान (Jurgensmeyer) के अनुसार, धार्मिक रूप से सक्रिय व्यक्ति वे हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र में धर्म की भूमिका के समर्थक हैं। उन्हें धार्मिक राष्ट्रवादी कहा जा सकता है। उसके अनुसार, धार्मिक राष्ट्रवादी, राज्य के धार्मिक नैतिक आधार के समर्थक हैं ताकि राज्य जनता की निष्ठा प्राप्त कर सके। वे धर्मनिरपेक्षता की इस आधार पर निन्दा करते हैं कि यह नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित नहीं है। इन्हीं कारणों से ईरान में इस्लामी आन्दोलन की सफलता, तथा रूस, और सर्बिया, बुल्गेरिया, रूमानिया एवं ग्रीस में 1990 के दशक में प्राचीन रूढ़िवादी (Orthodox) ईसाई विश्वास की पुनरावृत्ति पश्चिम और पाश्चात्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुई।

अन्य देशों में धार्मिक सक्रियता का उदय जातीयता की समस्या में पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मयान्मार, फ़िलीपीन्स तथा थाईलैण्ड के अल्पसंख्यक जातीय समूहों को विश्वास हो गया है कि उनको बहुसंख्यक राष्ट्रीय समुदायों की आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है। यह समूह स्वयं को देश की राष्ट्रीयता का भाग नहीं मानते, क्योंकि उनका विश्वास है कि उनके धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों की अवहेलना होती है। भारत में, पंजाब में सिखों तथा नागालैण्ड में ईसाइयों की भावनाओं ने अल्पसंख्यक समुदायों में धार्मिक सक्रियता को जन्म दिया। उनकी गतिविधियों के कारण सरकार के साथ उनके टकराव हुए, तथा विभिन्न धर्मावलम्बियों में हिंसात्मक संघर्ष भी हुए।

अनेक विद्वानों का तर्क है कि ईरान में इस्लामी आन्दोलन की सफलता का कारण यह था कि धार्मिक संस्थाओं और नेताओं को राज्य द्वारा समीहीत एवं पूरी तरह नियन्त्रित नहीं किया गया। अतः उनके पास स्वायत्त रूप से कार्य करने और संगठित होने की सुविधा बनी रही। अनेक देशों में जहाँ इस्लामी पुनर्जागरण हो रहा है वहाँ संस्थागत या संगठनात्मक स्वतन्त्रता की इच्छा बलवती पाई जाती है। अन्यत्र, धार्मिक आन्दोलन राजनीतिक विरोध के साधन के रूप में उभरे हैं। ऐसा विशेषकर उन देशों में पाया गया जहाँ लोकतान्त्रिक परम्पराएँ विद्यमान हैं, अन्यथा जहाँ शासन आर्थिक विकास को गति देने में विफल रहा है, अथवा फिर जहाँ आर्थिक विकास का फल सबको नहीं मिल पाया।

MAADHYAM IAS

राजनीति से प्रेरित धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा करते समय, धर्मनिरपेक्षता के समर्थकों को, किसी विशेष सन्दर्भ में राजनीति में धर्म की भूमिका को ध्यान में रखना होगा। कुछ स्थानों पर इन्होंने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर समाज में सुधार करने के प्रयास किए हैं, तथा परम्परा पर आधारित कम आधुनिक समाज के लिए कार्य किए हैं। दूसरे शब्दों में, यह लोकतान्त्रिक संघर्ष के भाग हैं, जो कि राजनीतिक विरोध के सूत्र के रूप में, अथवा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में भागीदारी करते हैं। किसी भी व्यक्ति को जो

लोकतन्त्र का समर्थक है, या जो धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करता है; धर्म को पूरी तरह ख़ारिज नहीं कर देना चाहिए। परन्तु उन्हें धर्म के सामाजिक आधार की खोज करनी चाहिए, उसके वर्चस्व स्थापित करने के प्रयास का भांडाफोड करना चाहिए, तथा लोकतान्त्रिक तत्त्व को अलग करके इसे वर्ग और सामाजिक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष में प्रयोग करना चाहिए।

16.5 सारांश

व्यक्ति के जीवन में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। धर्म ने मानव के जीवन को नैतिक बनाया है तथा उसको नैतिक जीवन के गुणों से परिचित करवाया है। राजनीति में इसकी भूमिका और भी अधिक रही है। मध्यकाल में राजनीति पर धर्म का वर्चस्व था। अधिकांश (यूरोपीय) राज्य ईसाई धर्म के प्रभाव में होते हुए उसके अंग थे।

आधुनिक युग में विज्ञान एवं तर्क (Reason) ने दैविक इच्छा और दैवी कानून का स्थान ले लिया, तथा राज्य के कानून धर्म से स्वतन्त्र हो गए। इसके साथ ही धर्म-आधारित (पुरोहिततन्त्र) राज्य का पतन आरम्भ हुआ, जिसके अवशेष आज भी पाए जाते हैं।

धर्मनिरपेक्षता की संगति की समीक्षा करते समय हमने देखा कि यह राजनीतिक प्रणाली को लोकतान्त्रिक एवं आधुनिक संस्कृति प्रदान करता है। धर्मनिरपेक्षता सरकार को जनाधार उपलब्ध करवाती है। यह लोगों को एक ऐसी आचार संहिता से अवगत करवाती है जो सभी को समान स्तर प्रदान करती है। सभी धर्मों के लोगों को समान अवसर का लाभ देकर धर्मनिरपेक्षता उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करती है, तथा अल्पसंख्यक धर्मों को सुरक्षा और समानता की गारंटी देती है।

पिछली दो शताब्दियों में धर्मनिरपेक्षता पर बल दिया गया है, तथा आज अधिकांश लोकतान्त्रिक राज्य सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में धर्मनिरपेक्ष पाए जाते हैं। परन्तु, पिछले लगभग तीन दशकों से विश्व के अनेक भागों में धर्मनिरपेक्षता-विरोधी आन्दोलनों में वृद्धि हुई है। इन आन्दोलनों ने धर्म की राजनीतिक भूमिका पर बल देकर उसे सशक्त बनाया, तथा वे सामान्यतया धर्मनिरपेक्ष राज्य के विचार के विरोधी हैं। उनका प्रतिरोध करने के लिए उचित एवं प्रभावी धर्मनिरपेक्ष कार्यक्रम चलाने की आवश्यकता है।

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhargava Rajeev, (2000), *Secularism and its Critics*, Oxford University Press, Calcutta.

Sankhader, M.M. (ed.) (1992), *Secularism in India*, Deep and Deep, New Delhi.

Madan, T.N. (1991) *Religion in India,* Oxford University Press, Delhi.

Martin, David (1978) *A General Theory of Secularisation,* Basil Blackwell, Oxford.

Smith, Donald (1963) *India as a Secular State,* Princeton University Press, Princeton.

MAADHYAM IAS

16.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मानव व्यवहार में ऐसे नियमों को लागू करने का प्रयास जिनका आधार, पुरोहितवाद अथवा अलौकिकता न होकर, तर्कसंगत ज्ञान और अनुभव हो।

2) इसमें व्यक्ति और राज्य को चर्च की सत्ता से स्वतन्त्र कर दिया। व्यक्ति अब चर्च को स्वयं एवं ईश्वर के बीच मध्यस्थ के रूप में नहीं देखता। चर्च को अनेक धार्मिक समूहों या गुटों (sects) में विभाजन ने उसकी सत्ता को कमज़ोर किया। विभिन्न धार्मिक समूहों (sects) के मध्य हुए संघर्षों ने, राज्य को धर्म के नियन्त्रण से स्वतन्त्र करवा कर, उसे शक्तिशाली बनाया।

3) सामंत स्वतन्त्र व्यापार के मार्ग में बाधा बन गए थे। वे व्यापार और वाणिज्य को नियन्त्रित करने के लिए देश के भीतर और एक शक्तिशाली सत्ता के समर्थक थे।

बोध प्रश्न 2

1) राज्य का सम्बन्ध व्यक्ति और धर्म के सम्बन्धों से नहीं होता। धर्म राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों से अलग होता है।

2) चर्च अथवा संस्थागत धर्म का राज्य पर वर्चस्व होता है। यह राज्य धर्म का प्रचार और प्रसार करता है। यह अन्य धर्मों को बराबर सम्मान नहीं देता। यह कठोर एवं अधिनायकवादी होता है, तथा इसमे सर्वाधिकारवादी बनने की प्रवृत्ति होती है।

3) अफ़गानिस्तान, भूटान, पाकिस्तान, नेपाल।

MAADHYAM IAS

इकाई 17 शासन के अंगः कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 शासन के अंग
17.3 कार्यपालिका
- 17.3.1 कार्यपालिका का अर्थ और उसके प्रकार
- 17.3.2 कार्यपालिका की संरचना
- 17.3.3 कार्यपालिका के कार्य
- 17.3.4 कार्यपालिका की बढ़ती भूमिका

17.4 विधायिका
- 17.4.1 जनता का प्रतिनिधित्व
- 17.4.2 विधायिका का गठनः एकसदनीय और दोसदनीय
- 17.4.3 विधायिका के कार्य
- 17.4.4 विधायिका का ह्रास

17.5 न्यायपालिका
- 17.5.1 न्यायपालिका के कार्य
- 17.5.2 न्यायिक समीक्षा और न्यायिक सक्रियता
- 17.5.3 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

17.6 सारांश
17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम आधुनिक सरकारों के तीन प्रमुख कार्यों अर्थात् विधि-निर्माण, प्रशासन और न्याय की विवेचना करेंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप

- आधुनिक सरकारों के तीन प्रमुख अंगों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- कार्यपालिका की संरचना और उसके प्रकारों का वर्णन कर सकेंगे;
- विधायिका के गठन को समझा सकेंगे;
- राष्ट्रीय आन्दोलनों की विचारधाराओं की समीक्षा कर सकें;
- कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के कार्यों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- विधायिका के ह्रास और कार्यपालिका की बढ़ती भूमिका का वर्णन कर सकेंगे; और
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता कैसे सुनिश्चित की जाती है।

MAADHYAM IAS

17.1 प्रस्तावना

प्रत्येक सभ्य समाज कारगर और दक्ष शासन की आशा करता है। यह भूमिका सरकार निभाती है जो राज्य के चार बुनियादी तत्वों में एक होती है। कोई भी राज्य एक सरकार के बिना संभव नहीं। सरकार सिर्फ जनता की सुरक्षा ही नहीं करती, उनकी बुनियादी जरूरतें भी पूरा करती है और उनका सामाजिक-आर्थिक विकास सुनिश्चित करती है। इस तरह हम कह सकते हैं कि एक सरकार संस्थाओं का समूह होती है जो कानूनी उपायों से नियंत्रण का काम करती है तथा कानून

तोड़नेवालों को दंड देती है। इसके लिए आवश्यक है कि सरकार की जनता को नियंत्रित करने की शक्ति को जनता स्वैच्छा से सामाजिक स्वीकृति और मान्यता दे। एक सरकार आमतौर पर अपने कार्यों को अपने अंगों में विभाजित कर देती है और प्रत्येक अंग कुछ विशेष कार्य करता है। सरकार मुख्यतः तीन प्रकार के कार्य करती है - **कानून बनाना, कानूनों को लागू करना और विवादों का निपटारा करना**।

इस इकाई में शासन के तीन प्रमुख अंगों को, उनके कार्यों को और उनसे जुड़े विभिन्न प्रावधानों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह किसी शासन के विभिन्न अंगों के संबंध को भी स्पष्ट करती है। ऊपर शासन के जो तीन कार्य बतलाए गए हैं उनसे संबंधित अंग हैं - कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका।

17.2 शासन के अंग

जैसा कि कहा गया है कि किसी शासन के तीन अंग होते हैं - **विधायिका** जो कानून बनाती है, **कार्यपालिका** जो उन्हें लागू करती है, तथा **न्यायपालिका** जो कानूनों की व्याख्या और विवादों का निपटारा करती है। शासन के इन अंगों का ढाँचा इस तरह का होता है कि वे समुचित ढंग से अपने कार्य पूरे कर सकें। किसी शासन के तीन अंगों के बीच शक्ति-विभाजन की इस व्यवस्था को **'शक्तियों का अलगाव'** कहते हैं। यह राजनीतिक व्यवस्था **अमेरिका** में सबसे अधिक बलवती है। वहाँ कांग्रेस कानून बनाती है, राष्ट्रपति उन्हें लागू करता है, तथा सर्वोच्च न्यायालय व दूसरे संघीय न्यायालय उनकी व्याख्या करते और न्याय देते हैं। शासन के ये तीनों अंग एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। विधायिका में जनता के प्रतिनिधि होने चाहिए क्योंकि वे सबसे महत्वपूर्ण काम करते हैं - ऐसे कानून बनाना जिनसे जनता शासित हो। इस तरह विधायिका में जनता का निष्पक्ष और व्यापक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के प्रयास किए जाते हैं। कार्यपालिका विधायिका के बनाए कानूनों को लागू करती है। इसलिए कार्यपालिका में सक्षम और दस लोगों को होना आवश्यक है। सरकार का तीसरा अंग न्यायपालिका है जो कानूनों की व्याख्या करती है तथा इन कानूनों और संविधान के अनुसार मुकदमों का फैसला करती है।

17.3 कार्यपालिका

17.3.1 कार्यपालिका का अर्थ और उसके प्रकार

कार्यपालिका सरकार का कार्यकारी अंग है। कार्यपालिका ही विभिन्न नीतियों का निर्धारण और फिर क्रियान्वयन करती है। 'कार्यपालिका' शब्द का शाब्दिक अर्थ महत्वपूर्ण निर्णयों पर अमल करने, अर्थात् उन्हें लागू करने की शक्ति है। **जे. डब्ल्यू गार्नर** कहते हैं: 'एक व्यापक और सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका वाले अंग में ..... वे सभी कार्यकारी और संगठन शामिल हैं जिनका सरोकार राज्य की इच्छा से है जो कानूनों के रूप में निर्धारित और व्यक्त होती है ... इस तरह यह सरकार के पूरे संगठन को समेटती है। इस तरह कर वसूल करने वाले, निरीक्षक, आयुक्त, पुलिस वाले तथा शायद सेना और नौसेना के अधिकारी भी कार्यपालिका के संगठन के अंग होते हैं।'

MAADHYAM IAS

'कार्यपालिका' शब्द के व्यापक और संकीर्ण, दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं। मगर राजनीतिक अध्ययन के क्षेत्र में इसके संकीर्ण अर्थ का ही व्यवहार किया जाता है। कार्यपालिका का प्रमुख और उसके मुख्य सहकर्मी ही सरकार के तंत्र को चलाते हैं, राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण करते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि वे नीतियाँ सही ढंग से लागू हों।

निम्नलिखित तालिका विश्व में 'कार्यपालिका' के विभिन्न प्रकारों को दर्शाती है:

कुछ व्यस्थाओं में या तो राजा या निर्वाचित राष्ट्रपति एक नाम-मात्र कार्यपालिका हो सकता है। उसे 'नाम-मात्र' बनाने वाला तथ्य यह है कि उसे यथार्थ शक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। वह मात्र एक सांविधानिक प्रमुख होता है जो कुछ आलंकारिक कार्य करता है पर जिसे मामूली

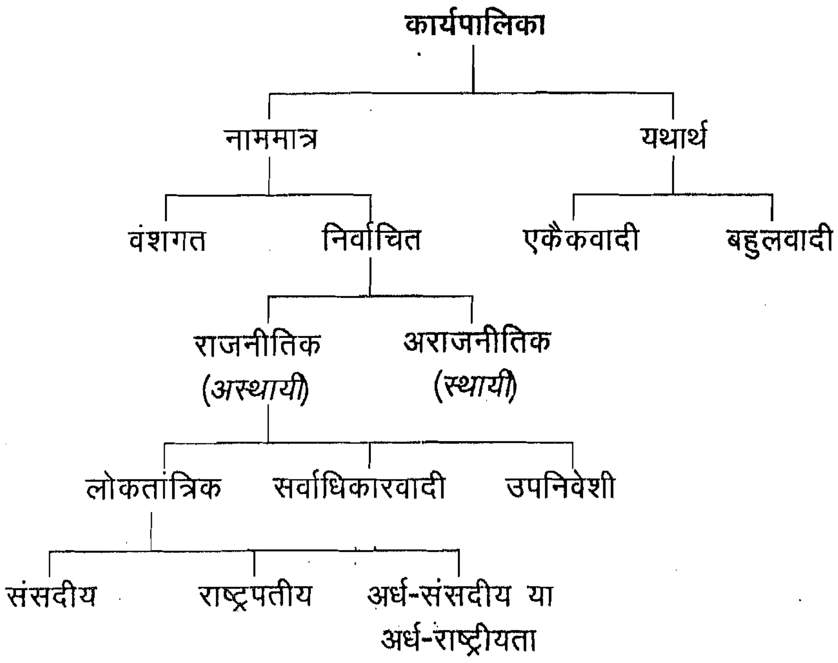

शक्तियाँ ही प्राप्त होती हैं या नहीं होतीं। वैसे पूरा प्रशासन उसी के नाम से चलाया जाता है। राजा या तो ग्रेट ब्रिटेन की तरह वंशगत होता है या मलेशिया की तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है। ग्रेट ब्रिटेन, नेपाल, जापान और सऊदी अरब जैसे कुछ देशों में वंशगत उत्तराधिकार की प्रथा अभी भी प्रचलित है। जहाँ ग्रेट ब्रिटेन की तरह संविधानिक राजतंत्र है वहाँ यथार्थ शक्ति राजा या रानी के हाथों में नहीं, निर्वाचित मंत्रिपरिषद के हाथों में होती है। इसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है और मंत्रिपरिषद विधायिका के आगे जबावदेह होती है।

लेकिन दुनिया के सभी राजा नाम-मात्र प्रमुख नहीं हैं। अभी भी ऐसे राजा हैं जिन्हें पूरी शक्तियाँ प्राप्त हैं, जैसे **जोर्डन** और **सऊदी अरब** में। कुछ राजाओं को **'यथार्थ' कार्यपालिका** की श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि उन्हें निरपेक्ष और असीमित शक्तियाँ प्राप्त हैं।

यथार्थ कार्यपालिका को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है - **एकैकवादी (सिंगुलर)** और **बहुलवादी** (प्ल्यूरल)। **एकैकवादी** कार्यपालिका वह है जिसमें प्रमुख एक ही व्यक्ति होता है और दूसरे उसकी शक्तियों में भागीदार नहीं होते, जैसे अमेरिका में। वहाँ संविधान ने एक ही व्यक्ति अर्थात् राष्ट्रपति को सारे अधिकार दे रखे हैं। **बहुलवादी** कार्यपालिका में सभी शक्तियाँ एक मंत्रिसमूह के हाथों में होती है। आज की दुनिया में इसका एकमात्र उदाहरण स्विटजरलैण्ड है जहाँ सरकार की सत्ता सात मंत्रियों (प्रेसिडेंट्स) के हाथों में होती है जो विधायिका द्वारा चार वर्षों के लिए चुने जाते हैं। इसे **फेडरल कौंसिल** (संघीय परिषद्) कहा जाता है। प्रेसिडेंट्स में से एक को महासंघ का औपचारिक राष्ट्रपति चुना जाता है और वह वे सभी आलंकारिक कर्तव्य निभाता है जो किसी देश में सामान्यतः राज्य प्रमुख द्वारा निभाए जाते हैं।

MAADHYAM IAS

17.3.2 कार्यपालिका की संरचना

कार्यपालिका आमतौर पर दो प्रकार के अधिकारियों से बनी होती हैः (अ) राजनीतिक कार्यपालिका, अर्थात् राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिमंडल या मंत्रिपरिषद्, और (ब) स्थायी कार्यपालिका अर्थात् नौकरशाही जिनका कार्यकाल, चाहे जो भी सरकार सत्ता में आए, स्थिर होता है। **राजनीतिक कार्यपालिका** या तो **अमेरिका** की तरह **सीधे** जनता द्वारा चुनी जाती है जहाँ राष्ट्रपतीय शासन-

प्रणाली है या भारत व ग्रेट ब्रिटेन की तरह अप्रत्यक्ष रूप से, विधायिका द्वारा चुनी जाती है। **चीन में** राष्ट्रपति राष्ट्रीय जन कांग्रेस द्वारा निर्वाचित होता है। वही राज्य का प्रमुख और राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता है।

जैसा कि ऊपर दी गई तालिका से स्पष्ट है, राजनीतिक कार्यपालिका की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं। लोकतंत्र में सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं और अपने निर्वाचकों के आगे जवाबदेह होते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में मंत्रिमंडल **हाउस ऑफ कामंस** के नकारात्मक मत के कारण सत्ता के बाहर हो जाता है। अमेरिकी राष्ट्रपति भी सत्ता से हटाया जा सकता है मगर अविश्वास प्रस्ताव नहीं बल्कि महाभियोग की प्रक्रिया के द्वारा। हाल ही में अमेरिका में राष्ट्रपति बिल क्लिंटन पर महाभियोग चलाया गया पर वे बच निकले क्योंकि सीनेट उन्हें दंड देने में असमर्थ रही।

एक सर्वाधिकारवादी राज्य में वास्तविक कार्यपालिका को जनता या उसके निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं हटा सकते। ऐसे राज्य में जनता को सरकार के कामों की आलोचना या भर्त्सना करने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। आज बर्मा, इराक, नाइजीरिया और अफगानिस्तान में ऐसे ही सर्वाधिकारवादी राज्य हैं जिनमें कार्यपालिका को निरपेक्ष शक्तियाँ प्राप्त हैं। इससे पहले हिटलर के नाज़ी जर्मनी और मुसोलिनी के फासीवादी इटली में ऐसे ही सर्वाधिकारवादी शासन रह चुके हैं।

अंत में, *एक उपनिवेशी कार्यपालिका वह है जो उपनिवेशी सरकार के अधीन काम करती है।*

लोकतांत्रिक मॉडल को दो श्रेणियाँ में बाँटा जा सकता है - **संसदीय** व **राष्ट्रपतीय शासन प्रणालियों** में। संसदीय प्रणाली में भारत और ग्रेट ब्रिटेन की तरह सरकार को (प्रधानमंत्री के नेतृत्व में) एक मंत्रिपरिषद् चलाती है जो सामूहिक रूप से विधायिका के आगे जवाबदेह होती है। राज्य का प्रमुख नाम-मात्र का कार्यपालक होता है जिसके नाम से मंत्रिपरिषद् शासन करती है। भारत में राष्ट्रपति व ग्रेट ब्रिटेन में रानी नाम-मात्र के ही राज्य प्रमुख हैं। दूसरे प्रकार का लोकतांत्रिक मॉडल राष्ट्रपतीय शासन प्रणाली है, जैसा कि अमेरिका में है। वहाँ शक्तियों का बंटवारा कार्यपालिका-विधायिका-संबंध का आधार है। वास्तविक कार्यपालक राष्ट्रपति होता है। वह न तो विधायिका का सदस्य होता है न विधायिका उसे हटा सकती है। उसका कार्यकाल निश्चित होता है।

इन दो मॉडलों के बीच फ्रांसीसी कार्यपालिका का मॉडल आता है जिसे अर्ध-संसदीय या अर्ध-राष्ट्रपतीय कह सकते हैं। वहाँ वास्तविक कार्यपालक राष्ट्रपति होता है, उसी के नियंत्रण में प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल होते हैं और ये साथ ही साथ संसद के आगे जवाबदेह भी होते हैं। इस तरह फ्रांसीसी मॉडल संसदीय और राष्ट्रपतीय, दोनों शासन प्रणालियों की कुछ विशेषताएँ लिए हुए है।

17.3.3 कार्यपालिका के कार्य

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में कार्यपालिका के प्रभुत्व में अविश्वास की जगह उसके नेतृत्व में एक विश्वास पैदा हुआ है। आज शासन के तीन अंगों की समान शक्तियों के शास्त्रीय सिद्धान्त का पुनर्निरूपण आवश्यक है क्योंकि कार्यपालिका सही अर्थों में सरकार बन चुकी है। कार्यपालिका के अनेक कार्यों में **देश का प्रशासन चलाना** पहला और सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। सरकार को **आंतरिक शांति व व्यवस्था** सुनिश्चित करनी और बनाए रखनी पड़ती है। कार्यपालिका को **विदेश-संबंधों का संचालन करना**, दूसरे देशों से **समझौते करना**, **युद्ध की घोषणा करना** व शांति-संधि करना, फौजों को लामबंद करना, आवश्यक होने पर **आपातकाल की घोषणा करना**, मुद्रा का पुनर्मूल्यन व अवमूल्यन करना, आवश्यक वस्तुओं के दाम तय करना तथा देश की जनता के कल्याण से जुड़े दूसरे कार्यकलाप भी संपन्न करना पड़ता है।

MAADHYAM IAS

हाल में कार्यपालिका ने कुछ विधायी काम करने भी शुरू कर दिए हैं भले ही यह उसके कार्यक्षेत्र में नहीं आता। कानूनों की रूपरेखा तैयार करके उसे विधायिका के आगे रखने में कार्यपालिका पर्याप्त पहल कर रही है। यह बात ब्रिटेन और भारत जैसी संसदीय सरकारों के लिए खासकर सही है। भारत में विधायिका का सत्र न चल रहा हो तो कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर **कानून बना**

सकती है। विधायिका द्वारा पारित विधेयक को राज्य-प्रमुख स्वीकृति देने से इंकार भी कर सकता है। अमेरिका तक में, जहाँ शक्तियाँ विभाजित हैं, राष्ट्रपति अपने **'संदेश'** भेजकर या अपने **'मित्रों'** की सहायता से कांग्रेस से एक विधेयक पारित कराकर विधायिका को प्रभावित कर सकता है।

कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि प्रत्यायोजित विधि-निर्माण (डेलीगेटेड लेजिस्लेशन) की वृद्धि का परिणाम भी है। संसद के बनाए कानूनों में आमतौर पर ब्यौरे नहीं होते। बाद में इस कमी को कार्यपालिका दूर करती है।

कार्यपालिका कुछ न्यायिक कार्य भी करती है। सभी देशों में राज्य-प्रमुख को **अपराधियों को क्षमा-दान करने**, सज़ा कम करने या रिहा करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसे उसका 'दया का विशेषाधिकार' कहते हैं। वह **न्यायाधीशों की नियुक्ति** भी करता है। बहुत से विवाद प्रशासनिक पंचाटों (ट्रिब्यूनल्स) द्वारा हल किए जाते हैं। कुछ देशों में मंत्रियों को अपील की पंचाटों की तरह काम करने का अधिकार प्राप्त होता है। फ्रांस में प्रशासनिक कानूनों और अदालतों की एक अलग व्यवस्था है।

कार्यपालिका **'राष्ट्र के कोष'** को भी नियन्त्रित करती है। कार्यपालिका ही **बजट तैयार** करके मंजूरी के लिए सदन के सामने रखती है। वास्तव में कार्यपालिका ही देश में **करों का ढाँचा तय** करती है; संसद केवल उसे अपनी स्वीकृति देती है। संसद द्वारा पारित किए जाने के बाद बजट के प्रावधान लागू हों, इसे भी कार्यपालिका ही सुनिश्चित करती है। इसके लिए कार्यपालिका के पास लेखा-परीक्षण के अनेक संगठन होते हैं जो देश के वित्तीय पहरेदारों का काम करते हैं।

नौकरशाही अर्थात् स्थायी कार्यपालिका निर्णय-प्रक्रिया के एक-एक चरण से जुड़ी होती है और प्रशासन में निरंतरता बनाए रखती है। अकसर राजनीतिक कार्यपालक नौकरशाही की तकनीकी विशेषज्ञता और ज्ञान के कारण उस पर निर्भर होते हैं।

अपनी रचना *द फंक्शंस ऑफ द एक्जीक्यूटिव* में **चेस्टर बर्नार्ड** ने कार्यपालिका के कार्यकलाप का संबंध 'उद्देश्यों की दृढ़ता, नीति-निर्माण के आरंभ, साधनों के उपयोग, कामकाज के साधनों के नियंत्रण, काम की प्रेरणा तथा समन्वित कार्य को प्रेरणा' से जोड़ा है।

17.3.4 कार्यपालिका की बढ़ती भूमिका

आज प्रतिनिधिक लोकतंत्र की जगह एक हद तक उस चीज ने ले ली है जिसे **आर एच. एच. क्रासमैन** के शब्दों में 'कार्यपालक लोकतंत्र', बल्कि 'नौकरशाही लोकतंत्र' भी कहा जा सकता है। कार्यपालिका राजनीतिक संगठन का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। **रोड़ी** ने कहा है, 'एक तरफ तो प्रतिनिधि सभाओं की बुद्धिमता वे सामर्थ्य संबंधी पहले वाला उत्पाद कम हुआ है तो दूसरी तरफ जनता द्वारा निर्वाचित कार्यपालक शक्ति के कोई एक सदी के अनुभवों ने पहले के संदेहों को दूर करके भरोसा पैदा किया है। इसके अलावा लोकतांत्रिक सरकारों की तेज़ी से बढ़ती समस्याओं और कार्यकलापों ने विधायिका की अनेक शक्तियों को कार्यपालिका के हवाले करने की मज़बूरी सी पैदा कर दी है।' संसदीय लोकतंत्रों की स्थिति खास तौर पर ऐसी ही है। विधायिका के निचले सदन में अपने बहुमत के कारण राजनीतिक कार्यपालिका सारे कानून पारित करा लेती है। ब्रिटेन की तरह के सख्त दलीय अनुशासन के कारण कार्यपालिका पर विधायिका का नाम-मात्र का नियंत्रण रह जाता है। फिर कार्यपालिका भी आमतौर पर एकजुट होती है जबकि विधायिका के सदस्य दलगत आधारों पर बंटे होते हैं, और इसके कारण कार्यपालिका को उन पर वर्चस्व प्राप्त होता है। शासन के अंग्रेजी मॉडल के बारे में **ग्रीब्ज** ने जो कुछ कहा है वह दूसरे देशों की व्यवस्थाओं पर भी बड़ी हद तक लागू होता है - यह कि कार्यपालिका *'व्यवहार में हमारे विधि-निर्माणतंत्र का पहला सदन बन चुकी है।'*

MAADHYAM IAS

फिर भी कार्यपालिका के नेतृत्व पर अंकुश समय की माँग है। राजनीतिक व्यवस्था का भाग्य उन राजनेताओं की भूमिका पर निर्भर है जो एक शासन की स्थापना, संचालन और स्थायित्व के लिए जिम्मेदार कहे जाते हैं। इसलिए आवश्यकता कार्यपालिका की सत्ता पर समुचित अंकुश लगाने की

है। इसके कारण वह दक्षता के साथ काम करेगी और सौंपे गए अनेकानेक कार्यों को सही ढंग से पूरा करेगी। इन कार्यों में, एडलई स्टीवेंसन के शब्दों में, 'एक कल्याणकारी सेवा की स्थापना, समाज-कल्याण को पूरी जनता के लिए विस्तार देना तथा करुणा की पुनर्स्थापना' शामिल हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) संसदीय व राष्ट्रपतीय कार्यपालिकाओं के प्रमुख अंतर स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

2) कार्यपालिका के किन्हीं दो कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

3) आज कार्यपालिका क्यों अधिक शक्तिशाली बन चुकी है?

....

....

....

....

17.4 विधायिका

तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र में विधायिका को तकनीकी रूप से नियम-निर्माता विभाग कहा जाता है। विधायिका, जिसके लिए संसद नाम सबसे अधिक प्रचलित है, राजनीतिक संगठन का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। 'पार्लियामेंट' शब्द का अर्थ 'बातचीत' है। यह फ्रांसीसी शब्द 'पार्ले' और लातीनी शब्द 'पार्लियामेनूनी' के व्युत्पन्न है। कानून बनाना आज की विधायिकाओं का सबसे अहम काम है और अक्सर उन्हें उनके बनाए कानूनों की गुणवत्ता से ही पहचाना जाता है। फिर भी आज विधायिका को 'राष्ट्र का दर्पण', 'समुदाय की सामान्य इच्छा का साकार रूप', 'शिकायतों की समिति', 'रायों की कांग्रेस' आदि करने वाली आदर्शमूलक व्याख्याओं की जगह अनुभवाश्रित वक्तव्यों ने ले ली है जिनमें एक 'बातचीज के अड्डे', शोषण और दमन के साधन, एक 'मृत निकाय' आदि के रूप में उनके वास्तविक महत्व का संकेत दिया जाता है।

MAADHYAM IAS

17.4.1 जनता का प्रतिनिधित्व

आधुनिक राज्यों में यूनानी नगर-राज्यों का प्रत्यक्ष लोकतंत्र असंभव है। इसलिए लोकतंत्र में जनता शासन के कामकाज चलाने के लिए अपने प्रतिनिधि चुनती है। प्रतिनिधित्व वास्तव में 'वह प्रक्रिया है जिसके जरिये पूरे नागरिक समुदाय या उसके एक भाग के रुझान, वरीयताएँ, दृष्टिकोण व मनोरथ उनकी स्पष्ट स्वीकृति के साथ उनकी तरफ से, और उनमें से एक छोटे समूह के हाथों, सरकारी कार्रवाई का रूप लेते हैं और यह उन पर लागू होती है जिनका प्रतिनिधित्व किया जा रहा

है।' माना जाता है कि विधायिकाएँ जनमत को प्रतिबिंबित करती हैं। परिवर्तन के लिए निश्चित अंतरालों पर चुनाव कराए जाते हैं। जनता के जो भाग समुचित प्रतिनिधित्व नहीं पाते उनके लिए आरक्षण या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए भारत में विधायिका में और नौकरशाही में भी अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए जाते हैं।

संसदीय लोकतंत्र में कार्यपालिका जनता द्वारा निर्वाचित होती है और जनता की प्रभुतासंपन्न इच्छा को व्यक्त करने की दावेदार विधायिका होती है। अलोकतांत्रिक राज्यों तक में कार्यपालिका ऐसे व्यक्ति-समूह पर भरोसा करती है जो उनकी राय में जनता की इच्छा को व्यक्त कर सकते हैं।

17.4.2 विधायिका का गठनः एकसदनीय और दो-सदनीय

विधायिकाएँ या तो **एक-सदनी** या **दो-सदनी** होती हैं। व्यवहार में दो सदनी व्यवस्था को अधिक महत्व प्राप्त है। **एक-सदनी** व्यवस्था में विधायिका का केवल एक सदन होता है। यह **जनप्रतिनिधित्व पर आधारित** होता है और **विधि-निर्माण** की पूरी जिम्मेदारी इसी पर होती है। एक-सदनी विधायिक़ाएँ न्यूज़ीलैण्ड, डेनमार्क, फिनलैण्ड और चीन जैसे कुछ देशों में पाई जाती हैं। ये पंजाब, हरियाणा, उड़ीसा और केरल जैसे कुछ भारतीय राज्यों में भी मौजूद हैं।

दो-सदनी विधायिका में दो सदन होते हैंः (अ) **ऊपरी सदन** और (ब) **निचला सदन**। आमतौर पर निचला सदन अधिक प्रतिनिधिक होता है और विधि-निर्माण में इसे अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं। निचले सदन सीधे निर्वाचित होते हैं, जैसे भारत, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि में। कुछ देशों में ऊपरी सदन भी सीधे चुने जाते हैं, जैसे अमेरिका में सीनेट। ब्रिटेन में ऊपरी सदन अर्थात् हाऊस ऑफ लार्ड्स के सदस्य नामजद होते हैं। भारत में राज्यसभा नाम का ऊपरी सदन अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है। दो सदनी व्यवस्था में **दलगत राजनीति** बहुत चलती है तथा विधि-निर्माण की प्रक्रिया बहुत अधिक पेचीदा होती है क्योंकि विधेयकों पर दोनों सदनों की सहमति आवश्यक होती है। संघ की सदस्य इकाइयों को ऊपरी सदन में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इससे संसद में उनका दृष्टिकोण पहुँचता रहता है और वे अपने अधिकारों की सुरक्षा भी कर सकती हैं। दो सदनी व्यवस्था केन्द्र और संघ की सदस्य इकाइयों के बीच आसानी से संतुलन बनाए रखती है जो संघीय व्यवस्था के सफल कार्यकलाप के लिए बहुत आवश्यक है।

कुछ ऊपरी सदनों में (जैसे भारत में) साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-सेवा को प्रतिनिधित्व देने के लिए विद्वान और सुख्यात व्यक्तियों को मनोनीत करने की व्यवस्था भी है। भारत में राष्ट्रपति राज्यसभा में 12 सदस्य मनोनीत कर सकता है। इस तरह कुल मिलाकर विधायिका उनके अनुभवों और बुद्धि से लाभान्वित हो सकती है। वास्तव में ऊपरी सदन जनता द्वारा निर्वाचित निचले सदनों पर अंकुश लगा सकते हैं। लेकिन व्यवहार में यह बताना बहुत कठिन है कि क्या ऊपरी सदन सचमुच अधिक गंभीर, कम पक्षपाती और राज्यों के अधिकारों के बेहतर संरक्षक हैं। अनेक राज्यों में उनकी उपयोगिता की बजाय उनके अस्तित्व का औचित्य परंपरा प्रदान करती है।

17.4.3 विधायिका के कार्य

क्रियात्मक दृष्टिकोण से विधि-निर्माता निकायों के स्थान और महत्व 'प्रभुतासंपन्न' ब्रिटिश पार्लियामेंट से लेकर भूतपूर्व सोवियत संघ की प्रभुताहीन सर्वोच्च सोवियत तक, अमेरिका की 'शक्तिशाली' कांग्रेस से लेकर स्पेन की कोर्तिस अर्थात् 'शासक की हाँ में निरीह ढंग से हाँ मिलाने वाली' संस्था तक अलग अलग होते हैं। विधायिकाओं के कार्यों का एक समन्वित लेखाजोखा लेते हुए कर्टिस ने इन्हें इस प्रकार रखा हैः

MAADHYAM IAS

1) विधायिकाएँ राज्य-प्रमुख का चयन करती हैं, महाभियोग चलाकर उसे हटा सकती हैं, या उसके उत्तराधिकार या चुनाव संबंधी कानून को बदल सकती हैं। मिसाल के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट उत्तराधिकार के कानून या सत्ता-त्याग की विधि को बदल सकती है। भारत और इज़राइल की संसदें राष्ट्रपति का चुनाव करती हैं, और अमेरिका में अगर राष्ट्रपति के चुनाव

में कोई भी उम्मीदवार स्पष्ट बहुमत नहीं पाता तो प्रतिनिधि सभा को राष्ट्रपति चुनने का अधिकार है। अमेरिका और भारत की विधायिकाएँ महाभियोग चलाकर अपने राष्ट्रपतियों को हटा भी सकती हैं। कनाडा, न्यूज़ीलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया की संसदें ब्रिटेन की रानी/राजा के आगे तीन नामों की सिफारिश करती हैं तथा राजा या रानी द्वारा उनमें से किसी एक को संबंधित देश का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जाता है।

2) कुछ देशों में विधायिकाएँ प्रधानमंत्री व उसके मंत्रियों के चयन का अनुमोदन भी करती हैं। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सभी मंत्रियों (सचिवों) का सीनेट द्वारा अनुमोदन आवश्यक है। इज़राइल में नेस्सेत (संसद) मंत्रिमंडल के सदस्यों की सूची का अनुमोदन करती है। स्विट्ज़रलैण्ड की फेडरल असेंबली फेडरल कौंसिल के सात प्रेसिडेंट चुनती है। जापान में सम्राट द्वारा नामजद प्रधानमंत्री का डायट (संसद) द्वारा अनुमोदन आवश्यक है। फ्रांस में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत प्रधानमंत्री को संसद में विश्वास मत प्राप्त करना पड़ता है। ब्रिटेन और भारत जैसे देशों में जहाँ मंत्रिमंडलीय शासन प्रणाली है, मंत्रीगण तभी तक अपने पद पर रहते हैं जब तक उन्हें विधायिका का विश्वास प्राप्त हो। हाल में वाजपेयी सरकार संसद में विश्वास का मत प्राप्त नहीं कर सकी। सैद्धान्तिक अर्थ में यही प्रावधान रुस और चीन जैसे देशों पर भी लागू होता है।

3) विधायिकाएँ सरकार के व्यवहार को भी प्रभावित या नियंत्रित कर सकती हैं, या कार्यपालिकाओं को जवाबदेह बना सकती हैं। अविश्वास प्रस्ताव, भर्त्सना प्रस्ताव, विप्रश्न (इंटरपेलेशन) की प्रक्रिया, सरकार के बजटों तथा प्रमुख नीतियों पर बहस, महाभियोग की प्रक्रिया आदि अनेक ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा सांसद सरकार पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। अमेरिकी कांग्रेस ने 1998 में बिल क्लिंटन के खिलाफ महाभियोग चलाया। ब्रिटेन में 1949 में प्रधानमंत्री पद से एटली, 1956 में इडेन और 1968 में मैकमिलन के निष्कासन इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि संसद के हाथ में नियंत्रण की शक्ति है। इस तरह विधायिकाएँ कुछ न्यायिक कार्य भी करती हैं। भारत में उन्हें राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश आदि पर महाभियोग चलाने का अधिकार प्राप्त है।

4) विधायिकाएँ अपने पदाधिकारी चुन सकती और उन्हें हटा भी सकती हैं। वे साबित 'दुर्व्यवहार' या भ्रष्टाचार या देशद्रोह या विशेषाधिकारों के हनन के आरोप में उन्हें सदस्यता से वंचित भी कर सकती हैं। विधायिकाएँ ही स्पीकर और डिप्टी स्पीकर चुनती हैं तथा अविश्वास प्रस्ताव के जरिये उन्हें हटा सकती हैं।

5) विधायिकाओं का सबसे अहम काम नियम बनाना है क्योंकि ये ही सरकार के नियम-निर्माता विभाग हैं। विधेयक पेश किए जाते हैं, उन पर बहसें होती हैं और फिर वे संशोधनों के साथ या उनके बिना पारित किए जाते हैं। 'लोकतांत्रिक' विधायी कामकाज वाले अधिकांश देशों में विधेयकों का तीन-तीन बार वाचन होता है। अकसर विधेयकों को और विस्तृत छानबीन के लिए संसदीय समितियों के हवाले कर दिया जाता है। चीन जैसे कम्युनिस्ट देश में विधायिका नहीं बल्कि उसकी एक छोटी सी समिति ही शासक पार्टी के अगोच इशारे पर पहले विधेयक को पारित करती है, और फिर उसे विधायिका में पारित कराया जाता है। संसद का सत्र जब न जारी हो तब राज्य के प्रमुख द्वारा जारी अध्यादेश को सत्र के आरंभ से छः सप्ताह के अंदर विधायिका में अनुमोदित कराना पड़ता है।

MAADHYAM IAS

6) एक विधायिका अकसर **राजकोष** को भी **नियंत्रित** करती है। **वार्षिक बजट** पर या **नए कर** लगाने के लिए उसका **अनुमोदन** आवश्यक है। समितियों के जरिये वह सरकार के व्यय की जाँच-परख भी करती है। भारत में यह काम लोक लेखा समिति (पब्लिक एकाउंट्स कमेटी, पी.ए.सी.) करती है।

विधायिकाएँ 'तनाव' भी कम करती हैं, आश्वस्त करती हैं तथा सामान्यतः सरकार की नीतियों व कार्यक्रमों पर संतोष का भाव जगाती हैं। वे हितों की अभिव्यक्ति की संभावना भी पैदा करती हैं। वे 'निकास का मार्ग' भी प्रदान करती हैं अर्थात् जब क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था में गतिरोध आ गया है और सामान्य निर्णय-प्रक्रिया इस स्थिति से निकलने का मार्ग नहीं दिखाती तो ऐसे किसी

निर्णय के अंतःतत्व या स्वरूप या दोनों के लिए अभिजात वर्ग विधायिका से मदद मांगते हैं जो व्यवस्था को उस गतिरोध से निकाले। वे देश के भावी नेतृत्व के लिए प्रशिक्षणशाला के काम भी करती हैं। इसके अलावा वे 'सहमतिमूलक संस्थांगत निरंतरता' को बल पहुँचाती हैं और अकसर देश में प्रशासनिक विहंगावलोकन का एकमात्र साधन होती हैं।

विकासशील देशों में विधायिकाएँ इन्हीं कार्यों के कारण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। मगर **पैकेनहैन** जैसे लेखक विधायिकाओं की अवरोधक भूमिका की बात भी करते हैं। वे 'लोकतांत्रिक राजनीति तक में पूरी दुनिया में कार्यपालिकाओं की अपेक्षा अधिक रुढ़िवादी व संकीर्ण हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। संसदीय के विपरीत राष्ट्रपतीय शासन प्रणाली में यह बात खास तौर पर सच दिखाई देती है। जिन समाजों में परिवर्तन की आवश्यकता और इच्छा है और जहाँ राजनीतिक आधुनिकीकरण की परिभाषा सतत रूपांतरण पैदा करने और उसे झेलने की इच्छा और क्षमता के रूप में की जा सकती है वहाँ जो संस्था परिवर्तन का विरोध करे उसकी निर्णयकारी शक्ति को बढ़ाने का कोई खास अर्थ नहीं होता।'

पूरी दुनिया में विधायिकाएँ काम में दक्षता और समय की बचत के लिए समिति व्यवसाय का उपयोग करती हैं। व्यवहार में विधायिका के निकाय को उसकी समिति से ही जाना जाता है। जैसा कि लेखक, **मोटे** का संकेत हैः 'कुछ समितियों की सहायता के बिना कोई भी विधायिका कारगर ढंग से कामकाज नहीं कर सकती। ब्यौरों पर विचार-विमर्श एक बड़ी मीटिंग में असंभव है जो इतनी भारी-भरकम होती है कि मुख्य सिद्धान्तों के अलावा किसी बात पर बहस कर ही नहीं सकती। इसी कारण से सभी लोकतांत्रिक विधायिकाएँ विषयों पर विस्तृत विचार-विमर्श के लिए छोटे-छोटे समूहों का चुनाव करती हैं और ये समूह अपने विचार-विमर्श के परिणाम को निर्णय के लिए वृहत्तर निकाय के सामने लाते हैं।

17.4.4 विधायिका का ह्रास

विधायिकाओं के कार्यों और उनकी शक्तियों की आलोचनात्मक छानबीन से इस बात की पुष्टि होती है कि कार्यपालिकाओं में पुराने अविश्वास की जगह उनके नेतृत्व में एक नया विश्वास पैदा हुआ है। एक संसदीय शासन प्रणाली में प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्यरत मंत्रिमंडल की मजबूत स्थिति **रैम्जे म्यूर** के इस विचार की पुष्टि करती है कि एक शक्तिशाली मंत्रिमंडल के उदय ने एक उल्लेखनीय सीमा तक संसद की शक्ति और स्थिति को कमज़ोर किया है, उसकी कार्यवाहियों का महत्व घटाया है, और ऐसा दिखने लगा है कि संसद मुख्य रूप से सर्वशक्तिमान **मंत्रिमंडल** की आलोचना ही करती रहती है। मंत्रिमंडल ऐसा प्रमुख मंच बनकर उभरा है जहाँ नीतियों पर विचार करके उन्हें अंतिम रूप दिया जाता है जबकि संसद उन पर कमोबेश एक औपचारिकता के रूप में बहस करती है। संसद में अगर मंत्रिमंडल को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो तो वह इस स्थिति में भी नहीं होती कि इन नीतियों को बदल सके। संसदीय शासन प्रणाली में आखिरी आवाज़ मंत्रिमंडल की ही होती है। यह बात अंग्रेजी मॉडल पर आधारित सभी विधायिकाओं पर लागू होती है। एक ओर राष्ट्रपति के अंकुश तथा दूसरी ओर न्यायिक समीक्षा की शक्ति के कारण अमेरिकी कांग्रेस अपनी विधायी स्वायत्तता को काफी हद तक खो चुकी है। कम्युनिस्ट देशों की विधायिकाओं को इतनी मामूली सत्ता भी प्राप्त नहीं; बल्कि उनका उपयोग प्रचार के कार्यों के लिए किया जाता है। वे 'राजनीतिक व्यवस्था में कहीं और किए गए फैसलों पर मुहर' लगाती हैं।

MAADHYAM IAS

विधायिका के ह्रास के आरोप की पुष्टि निम्नलिखित बातों से होती है। **एक**, जो सत्ता मूलतः विधायिकाओं के हाथ में होती थी उसे कार्यपालिकाओं ने छीन लिया है। बहुत सारी बातों का फैसला मंत्रिमंडल करता है, जैसे संसद का सत्र बुलाना और विसर्जित करना, राज्य के प्रमुख द्वारा दिए जाने वाले उद्‌घाटन भाषण का पाठ लिखना, सदन के सत्र की समय-सारणी तैयार करना और ऐसे बहुत से दूसरे कार्य करना जो संसद के कार्यकलाप के अंग होते हैं। अमेरिका जैसे देश में विधायिका भले ही कार्यपालिका से अलग हो, राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी सोच के अनुसार रद्द कर देता है। वह कांग्रेस को 'संदेश' भी भेज सकता है और अपने

'मित्रों' की सहायता से कुछ विधेयक पारित करा सकता है। फ्रांस जैसे एक देश में जहाँ हमें संसदीय व राष्ट्रपतीय प्रणालियों का मिश्रण दिखाई देता है, राष्ट्रपति तो संसद को भंग करने की सीमा तक भी जा सकता है।

दूसरे, किसी विधेयक की संविधानिक वैधता को परखने की अदालतों की शक्ति ने भी विधायिकाओं की शक्ति को प्रभावित किया। यह बात ब्रिटेन पर लागू नहीं होती, लेकिन अमेरिका पर होती है जहाँ संघीय न्यायपालिका को न्यायिक समीक्षा की शक्ति दी गई है। इसके अंतर्गत संघीय न्यायपालिका अगर किसी कानून को देश के संविधान के अनुकूल नहीं पाती या उससे संविधान का हनन होते देखती है तो उसे रद्द घोषित कर सकती है।

आखिरी बात। आधुनिक विधायिकाओं की सत्ता को वास्तव में जिस चीज ने कमज़ोर किया है वह दलगत राजनीति की भूमिका। पार्टी के सर्वोच्च नेता सदस्यों को सख्त नियंत्रण में रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सदस्यों के पास आधिकारिक लाइन को मानने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचता।

हालांकि विधायिकाओं की शक्ति और प्रतिष्ठा में कमी आ रही है, पर फिर भी वे कम या अधिक शक्ति के साथ काम कर ही रही हैं। हरेक राजनीतिक व्यवस्था में विधायिका को आज भी एक औपचारिक केन्द्र के रूप में महत्व दिया जाता है। इसलिए यह बात सही ही कही गई है कि 'ह्रास तो देखनेवाले की निगाह में है और उसके विश्लेषण के परिप्रेक्ष्यों पर निर्भर है।'

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) एक सदनी और दो सदनी विधायिकाओं में उदाहरण देकर अंतर बतलाइए।

....

....

....

....

....

2) विधायिकाओं के कोई तीन कार्य बतलाइए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) विधायिकाओं के ह्रास के कारण बतलाइए।

....

....

....

....

....

17.5 न्यायपालिका

बहुत सीधे-सादे शब्दों में कहें तो न्यायपालिका की परिभाषा, जिसे सरकार का नियमों का फैसला करने वाला विभाग भी कहा जाता है, सरकार के उस तीसरे अंग के रूप में की जा सकती है जिसका काम न्याय करना है। यह कानूनों की व्याख्या करती है तथा कानूनों के हनन पर दंड देती है। व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना किसी राजनीतिक व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य होता है, और यह काम सरकार का न्यायिक अंग करता है।

17.5.1 न्यायपालिका के कार्य

न्यायाधीश राज्य के प्रमुख द्वारा नामजद हो सकते हैं या एक चयन-प्रक्रिया के द्वारा नियुक्त हो सकते या फिर साथ के न्यायाधीशों द्वारा निर्वाचित या सहयोजित (को-आप्टेड) हो सकते हैं।

अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्थाओं में न्यायपालिका के कार्य अलग-अलग होते हैं, पर आम तौर पर ये कार्य इस प्रकार होते हैं।

न्याय प्रदान करना न्यायालयों का पहला और सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। न्यायालय दीवानी, फौजदारी और संविधानिक प्रकृति के सभी मामलों की सुनवाई और फैसला करते हैं। लिखित संविधान वाले देशों में न्यायालयों को संविधान की व्याख्या की शक्ति भी प्राप्त होती है। वे संविधान के रक्षक के काम करते हैं।

दूसरी बात, वैसे तो कानून बनाना विधायिकाओं का काम है, पर एक भिन्न ढंग से न्यायालय भी कानून बनाते हैं। जहाँ कोई कानून खामोश या अस्पष्ट हो वहाँ अदालतें तय करती हैं कि **कानून क्या है और कैसे लागू होना चाहिए।**

तीसरी बात, एक संघीय शासन प्रणाली में अदालतें **केन्द्रीय व क्षेत्रीय सरकारों के बीच एक स्वतंत्र और निष्पक्ष अंपायर की भूमिका भी निभाती हैं।**

चौथी बात, न्यायालय सरकार के कार्यों को वैधता देने वाले महत्वपूर्ण संगठन हैं। न्यायालयों से आशा की जाती है कि वे खुद को जनता की बढ़ती आकांक्षाओं से बाखबर रखेंगे और मौजूदा स्थिति की रौशनी में कानून के अर्थ की गतिशील ढंग से व्याख्या करेंगे। उन्हें यह देखना होगा कि कोई कानून या कार्यपालिका का कोई काम जनता के विभिन्न अधिकारों का हनन न करे।

पाँचवी बात, न्यायालयों को विद्यमान राजनीतिक व्यवस्था को स्थायी बनाना और अवलंब देना भी होता है। न्यायालयों का व्यवहार बाधामूलक या विनाशकारी नहीं होना चाहिए कि वहीं राजनीतिक संगठन का सुचारु संचालन समस्या न बन जाए।

न्यायालयों का सबसे विवादास्पद कार्य उनका **न्यायिक समीक्षा का अधिकार** है जिसके अंतर्गत उन्हें किसी विधायी या प्रशासनिक कदम की वैधता की छानबीन की और फिर उसे अंशतः या पूर्णतः संविधान के प्रतिकूल घोषित करने की क्षमता प्राप्त होती है। इस शक्ति का जन्म अमेरिका में हुआ और वहीं यह अपने सर्वोत्तम रूप में दिखाई भी पड़ती है। इसका दूसरा सर्वोत्तम उदाहरण भारत में देखने को मिलता है। इटली, ऑस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका जैसे कुछ अन्य देशों में इसे कुछ मद्धम रूपों में देखा जा सकता है।

MAADHYAM IAS

जैसा कि कहा गया है, न्यायालयों के कार्य अलग-अलग देशों में अलग-अलग होते हैं। फिर भी, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इनमें से अधिकांश कार्य साझे हैं तथा ये ही कार्यपालिका/विधायिका और न्यायपालिका की शक्तियों में अंतर की रेखा खींचते हैं।

17.5.2 न्यायिक समीक्षा और न्यायिक सक्रियता

इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका ने न्यायिक समीक्षा की परिभाषा इस प्रकार की हैः 'किसी देश के न्यायालयों की यह शक्ति कि सरकार के विधायी, कार्यकारी और प्रशासनिक अंगों के कार्यों की

जाँच-परख करके वे यह सुनिश्चित करें कि ये कार्य राष्ट्र के संविधान के प्रावधानों से मेल खाते हैं।' कर्म्यूसन और मैकहेनर ने न्यायिक समीक्षा की यह परिभाषा की हैः 'किसी न्यायालय की यह शक्ति कि वह किसी कानून या शासकीय कार्य को असंविधानिक ठहरा सके जो उसे बुनियादी कानून या संविधान से टकराता हुआ दिखाई दे।' इस तरह न्यायिक समीक्षा न्यायालयों की यह शक्ति है कि वे किसी विधायी या प्रशासनिक कदम की संविधानिक वैधता की छानबीन करके उसके संविधान के अनुकूल या प्रतिकूल होने संबंधी निर्णय दे सकते हैं।

न्यायिक समीक्षा का अध्ययन दुनिया के मुख्यतः दो ही लोकतांत्रिक देशों को लेकर किया जाता है। ये हैं **अमेरिका** और **भारत**। दोनों के पास लिखित संविधान और संघीय शासन प्रणालियाँ हैं। अमेरिका और भारत, दोनों के सर्वोच्च न्यायालय न्यायपालिका की सर्वोच्चता को मान्यता देते हैं। अमेरिका में अगर कोई कानून 'समुचित वैधानिक प्रक्रिया' की आवश्यकताओं को पूरा न करे तो अमेरिकी न्यायापालिका उसे असंविधानिक भी घोषित कर सकता है। 'समुचित प्रक्रिया' की धारा और 'न्यायपालिका की सर्वोच्चता' ने अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को एक प्रकार की सर्वोच्च विधायिका बना दिया है। कम्युनिस्ट देशों में न्यायिक समीक्षा की कोई संभावना नहीं है। वहाँ न्यायाधीश विधायिकाओं द्वारा निर्वाचित होते हैं तथा उनहें 'जनता की इच्छा' का सम्मान करना पड़ता है। ब्रिटेन में भी न्यायालय प्रभुता संपन्न संसद द्वारा पारित किसी विधेयक की संविधानिक वैधता की जाँच-परख नहीं कर सकते। लेकिन वे **प्रत्यायोजित विधि-निर्माण** (डेलीगेटेड लेजिस्लेशन) के बारे में न्यायिक समीक्षा की शक्ति का व्यवहार कर सकते हैं। अगर कार्यपालिका का कोई काम शाब्दिक या तात्विक अर्थ में संसद के किसी कानून का हनन करता है तो न्यायालय उसे रद्द कर सकते हैं। **स्विट्जरलैण्ड** में **फेडरल ट्रिब्यूनल** को न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्राप्त है जिसका व्यवहार वह केवल कैंटन की विधायिकाओं के बनाए कानूनों पर कर सकता है। **जापानी संविधान** की **धारा 81** भी सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक समीक्षा का अधिकार देती है।

न्यायालयों की न्यायिक समीक्षा की शक्ति ने उस चीज को जन्म दिया है जिसे इधर **न्यायिक सक्रियता** *(ज्युडिशियल एक्टिविज्म)* कहा गया है। हाल के वर्षों में कभी-कभी कार्यपालिका में एक शून्य पैदा होता रहा है और अनेक अवसरों पर इस शून्य को न्यायपालिका ने भरा है। भारत में इस दिशा में पहला कदम आपातकाल के बाद उठाया गया जब सर्वोच्च न्यायालय ने सुविधाहीन और सीमांत वर्गों को न्याय सुनिश्चित करने के साधन के रूप में **जनहित याचिकाओं** (पी.आई.एल.) को मान्यता दी। भारत में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के हाल के कुछ आदेश न्यायिक सक्रियता के कुछ उदाहरण हैं, जैसे दो पहिया वाहनों में ड्राइवरों के लिए हेलमेट का अनिवार्य प्रयोग, पेड़ों की कटाई पर प्रतिबंध, 15 या 20 वर्ष से अधिक पुराने वाहनों पर प्रतिबंध, और देहली में सड़क किनारे होर्डिंग लगाने पर प्रतिबंध। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय का गर्भपात पर प्रतिबंध संबंधी फैसला भी यही दिखाता है कि इन देशों में न्यायपालिका कितनी सक्रिय बन चुकी है।

कहा जाता है कि न्यायिक समीक्षा अधिकाधिक न्यायिक बहसों का दरवाजा खोलती है और वकीलों के लिए एक 'स्वर्ग' पैदा करती है। यह कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच टकराव को जन्म देती है। यह अदालतों को 'तीसरा सदन' या 'विधायिका का सर्वोच्च सदन' जैसा बना देती है। इस तरह न्यायपालिका का राजनीतिकरण होता है जो जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की शक्ति को कम करता है। दूसरी ओर न्यायपालिका ठीक इसी शक्ति के सहारे कार्यपालिका या विधायिका की निरंकुशता से जनता की रक्षा कर सकती है। इस तरह सही तौर पर कहा गया है कि 'न्यायालय राजनीतिक प्रक्रिया के अंग हैं तथा हमें सहयोग को टकराव जितना ही महत्व देना चाहिए। वे राजनीतिक व्यवस्था के दूसरे अंगों के साथ अंतःक्रिया करते हैं - अवैध अजनबियों के रूप में नहीं बल्कि स्थायी शासन के राजनीतिक गठजोड़ के अंग के रूप में।'

MAADHYAM IAS

17.5.3 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका की बेपनाह शक्तियों और कार्यों के कारण पूरे राष्ट्र का कल्याण और उसके अधिकारों का संरक्षण न्यायालयों का दायित्व बन जाता है। इसलिए इन कार्यों को सुचारु ढंग से संपन्न करने के लिए उसका स्वतंत्र और निष्पक्ष होना आवश्यक है। भले ही (स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका जैसे) कुछ देशों में न्यायाधीश निर्वाचित होते हों, पर दूसरे अधिकांश देशों में वे कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। लेकिन एक बार नियुक्त होने के बाद उनको आसानी

से नहीं हटाया जा सकता जब तक कि दुराचरण या अयोग्यता के आरोपों में उन पर महाभियोग न चलाया जाए। उनके वेतन व सेवा की दशाओं पर कार्यपालिका या विधायिका का कोई नियंत्रण नहीं होता। एक न्यायाधीश को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति दलगत हितों से नहीं बल्कि संबंधित व्यक्तियों की योग्यता और क्षमता से संचालित होता है। न्यायाधीशों के वेतन व भत्तों को कार्यपालिका या विधायिका के नियंत्रण से इसलिए बाहर रखा जाता है क्योंकि वे न्यायाधीशों के हितों के विरुद्ध बदले न जा सकें। भारत जैसे अनेक देशों में न्यायाधीशों को एक शपथ दिलाई जाती है ताकि वे भय, लोभ, राग-द्वेष से मुक्त रहकर यथासंभव अपनी योग्यता के अनुसार अपना कर्त्तव्य निभा सकें।

श्री अय्यर के शब्दों में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को 'दुनिया के किसी भी दूसरे सर्वोच्च न्यायालय से अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं।' भारत व अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालयों की तुलना से पता चलता है कि पहले वाले को निचली अदालतों के फैसलों के खिलाफ अपीलों की सुनवाई का अधिक अधिकार प्राप्त है। दूसरी तरफ अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को भारतीय सर्वोच्च न्यायालय पर मौलिक न्याय-क्षेत्र संबंधी श्रेष्ठता प्राप्त है। संघ की इकाइयों के आपसी विवादों के समाधान के अलावा राजदूतों, वकीलों, मंत्रियों, संधियों, नौसेना और समुद्र संबंधी विषयों की सुनवाई भी इस मौलिक न्याय-क्षेत्र में आ जाती है। अपील पक्ष में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को उसके अमेरिकी समकक्ष से अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं जो संविधानिक मामलों को छोड़ दीवानी और फौजदारी के मुकद्दमों में अपीलों की सुनवाई नहीं करता। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का एक काम **परामर्श देना** भी है जो अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय का नहीं है। सबसे बड़ी बात यह है कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय एक **रिकार्ड रखनेवाला न्यायालय** भी है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को ये विशेषधिकार प्राप्त नहीं हैं।

इस तरह एक देश की राजनीतिक प्रक्रिया में न्यायालयों की एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है हालांकि राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति व जनता की संस्कृति के अनुसार उनकी भूमिका अलग-अलग हो सकती है। वास्तविक प्रशासकों और ईमानदार न्यायकर्ताओं के बीच सहयोग व टकराव साथ-साथ चलने चाहिए ताकि राजनीतिक व्यवस्था का आगे विकास हो और उसका क्षय न हो। सही तौर पर कहा गया है कि 'न्यायालय राजनीतिक प्रक्रिया के अंग हैं और हमें सहयोग को टकराव जितना ही महत्व देना चाहिए। वे राजनीतिक व्यवस्था के दूसरे अंगों के साथ अंतःक्रिया करते हैं - अवैध अजनबियों के रूप में नहीं बल्कि स्थायी शासन के राजनीतिक गठजोड़ के रूप में।'

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) एक न्यायपालिका के मुख्य कार्य क्या-क्या हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) अमेरिका का हवाला देते हुए न्यायिक समीक्षा की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

3) किसी न्यायपालिका की स्वतंत्रता कैसे सुनिश्चित की जाती है?

....

....

....

....

17.6 साराश

किसी देश का शासन चलाने के लिए कानून बनाना, उन्हें लागू करना और उनकी व्याख्या करना आवश्यक होता है। ये काम क्रमशः विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के हैं।

कार्यपालिका में राजनीतिक कार्यपालिका और नौकरशाही शामिल हैं। यह कानूनों को लागू करती और प्रशासन चलाती है। संसदीय लोकतंत्रों में यही विधि-निर्माण की प्रक्रिया भी शुरू करती है। इन दिनों कार्यपालिका की भूमिका बहुत अधिक बढ़ चुकी है।

लोकतंत्र में विधायिका जनता द्वारा चुनी जाती व उनका प्रतिनिधित्व करती है। वह जनता की प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व करने की दावेदार होती है। विधायिकाएँ एक सदन वाली या दो सदनों वाली हो सकती हैं। दो सदनों वाली विधायिकाएँ बेहतर होती हैं क्योंकि उनमें विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने की, मनमाने कानूनों के निर्माण पर रोक लगाने की और संघीय राज्यों में संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने की अपेक्षा की जाती है। विधायिकाएँ सिर्फ कानून नहीं बनातीं। वे प्रशासन पर नियंत्रण भी रखती हैं और न्यायिक प्रकृति के कुछ काम भी अंजाम देती हैं। लेकिन हाल में दलगत टकराव, कार्यपालिका के प्रभुत्व तथा दूसरे कारणों से विधायिकाओं की भूमिका कम हुई है।

न्यायपालिका विवादों का निपटारा करती है तथा कानूनों और संविधान की व्याख्या करती है। यह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करती है और कानूनों व संविधान की संरक्षक होती है। उसे न्यायिक समीक्षा की शक्ति भी प्राप्त है जिसने हाल के वर्षों में न्यायिक सक्रियता को जन्म दिया है। इन सबके लिए उसका स्वतंत्र और निष्पक्ष होना आवश्यक है।

इस तरह शासन के इन सभी अंगों की अपनी-अपनी निश्चित भूमिकाएँ हैं। साथ ही वे एक दूसरे से जुड़े भी हैं। कोई राजनीतिक व्यवस्था उनके सामंजस्यपूर्ण कार्यकलाप से ही स्थायित्व और जीवनशक्ति प्राप्त करती है।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS

आलमंड, जी. ए. और पावेल, सी. बी. (1975) : *कंपेरेटिव पालिटिक्सः ए डवलपमेंट एप्रोच,* नई दिल्लीः एमेरिंड पब्लिशिंग कंपनी।

एक्स्टाइन, हैरी और ऐप्टर, डेविड (Ti) **(1963):** *कंपेरेटिव पालिटिक्स,* न्यूयार्कः द फ्री प्रेस।

क्रिक, बी. (1964) : *इन डिफेंस ऑफ पालिटिक्स,* हार्मंड्सवर्थः पेंग्विन।

डायट्श, के (1980) : *पालिटिक्स एंड गवर्नमेंट,* न्यूयार्कः हफ्टन मिफ्लिन।

ब्लम, डब्ल्यू टी. (1971) : *थ्योरिज ऑफ द पोलिटिकल सिस्टम,* इंगिलवुड क्लिफ्सः प्रेंटिस हाल।

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) **संसदीय** व **राष्ट्रपतीय शासन** आज **लोकतंत्र** के दो सबसे प्रचलित रूप हैं। एक संसदीय सरकार **कार्यपालिका** और **विधायिका** के अंतरंग संबंध पर आधारित होती है। वहीं **शक्तियों का अलगाव** राष्ट्रपतीय प्रणाली का आधार होता है। भारत व ब्रिटेन में संसदीय सरकारें हैं। यहाँ राज्य का प्रमुख नाम मात्र का कार्यपालक होता है जबकि व्यवहार में मंत्रिमंडल कार्यपालिका के वास्तविक कार्य करता है और विधायिका के आगे जवाबदेह होता है। अमेरिका राष्ट्रपतीय शासन प्रणाली की बेहतरीन मिसाल है जहाँ वास्तविक कार्यपालक अर्थात् राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है।

2) कार्यपालिका के कुछ कार्य इस प्रकार हैं: **आंतरिक व बाह्य नीतियाँ बनाना, कानून लागू करना, व्यवस्था बनाए रखना, मुद्रा पर नियंत्रण, युद्ध की घोषणा करना व शांति संधि करना। कार्यपालिका अकसर विधेयक तैयार करके उन्हें कानूनों का रूप दिलाती है।** वह राजकोष को नियंत्रित करती हैं, राजस्व उगाहती है और आर्थिक योजनाओं का संचालन करती है। राज्य का प्रमुख दया के विशेषाधिकार का प्रयोग करके अपराधियों को क्षमादान दे सकता है या उनकी सजाएँ कम कर सकता है। राजनीतिक कार्यपालिका नीतियाँ बनाती है जिन्हें फिर असैन्य अधिकारी लागू करते हैं।

3) अत्यंत परस्पर-निर्भर विश्व में कार्यपालिका हर जगह अधिक शक्तिशाली होती जा रही है। चूँकि वह बड़ी हद तक विधि-निर्माण, वित्त, युद्ध व शांति पर नियंत्रण रखती है, वह अधिक शक्तियाँ बटोरने लगती है। हर प्रमुख संकट कार्यपालिका को बल देता है कि वह अपनी सत्ता को जताए। विधायिका द्वारा पारित अनेक कानून कार्यपालिका को और अधिक शक्तियाँ प्रदान करते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) आधुनिक लोकतांत्रिक विधायिकाएँ या तो *एक सदनी* हैं, जैसे चीन में जहाँ राष्ट्रीय जन कांग्रेस जनता की प्रतिनिधि है तथा कोई और सदन उसकी शक्तियों में साझीदार नहीं है, या *दो सदनी* है जिनमें विधायिका के दो सदन होते हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, भारत, स्विट्जरलैण्ड आदि में दो सदनी विधायिकाएँ हैं। निचला सदन हमेशा जनता द्वारा निर्वाचित होता है। ऊपरी सदन ब्रिटेन की तरह मनोनीत, अमेरिका की तरह प्रत्यक्ष निर्वाचित या भारत की तरह अप्रत्यक्ष निर्वाचित हो सकता है। अमेरिका का सीनेट नामक ऊपरी सदन हाउस ऑफ रिप्रेजोटेटिव्स नामक निचले सदन से अधिक शक्तिशाली है। आमतौर पर निचला सदन (भारत में लोकसभा) ऊपरी सदन से अधिक शक्तिशाली होता है।

2) विधायिका का प्रमुख कार्य कानून बनाना और बजट पारित करना है। ब्रिटेन और भारत में विधायिका मंत्रियों को सीधे-सीधे नियंत्रित करती है क्योंकि निचला सदन प्रधानमंत्री तथा मंत्रीपरिषद को हटा सकता है। विधायिकाओं को कुछ निर्वाचन शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। जैसे भारत में राष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों व राज्य विधानसभाओं द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपतियों व न्यायाधीशों को केवल महाभियोग चलाकर हटाया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

3) कार्यपालिका में पुराने अविश्वास की जगह उसके नेतृत्व में एक नया विश्वास जगा है। विधायिकाओं का आकार बड़ा होता है, वे अनेक मुद्दों पर बहस करती हैं व सामान्यतः काम के बोझ से दबी होती हैं। दलीय व्यवस्था अकसर कार्यपालिका को भारी शक्तियाँ देती है जो विधायिका में अपने सदस्यों तक को नियंत्रित करती है। एक दलीय राज्यों में शासन के सभी अंगों पर पार्टी का वर्चस्व होता है जिससे विधायिका का ह्रास होता है।

बोध प्रश्न 3

1) न्याय करना, विवादों को निपटाना और अपराधियों को दंड देना। एक संघीय प्रणाली में केन्द्र-राज्य विवादों का निपटारा सर्वोच्च न्यायालय करता है, जैसे अमेरिका और भारत में। ऊँची

अदालतें संविधान की रक्षा करती हैं और उसका हनन करनेवाले कानूनों को रद्द कर सकती हैं। अदालतें जनता के अधिकारों की रक्षा करती हैं तथा इसके लिए अकसर ऊँची अदालतें *समादेश (रिट)* जारी करती हैं।

2) न्यायपालिका को अधिकार होता है कि वह कानूनों व कार्यपालिका के आदेशों की समीक्षा व छानबीन करके देखें कि ये संविधान के अनुरूप हैं या नहीं। जो कानून पूर्णतः या अंशतः कानून का हनन करते हैं, न्यायपालिका उन्हें निरस्त या असंविधानिक करार देती है। किसी कानून या सरकारी आदेश को अवैध तथा संविधान के प्रतिकूल घोषित करने की शक्ति का आरंभ अमेरिका में 1803 में *मैरबरी बनाम मैडिसन* मुकदमें में हुआ। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय भी अनेकों बार इस शक्ति का उपयोग करता है।

3) **न्यायाधीश** कार्यपालिका व विधायिका के नियंत्रण से मुक्त होने चाहिए। वे राज्य के प्रमुख द्वारा योग्यता के आधार पर नियुक्त होने चाहिए; उनका निश्चित व लंबा कार्यकाल होना चाहिए; आवश्यक यह है कि उन्हें आसानी से हटाया न जा सकें तथा उन्हें अच्छे वेतन और भत्ते मिलने चाहिए। भारत अमेरिका व अधिकांश लोकतांत्रिक देशों में न्यायपालिका को स्वतंत्रता प्राप्त है। वह संविधान के तथा जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं के रक्षक का काम करती है।

बोध प्रश्न 4

1) पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार, तथा उसके फलस्वरूप स्थानीय लोगों के प्रशासन में प्रवेश से उन्हें यह अनुभव हुआ कि वे स्वयं अपने भाग्य के विधाता हो सकते थे। इससे राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। ***(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 17.5 देखें।)***

2) प्रत्येक देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग किए गए साधन एक दूसरे से अलग थे। भारत में सामान्यतया शांतिपूर्वक, अहिंसात्मक विरोध किया गया। उधर इन्डोनेशिया (डच), तथा फ्रांसीसी हिन्द चीन में हिंसा पर आधारित साधनों का प्रयोग किया गया। ***(कृपया विस्तृत विवरण के लिए भाग 17.4 देखें।)***

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 18 एकात्मक और संघीय प्रणालियाँ: संघीय प्रणालियों के प्रतिमान और प्रवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 एकात्मक और संघीय प्रणालियों को भिन्न करने वाली विशेषताएँ
- 18.2.1 सोद्देश्य विकेन्द्रीकरण
- 18.2.2 केन्द्रीकरण
- 18.2.3 शक्ति के स्रोत और प्रणाली के अंदर उसकी व्यवस्था

18.3 संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के उदाहरण
- 18.3.1 संघ की धारणा
- 18.3.2 विकेन्द्रीकृत यूनियन
- 18.3.3 सहराज्य
- 18.3.4 अन्य व्यवस्थाएँ

18.4 संघवाद की बदलती प्रकृति
- 18.4.1 संघवाद पर जोहांस अल्थ्यूसियस का मत
- 18.4.2 अमेरिकी संघवाद और दोहरे संघवाद का सिद्धांत
- 18.4.3 सहयोगमूलक संघवाद
- 18.4.4 स्वतंत्र संघवाद

18.5 संघों में शक्तियों का वितरण
- 18.5.1 विधायी वितरण
- 18.5.2 वित्त का वितरण

18.6 सारांश
18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको **एकात्मक** (यूनिटरी) और **संघीय** (फेडरल) प्रणालियों की बुनियादी विशेषताओं की जानकारी देना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- एकात्मक और संघीय प्रणालियों में अंतर कर सकेंगे;
- संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न प्रकारों की विवेचना कर सकेंगे;
- संघवाद से संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कर सकेंगे; तथा
- संघवाद की बदलती प्रकृति पर टिप्पणी कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

18.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एकात्मक और संघीय प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं की विवेचना करती है। दोनों के बीच का अंतर विशेषज्ञों को भी स्पष्ट नहीं होता। इसलिए यहाँ इन दोनों के अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। जैसा कि आप देखेंगे, एकात्मक व संघीय राजनीतिक प्रणालियों का अंतर मूलतः शक्तियों के वितरण की विधियों पर आधारित होता है। फिर दोनों प्रणालियों के भी विभिन्न रूप होते हैं। इनके बारे में और अधिक बातें आगे के पृष्ठों में बताई जाएंगी।

18.2 एकात्मक और संघीय प्रणालियों को भिन्न करने वाली विशेषताएँ

'एकात्मक' और 'संघीय' शब्दों की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। कारण कि राजनीतिक व्यवस्थाओं के ऐसे नए-नए रूप सामने आए हैं जिनमें इन दोनों की कुछ ढाँचागत विशेषताएँ पाई जाती है जो मिली-जुली होती हैं। जैसे यूनियनें, संविधानिक विकेन्द्रीकरण यूनियनें, संघ, महासंघ, फेडरेसी, संबद्ध राज्य, सहराज्य, लीग, मिली-जुली आदि। इसके अलावा वास्तविक कार्यकलापों में बहुत सी एकात्मक और संघीय प्रणालियों ने एक दूसरे की विशेषताएँ विकसित की हैं या जानबूझकर उन्हें अपनाया है।

18.2.1 सोद्देश्य विकेन्द्रीकरण

प्रायः हम **'सोद्देश्य विकेन्द्रीकरण'** भी देखते हैं जिसमें केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार एक विशेष कार्यक्षेत्र में अपनी सत्ता स्थानीय/प्रांतीय सरकारों के हवाले कर देती है - ब्रिटेन और फ्रांस जैसी अन्यथा एकात्मक प्रणालियों में भी यह पाया जाता है। विकेन्द्रीकरण या तो औपचारिक संविधान संशोधनों के जरिये किया जा सकता है जिसमें शक्तियों का विधिवत और हमेशा के लिए हस्तांतरण होता है, या फिर मात्र सरकारी आदेशों के द्वारा किया जा सकता है जिसमें केन्द्र की सत्ता अस्थायी रूप से हस्तांतरित होती है। इसी तरह हम अमेरिका और भारत जैसे संघीय शासन-व्यवस्थाओं में भी स्पष्ट केन्द्रीकरण देख सकते हैं।

18.2.2 केन्द्रीकरण

इस संदर्भ में केन्द्रीकरण से अभिप्राय संघीय सरकार की इस क्षमता में वृद्धि है कि वह प्रांतीय शासन के लिए परंपरा से सुरक्षित क्षेत्रों में भी अपने अधिकार और नियंत्रण का उपयोग कर सके। केन्द्रीकरण का कारण केन्द्र सरकार की वे निहित शक्तियाँ हैं जिसके जरिये वह प्रांतों द्वारा बनाई जाने वाली नीतियों में एकरूपता लाने के प्रयास करती है। ये शक्तियाँ अमेरिका की तरह न्यायिक आधार पर निर्धारित होती हैं या फिर भारत और कनाडा की तरह संविधान में इनकी व्यवस्था की जाती है। उपरोक्त नीतियों का संबंध विशेषकर स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण, वन-प्रबंध, जल-संसाधन, व्यापार और आर्थिक विकास आदि विषयों से होता है जिनके अंतर्राज्य निहितार्थ या पूरे राष्ट्र के लिए प्रभाव होते हैं। संघ सरकार केन्द्रीकरण या तो राज्य सूची से विषयों को समवर्ती या संघीय सूची में स्थानांतरित करके करती है या फिर अपनी कार्यकारी सत्ता को विस्तार देकर प्रांतों के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त जारी करती है कि वे कानून कैसे बनाएँ और राज्य द्वारा पारित कानूनों में क्या-क्या शामिल करें।

जर्मनी का संघीय संविधान संघीय सरकार को विशेष रूप से मानक कानून बनाने का अधिकार देता है और इसमें मोटे तौर पर उपरोक्त सभी विषय शामिल होते हैं जिन पर राज्य कानून बना सकते हैं। संविधान की धारा 75 के अनुसार 'अगर संघ मानक कानून पारित करता है तो राज्यों के लिए विधि द्वारा निर्धारित एक पर्याप्त समय सीमा के अंदर आवश्यक राजकीय कानून पारित करना आवश्यक है।' इस तरह अनेक संघीय प्रणालियों में संघीय सरकारों ने कानूनों तथा नीतियों व योजनाओं में न्यूनतम एकरूपता लाने के नाम पर संघ बनाने वाली इकाइयों की स्वायत्तता का अतिक्रमण किया है।

MAADHYAM IAS

फिर भी हम शक्तियों के आंवटन की विभिन्न विधियों व प्रणालियों के अंदर उसकी व्यवस्थाओं के आधार पर एकात्मक व संघीय प्रणालियों में अंतर करने के प्रयास कर सकते हैं। लेकिन दोनों के बीच एक स्पष्ट अंतर करने के लिए हमें पहले **शक्ति के स्रोत** को देखना होगा।

18.2.3 शक्ति के स्रोत और प्रणाली के अंदर उसकी व्यवस्था

एक **संघीय प्रणाली** के अंदर प्रायः एक **लिखित संविधान** होता है जो शासन के हर स्तर (संघीय

व क्षेत्रीय सरकारों) को शक्तियों, सत्ता और सामर्थ्य का आंवटन करता है। यहाँ सामर्थ्य से अभिप्राय संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर कानून बनाने और लागू करने के बारे में किसी सरकार की सापेक्ष स्वायत्तता है। इसलिए अ-केन्द्रीकरण किसी संघीय प्रणाली की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता होती है।

अ-केन्द्रीकरण विकेन्द्रीकरण से इस अर्थ में पूरी तरह भिन्न होता है कि विकेन्द्रीकरण में शक्ति के एक केन्द्र (प्रायः केन्द्र सरकार) की परिकल्पना निहित होती है जो अपनी आवश्यकता के अनुसार शासन की निचली या अधीनस्थ इकाइयों को अपनी सत्ता का हस्तांतरण या प्रत्यायोजन (डेलीगेशन) कर सकता है या आवश्यकता होने पर फिर से शक्ति का केन्द्रीकरण कर सकता है। इस तरह विकेन्द्रीकरण हमेशा सशर्त और सीमित होता है। इसके विपरीत अ-केन्द्रीकरण एक संघीय प्रणाली के अंदर एक से अधिक आत्मावलंबी केन्द्रों के बीच शक्ति का संविधान-सम्मत बिखराव है। वितरण की इस पद्धति में संघ सरकार एक क्षेत्रीय सरकार की सामर्थ्य में शायद ही कटौती कर सके या उसे शायद ही अपने हाथ में ले सके। सरकार के दोनों ही स्तर परस्पर समन्वित सत्ताएँ होती हैं जिन्हें सापेक्ष स्वतंत्रता और निर्णय की स्वायत्तता प्राप्त होती है। शक्तियों के वितरण की संविधानिक व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन दोनों सरकारों की आपसी सहमति से ही किया जा सकता है, और वह भी संविधान-संशोधन की एक बहुत पेचीदा प्रक्रिया के द्वारा। प्रायः आवश्यक अवरोधों और संतुलनों के साथ शक्तियों के अलगाव के सिद्धान्त के द्वारा अ-केन्द्रीकरण लागू किया और उसे सुरक्षित बनाया जा सकता है।

इसके विपरीत केन्द्रीकरण और सोपान (हायरार्की) किसी एकात्मक प्रणाली की दो बुनियादी विशेषताएँ हैं। शक्तियाँ केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार के हाथों बहुत अधिक केन्द्रित होती हैं। एक लिखित संविधान की संघीय अनिवार्यता के विपरीत आवश्यक नहीं कि एकात्मक प्रणाली के पास एक औपचारिक लिखित संविधान हो। शक्ति का स्रोत संविधान नहीं होता बल्कि, ब्रिटेन के अनुभव को देखें तो, सभी शक्तियाँ 'संसद में स्थित सम्राट-पद से भी जन्म लेती हैं। स्थानीय सरकारों को उनकी सत्ता केन्द्र सरकार से प्राप्त होती है। एकात्मक प्रणाली में शक्तियों की एक सोपानी व्यवस्था भी होती है जिसमें हर अधीनस्थ शासकीय ढाँचा सर्वोच्च सत्ता अर्थात् केन्द्र सरकार की बाजू की तरह काम करता है। क्षेत्रीय/स्थानीय प्रशासन को केवल सीमित वित्तीय स्वतंत्रता प्राप्त होती है। वास्तव में एकात्मक प्रणाली में स्वायत्तता कार्य की सुविधा के लिए होती है, वह 'शक्ति के वितरण' या 'स्वशासन' का बुनियादी संविधानिक सिद्धान्त नहीं होती। इसलिए एकात्मक प्रणाली के अंदर कार्यात्मक स्वायत्तता किसी विशेष समय में प्रशासनिक-राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की कोटि के सापेक्ष होती है। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण हंस्तातरण की उन व्यवस्थाओं में एक होता है जिसके जरिये केन्द्रीय सत्ता अपने काम का कुछ बोझ बेहतर प्रबंध के उद्देश्य से तथा राष्ट्रीय स्तर पर सेवाओं की एक सुचारु व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय सरकारों के सुपुर्द कर देती है। इस तरह क्षेत्रीय सरकार को निर्णय की स्वायत्तता और स्वतंत्रता केवल सुपुर्द किए गए क्षेत्र में प्राप्त होती है।

संघीय और एकात्मक प्रणालियों का एक और स्पष्ट अंतर प्रशासन के क्षेत्रीय सीमा-निर्धारण के ढंग और उद्देश्य में निहित होता है। किसी एकात्मक प्रणाली में क्षेत्रीय प्रशासन शुद्ध रूप से कार्य की सुविधा के अनुसार और मोटे तौर पर केन्द्र सरकार की एक एजेंसी के रूप में गठित किया जाता है। वहीं एक संघीय प्रणाली में क्षेत्रीय शासन व्यवस्थाओं का निर्माण संघीय राज्य के अंदर बहुलवाद को समन्वित करने के लिए किया जाता है। संभवतः यही कारण है कि इसमें क्षेत्रीय इकाइयों को काफी संविधानिक स्वायत्तता और सामर्थ्य प्राप्त होती हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) एक संघीय और एकात्मक राजनीतिक प्रणाली की तुलना कीजिए और उनका अंतर बतलाइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

18.3 संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के उदाहरण

स्वायत्ता और स्वशासन के विस्तारित अर्थ के आधार पर अनेकों प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाएँ संघवाद के अध्ययन के विषय होती हैं। इनमें सबसे **पहला** स्थान **संघों** का है।

18.3.1 संघ की धारणा

यह एक समन्वित राज व्यवस्था है जिसमें मज़बूत क्षेत्रीय सरकारें और एक सामान्य सरकार होती हैं तथा दोनों को संविधान सम्मत शक्तियों के व्यवहार की पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त होती है। राज्य की प्रभुसत्ता में भागीदारी संघ (फेडरेशन) के निर्माण का आधार होती है। भारत, कनाडा, अमेरिका आदि के सुपरिचित संघ इसके उदाहरण हैं।

18.3.2 विकेन्द्रीकृत यूनियन

उसके बाद विकेन्द्रीकृत यूनियन का स्थान आता है। यह मुख्यतः एकात्मक राज्य होती है, पर फिर भी इसमें ऐतिहासिक प्रादेशिक इकाइयाँ शामिल होती हैं और उनको अपनी अलग पहचान के संरक्षण के लिए अच्छी-खासी मात्रा में स्थानीय/क्षेत्रीय कार्यात्मक स्वायत्तता प्राप्त होती है। जैसे **ग्रेट ब्रिटेन में स्काटलैण्ड** को अपनी खुद की विधि-व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशासन बैंकिंग आदि के प्रबंध की पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त है। जापान, इटली, यूक्रैन, इंडोनेशिया, नीदरलैण्ड आदि विकेन्दीकृत यूनियन के दूसरे उदाहरण हैं।

उपरोक्त दो प्रकार की राज-व्यवस्थाओं के विपरीत यूनियनें समन्वित व्यवस्थाएँ हैं जिनमें घटक इकाइयाँ स्वशासन की प्रणाली के नहीं बल्कि सामान्य सरकार के माध्यम से अपनी-अपनी अखंडता बनाए रखती हैं। **न्यूज़ीलैण्ड** और **लेबनान** यूनियनों के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

18.3.3 सहराज्य

MAADHYAM IAS

जब आंतरिक स्वशासन संयुक्त एक क्षेत्रीय राजनीतिक इकाई दो या दो से अधिक बाहरी राज्यों द्वारा शासित होती है तो उसे एक **सहराज्य (कंडोमिनियम)** कहते हैं। इसका एक उदाहरण **मंडोरा** है जो अभी हाल (1278-1993) तक फ्रांस और स्पेन के संयुक्त शासन में था।

18.3.4 अन्य व्यवस्थाएँ

राजनीतिक व्यवस्थाओं के ये सभी रूप राष्ट्र के स्तर पर कार्यरत होते हैं। लेकिन महासंघ (कनफेडरेशन) (जैसे यूरोपीय संघ, स्वतंत्र राष्ट्रमंडल आदि), लीग (उदाहरण के लिए विभिन्न क्षेत्रीय व्यवस्थाएँ जैसे दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन या सार्क, अरब लीग, आसियान, उत्तर

अटलांटिक संधि संगठन या नाटो आदि) और संयुक्त कार्यात्मक सत्ताएँ जैसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि अंतर्राष्ट्रीय व क्षेत्रेतर स्तरों पर कार्यरत व्यवस्थाएँ हैं। ये सभी व्यवस्थाएँ संयुक्त निर्णय-प्रक्रिया के द्वारा काम करती हैं तथा साझे आर्थिक राजनीतिक हितों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिलकर काम करने के बारे में अनेक देशों की सामूहिक इच्छा से बनती हैं।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) संघ क्या है? उदाहरण दीजिए।

....

....

....

....

2) एक विकेन्द्रीकृत यूनियन क्या है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

3) उन अन्य संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में संक्षेप में लिखिए जिन्हें आप जानते हैं।

....

....

....

....

....

18.4 संघवाद की बदलती प्रकृति

लेटिन शब्द 'फीडस' (foedus, सुगठित से व्युत्पन्न शब्द फेडरलिज्म (संघवाद) राष्ट्र-राज्य, लोकतंत्र, संप्रभुता, स्वायत्तता और संविधानिकता संबंधी चिंतन का हमेशा एक अभिन्न अंग रहा है।

MAADHYAM IAS

18.4.1 संघवाद पर जोहांस अल्थ्यूसियस का मत

संघवाद विषय की सबसे पहली सुव्यवस्थित विवेचना जर्मन सिद्धांतकार **जोहांस अल्थ्यूसियस** (1557-1638) ने की। अपनी सुप्रसिद्ध रचना **पोलिटिका मेथाडिस डाइजिस्टो** में अल्थ्यूसियस ने कहा कि प्रत्येक मानव-संगठन "pactum expression vel tacitum" से बनता है। तात्पर्य यह है कि एक अनुबंध या संविदा 'सह जीवन' का और आगे चलकर एक संघ के निर्माण का पहला बुनियादी सिद्धान्त है। उसी के बाद संघवाद समाज और शासन व्यवस्था के संगठन का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धानत बनकर उभरा।

18.4.2 अमेरिकी संघवादी और दोहरे संघवाद का सिद्धांत

अमेरिका में 'संघीय राज्य' की खोज संघवाद के विकास का अगला महत्वपूर्ण चरण थी। यह खोज **हैमिल्टन, जे.** और **मैडिसन** जैसे संघवादियों ने की जिन्होंने अमेरिकी संघवाद की बुनियाद एक दोहरे संघवाद की धारणा पर रखी। **एडवर्ड कार्विन** के अनुसार दोहरा संघवाद चार मान्यताओं का समन्वय है:

1) राष्ट्रीय सरकार मान्यता प्राप्त शक्तियों में केवल एक शक्ति है;

2) संविधान-सम्मत ढंग से वह थोड़े से उद्देश्यों की ही पूर्ति करती है;

3) शासन के दोनों केन्द्र अपने-अपने क्षेत्रों में 'प्रभुता-संपन्न' हैं, और इसलिए बराबर होते हैं;

4) एक दूसरे से दोनों केन्द्रों का संबंध सहयोग की अपेक्षा तनाव का होता है।

जैसा कि **कार्ल जे. फ्रेडरिख** ने अपनी रचना *ट्रेंड्स ऑफ फेडरलिज्म इन थ्यौरी एंड प्रेक्टिस* (1968) में कहा है, संघवादियों ने आगे यह तर्क दिया 'कि एक संघीय शासन प्रणाली में एक नागरिक दो समुदायों का सदस्य होता है - अपने राज्य का और राष्ट्र का; कि समुदाय के इन दोनों स्तरों में स्पष्ट अंतर किया जाना चाहिए और उनको अपनी-अपनी प्रभावी सरकारें दी जानी चाहिए; और यह कि वृहत्तर समुदाय के सरकार के गठन में राज्यों के रूप में घटक राज्यों की एक सुस्पष्ट भूमिका होनी चाहिए। पिछली धारणा के विपरीत यहाँ संघीय प्रणाली सिर्फ राज्यों से नहीं बनी है क्योंकि वह एक लीग है, बल्कि वह एक नए समुदाय की रचना करती है जिसमें सभी राज्यों के नागरिक शामिल होते हैं।' वर्षों के कालक्रम में एक वृहत्तर राष्ट्रीय/राजनीतिक समुदाय की रचना पर जोर देने का यह नतीजा निकला है कि **सहयोगमूलक संघवाद** (कोआपरेटिव फेडरलिज्म) की धारणा का उदय हुआ है।

18.4.3 सहयोगमूलक संघवाद

इस तरह दोनों सरकारों को अलग-अलग और समन्वित ईकाइयाँ मानने वाले दोहरे संघवाद के विपरीत सहयोगमूलक संघों ने शासन के दोनों स्तरों को एक ही संघीय राजनीतिक प्रणाली के परस्पर पूरक अंग माना। सहयोग मूलक संघवाद के बुनियादी उद्देश्यों को इस प्रकार निरूपित किया गया है:

अ) यूनियन की रक्षा,

ब) सभी नागरिकों के साझा कल्याण को प्रोत्साहन,

स) किसी साझी समस्या के संयुक्त समाधान का प्रयास।

यह प्रणाली संघीय सरकार व क्षेत्रीय सरकारों के बीच 'आंतरिक लेनदेन' के विचार पर आधारित है। लेकिन जैसा कि ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और अमेरिका के संघवाद में इसे कार्यकलाप से पता चलता है, सहयोग-मूलक संघवाद की इस धारणा ने शक्तियों का बेपनाह केन्द्रीकरण किया है और बाद में चलकर क्षेत्रीय सरकारों की स्वायत्तता और सत्ता को कम किया है।

18.4.4 स्वतंत्र संघवाद

हाल में **एम. जे. सी. वाइल, डेनियल जे. एलेजर** और **रोनल्ड एल वाट्स** जैसे संघवादी सिद्धान्तकारों ने **'स्वतंत्र संघवाद'** की धारणा विकसित की है जिसमें दोनों सरकारें न तो पूरी तरह स्वतंत्र होती हैं, जो दोहरे संघवाद की विशेषता है, और न एक दूसरे के अधीन होती है जैसा कि सहयोगमूलक संघवाद में होता है। अपनी पुस्तक, *द स्ट्रक्चर ऑफ अमेरिकन फेडरलिज्म* (1961) में **एम. जे. सी. वाइल** ने (अंतःक्रियात्मक) संघवाद की परिभाषा यूँ की है: *'एक ऐसी शासन प्रणाली जिसमें केन्द्रीय और क्षेत्रीय सत्ताएँ परस्पर-निर्भर राजनीतिक संबंध में जुड़ी होती हैं;* इस प्रणाली में इस तरह का संतुलन रखा जाता है कि सरकार का कोई भी स्तर इतना प्रभुत्व न पाए

कि दूसरे पर अपना फैसला लादने लगे। प्रायः, लेकिन यह आवश्यक नहीं, यह प्रणाली एक ऐसे संविधानिक ढाँचे से जुड़ी होती है जो केन्द्रीय व क्षेत्रीय, दोनों सरकारों को एक स्वतंत्र कानूनी अस्तित्व प्रदान करती है और ऐसी व्यवस्था करती है कि कानूनी तौर पर कोई भी सरकार दूसरे के अधीन न रहे। सरकार के कार्य (अन्योन्य ढंग से, प्रतियोगी ढंग से या सहयोगी ढंग से) इन स्तरों के बीच बंटे होते हैं, आरंभ में संभवतः एक संविधानिक दस्तावेज के द्वारा पर उसके बाद एक राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा जिसमें जहाँ उचित हो न्यायपालिका भी जुड़ी होती है। इस प्रक्रिया में शासन के दोनों स्तरों की पारस्परिक राजनीतिक निर्भरता सबसे अधिक महत्व रखती है ताकि कोई एक स्तर निर्णय-कार्य की सभी प्रभावी शक्तियों को हड़प न कर सके।'

यहाँ जोर इस तथ्य पर दिया गया है कि एक संस्थागत व्यवस्था के रूप में संघवाद की स्थापना का आधार **डेनियल जे. एलेजर** के शब्दो में स्वशासन जमा साझा शासन है 'जिसमें माना जा सकता है कि एक स्थायी चरित्र वाला एक प्रकार का अनुबंध शामिल होता है जो (1) शक्तियों के बंटवारे का प्रावधान करता है, (2) संप्रभुता के मुद्दे पर केन्द्रित होता है और (3) जहां पहले से जीवंत संबंध मौजूद हों वहाँ उनको विस्थापित करने या कमज़ोर बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि उनके पूरक का काम करता है।' *(एक्सप्लोरिंग फेडरलिज्म, 1987 देखें।)* स्वशासन की इजाजत शुद्ध रूप से स्थानीय महत्व के विषयों में होती है और साझे शासन का व्यवहार साझे हित के विषयों पर फैसले करने के मकसद से शासन के दोनों स्तरों के बीच मौजूद अंतःक्रियात्मक भागीदारी के ज़रिये किया जाता है। इसके चलते संघवाद महज एक ढाँचागत श्रेणी न रहकर एक प्रक्रिया बन जाता है 'जिसके ज़रिये अनेकों अलग-अलग राजनीतिक समुदाय समाधान निकालने, संयुक्त नीतियाँ अपनाने, और साझी समस्याओं पर साझे निर्णय लेने के लिए आपस में व्यवस्थाएँ करते हैं।' *(कार्ल जे. फ्रेडरिख, ट्रेंड्स ऑफ फेडरलिज्म इन थ्यौरी एंड प्रेक्टिस, 1968 देखें।)* उपरोक्त से यह बात स्पष्ट है कि एक संघीय शासन व्यवस्था मूलतः एक भागीदारी वाली व्यवस्था है जो हमेशा 'स्वायत्तता' और 'एकीकरण' के दो बुनियादी सिद्धान्तों के बीच संतुलन स्थापित करने के प्रयास करती रहती है।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) संघवाद पर जोहान्स अल्थ्यूसियस का मत क्या था?

....

....

....

....

2) दोहरे संघवाद से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

3) सहयोगमूलक संघयाद क्या है? स्पष्ट कीजिए।

....

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

18.5 संघों में शक्तियों का वितरण

आज संघीय राजनीतिक प्रणाली **25 देशों** में कार्यरत है। ये हैं - अर्जेंटाईना, ऑस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, बेल्ज़ियम, ब्राज़ील, कनाडा, कोमोरोस, इथियोपिया, जर्मनी, भारत, मलयेशिया, मेक्सिको, माइक्रोनेशिया, नाइज़ीरिया, पाकिस्तान, रूस, दक्षिण अफ्रीका, सेंट किट्स-नेविस, स्पेन, स्विट्ज़रलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, वेनेजुएला और यूगोस्लाविया। इन संघीय प्रणालियों में शक्तियों के वितरण की विधियाँ अलग-अलग हैं। संविधान या तो केवल केन्द्र की शक्तियों का उल्लेख करता है और शेष शक्तियाँ राज्यों के हवाले कर देता है, जैसा कि **अमेरिका** में है, या फिर कनाडा और भारत के संघीय संविधानों की तरह शासन के दोनों स्तरों की शक्तियों व उनके अपने-अपने कार्यक्षेत्रों का उल्लेख किया जाता है। शक्तियों का विधायी विभाजन कार्यकारी सत्ता के वैसे ही विभाजन के साथ हो, यह भी आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में शासन की प्रत्येक इकाई को उन्हीं क्षेत्रों में कार्यकारी दायित्व सौंपे गए हैं जिनमें उन्हें कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन यह बात स्विट्ज़रलेण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ नहीं है। इन संघीय प्रणालियों में संघीय सरकार मोटे तौर पर एकरस मानक कानून का ढाँचा बनाती है और फिर उसे लागू करने का काम क्षेत्रीय सरकारों के हवाले कर देती है कि वे विविध क्षेत्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विस्तृत कानून बनाएँ। भारत और मलयेशिया के संविधान भी संघीय कानूनों के राज्यों द्वारा क्रियान्वयन का प्रावधान करते हैं, खासकर साझी समवर्ती सूची के क्षेत्रों में।

18.5.1 विधायी वितरण

सामान्यतः अधिकांश संघों में विदेशी मामले, प्रतिरक्षा और सुरक्षा, यातायात और संचार, कराधान की प्रमुख शक्तियाँ और अंतर्राज्य व्यापार, डाक और तार आदि विषय संघीय सरकार के विधायी कार्य क्षेत्र में रखे जाते हैं तथा स्वास्थ्य, शिक्षा, संस्कृति, सामाजिक विकास, स्थानीय स्वशासन, स्थानीय प्रशासन जैसे सामाजिक विषय राज्यों के विधायी कार्यक्षेत्र में रखे जाते हैं।

लेकिन भारत, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे संघों में उनके संविधानों ने दीवानी और फौजदारी कानूनों, स्वविधान (पर्सनल a), न्याय प्रशासन, दीवालियापन, पर्यावरण और वन-प्रबंध, वन्य जीवन संरक्षण, उच्च शिक्षा, भार और माप, कारखाने और बिजली, आवास-प्रवास आदि विषयों को समवर्ती अधिकार क्षेत्र में रखा है। समवर्ती सूची को लेकर दोनों स्तरों की सरकारों से कानून बनाने की आशा की जाती है, और अगर दोनों के कानूनों में कोई असंगति होती है तो आम तौर पर संघीय कानून ही स्वीकार किए जाते हैं। इसके अलावा अवशिष्ट शक्तियाँ, जो इनमें से किसी भी सूची में शामिल नहीं हैं, या तो संघ सरकार या क्षेत्रीय सरकारों में निहित होती हैं। जहाँ भारत, कनाडा और बेल्जियम में अवशिष्ट शक्तियाँ संघ सरकारों में निहित होती हैं वहीं अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैण्ड, जर्मनी, आस्ट्रिया और मलयेशिया में वे राज्य सरकारों के हाथों में होती हैं। लेकिन स्पेन में संघीय और राज्य सरकारें, दोनों ही अवशिष्ट शक्तियों में भागीदार हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

18.5.2 वित्त का विवरण

अधिकांश संघों में शासन के दोनों स्तरों के बीच राजस्व जमा करने और उनका बंटवारा करने की व्यवस्था है। आमतौर से संघ की कराधान की शक्तियों में आयकर (भारत में खेतिहर आय को छोड़कर), सीमा शुल्क और आबकारी तथा निगम कर शामिल होते हैं। राज्य की कराधान की शक्तियों में सामान्यतः मादक पेयों पर आबकारी, खेतिहर आय पर कर, संपदा शुल्क, राज्य के क्षेत्रीय अधिकार क्षेत्र के अंदर वस्तुओं की खरीद-ब्रिकी पर विक्रय कर, और भूराजस्व शामिल होते हैं। लेकिन राज्यों को उपलब्ध संसाधनों तथा उनके खर्चीले सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों को

लागू करने के संविधानिक दायित्व की दृष्टि से अधिकांश संघों में अहर्त और क्षैतिज़ असंतुलत पैदा हुए हैं। इसे और भी स्पष्ट ढंग से कहें तो ऊर्ध्व असंतुलन तब पैदा होते हैं जब शासन के दोनों स्तरों के संविधान सम्मत राजस्व तथा उनके व्यय संबंधी निश्चित दायित्व आपस में मेल न खाएँ। क्षैतिज़ असंतुलन तब पैदा होते हैं 'जब विभिन्न घटक इकाइयों की राजस्व संबंधी क्षमताएँ अलग-अलग होती हैं जिसके कारण करों के समतुल्य स्तर के आधार पर वे अपने नागरिकों को एकसमान सेवाएँ प्रदान नहीं कर पातीं। (***आर. एल. वाट्स, कंपेयरिंग फेडरल सिस्टम्स, 1999 देखें)*** प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, प्रशासनिक दक्षता और लोक-सेवाओं के मानदंडों में अंतर के कारण संघ बनाने वाली इकाइयों के बीच विकास के स्तर संबंधी अंतर हो तो भी क्षेत्रीय असंतुलन पैदा होते हैं।

ये असंतुलन दूर करने के लिए एक संघीय संविधान प्रायः केन्द्र से राज्यों को वित्त के हस्तांतरण का प्रावधान करता है। आइए हम भारत में वित्तीय हस्तांतरण के दायरे से आरंभ करें। इनमें निम्नलिखित शामिल हैं:

1) केन्द्र द्वारा लगाए गए मगर राज्यों द्वारा वसूल करके अपने पास रखे गए कर;
2) केन्द्र द्वारा लगाए और वसूले गए मगर पूरी तरह राज्यों के हवाले कर दिए गए कर और शुल्क;
3) आयकर से प्राप्त राशियों का वैधानिक विभाजन;
4) संघ की आबकारी की राशियों में संभव भागीदारी;
5) राज्यों को राजस्व से वैधानिक सहायता-अनुदान;
6) किसी लोक-कार्य के लिए अनुदान; और
7) किसी विशेष लोक-कार्य के लिए अनुदान।

आमतौर पर उपरोक्त हस्तांतरण वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर किए जाते हैं। राज्यों को होने वाले क्षैतिज़ हस्तांतरण की गणना अनेक मानदंडों के आधार पर की जाती है, जैसे जनसंख्या, प्रति व्यक्ति आय, पिछड़ेपन का स्तर, निर्धनता का अनुपात और राजस्व घाटे का अनुपात। भारत की तुलना में ऑस्ट्रेलिया के संविधान ने क्षैतिज़ और ऊर्ध्व असंतुलन दूर करने के लिए विशेष रूप से दो प्रकार की व्यवस्थाएँ की हैं। ये हैं:

अ) करों में विभाजन संबंधी अनुदान जिनकी गणना बुनियादी पात्रता, प्रत्येक राज्य के राजस्व और व्यय संबंधी असमर्थता के आधार पर की जाती है, तथा

ब) विशेष उद्देश्यों के लिए अनुदान जो एक महत्वपूर्ण ऑस्ट्रेलियाई खोज़ हैं और जिनका उद्देश्य राज्यों में शिक्षा, स्वास्थ्य और बुनियादी ढाँचे के निर्माण की सामाजिक योजनाओं के लिए वित्त की व्यवस्था करना है।

असंतुलन को दूर करने के अलावा हस्तांतरण की इन दोनों विधियों का उद्देश्य राज्यों की वित्तीय क्षमताओं में समानता लाना भी है।

दूसरी ओर कनाडा महासंघ ने वित्तीय हस्तांतरण की अनेक व्यवस्थाएँ अपनाई हैं। इनमें ये भी शामिल हैं:

MAADHYAM IAS

अ) महासंघ की शर्तों के अनुसार प्रत्येक प्रांत को दिए जाने वाले वैधानिक अनुदान;

ब) कम समर्थ प्रांतों के लिए समतामूलक अनुदान;

स) एकवक्ती आधार पर स्थायित्व संबंधी भुगतान;

द) अस्पताल, बीमा, चिकित्सा-देखभाल और माध्यमिकोत्तर शिक्षा जैसे कार्यक्रमों के लिए वित्त की व्यवस्था (अर्थात् प्रांतों के लिए राष्ट्रीय सरकार का अनुदान); और

य) प्रांत सरकारों द्वारा विशेष रूप से तैयार किए गए कार्यक्रमों के लिए विशिष्ट और बराबर के अनुदान।

इसी तरह संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय हस्तांतरण की व्यवस्थाओं में निम्नलिखित भी शामिल हैं:

अ) देश भर में एकसमान स्तर की लोक-सेवाओं की व्यवस्था के लिए सुनिश्चित अनुदान;

ब) समुदाय विकास कार्यक्रम, स्वास्थ्य, रोज़गार, प्रशिक्षण व अन्य सामाजिक सेवाओं के लिए विवेक के आधार पर एकमुश्त अनुदान जिनका उपयोग राज्य अपने-अपने ढंग से करते हैं; तथा

स) सामान्य राजस्व का विधि-सम्मत विभाजन;

द) हस्पताल, बीमा, चिकित्सा-देखभाल और माध्यमिकोत्तर शिक्षा जैसे कार्यक्रमों के लिए वित्त की व्यवस्था (अर्थात् प्रांतों के लिए राष्ट्रीय सरकार का अनुदान);

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) संघों में विधायी कार्यों के वितरण की समीक्षा करें।

....
....
....
....
....
....
....
....

2) सामान्यतः एक संघ में वित्तीय शक्तियों का विभाजन कैसे किया जाता है?

....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

18.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने एकात्मक और संघीय शासन प्रणालियों के बारे में पढ़ा। आशा है अब तक आप इन दोनों प्रकार की प्रणालियों के अंतर को समझ चुके होंगे। आपने विभिन्न प्रकार की संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में भी पढ़ा, जैसे शास्त्रीय संघवाद, विकेन्द्रीकृत यूनियन, सहराज्य आदि। यहाँ संघवाद की बदलती प्रकृति की विवेचना भी की गई है। दोहरे, सहयोगमूलक और स्वतंत्र संघवाद की धारणाएँ भी स्पष्ट की गई हैं।

इस तरह यहाँ कुल मिलाकर आपके लिए एकात्मक और संघीय प्रणालियों की बुनियादी विशेषताओं

को तथा दोनों प्रकार की राजनीतिक प्रणालियों के प्रतिमानों और प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया गया है।

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रथ, शारदा (1984) : *फेडरलिज्म टुडे : एप्रोचेज, इशूज एंड ट्रेंड्स,* नई दिल्लीः स्टर्लिंग।

वाट्स रोनल्ड (1999) : *कंपेयरिंग फेडरल सिस्टम्स इन द 1990-ज़,* दूसरा संस्करण, किंग्स्टन (ओंटारियो) : क्वींस यूनिवर्सिटी, इंस्टीट्यूट ऑफ इंटर-गवर्नमेंटल रिलेशंस।

श्रीनिवास वर्धन, टी. मी. ए. (1992) : *फेडरल कांसेप्टः द इंडियन एक्सपेरिएंस,* नई दिल्लीः एलाइड।

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 18.2 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 18.3.1 देखें।

2) उपभाग 18.3.2 देखें।

3) उपभाग 18.3.3 और 18.3.4 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 18.4.1 देखें।

2) उपभाग 18.4.2 देखें।

3) उपभाग 18.4.3 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) उपभाग 18.5.1 देखें।

2) उपभाग 18.5.2 देखें।

MAADHYAM IAS

इकाई 19 गणराज्यवाद

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 गणराज्यवाद राजतंत्र के विपरीतार्थी के रूप में
    19.2.1 राजतंत्र एक शासन प्रणाली के रूप में
    19.2.2 निरपेक्ष राजतंत्र की बुराइयाँ
    19.2.3 राजतंत्र से गणराज्यवाद तक
19.3 गणराज्यवाद एक शासन प्रणाली के रूप में
    19.3.1 गणराज्यवाद का अर्थ
    19.3.2 गणराज्यवादी शासन प्रणाली : इसकी विशेषताएँ
    19.3.3 लोकतंत्र और गणराज्यवाद की तुलना
19.4 गणराज्यवाद की शक्तियाँ और कमज़ोरियाँ
    19.4.1 गणराज्यवाद के गुण
    19.4.2 गणराज्यवाद की कमज़ोरियाँ
19.5 गणराज्यवादी प्रवृत्तियाँ
19.6 सारांश
19.7 शब्दावली
19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य एक शासन प्रणाली के रूप में गणराज्यवाद की धारणा की व्याख्या करना, उसकी प्रमुख विशेषताएँ बताना, उसमें और राजतंत्र में अंतर करना तथा लोक-शासन पर आधारित सरकार के सिद्धान्त और जनता के अकारय अधिकारों पर आधारित स्वतंत्रता के सिद्धान्त, दोनों से उसका संबंध स्थापित करना है।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- गणराज्यवादी शासन के अर्थ को स्पष्ट कर सकेंगे;
- मनमाने शासन पर आधारित राजतांत्रिक, निरंकुश और तानाशाह व्यवस्थाओं से उसका अंतर स्पष्ट कर सकेंगे;
- लोकतांत्रिक और लोक-शासन की प्रणाली से उसका संबंध स्पष्ट कर सकेंगे; और
- उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त के ढाँचे में उसकी शक्तियों और कमज़ोरियों का आकलन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

19.1 प्रस्तावना

सरकार प्रशासन सुनिश्चित करती है और प्रशासन का अर्थ बाह्य जीवन के सुव्यवस्थित सामाजिक संबंधों की स्थापना है। सरकारों का रूप चाहे जो हो, वे अपनी जनता को एक सुव्यवस्थित शासन प्रदान करती हैं। यह बात राजतंत्र के बारे में उतनी ही सच है जितनी लोकतंत्र के बारे में। यहाँ तक कि तानाशाह सरकारें भी अपनी जनता को शांति, व्यवस्था और प्रशासन प्रदान करने के दावे करती हैं। सरकार के अनेक रूपों में अंतर करने वाली चीज वह प्रशासन नहीं है जो वे अपनी जनता को प्रदान करती हैं। यह काम तो हर तरह की सरकार करती है। उनमें अंतर इस बात को लेकर होता है कि उनका गठन किस प्रकार होता है, अपनी जिन आंतरिक ढाँचागत संस्थाओं के

माध्यम से वे काम करती हैं उनमें उनका संबंध किस तरह का है, उनसे किस प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति की आशा की जाती है, आदि।

राजनीतिक विचारकों व विद्वानें ने समय-समय पर सरकारों के वर्गीकरण के प्रयास किए हैं। अरस्तू के बाद शासन के अनेक वर्गीकरण सामने आए हैं। इन श्रेणियों और वर्गों का चलते-चलते हवाला देना कुछ गलत नहीं होगाः राजतंत्र, कुलीनतंत्र, राज्य-व्यवस्थाः राजतंत्र या निरंकुशता; कुलीनतंत्र या अल्पतंत्र; राज्य-व्यवस्था या लोकतंत्र; राजतांत्रिक (निरपेक्ष व संविधानिक, दोनों) और गणराज्य; धर्म-निरपेक्ष और धर्म-आधारित; लोकतांत्रिक और तानाशाह; संसदीय, राष्ट्रपतीय या दोनों का संयोग; एकात्मक, संघीय और महासंघीय; उदार, उदार-लोकतांत्रिक और समाजवादी - मार्क्सवादी। सरकार का हर रूप यह स्पष्ट करता है कि वह अपनी जनता पर किस प्रकार शासन करती है।

इन शासन प्रणालियों में से एक गणराज्यवाद है जो लोक-शासन, बहुमतवाद, जनता की संप्रभुता, अकारय अधिकारों, सीमित शासन और संविधानवाद के सिद्धान्तों पर आधारित होता है। उद्गम की दृष्टि से यह राजतंत्र का विपरीतार्थी दिखाई देता है पर यह उससे बढ़कर भी कुछ है। आधुनिक अर्थों में गणराज्यवाद एक तरफ शासन का एक सिद्धान्त है तो दूसरी तरफ जनता की स्वतंत्रताओं का भी एक सिद्धान्त है। इसमें एक लोकतांत्रिक प्रणाली की भावना निहित है जो लोकशाही और वैयक्तिक स्वतंत्रता का समन्वय है। संक्षेप में यह ऐसी प्रणाली है जिसे सही तौर पर अनेकों उदार राजनीतिक रूपों से जोड़ा जा सकता है। इनमें अन्य के अलावा संसदीय शासन, राष्ट्रपतीय प्रणाली, मूलगामी लोकतंत्र और सीमित शासन शामिल हैं। संवेदनशीलता और जवाबदेही इसके बुनियादी मानक हैं।

लोकतांत्रिक मूल्यों संबंधी विश्वास और सरोकार गणराज्यवाद की शक्तियाँ हैं। दूसरी ओर उसकी कमज़ोरी उसकी अस्पष्टता है उसमें शासन के अनेकों रूप शामिल हैं जो प्रायः एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

ऊपर दी गई संक्षिप्त रूपरेखा से आप पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि गणराज्यवाद शासन के हर उस रूप से जुड़ी लोकतांत्रिक संवृत्ति (फेनामिजन) है जो एक लोकतांत्रिक प्रणाली अपनाने का दावा करता है। जिन लोगों पर ऐसी सरकार का नियंत्रण लागू होता है उनके प्रति जवाबदेह और संवेदनशील होना इसका सार तत्व है। इसका महत्व स्वशासन की प्रणाली, बुद्धि पर आधारित शासन, बहुमत के सिद्धान्त और एक प्रभुतासंपन्न शासक जैसा व्यवहार करने का जनता के अधिकार में निहित है। आगे बढ़ने पर हमें इस बारे में कुछ और पढ़ेंगे।

19.2 गणराज्यवाद राजतंत्र के विपरीतार्थी के रूप में

गणराज्यवाद के विचार को राजतांत्रिक व्यवस्थाओं के विरोध से उत्पन्न दिखाया जा सकता है। ऐतिहासिक अर्थ में राजतंत्र का अर्थ मात्र एक वंशगत शासन नहीं है जिसमें राजकुमार या राजकुमारी को अपने शासक पिता या माता से राज्य उत्तराधिकार में मिलता है। यह परम शक्तियों से संपन्न एक व्यक्ति का शासन होता है जिस पर कोई और अंकुश या नियंत्रण नहीं होता। गणराज्यवाद का उदय निरपेक्ष राजतांत्रिक प्रणालियों के विरोध में नहीं, उनके विपरीतार्थी के रूप में ही सही, हुआ और इसमें जनता को निश्चित नियमों पर आधारित शासन प्रदान करने का वचन दिया गया। एक व्यक्ति के शासन रूपी राजतंत्र के विपरीत गणराज्यवाद कानून का शासन सुनिश्चित करता है। राजतंत्र निरंकुशता को बल पहुँचाता है, गणराज्यवाद संविधानिकता को।

MAADHYAM IAS

19.2.1 राजतंत्र एक शासन प्रणाली के रूप में

राजतंत्र दुनिया की सबसे पुरानी राजनीतिक संस्था है। यह शासन का वह रूप है जिसमें सर्वोच्च सत्ता वास्तव में या कहने के लिए राजा के हाथों में होती है। 'जब राजा की सत्ता कानूनों से बंधी नहीं होती तो यह निरपेक्ष या निरंकुश राजतंत्र होता है और जब उसकी सत्ता इस प्रकार कानूनों से बंधी होती है तो यह **संविधानिक** राजतंत्र होता है।' ऐतिहासिक रूप से राजतंत्र का अर्थ किसी

राजा या रानी का निरपेक्ष शासन है। गणराज्यवाद का उदय निरंकुश राजतंत्र की प्रतिक्रिया था हालांकि संविधानिक राजतंत्र का विचार रूप में न सही, सारतत्व में गणराज्यवादी सरकार के विचार से मेल खाता है।

राजतंत्र शासन का वह रूप है जिसमें एक पुश्तैनी शासक का राज्य होता है और वह शासन का निरपेक्ष शासक होता है। राजतंत्र की खास विशेषता यह है कि यह खानदानी होता हैः एक ही राजवंश अनेकों पीढ़ियों तक शासन करता रहता है। राजा जब तक मारा या सत्ताच्युत नहीं किया जाता, तब तक शासन करता रहता है। वह परम शक्तियों का उपयोग करता है। कोई उसकी सत्ता को चुनौती नहीं दे सकता, उसे जवाबदेह नहीं ठहरा सकता। इस तरह राजतंत्र का विचार निरपेक्ष शासन का विचार है। **इसमें राजा की शक्तियाँ ईश्वार-प्रदत्त मानी जाती हैं और उसे केवल ईश्वर के आगे जवाबदेह कहा जाता है।** राजा के दैवी अधिकारों का सिद्धान्त निरंकुश शासक के राज्य के रूप में राजतंत्र के विचार को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।

राजतंत्र में प्रशासन राजा के हाथों में होता है जो प्रायः खानदानी होता है। इसका आधार यह सिद्धान्त है कि प्रशासन एक विशेष वंश का विशेषाधिकार है और केवल राजा ही जानता है कि उसकी प्रजा के हित में सबसे अच्छी बात क्या है। राजा को कानून बनाने की शक्तियाँ इसीलिए प्राप्त होती हैं। प्रायः उसका कहा हुआ ही कानून होता है, वहीं उन्हें लागू करता है और केवल वहीं अपने बनाए कानूनों का हनन करने वालों के लिए दंड का निश्चय करता है।

राजतंत्र की खास विशेषता राजा की शक्तियाँ हैं। ये प्रायः निरपेक्ष होती हैं और जनता से व्युत्पन्न नहीं होतीं। इसलिए वह जो कुछ करता है उसके लिए जनता के आगे जवाबदेह नहीं होता। राजतंत्र में राजा और प्रजा का संबंध शासक और शासित का, प्रभुत्वशाली राजा और मूक-बधिर प्रजा का संबंध होता है। राजतंत्र में जहाँ निरपेक्षवाद प्रशासन की प्रमुख विशेषता होता है, जनता को अधिकार प्राप्त नहीं होते, उसके सिर्फ कर्तव्य होते हैं। जनता की स्थिति नागरिकों की नहीं, प्रजा की होती है।

राजतंत्र का अर्थ राजा की निरपेक्ष और सर्वस्ववादी शक्तियाँ हैं। ये इस अर्थ में निरपेक्ष होती हैं कि इनकी कोई सीमा नहीं होती और इस अर्थ में सर्वस्ववादी होती हैं कि राजा जैसा भी चाहे, कानून जारी कर सकता है। इस तरह राजतंत्र सर्वाधिकारवाद और निरपेक्षवाद का दूसरा नाम है जिसमें जनता सिर्फ साधन होती है, उसका अपना कोई उद्देश्य नहीं होता।

19.2.2 निरपेक्ष राजतंत्र की बुराइयाँ

राजतंत्र की निरपेक्ष प्रकृति अनेक प्रकार से बदनाम है। यह पूरी तरह अतीत की वस्तु है। कोई इसकी पैरवी नहीं करता, न इसकी प्रशंसा करता है। उसके दुर्गुण उसके गुणों पर हावी हैं। चरित्र से पुश्तैनी होने के नाते राजतंत्र बेतुकी चीज होता है। आनुवांशिकता का सिद्धान्त यह सुनिश्चित नहीं करता कि राजा अच्छा ही होगा। इतिहास में ऐसे अनेकों राजा गुजरे हैं जो मनमाने और क्रूर थे। बुद्धि और सुचरित्र एक से दूसरी पीढ़ी को चलते जाएँगे, यह विश्वास ही हास्यास्पद है। **टामस पेन** ने एक बार बहुत सही कहा थाः 'एक पुश्तैनी गवर्नर वैसा ही बकवास है जैसे एक पुश्तैनी लेखक।'

MAADHYAM IAS

राजतंत्र में शासक की निरपेक्षता एक बड़ी बुराई होती है। जो व्यक्ति किसी के आगे जवाबदेह न हो उसके लिए शक्तियों के व्यवहार में निरंकुश होना स्वाभाविक है। सत्ता ऐसे व्यक्ति को भ्रष्ट करती है और असीम सत्ता असीम भ्रष्ट करती है। निरपेक्ष शासन से आगे क्रूर शासन ही आता है। निरपेक्ष राजतंत्र एक भेदभाव की व्यवस्था में फलता-फूलता है जिसमें महत्व केवल जी-हजूरी का होता है।

सर्वाधिकारवाद और निरपेक्षता में चोली-दामन का साथ होता है। निरपेक्ष प्रणाली सर्वाधिकारवादी और सर्वाधिकार प्रणाली निरपेक्ष होती है। राजतंत्र निरपेक्ष व सर्वाधिकारवादी, दोनों होता है। राजा के पास असीम शक्तियाँ ही नहीं होतीं बल्कि ऐसी सत्ता भी होती है जो केवल असीम ही नहीं,

संपूर्ण भी होती है। प्रजा पर राजा का पूरा-पूरा अधिकार होता है; इसका आदेश उन सभी क्षेत्रों पर चलता है जहाँ उसका शासन होता है।

निरपेक्ष राजतंत्र अलोकतांत्रिक होता है। वास्तव में यह बुनियादी तौर पर एक अलोकतांत्रिक धारणा है। राजा न जनता द्वारा निर्वाचित होता है, न उसके आगे जवाबदेह होता है। इतिहास गवाह है कि राजा निरंकुश ढंग से अपना राज्य चलाता है और उसे व्यापक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं - लोगों की जिंदगी और मृत्यु पर भी। एक राजा का विचार लोकतंत्र के विचार का सीधे-सीधे विरोधी होता है। राजा न तो संवेदनशीलता की बात जानता है न जवाबदेही की। यह ग़ैर-जिम्मेदाराना, फासीवादी कार्यनीतियों वाला एक सर्वाधिकारवादी शासन होता है।

हालांकि अब निरपेक्ष राजतंत्र का विचार प्रचलित नहीं है पर निरपेक्ष राजतंत्र की भर्त्सना की जाती रही है और बहुत बुरी तरह की जाती रही है। उसके आनुवांशिकता के सिद्धानत की निंदा की गई है और उसके निरंकुश शासन को कोसा गया है। राजतंत्र को केवल प्रभाव-संपन्न और शक्तियों से वंचित प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करने के सभी प्रयासों को, जो आधुनिक काल में दिए जाते रहे हैं, कुछ खास समर्थन नहीं मिला है। राजतंत्र को एक अ-आधुनिक बल्कि मध्यकालीन विचार माना जाता है।

19.2.3 राजतंत्र से गणराज्यवाद तक

पश्चिमी समाजों में राजतंत्र से गणराज्यवाद में संक्रमण एक जैसा और हमेशा सुचारू नहीं रहा। ग्रेट ब्रिटेन में अंग्रेजों ने स्वयं को गणराज्यवादी घोषित किए बिना मैग्ना कार्टा (1215), अधिकारों की याचिका (1628) और अधिकार विधेयक (1689) के ज़रिये तथा हाउस ऑफ कॉमंस का लोकतंत्रीकरण करके, स्थानीय स्वशासन संबंधी कानून आदि बनाकर राजा की निरंकुश शक्तियों में कटौती की और लोकतांत्रिक बन बैठे। ब्रिटेन कई सदियों के एक लंबे काल में गणराज्यवादी बने बिना एक लोकतंत्र के रूप में उभरा। दूसरी ओर फ्रांस में गणराज्य में संक्रमण 1789 की क्रांति के द्वारा, राजतंत्र की संस्था का उन्मूलन करके हुआ। दूसरे यूरोपीय देशों, उदाहरण के लिए जर्मनी ओर इटली (1840) में, गणराज्य में संक्रमण तीव्र और बढ़ते राष्ट्रवाद का परिणाम था जबकि रूस में प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) और समाजवादी क्रांति (1917) जैसी घटनाओं ने राजतंत्र का उन्मूलन किया।

राजतंत्र से गणराज्य में वास्तविक संक्रमण से बहुत पहले ही राजनीतिक विश्लेषक गणराज्य के ध्येय की पैरवी करने लगे थे। प्राचीन रोमन गणराज्य के प्रति अपने प्रशंसा-भाव के कारण **मैकियावेली** (1469-1527) ने एक प्रकार के गणराज्य को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उनका तर्क था कि गणराज्य पैट्रीशियनों और जनता के बीच तनावों को दूर करने का सबसे अच्छा रास्ता था और स्वशासन से युक्त स्वाधीनता केवल एक गणराज्यवादी शासन में संभव है। **मोंतेस्क्यू** (1689-1755) ने राजतंत्र की निंदा की कि यह निरंकुश शासन स्थापित करता है तथा जनता को उनके अधिकारों व स्वाधीनतों से वंचित करता है। उन्होंने एक प्रकार कीसंसदीय व उदार सरकार की जमानत के तौर पर शक्तियों के अलगाव का तर्क दिया। जन्म से ब्रिटिश क्रांतिकारी **टामस पेन** (1737-1809) ने केवल जमकर राजतंत्र का विरोध ही नहीं किया बल्कि जोश के साथ गणराज्य के ध्येय का समर्थन भी किया। उनका उद्देश्य जनता की संप्रभुता के साथ वैयक्तिक अधिकारों के विचार का समन्वय करना था। संविधानिक गणराज्यवाद के प्रतिपादक **जेम्स मेडिसन** (1751-1836) ने एक सीमित प्रकार के शासन की जमानत के रूप में राजनीतिक स्वाधीनता की पैरवी की। उन्होंने **'शक्ति से शक्ति पर अंकुश'** की बात सोची और इसलिए संविधानिक सरकार के किसी भी रूप में संघवाद, दो-सदनी व्यवस्था और शक्तियों के अलगाव के सिद्धान्तों को अपनाए जाने का समर्थन किया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) राजतंत्र की परिभाषा और इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) राजतांत्रिक शासन प्रणाली क्या है? इसकी बुराइयाँ बताइए। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

3) पश्चिम में राजतंत्र से गणराज्य में संक्रमण की संक्षिप्त रूपरेखा दीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....
....
....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

19.3 गणराज्यवाद एक शासन प्रणाली के रूप में

ऐतिहासिक दृष्टि से गणराज्यवाद का जन्म निरंकुश व निरपेक्ष राजतंत्र की प्रतिक्रिया के स्वरूप हुआ। पर गणराज्यवाद की परिभाषा राजतंत्र के विपरीतार्थी के रूप में करना उसके अर्थ को बहुत सीमित करना है। गणराज्य वह शासन प्रणाली हैं जिसमें राज्य का एक निर्वाचित प्रमुख होता है और साथ में ऐसी सरकार होती है जो जनता की इच्छा व संप्रभुता को व्यक्त करे। स्वतंत्रता के एक सिद्धान्त के रूप में यह व्यक्तियों के अधिकारों, उनकी स्वाधीनताओं, कानून के शासन, मुक्त प्रेस और निष्पक्ष व मुक्त शिक्षा प्रणाली को सुनिश्चित करता है। उस सीमा तक गणराज्यवाद लोकतंत्र का एक और नाम है पर केवल उसके एक रूप के तौर पर।

19.3.1 गणराज्यवाद का अर्थ

जहाँ राजतंत्र का अर्थ एक राजा का शासन है जिसका निश्चय वंशगत आधार पर और केवल जन्म के संयोग से होता है, वहीं **गणराज्य ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें राज्य का प्रमुख कोई राजा नहीं, जनता से आने वाला कोई व्यक्ति होता है**। राजतंत्र जहाँ वंशगत होता है वहीं गणराज्य अधिकतर **निर्वाचित** होता है। राजतंत्र में राजा का शासन उसके जीवनपर्यंत चलता है पर गणराज्य एक **समयबद्ध शासन प्रणाली है** और एक गणराज्य का शासक एक विशेष अवधि के लिए ही राज्य का प्रमुख होता है। जहाँ राजा को असीम और समस्त शक्तियाँ प्राप्त होती हैं वहीं गणराज्य के **शासक को वे ही शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो उन्हें संविधान या सुनिश्चित नियमों से मिलती हैं।** राजतंत्र शासन की एक संवेदनहीन और ग़ैर-जवाबदेह प्रणाली है तो गणराज्य को संवेदी और उत्तरदायी ढंग से काम करना पड़ता है। राजतंत्र राजा की प्रजा के कुछ कर्तव्य मात्र जानता है, पर **गणराज्यवाद जनता के अधिकारों व स्वाधीनताओं पर जोर देता है**। इस तरह गणराज्य वह शासन प्रणाली है जिसमें शक्ति सीमित होती है, जो शासित जनता के प्रति संवेदनशील और उत्तरदायी होती है, जनमत के अनुसार काम करती है, जनता के लिए अधिकारों व स्वाधीनताओं की एक व्यवस्था सुनिश्चित करती है तथा शासित जनता को प्रजा नहीं, नागरिक मानती है। **द मैक्वेरियो डिक्शनरी** के अनुसार यह 'ऐसा राज्य है जिसमें सर्वोच्च सत्ता मताधिकार से संपन्न नागरिकों के समुदाय में निहित होती है तथा उसका व्यवहार उनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है।' एक ओर लोकशाही पर जोर तथा दूसरी ओर वैयक्तिक स्वाधीनताएँ सुनिश्चित करने वाली एक विशेष प्रकार की स्वतंत्रता पर जोर गणराज्यवाद का केन्द्रीय तत्व है।

राजतंत्र से भिन्न, गणराज्यवाद ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें राज्य का प्रमुख साधारण जनता से आता है और प्रायः जनता द्वारा निर्वाचित होता है। यह नियमों का शासन है जो संविधानवाद पर आधारित होता है और उसी के माध्यम से कार्य करता है। यह वह प्रशासन है जिसमें व्यक्ति की स्वाधीनता सुनिश्चित होती है और जनता के लाभार्थ उसके हितों का ध्यान रखा जाता है। यह लोकतंत्र के साथ पैदा हुआ और उसी के साथ फलता-फूलता है। गणराज्यवाद लोकतंत्र के ढाँचे में सटीक बैठता है हालांकि लोकतंत्र गणराज्यवाद से आगे भी बहुत कुछ होता है।

19.3.2 गणराज्यवादी शासन प्रणाली : इसकी विशेषताएँ

MAADHYAM IAS

गणराज्यवादी शासन का अर्थ बहुसंख्य जनता द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार प्रत्यक्ष और वैयक्तिक रूप से कार्य कर रही जनता का शासन है। इस शासन प्रणाली की प्रशंसा में **टामस जेफरसन** ने कहा था: 'गणराज्यवादी प्रणाली ही शासन का वह सर्वोत्तम रूप है जो आज तक जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए विकसित किया गया है।' वे आगे कहते हैं: 'पूर्ण न होते हुए भी यह जनता को आवाज़ प्रदान करता है और उसे अधिकार देता है कि जब वह सरकार को गलत दिशा में बढ़ते देखें तो उसे सुधारें।' अपनी प्रकृति में ही तथा राजतंत्र के विपरीत गणराज्यवादी शासन एक सीमित शासन होता है। यह इस अर्थ में सीमित होता है कि इसके कार्यकलाप सीमित होते हैं (अर्थात् यह सर्वाधिकारवादी राज्य नहीं होता।) और इसलिए इसकी शक्तियाँ भी सीमित होती हैं। यह उस सीमा तक सीमित होता है जहाँ तक ऊर्ध्व ढंग से शासन के अन्य स्तर (उदाहरण

के लिए अगर यह एक संघ है तो घटक राज्य) और क्षैतिज़ ढंग से शासन के अनेकों अंग उसकी शक्तियों में भागीदार होते हैं।

गणराज्यवादी शासन इस अर्थ में लोकतांत्रिक होता है कि शासन करने वाले जनता के प्रतिनिधि होते हैं जो या तो किसी अन्य की जगह या एक सीमित अवधि के लिए निर्वाचित होते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने निर्वाचकों के आगे उत्तरदायी भी होते हैं। यह इसलिए लोकतांत्रिक होता है क्योंकि यह एक निर्वाचित, उत्तरदायी और संवेदनशील शासन होता है। यह इसलिए लोकतांत्रिक होता क्योंकि यह जनता का शासन होता हैः वह जब चाहती है, इसे बनाती है और जब चाहती है, इसे बदल देती है। यह इसलिए लोकतांत्रिक है क्योंकि गणराज्यवादी सरकारें जनता की इच्छा की मूर्त रूप होती हैं और उसी को लागू करने की इच्छा रखती हैं। **बेंजामिन आस्टिन** को एक पत्र में **ज़ेफरसन** ने लिखा थाः 'एक प्रातिनिधिक (और इसलिए गणराज्यवादी) शासन ऐसा शासन है जिसमें जनता की इच्छा एक प्रभावी तत्व होगी।' गणराज्यवादी शासन मूलतः वहाँ तक लोकतांत्रिक शासन होता है जहाँ तक उसके हर सदस्य को उसके सरोकारों के बारे में बराबर की आवाज प्राप्त हो। एक गणराज्य किस चीज से बनता है? **ज़ेफरसन** का यह कहना ठीक ही है कि 'अपनी पहुँच और अपनी क्षमता के अंदर आने वाले विषयों में वैयक्तिक रूप से नागरिकों की तथा दूसरे सभी विषयों में उनके तात्कालिक रूप से चुने गए और उनके द्वारा हटाए जा सकने वाले प्रतिनिधियों की कार्रवाई एक गणराज्य का सारतत्व है।'

गणराज्यवादी शासन प्रणाली शासन का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करती है - एक सरकार जो लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित हो; जो प्रातिनिधिक, उत्तरदायी और संवेदनशील हो, जो जनता की इच्छा पर आधारित और उसी के माध्यम से व्यक्त हो। ऐसा शासन जनता के अधिकारों व स्वाधीनताओं का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। गणराज्यवाद तथा स्वाधीनता के सिद्धान्त का चोली-दामन का साथ है। गणराज्यवाद के समर्थक इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य के अधिकार शासन के सिद्धान्तों के आधार हैं। ज़ेफरसन कहते हैं: 'गणराज्य शासन की वह प्रणाली है जो मानवजाति के अधिकारों के खिलाफ शाश्वत रूप से किसी खुले या छिपे युद्ध से संलग्न नहीं है।' मोंतेस्क्यू को उद्धृत करते हुए वे अपना यह विचार व्यक्त करते हैं: 'गणराज्यवादी शासन प्रणालियों में मनुष्य समान होते हैं; समान वे क्रूर शासन प्रणालियों में भी होते हैं। पहली में इसलिए कि वे ही सब कुछ होते हैं; दूसरी में इसलिए के वे कुछ नहीं होते।'

एक गणराज्यवादी शासन प्रणाली की बुनियादी विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता हैः

1) गणराज्यवादी शासन प्रत्यक्ष रूप से या प्रतिनिधियों के ज़रिये जनता का शासन होता है;

2) यह वह शासन है जो अपने निर्माताओं के प्रति उत्तरदायी होता है;

3) यह चरित्र से प्रतिनिधिक तथा जनता की इच्छा के प्रति संवेदनशील शासन होता है;

4) यह सीमित कार्यों और सीमित शक्तियों वाला शासन होता है;

5) यह ऊर्ध्व दृष्टि से सीमित शासन होता है क्योंकि क्षेत्रीय व स्थानीय स्तरों की सरकारें उसकी शक्तियों में भागीदार होती हैं और क्षैतिज़ दृष्टि से भी सीमित शासन होता है क्योंकि शासन के विधायी, कार्यपालक और न्यायिक अंग उसकी शक्तियों का उपयोग करते हैं;

6) जैसा कि कहा गया, गणराज्यवाद शासन का एक सिद्धान्त है; यह उस सीमा तक स्वतंत्रता का एक सिद्धान्त भी है जहाँ तक यह जनता के अधिकारों व स्वाधीनताओं का प्रावधान करता है, जनता के अधिकार व स्वाधीनताएँ सुनिश्चित करता है और इससे इनके संरक्षण का वादा करता है।

MAADHYAM IAS

19.3.3 लोकतंत्र और गणराज्यवाद की तुलना

लोकतंत्र वह सब कुछ है जो गणराज्यवाद है पर गणराज्यवाद पूरा का पूरा लोकतंत्र नहीं है। गणराज्यवादी शासन लोकतंत्र का एकरूप है हालांकि यह आवश्यक नहीं कि हर लोकतांत्रिक शासन गणराज्यवादी हो। ब्रिटेन में लोकतंत्र है पर उसका शासन गणराज्यवादी नहीं है। अनेकों संविधानिक राजतंत्र लोकतांत्रिक हैं पर वे गणराज्यवादी नहीं हैं।

लोकतंत्र और गणराज्यवाद की निकटता से इंकार नहीं किया जा सकता। दोनों का उद्देश्य जनता की संप्रभुता स्थापित करना है; दोनों का चरित्र प्रातिनिधिक होता है; दोनों मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान मानव-विकास के मापदंड के रूप में करते हैं; दोनों मनुष्य के अधिकारों व स्वाधीनताओं को उसकी प्रगति के लिए अनिवार्य मानते हैं; दोनों निर्वाचित सरकार को जनमत के प्रति संवेदनशील मानते हैं; दोनों शासित के प्रति शासक की जवाबदेही पर जोर देते हैं।

पर फिर भी बहुत कुछ है जो गणराज्यवाद और लोकतंत्र में भेद करता है। लोकतंत्र अल्पमत पर बहुमत का शासन है जिसमें व्यक्ति के और अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए सुरक्षा के उपाय नहीं होते। गणराज्य भी बहुमत का शासन होता है पर लोकतंत्र के असीमित बहुमत के विपरीत यह एक सीमित बहुमत होता है। गणराज्य अल्पसंख्यकों के और व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करता है। लोकतंत्र सर्वशक्तिसंपन्न बहुमत का शासन है जिसमें उसकी असीमित शक्तियों के मुकाबले कोई सुरक्षा प्राप्त नहीं होती। यह बहुमत की असीम निरंकुशता होती है। गणराज्यवाद बहुमत का शासन सुनिश्चित करता है पर उस बहुमत का जो स्वयं ही नियंत्रित है। यह एक प्रातिनिधिक चरित्र वाला निरंतर सीमित शासन होता है - ऐसा शासन जो संशोधनों के जरिये परिवर्तनीय हो, जिसमें शक्तियाँ तीन अंगों अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच विभाजित हों और हर अंग बाकी दो अंगों को नियंत्रित करे ताकि सभी अंग परस्पर संतुलित रहें। स्वतंत्रता के एक सिद्धान्त के रूप में गणराज्यवाद अधिकारों, व्यक्ति के अकारय अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करता है।

एक गणराज्यवादी और एक लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के बीच एक बुनियादी अंतर होता है। गणराज्य एक प्रातिनिधिक शासन है जिसमें कानूनों का, मिसाल के लिए संविधान का, शासन होता है दूसरी ओर एक लोकतंत्र (प्रत्यक्ष रूप से या प्रतिनिधियों के जरिये) बहुमत का और कुछ लोगों की राय में भीड़ का शासन होता है। एक गणराज्यवादी व्यक्ति के अकाट्य अधिकारों को मान्यता देता है जबकि लोकतंत्रों का सरोकार सिर्फ इससे होता है कि जनता के लिए, मिसाल के लिए उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए या लोक-कल्याण के लिए, क्या किया जा सकता है। एक गणराज्यवादी शासन वह है जिसमें सत्ता जनता द्वारा सार्वजनिक अधिकारियों के निर्वाचन से व्युत्पन्न होती है, और ये व्यक्ति जनता के सर्वोत्तम प्रतिनिधि होते हैं। एक लोकतंत्र जनता का शासन होता है और इसलिए उसमें सत्ता जन-सभा से व्युत्पन्न होती है। गणराज्यवादी शासन में कानून संबंधी दृष्टिकोण सुनिश्चित सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार न्याय के प्रशासन का दृष्टिकोण होता है। लोकतंत्रों में कानून के प्रति यह दृष्टिकोण होता है कि बहुमत की इच्छा का वर्चस्व हो। गणराज्यवाद स्वाधीनता, बुद्धि और न्याय जैसे जीवन मूल्यों को जन्म देता है जबकि लोकतंत्र राग-द्वेष, पूर्वाग्रह और असंतोष पैदा करता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) राजतंत्र और गणराज्यवाद में अंतर कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) गणराज्यवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि गणराज्यवादी शासन प्रणाली लोकतंत्र का एक रूप है? (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....

....

....

....

....

4) गणराज्यवाद से लोकतंत्र की तुलना करें। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

19.4 गणराज्यवाद की शक्तियाँ और कमज़ोरियाँ

गणराज्यवाद एक 'मानक' शासन प्रणाली है जो पूरी दुनिया में पाई जाती है। लोकतांत्रिक प्रणालियों को अपनाने वाले समाजों ने मज़बूरी से अधिक अपनी इच्छा से गणराज्यवाद को अपनाया है। कारण यह है कि गणराज्यवाद अनेक समाजों को लफ्फाजी से तथा निरंकुशता या भीड़तंत्र (माबोक्रेसी) की खतरनाक अतियों से बचने में सहायता देता है। अमेरिकी संविधान के निर्माता गणराज्यवादी शासन प्रणाली की शक्तियों से अच्छी तरह परिचित थे। अमेरिकी संविधान की धारा 4 का खंड 4 स्पष्ट रूप से 'इस संघ के प्रत्येक राज्य के लिए एक गणराज्यवादी शासन प्रणाली की ज़मानत देता है।'

19.4.1 गणराज्यवाद के गुण

गणराज्यवाद के गुण बहुत महत्वपूर्ण हैं। हालांकि यह बहुमत का शासन होता है, पर यह बहुमत अपने आप में सीमित होता है। गणराज्यवाद का प्रमुख उद्देश्य सख्ती से बहुमत को नियंत्रित करके उसे पहले से स्थापित नियमों, पहले से बने संविधान की सीमाओं में रखना है। गणराज्यवाद निर्वाचित सदस्यों का शासन है और उस सीमा तक लोकतांत्रिक होता है, पर ये निर्वाचित प्रतिनिधि वे हैं जो अपने निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व करने योग्य हैं, जो एक विशेष अवधि के लिए निर्वाचित होते हैं तथा जो निर्वाचकों के प्रति जवाबदेह और संवेदनशील, दोनों होते हैं।

गणराज्यवादी शासन एक लोकतांत्रिक शासन से अधिक भी कुछ होता है। लोकतांत्रिक शासन बहुमत का शासन होता है। इसके विपरीत गणराज्य ऐसा शासन होता है जो बहुमत का शासन तो होता है पर यह बहुमत नियमों के अनुसार शासन करता है। इसलिए गणराज्यवाद निरंकुश शासन के, बहुमत की निरंकुशता के, उसके निरपेक्ष वर्चस्व के खिलाफ ज़मानत देता है। यह जनसमूह के शासन के खिलाफ भी सुरक्षा प्रदान करता है जो बहुमत के माध्यम से सक्रिय होते हुए राग-द्वेष और पूर्वाग्रहों से संचालित हो सकता है। इसलिए अमेरिकियों ने 1798 में ही स्पष्ट कर दिया था कि वे एक लोकतंत्र की नहीं, एक गणराज्य की स्थापना कर रहे हैं।

गणराज्यवादी शासन सीमित होता हैः ऊर्ध्व दिशा में इस तरह सीमित शक्तियाँ केन्द्र तथा क्षेत्रीय स्थानीय इकाइयों के बीच विभाजित होती हैं, और क्षैतिज़ दिशा में इस तरह सीमित शक्तियाँ शासन के तीनों अंगों के बीच विभाजित होती हैं। इस तरह यह शक्तियों के अलगाव के सिद्धान्त तथा प्रतिबंधों और संतुलन के सिद्धांत, दोनों के आधार पर काम करता है। गणराज्यवादी शासन के पीछे कार्यरत विचार यह है कि शासन का हर अंग निरंकुश और निरपेक्ष हुए बिना काम करता है।

गणराज्यवादी शासन केवल एक शासन का सिद्धांत नहीं, स्वतंत्रता का एक सिद्धान्त भी प्रस्तुत करता है। यह हर व्यक्ति के लिए उसके अधिकार सुनिश्चित करता है क्योंकि यह उन अधिकारों का हनन से सुरक्षित रखने की व्यवस्था करता है। गणराज्यवादी शासन में व्यक्ति और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की कारगर सुरक्षा की जाती है।

19.4.2 गणराज्यवाद की कमज़ोरियाँ

गणराज्यवाद की सीमाएँ भी कुछ कम नहीं है। गणराज्यवादी शासन में लोकतांत्रिक बनने की प्रवृत्ति होती है। चरित्र में प्रातिनिधिक होने के कारण गणराज्यवादी और लोकतांत्रिक, दोनों प्रणालियाँ राजनीतिक दलों की एक व्यवस्था के जरिये काम करती हैं। एक दलीय व्यवस्था की संस्कृति न तो गणराज्य की संस्कृति है और न लोकतंत्र की। प्रकृति से राजनीतिक दल सख्त अनुशासन वाले संगठन होते हैं और लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं, पर प्रायः अलोकतांत्रिक होते हैं। राजनीतिक दलों की एक व्यवस्था के माध्यम से कार्यरत एक गणराज्यवादी शासन बहुमत से संपन्न एक दल का शासन बन जाता है। अमेरिका समेत सभी गणराज्यवादी प्रणालियाँ दलीय व्यवस्था के माध्यम से और उसके ढाँचे में काम करती हैं। राजनीतिक दल गणराज्यों समेत सरकारों को प्रभावित नहीं करते, यह मानना कठिन है। लोकतांत्रिक प्रणाली की तरह गणराज्यवादी प्रणाली

MAADHYAM IAS

नियमों नहीं बल्कि दलों से संचालित होती है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि उन राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि बन जाते हैं जिनसे वे जुड़े होते हैं। व्यवहार में वे अपने निर्वाचकों को नहीं, अपने राजनीतिक दलों के प्रति जवाबदेह होते हैं।

गणराज्यवाद एक अस्पष्ट शब्द बन गया है। एक विशेष प्रकार की राजनीतिक प्रणाली से नहीं बल्कि अनेक प्रणालियों से इसका संबंध हो सकता है। इनमें एक ओर एक सीमित राजतंत्र वाली संसदीय प्रणाली है तो दूसरी ओर एक सीमित सरकार वाली राष्ट्रपतीय प्रणाली शामिल हैं। कुछ लेखकों ने तो गणराज्यवाद को मूलगामी लोकतंत्र का पर्याय कहा है।

कहा जाता है कि गणराज्यवाद ने शासन के एक सिद्धान्त के अलावा स्वतंत्रता का एक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया है। इसका स्वतंत्रता का सिद्धान्त सचमुच मतिभ्रम पैदा करने वाला है क्योंकि यह कभी तो स्वतंत्रता के एक सकारात्मक सिद्धान्त की और कभी एक नकारात्मक सिद्धान्त की पैरवी करता है।

गणराज्यवाद एक बड़ी सीमा तक सिद्धान्त में अस्पष्ट है और इसके राजनीतिक प्रस्ताव अनिश्चित हैं।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) गणराज्यवाद के गुणों का संक्षेप में वर्णन करें। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) आपकी राय में गणराज्यवाद की क्या-क्या कमज़ोरियाँ हैं? (उत्तर पाँच पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

19.5 गणराज्यवादी प्रवृत्तियाँ

आज गणराज्यवाद एक अद्वितीय गतिशील धारणा है। यह अपने शास्त्रीय रूप से अलग है। शास्त्रीय गणराज्यवाद का संबंध शासन के सिद्धान्त से था जबकि आधुनिक गणराज्यवाद ने इसमें स्वतंत्रता का एक सिद्धान्त भी जोड़ा है। आज की प्रवृत्ति यह है कि इसमें कुछ और अर्थात् एक नागरिकता का सिद्धान्त भी जोड़ा जाए। गणराज्यवाद ऐसी नागरिकता का प्रस्ताव करना चाहता है जो केवल उनके अधिकारों से नहीं, उनके कर्तव्यों से भी, अपने राज्य के प्रति उनके दायित्वों से भी जुड़ी हुई हो।

गणराज्यवाद अब स्थानीय स्तर से आगे बढ़कर राष्ट्रीय और भूमंडलीय स्तर पर कार्यरत है। आज यह क्षेत्रीय स्तर तक सीमित नहीं है; राष्ट्रीय सरकारें भी तेज़ी से गणराज्यवादी प्रणाली को अपना रही है। आशा है जल्द ही पूरी दुनिया गणराज्यवाद को अपनाएगी।

गणराज्यवाद अपने नैतिक सरोकार भी दिखा रहा है। उस सीमा तक यह जन-भावना, सम्मान और देशभक्ति जैसे नागरिक गुणों में व्यक्त हो रहा है। इसका आकर्षण यह है कि यह व्यक्तिवादी उदारवाद का विकल्प प्रस्तुत करता है। यह इसलिए लुभाता है क्योंकि यह एक प्रकार के नागरिक मानववाद का प्रतिपादन करता है और वैयक्तिक उपलब्धि के स्रोत के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र की पुनर्प्रतिष्ठा करता है।

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) गणराज्यवाद की उभरती प्रवृत्तियों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों तक सीमित रखें।)

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

19.6 साराश

गणराज्यवाद उस सीमा तक एक शासन का सिद्धान्त है जहाँ तक यह एक प्रातिनिधिक, उत्तरदायी और संवेदनशील शासन की स्थापना का प्रयास करता है। वहाँ तक यह स्वतंत्रता का एक सिद्धान्त है जहाँ तक यह जनता के अधिकारों व स्वाधीनताओं का प्रावधान करता और उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करता है। वहाँ तक यह नागरिकता का सिद्धान्त है जहाँ तक यह एक विशेष प्रकार की नागरिकता के लिए कार्यरत है जो सक्रिय सार्वजनिक जीवन से तथा राष्ट्र के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहने की देशभक्तिपूर्ण भावना से जुड़ी होती है। संक्षेप में, गणराज्यवादी एक ओर सार्वजनिक और लोकप्रिय शासन पर तथा दूसरी ओर प्रशासन चलाने के लिए सुस्थापित

नियमों पर जोर देते हैं। यह एक लोकतांत्रिक शासन से आगे भी बहुत कुछ है क्योंकि यह बहुमत नहीं, नियमों के आधार पर काम करता है। इस तरह यह ऐसे बहुमत का शासन है जिसकी शक्तियाँ सीमाबद्ध होती हैं और जो शक्तियों का व्यवहार भी सीमाओं के अंदर करता है।

19.7 शब्दावली

अकाट्य अधिकार : ऐसे महत्वपूर्ण और पवित्र अधिकार जो आपातकालीन अवस्था को छोड़कर किसी भी परिस्थिति में छीने न जा सकें।

अधिकार विधेयक : 1688 की क्रांति के बाद 1689 में इंग्लैण्ड के राजा/रानी द्वारा हस्ताक्षरित एक चार्टर जो यह व्यवस्था करता था कि इसके बाद राजा संसद की सलाह के अनुसार काम करेगा।

कुलीन तंत्र : ऐसी सरकार या राज्य जिस पर एक विशेषाधिकारों से संपन्न वर्ग का शासन हो; थोड़े से श्रेष्ठ माने जाने वाले लोगों से बनी और शासित सरकार।

क्रांति : किसी समाज में शासन के स्वरूप या जनता के जीवन में किसी परिवर्तन को क्रांति कहते हैं।

गणराज्य : ऐसा राज्य जिसमें सर्वोच्च सत्ता मताधिकार से संपन्न नागरिक समुदाय में निहित हो और उसका व्यवहार नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता हो; ऐसा राज्य जिसका प्रमुख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो।

तानाशाही : ऐसा राज्य जिसमें सभी शक्तियाँ एक तानाशाह के हाथों में हो और जो जनता के आगे जवाबदेह न हो।

धर्म-आधारित राज्य : शासन की ऐसी प्रणाली या रूप जिसमें राजनीति पर धर्म का वर्चस्व हो; इसमें सरकार पर तत्ववादियों का नियंत्रण होता है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य : शासन की ऐसी प्रणाली या रूप जिसमें धर्म और राजनीति एक दूसरे से अलग हों; इसमें राजनीति में धर्म की भूमिका नहीं होती।

निरपेक्ष शासन : शासन की संपूर्ण और असीमित शक्तियों का व्यवहार।

निरंकुश शासन : ऐसी सरकार जिसमें शासकगण नियम-कायदों की परवाह किए बिना मनमाने ढंग से शासन करते हों।

भीड़तंत्र : अशिक्षित जनता का, भीड़ का, जनसमूह का शासन।

मानववाद : चिंतन या कर्म की ऐसी प्रणाली जिसमें मानवीय हितों, जीवन मूल्यों, गरिमा आदि को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

मैग्ना कार्टा : इंग्लैण्ड में स्वाधीनताओं का ऐसा महान घोषणापत्र जिसे अंग्रेज बैरनों ने 1215 में सम्राट जान से बलपूर्वक प्राप्त किया।

राजतंत्र : ऐसा राज्य या सरकार जिसमें सर्वोच्च सत्ता वास्तव में या कहने भर के लिए एक पुश्तैनी राजा में निहित हो।

राष्ट्रपतीय प्रणाली : ऐसी शासन प्रणाली जिसमें कार्यपालिका विधायिका में से नहीं चुनी

MAADHYAM IAS

जाती और उसके आगे जवाबदेह नहीं होती। शासन के ये दोनों अंग एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

लोकतंत्र : जनता **का,** जनता **के द्वारा**, और जनता **के लिए** शासन।

शासन व्यवस्था : ऐसी शासन प्रणाली जिसमें जनता स्वयं के लिए शासन करती है। अरस्तू ने इसे लोकतंत्र का शुद्ध रूप माना था।

सर्वाधिकारवाद : ऐसी सरकार या राज्य जिसमें हर काम शासक वर्ग करता है। प्रायः ऐसी प्रणाली एकाधिकारवादी शासन को जन्म देती है।

संघ : यह केन्द्र की दिशा में या विपरीत दिशा में गठित एक राजनीतिक इकाई है। इसमें एक ओर संघीय या केन्द्रीय सरकार होती है जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होती है और दूसरी ओर संघ बनाने वाली इकाइयों की अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली सरकारें होती हैं।

संसदीय प्रणाली : ऐसी शासन प्रणाली जिसमें कार्यपालिका और विधायिका का आपस में घनिष्ठ संबंध होता है। इसमें कार्यपालिका विधायिका में से ही आती है और उसके प्रति जवाबदेह होती है।

स्वतंत्रता : बंधन की अपेक्षा स्वाधीनता की दशा; बाह्य नियंत्रण से मुक्ति; अपने ढंग से अपने कार्यों का निश्चय करने की शक्ति।

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ओल्डफील्ड, ए (1990) : *सिटिजनशिप एंड कम्युनिटी : सिविक रिपब्लिकनिज्म एंड द माडर्न वर्ल्ड*, लंदन व न्यूयार्कः रुटलेज

पेटिट, पी. (1977) : *रिपब्लिकनिज्मः ए थ्योरी ऑफ फ्रीडम एंड गवर्नमेंट*, आक्सफर्डः आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

लर्नर, आर. (1987): *द थिंकिंग रिवाल्यूशनरी : प्रिंसिपुल एंड प्रेक्टिस इन द न्यू रिपब्लिक*, इथाका,न्यूयार्क, कार्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस।

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 19.2.1 देखें।
2) उपभाग 19.2.2 देखें।
3) उपभाग 19.2.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 19.3.1 देखें।
2) उपभाग 19.3.2 देखें।
3) उपभाग 19.3.3 देखें।
4) उपभाग 19.3.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 19.4.1 देखें।
2) उपभाग 19.4.2 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 19.5 देखें।

MAADHYAM IAS

इकाई 20 राजनीतिक दलीय व्यवस्थाएँ

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 दलीय व्यवस्था की उत्पत्ति
 20.2.1 मानव प्रकृति सिद्धान्त
 20.2.2 परिवेश सम्बन्धी स्पष्टीकरण
 20.2.3 हित सिद्धान्त
20.3 अर्थ और प्रकृति
20.4 राजनीतिक दलों के कार्य
20.5 दलीय व्यवस्थाओं के प्रमुख प्रकार
 20.5.1 एक-दलीय व्यवस्था
 20.5.2 दो-दलीय व्यवस्था
 20.5.3 बहु-दलीय व्यवस्था
 20.5.4 दो-दलीय बनाम बहु-दलीय व्यवस्थाएँ
20.6 दलीय व्यवस्था की आलोचना
20.7 क्या दल-रहित लोकतन्त्र सम्भव है?
20.8 सारांश
20.9 शब्दावली
20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप :

- दलीय व्यवस्थाओं की उत्पत्ति का पुनः स्मरण कर सकेंगे;
- राजनीतिक दलों के अर्थ एवं प्रकृति का वर्णन कर सकेंगे;
- राजनीतिक दलों के कार्यों की व्याख्या कर सकेंगे;
- विभिन्न प्रकार की दलीय प्रणालियों का उल्लेख कर सकेंगे;
- विभिन्न प्रकार की दलीय प्रणालियों के गुण-दोष का मूल्यांकन कर सकेंगे; तथा
- लोकतन्त्र में दलीय प्रणाली की कमियों और उसकी अनिवार्यता का वर्णन कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

राजनीतिशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ, दोनों ही लोकतान्त्रिक राजव्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका के महत्व से भली-भान्ति परिचित हैं। जैसा कि फ़ाईनर का कहना है, "लोकतन्त्र की आशाएँ तथा शंकाएँ दलीय प्रणाली पर ही आधारित हैं।" वास्तव में, लोकतन्त्र विभिन्न परस्पर विरोधी विचारों को स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त करने का पूरा अवसर प्रदान करता है, जिसे "बहुल-विचारों का परस्पर विरोध" भी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में, राजनीतिक दल विचारों की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन होते हैं। अतः दल-व्यवस्था लोकतन्त्र की अनिवार्यता है। दलों के अभाव में, मतदाता न केवल भ्रमित रहेंगे वरन् छोटे-छोटे अणु जैसे टुकड़ों में विभक्त हो जायंगे। ऐसे में विभिन्न विचारों को क्रमिक रूप ही नहीं दिया जा सकेगा। इसलिए, दल-व्यवस्था आवश्यक है ताकि जनमत को स्पष्ट किया जा सकेगा और उस पर शासन का ध्यान केन्द्रित किया जा सके। राजनीतिक दल ही वे मुद्दे तैयार करते हैं जिन्हें जनता के समक्ष रखकर जनादेश प्राप्त किया जा

MAADHYAM IAS

सके। अतः, तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थियों के लिए यह बहुत उपयोगी और रोचक है कि वे दल-व्यवस्था की उत्पत्ति, अर्थ, प्रकार तथा गुण-अवगुणों का ज्ञान प्राप्त करें।

20.2 दलीय व्यवस्था की उत्पत्ति

राजनीति शास्त्रियों ने दल-व्यवस्था की उत्पत्ति की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इन्हें मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है, जिनपर आगे चर्चा की जा रही हैः

20.2.1 मानव प्रकृति सिद्धान्त

इस श्रेणी में दल-व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में तीन स्पष्टीकरण प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम, सर हेनरी मेन जैसे विद्वानों का विचार है कि दलों की उत्पत्ति का मूल कारण मानव की झगड़ालू (संघर्ष की) प्रकृति में निहित है। दूसरे शब्दों में, अपने कठोर परस्पर-विरोधी विचारों को संगठित अभिव्यक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से मनुष्य दल बनाते हैं।

मानव प्रकृति सिद्धान्त से संबंधित दूसरी श्रेणी के अनुसार लोगों की मानसिक प्रवृत्ति (temperament) राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न लोगों की अलग-अलग प्रवृत्तियाँ उन्हें अलग-अलग राजनीतिक दलों की स्थापना के लिए प्रेरित करती हैं। उदाहरण के लिए, जो लोग स्थापित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष में हैं उन्हें राजनीतिक विभाजन-रेखा के दक्षिण पंथी कहा जाता है। दूसरी ओर, जो लोग व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के पक्षधर होते हैं वे प्रायः वामपंथी कहलाते हैं। अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि जो लोग परिवर्तन के पक्ष में हैं वे स्वयं को एक दल के रूप में संगठित कर लेते हैं, और जो परिवर्तन-विरोधी हैं वे दूसरा दल बना लेते हैं।

दलों की उत्पत्ति से सम्बन्धित मानव प्रकृति का तीसरा स्पष्टीकरण यह है कि दलों की उत्पत्ति राजनीतिक नेताओं के चमत्कारी व्यक्तित्त्व के कारण भी हो सकती है। जनसाधारण को अपने विचारों को स्पष्टता एवं क्रमबद्धता प्रदान करने के लिए उचित नेतृत्त्व की आवश्यकता होती है। अतः दलों की उत्पत्ति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि ऐसा नेतृत्त्व उपलब्ध हो जोकि प्रभावी और गतिशील हो तथा जो जनसाधारण को लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में सक्रिय रहने के लिए प्रेरित कर सके।

20.2.2 परिवेश सम्बन्धी स्पष्टीकरण

उपरोक्त विचारों के अतिरिक्त, इस सम्बन्ध में काफ़ी तथ्य उपलब्ध हैं कि पार्टी व्यवस्था के विकास में सामाजिक-आर्थिक परिवेश की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए आधुनिक लोकतान्त्रिक दल-व्यवस्था कम से कम दो महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का परिणाम है। ये हैं: (क) निरंकुश राजतन्त्र में राजाओं की शक्तियों को सीमित किया जाना; तथा (ख) मतदान के अधिकार को व्यापक और सार्वभौमिक रूप देकर समस्त वयस्क जनता को प्रदान करना। अतः, यह स्वाभाविक है कि दलों की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि में, राजा की शक्ति को सीमित करने के लिए विधायिका द्वारा किया गया संघर्ष, तथा मतदान के आधार को विस्तृत बनाने के प्रयास शामिल हैं। वर्ष 1680 तक ब्रिटिश राजनीति, राजा और संसद दोनों के ध्यानाकर्षण का केन्द्र बन चुकी थी। तब राजतन्त्र की असीमित शक्तियों का विरोध करने वालों को व्हिग (Whig), तथा राजतन्त्र के समर्थकों को टोरी (Tory) कहा गया। यही आगे चलकर क्रमशः उदार, या लिबरल पार्टी तथा अनुदार अर्थात् कन्ज़र्वेटिव पार्टी बन गए।

MAADHYAM IAS

20.2.3 हित सिद्धान्त

ऐसा विश्वास किया जाता है कि ऊपर वर्णित सभी स्पष्टीकरण आंशिक रूप से सत्य हैं, फिर भी किसी एक को पूरी तरह सही नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए मानव की झगड़ालू, या संघर्ष की, प्रकृति मानव व्यवहार का एक पक्ष मात्र है। उसी प्रकार, किसी राजनीतिक नेता की

राजनीतिक प्रवृत्ति तथा उसकी गतिशीलता का कोई निश्चित कारक नहीं हो सकता है। इन स्पष्टीकरणों की कमियों के कारण दलों की उत्पत्ति के 'हित सिद्धान्त' का प्रवर्तन किया गया है। इस सिद्धान्त को बड़े पैमाने पर स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त का आधार यह मान्यता है कि राजनीतिक दलों की स्थापना विभिन्न हितों के लिए होती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल, व्यक्तियों तथा समूहों के हितों की अभिव्यक्ति की सशक्त एजेंसियाँ हैं। किसी व्यक्ति की राजनीतिक गतिविधियाँ जिन हितों से प्रेरित होती हैं वे उन हितों की प्रकृति और विस्तार पर बहुत कुछ निर्भर करता है। हितों का विकास मानव के सांस्कृतिक परिवेश पर भी निर्भर करता है। किसी व्यक्ति-विशेष का जन्म, उसकी शिक्षा तथा अनुभव उसके हितों का निर्धारण करते हैं; और फिर यही उसके दल-सम्बन्धों का निर्धारण भी करते हैं।

'हित-सिद्धान्त' आर्थिक हितों के महत्व को मान्यता देता है, जिनके द्वारा व्यक्ति का वह निर्णय प्रभावित होता है जिसके अनुसार वह किसी दल-विशेष या दलों के संगठन का सदस्य बनता है। फिर भी यह सिद्धान्त मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष सम्बन्धी विचारों को स्वीकार नहीं करता। यह सिद्धान्त सामाजिक वर्गों के प्रति समर्पण पर आधारित है। वास्तव में समस्त सामाजिक व्यवस्था को धनवानों (haves) और धनहीनों (have nots) में विभाजित कर देना एक गम्भीर परिवेश को आवश्यकता से अधिक सरल बना देता है। इसलिए सार रूप में यह तर्क दिया जा सकता है कि सामान्यतया मानव

उद्देश्यों की प्राप्ति की आशा होती है।

20.3 अर्थ और प्रकृति

राजनीतिक दल ऐसे लोगों का समूह होता है जो अपने सदस्यों को विधायिका तथा सार्वजनिक पदों पर निर्वाचित करवाने का प्रयास करते हैं। व्यक्तियों के ये समूह औपचारिक रूप से संगठित होते हैं, और उनकी अपनी (दल के नाम की) पहचान होती है। यह परिभाषा पर्याप्त रूप से व्यापक है। यह अमेरिका की जानी-मानी पार्टियों, (डेमोक्रेटिक तथा रिपब्लिकन) या इंगलैण्ड की लेबर तथा कन्ज़र्वेटिव पार्टियों की ही परिभाषा नहीं है। यह सभी उन संगठनों की परिभाषा भी है जो छोटे होते हैं तथा चुनावों में अधिक स्थान भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यह दल चुनावों के लिए उम्मीदवारों को कार्यकर्त्ता उपलब्ध करवाते हैं, तथा उनके लिए धन की आपूर्ति भी करते हैं। यह परिभाषा इस बात का संकेत है कि पार्टियाँ तीन राजनीतिक रंगभूमियों में पाई जाती हैं। ये इस प्रकार हैं: कोई भी दल लोगों के दिमाग़ों के एक लेबल (label) के रूप में पाया जाता है; एक ऐसा संगठन जो कि सदस्यों को स्वयं में शामिल करता है तथा उम्मीदवारों के लिए अभियान चलाता है; तथा नेताओं का ऐसा समूह जो सरकार की विधायी एवं कार्यपालिका अंगों को संगठित और नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं।

'राजनीतिक दल' के ऊपर बताए गए अर्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पार्टियों तथा अन्य छोटे और अस्थायी संगठनों में क्या अंतर है। इसी प्रकार, दलों तथा दबाव समूहों का तथा गुटों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए, खाद्यान्न मूल्य समिति (Food Price committee) अथवा अकाल प्रतिरोध समिति (Femine Resistance Committee) जैसे अस्थायी राजनीतिक संगठनों की स्थापना किसी विशेष अस्थायी मुद्दे का समर्थन या विरोध करने के लिए स्थापित की जाती है। दूसरी ओर, राजनीतिक दलों में काफ़ी हद तक स्थायित्व होता है। दूसरे, केवल राजनीतिक दल ऐसे संगठित समूह हैं जिनके द्वार (कम से कम सैद्धान्तिक रूप से) सभी के लिए खुले होते हैं, तथा जिनके हित संकीर्ण नहीं होते। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पार्टियों का उद्देश्य किसी एक विशेष समस्या पर केन्द्रित न होकर सरकार की समस्याओं को सुलझाने से सम्बद्ध होता है। उनके द्वार सब के लिए खुले होते हैं, और वे समाज के अधिक से अधिक सदस्यों एवं वर्गों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक दल, हित और दबाव समूहों से भिन्न होते हैं क्योंकि उनका (हित और दबाव समूहों का) उद्देश्य तो केवल अपने सदस्यों के हितों की अभि वृद्धि तक सीमित होता है।

MAADHYAM IAS

तीसरे, पार्टियों के स्पष्ट और सुनिश्चित उद्देश्य होने चाहिए। दलों के उद्देश्य प्रायः तात्कालिक और

अंतिम लक्ष्यों, दोनों का समन्वय होता है। दलों के कार्यक्रमों में कानून और सरकार के विषय में उनके विचार, तथा भविष्य के राजनीतिक रूप के बारे में उनके विचार शामिल होते हैं। प्रत्येक दल अपने राजनीतिक विचारों का प्रचार करता है।

चौथे, दलों के कार्यक्रमों में उन सम्भावित भौतिक उपलब्धियों की भी व्यवस्था होती है जो सत्ता प्राप्त करने पर उन्हें मिल सकती हैं। वास्तव में, जैसा कि हम भारत में देखते हैं, अधिकांश दल किसी न किसी प्रकार सत्तारूढ़ होना चाहते हैं, चाहे वे प्रचार के लिए यही कहते हैं कि वे सम्प्रदायवाद जैसे दोषों के विरोध पर आधारित विचारधारा के माध्यम से सत्ता में आना चाहते हैं। इस अर्थ में भी राजनीतिक पार्टियाँ, दबाव अथवा हित समूहों से भिन्न होती हैं, क्योंकि हित और दबाव समूहों के तो कोई निर्वाचन क्षेत्र नहीं होते जिनका विश्वास प्राप्त करके वे सरकार बनाने के लिए एक-दूसरे का मुक़ाबला करें। इस प्रकार राजनीतिक दल, सामूहिक हितों का समन्वय होता है जोकि सामान्य राजनीतिक नीतियाँ लागू करवाना चाहते हैं। उधर, दबाव समूह तो दलों का समर्थन करने वाली सजीव 'जनता' होती है।

राजनीतिक दलों से भिन्न तथा हित एवं दबाव समूहों की भान्ति 'गुटों' को भी किसी राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित नहीं किया जाता। साथ ही, उनका कोई स्थायी संगठन भी नहीं होता। अतः,गुटों को लोगों का ऐसा समूह कह सकते हैं जो दलों के भीतर रहते हुए किसी संकीर्ण हित की अभिवृद्धि के लिए प्रयास करते हैं। वे सम्पूर्ण दल को सामूहिक हितों (उदाहरण के लिए चुनाव जीतने) के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं।

चुनावों के समय सामान्य हितों तथा राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने की सांविधानिक अपील की जाती है। अतः दल-व्यवस्था, मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि राजनीतिक दल, वर्ग-सीमाओं से ऊपर उठकर कार्य करते हैं। वे संकीर्ण गुट-हितों से भी ऊपर होते हैं। विचारधाराओं और कार्यक्रमों में अंतर होते हुए भी सभी दल सदैव प्रत्येक मुद्दे पर एक-दूसरे का विरोध नहीं करते हैं। अतः राजनीतिक दल, समाज के विविध वर्गों के संगठन होते हैं, जो न्यूनाधिक रूप से स्थायी और व्यवस्थित होते हैं। उनका उद्देश्य, संविधान के अनुकूल, उसकी सीमा में रहते हुए, अपने नेताओं का सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करना या बनाए रखना, तथा इस नियंत्रण के माध्यम से अपने सदस्यों को सभी प्रकार के लाभ प्राप्त करवाना होता है।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) दल-व्यवस्था की उत्पत्ति के मानव प्रकृति सिद्धान्त का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) 'राजनीतिक दलों' को परिभाषित कीजिए, तथा दलों और दबाव समूहों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

20.4 राजनीतिक दलों के कार्य

पार्टियाँ, राजनीतिक व्यवस्था के लिए जो कार्य करती हैं उनके माध्यम से वे लोकतान्त्रिक सरकार में योगदान करती हैं। इन कार्यों को मोटे तौर पर छह श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। **प्रथम**, राजनीतिक दल वर्गीय (sectional) हितों का समन्वय करते हैं, भौगोलिक विभिन्नताओं पर सेतुबंध का कार्य करते हैं, तथा समरूपता एवं एकता लाने का प्रयास करते हैं। अन्य शब्दों में, पार्टियों के माध्यम से विभिन्न हितों का समीकरण किया जाता है। इसके द्वारा समाज और राजनीति व्यवस्थित रहती है।

दूसरे, राजनीतिक दल चुनावों के लिए उम्मीदवारों का नामांकन करके लोकतान्त्रिक सरकार को योगदान देते हैं। दलों के अभाव में, मतदाताओं के समक्ष प्रतिबद्धता-विहीन अनेक उम्मीदवारों का समूह उपस्थित हो जायगा और तब प्रत्येक उम्मीदवार अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों और अपनी उपलब्धियों के आधार पर मत प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। यह भंयकर स्थिति हो सकती है। राजनीतिक दल विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में अपने उम्मीदवार खड़े कर इस ख़तरे को टाल सकते हैं। वे चुनाव जीतने के लिए अभियान चलाते हैं। यदि कोई प्रत्याशी गरीब हो तो राजनीतिक दल चुनाव लड़ने पर होने वाले खर्च का वहन भी करते हैं।

तीसरे, राजनीतिक दल चुनाव के लिए उम्मीदवारों की संख्या को कम रखकर, उनकी विजय की सम्भावना को अधिक व्यावहारिक बनाकर एक अन्य प्रकार से भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सहयोग देते हैं। जिन दलों को पिछले चुनावों में अधिक मत मिले होंगे, वे यह अपेक्षा कर सकते हैं कि अगली बार भी अच्छी संख्या में मत प्राप्त कर जीत सकेंगे। इससे निर्दलीय तथा अन्य ग़ैर-गम्भीर उम्मीदवारों को हतोत्साहित किया जा सकता है। इस प्रकार, चुनावों का केन्द्र सुसंगठित राजनीतिक दलों और उनके उम्मीदवारों तक सीमित हो जाता है। परिणामस्वरूप मतदाताओं के समक्ष चयन करने के लिए व्यावहारिक परिस्थिति होती है और वे तार्किक एवं विवेकपूर्ण निर्णय कर सकते हैं।

चौथे, राजनीतिक दल अपने चुनाव घोषणा-पत्रों के माध्यम से विभिन्न वैकल्पिक कार्यक्रम प्रस्तुत करके मतदाताओं द्वारा प्रतिनिधियों को चुनने का कार्य सरल कर देते हैं। किसी भी चुनाव अभियान में प्रत्येक उम्मीदवार द्वारा पेश किए गए कार्यक्रमों में थोड़ी-बहुत भिन्नता तो होती ही है। विभिन्न चुनावों में भी ऐसा ही होता है, क्योंकि प्रत्येक निर्वाचन के समय परिस्थितियाँ और मुद्दे अलग हो सकते हैं। फिर भी, सामान्यतया विभिन्न दलों के उम्मीदवारों द्वारा उठाए गए नीतिगत प्रश्न एवं मुद्दे अन्य पार्टियों के उम्मीदवारों से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के दोनों प्रमुख दलों — डेमोक्रेटिक तथा रिपब्लिकन पार्टियों — के न तो नाम किन्हीं अलग विचारधाराओं की ओर संकेत करते हैं, और न ही वास्तव में उनकी नीतियों में मूलभूत भेद हैं। फिर भी वे दोनों दल, प्रत्येक चुनाव में निरंतर एक-दूसरे से भिन्न कार्यक्रम और मुद्दे पेश करके अधिकाधिक मत प्राप्त करने के प्रयास करते हैं।

इनके अतिरिक्त, पार्टियाँ सार्वजनिक अधिकारियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने में भी सहयोग देती हैं। अमेरिका की सरकार, जो कि शक्तियों के पृथक्करण पर आधारित है, सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में उत्तरदायित्वों का विभाजन करती है। वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति तथा प्रतिनिधि सदन और सीनेट के नेतागण सदा एक-दूसरे से सहयोग करें। शक्ति-पृथक्करण द्वारा बन गई खाई को भरने, समन्वित नीतियाँ तैयार करवाने और देश के शासन को अधिक प्रभावी बनाने के कार्य केवल राजनीतिक दलों के सक्रिय योगदान के द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं। व्यक्तिगत तौर पर, राष्ट्रपति जिस दल का नेता होता है, कांग्रेस के दोनों सदनों में उस दल के नेताओं के साथ उसके सहयोग की सम्भावना अधिक होती है। उधर, इंगलैण्ड एवं भारत जैसे संसदीय लोकतन्त्र व्यवस्था वाले देशों में मन्त्रिपरिषद्, अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका की स्थापना, उसका गठन एवं स्थायित्व इस बात पर निर्भर करता है कि संसद में उसे बहुमत का समर्थन मिलता रहे। सरकार को निर्बाध समर्थन प्रदान करते रहने के लिए सम्बद्ध राजनीतिक दल अपने सांसदों को अनुशासन में रखकर मन्त्रिमंडल को स्थायी और प्रभावी बनाए रखते हैं। वस्तुतः राजनीतिक दलों की भूमिका इतनी अधिक प्रभावी हो गई है कि लोकतन्त्र में प्रायः उन्हें (बहुमत को) सरकार

MADHYAM IAS

का पर्याय मान लिया जाता है, क्योंकि विधायिका की अधिकांश शक्तियों को राजनीतिक दलों ने अपने प्रभाव में ले लिया है।

हालांकि लोकतान्त्रिक चुनावों में विजय प्राप्त करना और अधिक से अधिक सीटों पर क़ब्ज़ा करना प्रत्येक राजनीतिक दल का मूल उद्देश्य होता है, किंतु फिर भी चुनाव में पराजय का अर्थ कभी यह नहीं होता कि पराजित दल समाप्त ही हो गया। ऐसी स्थिति में, अल्पसंख्या में स्थान प्राप्त करने वाला दल, शासन-तन्त्र के दोष उजागर करके सरकार की नीतियों की चौकसी करने का महत्वपूर्ण कार्य करता रहता है। इस प्रकार, सत्ता में या विपक्ष में बने रहकर राजनीतिक दल लोकतन्त्र में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक ओर वे लोकतान्त्रिक मूल्यों और प्रतिमानों को सशक्त बनाए रखते हैं; तो दूसरी ओर वे सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए समाज में जागृति लाने और उसे सक्रिय रूप देने का कार्य भी करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल, राजनीतिक तथा आर्थिक-सामाजिक विकास दोनों को ही दिशा और गति प्रदान करते हैं।

20.5 दलीय व्यवस्थाओं के प्रमुख प्रकार

लोकतन्त्र में विभिन्न राजनीतिक दल विविध प्रकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए, प्रायः लोकतन्त्र में अनेक राजनीतिक दल होते हैं। किन्तु व्यवहार में, प्रत्येक देश की अपनी व्यवस्था और परिस्थितियों के अनुसार दलों की संख्या कम या अधिक होती है। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में दो-दलीय व्यवस्था पाई जाती है, जबकि भारत तथा फ्रांस सहित अनेक देशों में बहु-दलीय व्यवस्थाएँ हैं। दूसरी ओर, चीन जैसे साम्यवादी देशों अथवा अधिनायकवादी देशों में एक ही दल होता है। अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न दलीय प्रणालियों की समीक्षा की जाए।

20.5.1 एक-दलीय व्यवस्था

एक-दलीय व्यवस्था का आधार यह है कि किसी देश की जनता की संप्रभु इच्छा का निवास एक नेता तथा उससे सम्बद्ध अभिजन अथवा कुलीन (elite) वर्ग में होता है। यह अधिनायकवादी विचार सबसे पहले कुछ राजतन्त्रों में और फिर तानाशाही देशों में व्यक्त किया गया। परन्तु, हाल में कुछ लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएँ भी इस ओर आकर्षित हुई हैं। तानाशाह को सत्ता पर एकाधिकार चाहिए, ताकि कोई उसे चुनौती न दे सके, इसलिए वह (अपने दल के अतिरिक्त) सभी दलों को भंग कर देता है। यद्यपि इन व्यवस्थाओं में भी जनादेश के मुखौटे के रूप में चुनाव करवाए जाते हैं, परन्तु मतदाताओं के समक्ष कोई विकल्प नहीं होता। उन्हें एकमात्र उम्मीदवार के पक्ष में ही मतदान करना पड़ता है।

विभिन्न एक-दलीय व्यवस्थाओं की कुछ अपनी विशेषताएँ हो सकती हैं, परन्तु उन सभी की कुछ सामान्य विशेषताएँ होती हैं। ये हैं: (1) ऐसा दल, सरकारी दल होता है, क्योंकि इसका नेता वही व्यक्ति होता है जिसका देश पर तानाशाही शासन होता है, तथा जिसका सत्ता पर एकाधिकार होता है; (2) इस एकमात्र दल का सदस्य बने बिना कोई भी नागरिक किसी महत्वपूर्ण सरकारी पद पर नियुक्त नहीं हो सकता है; (3) यह दल लोगों में नेता की विचारधारा की मान्यता सुनिश्चित करता है, और इस कार्य के लिए जनता को "शिक्षित" (indoctrinate) किया जाता है; तथा (4) यह विशिष्ट वर्गीय (अभिजन) व्यक्तित्व का प्रतीक होता है। एक-दलीय व्यवस्था में पार्टी का कार्य प्रमुख राजनीतिक प्रश्नों पर मतदाताओं (जनता) की इच्छा को जानना नहीं होता। परन्तु, इसका कार्य लोगों में अनुशासन और आज्ञाकारिता सुनिश्चित करना होता है। इसका संगठन और कार्यविधि राजनीतिक न होकर सैनिक ही अधिक होती है।

MAADHYAM IAS

इसलिए यह स्पष्ट है कि एक-दलीय व्यवस्था निश्चित रूप से अधिनायकवादी सिद्ध होती है। सम्बद्ध राजनीतिक व्यवस्था के एकमात्र दल के रूप में इसकी सत्ता सार्वभौमिक होती है। सभी नीतियों का निर्धारण पार्टी के निर्देशों के अनुसार ही होता है। पार्टी का प्रत्येक आदेश ब्रह्म-वाक्य माना जाता है। पार्टी ही सभी कानूनों का स्रोत होती है, तथा मानवीय एवं सामाजिक जीवन का

कोई भी पक्ष इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अतः, इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि, एक-दलीय व्यवस्था में भाषण, अभिव्यक्ति, प्रेस एवं संघ बनाने की स्वतन्त्रता के अधिकारों का दमन कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप, समाज और राज्य के मध्य अंतर लगभग समाप्त हो जाता है, तथा समाज को राज्य पूरी तरह अपने अधीन कर लेता है। इस प्रकार के दल की स्थापना 1922 में मुसोलिनी के नेतृत्त्व में इटली में फ़ासी व्यवस्था के साथ हुई थी। मुसोलिनी ने अपनी फ़ासी पार्टी के अतिरिक्त अन्य सभी दलों को भंग कर दिया। जब 1933 में जर्मनी में हिटलर सत्ता में आया तो उसने भी अपनी नाज़ी पार्टी के अतिरिक्त सभी विरोधियों को समाप्त कर दिया। हिटलर ने 1934 में स्वयं अपनी पार्टी में से अनेक प्रमुख सदस्यों को निकाल दिया, या उन्हें गोली मरवाकर उनकी हत्या करवा दी क्योंकि वे दलीय हित के लिए कार्य नहीं कर रहे थे। इसी प्रकार, पूर्व सोवियत संघ में मात्र साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी) को कार्य करने की अनुमति थी, तथा 1936 और 1938 में उसमें से अनेक प्रमुख सदस्यों को निष्कासित कर दिया गया था।

एक और भी स्थिति है। उत्तर-औपनिवेशिक युग में, अनेक अफ्रीकी-एशियाई देशों में भी "जनता की इच्छा" पर आधारित एक-दलीय व्यवस्थाओं की स्थापना हुई थी। इनमें कुछ प्रमुख देश थेः घाना, केन्या अथवा कीनिया, तन्ज़ानिया, तुर्की, मौक्सिको इत्यादि। तुर्की में तो 1923 से लेकर **1946** तक जनवादी गणतन्त्रीय दल **(People's Republican Party)** ने लोकतन्त्र को नष्ट किए

यूनियन' (TANU) की स्थापना की थी, वह एक-दलीय लोकतन्त्र का एक अन्य अच्छा उदाहरण थी। तन्ज़ानिया में तानू (TANU) ही एकमात्र मान्यता-प्राप्त पार्टी थी किन्तु फिर भी तन्ज़ानिया के मतदाताओं को यह स्वतन्त्रता थी कि वे पार्टी (TANU) के किसी भी उम्मीदवार के पक्ष में वोट कर सकते थे, क्योंकि पार्टी प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में अपने एक से अधिक उम्मीदवार खड़े करती थी। केन्या **if, 1969** में सरकार ने एकमात्र विपक्षी दल 'केन्या अफ्रीकन पीपल्स यूनियन' **(Kenya African People's Union)** पर तो प्रतिबंध लगा दिया था, परन्तु इस पार्टी के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से चुनाव लड़ने का अधिकार दिया गया था।

इस प्रकार, एक-दलीय प्रणाली को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। (1) अधिनायकवादी (तानाशाही) एक-दलीय व्यवस्था; तथा (2) ग़ैर-अधिनायकवादी एक-दलीय व्यवस्था। परन्तु, समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि सभी एक-दलीय प्रणालियाँ तानाशाही प्रवृत्ति की होती हैं। एक दलीय प्रणाली अपनी ही प्रकार के दर्शन और जीवन-शैली की घोषणा करती हैं और समस्त समाज को उसी के अनुरूप कार्य करना होता है। जैसा कि बार्कर का कहना है, "एक-दलीय व्यवस्था की लोकतान्त्रिक आलोचना केवल उद्देश्यों की आलोचना नहीं, जीवन की समस्त प्रक्रिया की आलोचना है।" वास्तव में, सत्ता पर एक ही दल का एकाधिकार (monopoly) समस्त सभ्यता के लिए एक गम्भीर ख़तरा है।

20.5.2 दो-दलीय व्यवस्था

दो-दलीय (या द्विदलीय) व्यवस्था उसे कहते हैं जिसमें केवल दो प्रमुख राजनीतिक दल होते हैं और जिन्हें जन-समर्थन प्राप्त होता है, तथा जिनसे सत्ता संभालने की अपेक्षा की जाती है। इस व्यवस्था में भले ही कुछ अन्य छोटे दल भी हो सकते हैं, परन्तु उनकी भूमिका न होने के बराबर होती है। इस व्यवस्था में, किसी भी समय-विशेष पर, निर्वाचन के फलस्वरूप दोनों में से एक दल को बहुमत प्राप्त होता है, तथा वह सरकार का गठन करता है। दूसरा दल अल्पमत में होने के कारण विपक्ष की भूमिका निभाता है। इस व्यवस्था में छोटे दलों के होने के बावजूद, सत्ता पर दो प्रमुख दलों में से एक का ही अधिकार होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैण्ड दो-दलीय व्यवस्था के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। अमेरिका में ये दल हैं; डेमोक्रेटिक पार्टी तथा रिपब्लिकन पार्टी। इंगलैण्ड में सरकार का निर्माण लेबर पार्टी (श्रमिक दल) तथा कन्ज़र्वेटिव पार्टी (अनुदार दल) में से एक दल करता है।

हालांकि यह सही है कि इंगलैण्ड और अमेरिका की दो-दलीय व्यवस्थाओं में भी अंतर है। इंगलैण्ड के दोनों राजनीतिक दल भले ही प्रगतिशील हैं; और समय के अनुसार स्वयं को ढालते रहने वाले

MAADHYAM IAS

हैं किन्तु फिर भी इन दोनों दलों में स्पष्ट वैचारिक भिन्नता है। उधर, अमेरिका के दोनों दलों में कोई विशेष वैचारिक भेद नहीं है; उनके कार्यक्रमों में चुनाव को जीतने की दृष्टि से फेर-बदल होते रहते हैं। इन विभिन्नताओं को देखते हुए, दो-दलीय व्यवस्था की भी दो श्रेणियाँ हो सकती हैं — (1) अस्पष्ट (indistinct) दो-दलीय व्यवस्था (जैसी कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है) तथा (2) स्पष्ट (distinct) दो-दलीय व्यवस्था (जिसका उदाहरण इंगलैण्ड है)।

20.5.3 बहु-दलीय व्यवस्था

बहु-दलीय व्यवस्था में तीन या उससे भी अधिक प्रमुख राजनीतिक या स्पष्ट दल होते हैं, जिनमें सत्ता के लिए संघर्ष चलता है, परन्तु किसी भी एक दल को प्रायः पूर्ण (absolute) बहुमत नहीं मिल पाता। यह प्रणाली, स्थानीय विशिष्टताओं के साथ, भारत, फ्रांस, स्विट्ज़रलैण्ड, जर्मनी, इटली इत्यादि अनेक देशों में पाई जाती है।

सरकार के स्थायित्व की दृष्टि से बहु-दलीय व्यवस्था के दो वर्ग हो सकते हैं। (क) अस्थायित्व वाली बहु-दलीय प्रणाली (unstable multi-party system) तथा (ख) कार्यकारी बहु-दलीय प्रणाली (Working Two-Party System)। जैसा कि नाम से *8* स्पष्ट है, प्रथम वर्ग की व्यवस्था स्थायित्व प्रदान नहीं कर पाती है। भारत की वर्तमान स्थिति, जिसमें बार-बार त्रिशंकु लोक सभा (Hung Parliament) चुनी जा रही है, प्रथम वर्ग का अच्छा उदाहरण है। भारत **if** **1996-99** की अवधि में तीन प्रधानमन्त्रियों के नेतृत्त्व में चार सरकारों की स्थापना हुई। तीसरे और चौथे गणतंत्र की अवधि में फ्रांस में निरंतर सरकारें बनती और गिरती रहीं। इटली भी बहु-दलीय व्यवस्था का एक अन्य उदाहरण है जहाँ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से किसी भी एक दल को संसद में बहुमत नहीं मिला है।

दूसरी ओर, कार्यकारी (Working) बहु-दलीय व्यवस्था में भी अनेक दल होते हैं, परन्तु उनके गठबंधन प्रायः दो विकल्प प्रस्तुत करते हैं, इसमें सरकार को स्थायित्व भी प्राप्त होता है। भूतपूर्व जर्मनी में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सरकारी पार्टी बनने से पूर्व द्वि-दलीय प्रणाली में तीन पार्टियों में से दो पार्टी मिलकर हमेशा सरकार बनाती थी और सोशल डेमोक्रेट्स हमेशा विपक्ष में रहते थे। जर्मनी के दो गठबंधन काफ़ी स्थायी सरकारें दे सके हैं। इसी प्रकार नॉर्वे, स्वीडन, बेल्ज़ियम तथा इज़राइल में भी बहु-दलीय प्रणाली में अधिक अस्थिरता नहीं पाई जाती।

20.5.4 दो-दलीय बनाम बहु-दलीय व्यवस्थाएँ

लोकतन्त्र उतना ही सफलतापूर्वक बहु-दलीय प्रणाली में कार्य करता है जितनी द्वि-दलीय प्रणाली में। फिर भी प्रत्येक प्रणाली के कुछ गुण-अवगुण तो होते ही हैं। बहु-दलीय व्यवस्था के समर्थकों के तर्क है कि: (क) भारत जैसे बहुल समाज में जनमत की भिन्नताओं को अधिक भली-भान्ति केवल बहु-दलीय व्यवस्था में अभिव्यक्त किया जा सकता है; (ख) यह विविध हित समूहों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व और उनकी संतुष्टि करती है; (ग) इस व्यवस्था में, दो-दलीय व्यवस्था की अपेक्षा, मतदाताओं के समक्ष उम्मीदवारों तथा दलों के रूप में अधिक विकल्प होते हैं; (घ) इसमें बहुमत की मनमानी करने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है; तथा (च) यह व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक लचीली है क्योंकि इसमें समूहों का संगठन, उनका एकीकरण तथा पृथकीकरण समयानुसार अधिक आसानी से हो सकता है।

MAADHYAM IAS

सैद्धान्तिक रूप से भले ही बहु-दलीय व्यवस्था के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, फिर भी वास्तविकता कुछ और ही है। जैसा कि हमने स्वयं भारत में ही देखा, किसी भी दल को संसद में बहुमत न मिलने के कारण मिली-जुली (साझी) सरकारों का बार-बार गठन करना पड़ा। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, प्रधानमन्त्री से निर्देश लेने की अपेक्षा अपने दलीय नेताओं से दिशा-निर्देश माँगते हैं। यही नहीं, छोटी-छोटी बात पर छोटे (एक सदस्य वाले दल तक) दल, सरकार से समर्थन वापस ले लेने की धमकी देते रहते हैं। आश्चर्य नहीं कि, सरकार को शासन चलाने के लिए समय नहीं मिल पाता क्योंकि सहयोगी दलों को प्रसन्न रखना ही एक मुख्य कार्य बन जाता है। यह कार्य बहुधा राष्ट्रीय

हित की अनदेखी करके करना पड़ता है। साझी सरकार का नेतृत्त्व करने वाला बड़ा दल प्रायः इस बात के लिए विवश हो जाता है कि वह बहुमत जुटाने के लिए अपने कार्यक्रमों में परिवर्तन तथा अपनी नीतियों के साथ समझौता करे। इस तरह की सरकार की नीतियाँ विभिन्न दलों की नीतियों की खिचड़ी होती है, जिसके कारण मतदाताओं और सरकार के बीच खाई उत्पन्न हो जाती है।

इन सब प्रयासों के बावजूद, साझी (coalition) सरकारें बड़ी आसानी से गिर जाती हैं, क्योंकि इनमें शामिल विभिन्न दल कुछ न कुछ माँग करते ही रहते हैं, और छोटी-सी बात पर समर्थन वापस ले लेते हैं। भारत में 1997 में काँग्रेस (आई) के समर्थन वापस लेने पर पहले देवेगौडा सरकार और फिर गुजराल सरकार गिर गई। वाजपेयी सरकार को 1999 में अन्ना द्रमुक द्वारा समर्थन वापस ले लेने पर पराजय का मुँह देखना पड़ा। ऐसी परिस्थितियों में बार-बार चुनाव करवाना देश पर भीषण बोझ डालता है। ऐसा भी होता है कि बहु-दलीय व्यवस्था में संगठित विपक्ष का अभाव हो जाता है और यह अनुमान नहीं लगाया जा पाता कि सरकार गिरने के बाद कौन-कौन से दल मिलकर सरकार बनाएँगे। एक और दोष यह भी है कि मतदाताओं के लिए यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वे किसके पक्ष में मतदान करें। आम नागरिक पार्टियों की भीड़ से घबरा जाता है। अतः लास्की ने बहु-दलीय व्यवस्था को सरकार के लिए घातक (fatal) कहा था।

दूसरी ओर, दो-दलीय व्यवस्था के समर्थकों का तर्क है कि इसमें मतदाता परेशान नहीं होते, क्योंकि उनके समक्ष दो ही विकल्प होते हैं जिनमें से किसी एक के पक्ष में मत देकर वे स्थायी सरकार की स्थापना में सहयोग देते हैं। **दूसरे**, सत्तारूढ़ (बहुमत प्राप्त) दल को किसी की दया पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। इसलिए वह अपनी नीतियों को दृढ़तापूर्वक लागू कर सकता है। इससे सरकार प्रभावी होती है। **तीसरे**, चूँकि दोनों दल जानते हैं कि उन्हें अप्रतिबद्ध (non-committed) मतदाताओं के मत प्राप्त करने के प्रयास करने के लिए दूसरे दल के कुछ समर्थकों को भी अपनी ओर आकर्षित करना होता है इसलिए दोनों ही दल एक-दूसरे को अंकुश में रखते हैं, और दोनों में से कोई भी अतिवादी नहीं हो पाता। **चौथे**, लोकतन्त्र में जनमत का विशेष महत्व होता है, और दो ही दलों की उपस्थिति से सभी मुद्दों पर विवाद और विचार-विमर्श के लिए आदर्श स्थिति उपलब्ध होती है। जैसा कि लास्की का विचार है लोकतन्त्र की सफलता के लिए "दो बड़े दलों के परस्पर-विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति से राजनीतिक व्यवस्था अधिक सक्षम होती है।"

परन्तु, दो-दलीय व्यवस्था को स्थायित्व का कुछ मूल्य अवश्य चुकाना पड़ता है। इस प्रणाली का आधार है कि देश में केवल दो ही विचारधाराएँ हैं। वास्तव में किसी भी जागरूक समाज में अनेक विचार और मत होते हैं जोकि राजनीतिक विचार और चर्चा में उभर कर सामने आते हैं। यह दो-दलीय व्यवस्था में सम्भव नहीं है। इस व्यवस्था में कुछ बनावटीपन दिखाई देता है। जनमत की अभिव्यक्ति में निहित स्वार्थ उभर कर सामने आ जाते हैं। अमेरिकी लूट पद्धति (spoils systems) इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, दो-दलीय व्यवस्था में विधायिका की शक्तियों का ह्रास होता है, तथा मन्त्रिमण्डल की तानाशाही स्थापित हो जाती है। संसद में विशाल बहुमत से समर्थित सरकार प्रायः मनमानी करने लगती है।

MAADHYAM IAS

बहु-दलीय एवं दो-दलीय दोनों व्यवस्थाओं के गुण-दोष का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी देशों के लिए किसी एक ही व्यवस्था की सिफ़ारिश करना बुद्धिमत्ता नहीं होगी। प्रत्येक देश के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिवेश में ही यह निश्चय किया जा सकता है कि किस देश के लिए कौन सी व्यवस्था उपयुक्त होगी। समस्त विश्व को ब्रिटिश या अमरीकी व्यवस्था पर आधारित नहीं किया जा सकता है। किसी देश की राजनीतिक संस्कृति का विशेष महत्व होता है। स्कैन्डिनेवियन देशों में बहु-दलीय व्यवस्थाएँ राजनीतिक संस्कृति का अंश होने के कारण सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

2) विभिन्न राजनीतिक दलीय-व्यवस्थाओं के गुण-दोषों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

....

....

....

....

....

....

20.6 दलीय व्यवस्था की आलोचना

लगभग सभी देशों में, किसी न किसी कारण से, दलीय व्यवस्था की आलोचना की जाती है। प्रथम, आरोप यह है कि राजनीतिक सत्ता के लिए निरंतर चलने वाला संघर्ष, राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके, विधायिका को रणभूमि में परिवर्तित कर देता है। दूसरे, फ़िज़ूल के मुद्दे उठाकर राजनीतिक दल प्रायः महत्वपूर्ण सार्वजनिक प्रश्नों से जनता का ध्यान हटाकर राजनीति का अहित करते हैं। तीसरे, दल स्वायत्त हो जाते हैं, क्योंकि वे चुनाव जीतने के उद्देश्य से, सिद्धान्तों और राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करने लगते हैं। चौथे, कई बार राजनीतिक दल अनावश्यक रूप से राष्ट्रीय महत्व के राजनीतिक मुद्दों को स्थानीय चुनावों के मुद्दे भी बना देते हैं। पाँचवें, पार्टी के कार्यकर्ताओं को चुनाव में सफलता दिलवाने के पुरस्कार के रूप में नियुक्त करके सिद्धान्तों का बलिदान कर दिया जाता है, **तथा लूट** प्रथा **(spoils system)** को बढ़ावा मिलता है। छठे, "दलीय भावना प्रायः नैतिक मूल्यों को नष्ट कर देती है," क्योंकि दलीय हित के समक्ष सिद्धान्तों का बलिदान कर दिया जाता है। सातवें, पार्टियाँ चुनाव अभियान के लिए जिन लोगों से धन एकत्र करती हैं जीतने के पश्चात् उन्हें उन लोगों के पक्ष में आवश्यक-अनावश्यक सभी प्रकार के निर्णय करने पड़ते हैं। इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। अंतिम, दलों का संचालन प्रायः कुछ नेतागण अपने गुटों (cliques) की सहायता से करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जन-इच्छा को हताश होना पड़ता है।

MAADHYAM IAS

20.7 क्या दल-रहित लोकतन्त्र सम्भव है?

अनेक आलोचनाओं के बावजूद, इसमें कोई संदेह नहीं है कि आधुनिक लोकतन्त्र के लिए राजनीतिक दल नितांत आवश्यक हैं। यदि लोकतन्त्र जनता की सरकार है तो राजनीतिक दलों को अनिवार्य संस्थाओं के रूप में स्वीकार करना ही होगा। पार्टियाँ जनादेश प्राप्त करने के समकालीन मुद्दे निश्चित करती हैं। वे इस प्रकार के जनमत और विचारों की अभिव्यक्ति के राजनीतिक तन्त्र का कार्य सम्पादित करती हैं। पार्टियाँ विभिन्न वर्गों के बीच की आर्थिक और भौगोलिक दूरी को कम करती हैं, तथा सार्वजनिक नीति निर्धारण में आम सहमति लाने का प्रयास करती हैं। इसके

अतिरिक्त, राजनीतिक मुद्दों को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करके वे शिक्षक की भूमिका भी निभाती हैं। राजनीतिक दल उत्तरदायित्व सुनिश्चित करते हैं। यह कार्य, सरकार के कार्य पर लगातार आलोचनात्मक दृष्टि रखकर विपक्षी दल पूरा करते हैं। इस प्रकार, राजनीतिक दल एकमात्र ऐसा साधन हैं जिनके द्वारा प्रभुसत्ता-सम्पन्न जनता सरकार पर नियन्त्रण रखती है। केवल दलों के माध्यम से ही सरकारों को सांविधानिक तथा शांतिपूर्ण तरीकों से बदला जा सकता है। इसीलिए तो अमरीकी संविधान निर्माताओं की इच्छा और अपेक्षा के विपरीत, संयुक्त राज्य अमेरिका में, उसकी स्थापना के कुछ ही वर्षों के भीतर, राजनीतिक दल स्थापित हो गए थे। अतः दलों के अभाव में लोकतन्त्र चल ही नहीं सकता। स्वर्गीय जय प्रकाश नारायण जैसे कुछ भारतीय नेताओं का दल-रहित लोकतन्त्र का आह्वान अव्यावहारिक और असम्भव है।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) दलीय व्यवस्था के दोषों का विश्लेषण कीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) यह स्पष्ट कीजिए कि दल-रहित लोकतन्त्र क्यों सम्भव नहीं है।

....

....

....

....

....

....

....

20.8 सारांश

MAADHYAM IAS

राजनीतिक दल ऐसा संगठन होता है जिसके माध्यम से व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूह राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि वे सत्तारूढ़ होने में सफल हो जाते हैं तो वे अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को वास्तविक रूप देने की चेष्टा करते हैं। दलों की उत्पत्ति के लिए अनेक कारण उत्तरदायी माने जाते हैं। इनमें मानव की झगड़ालू (संघर्ष करने की) प्रकृति, उनके स्वभाव-सम्बन्धी मतभेद, गतिशील एवं प्रगतिशील नेतृत्व, राजतन्त्र को सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के द्वारा सीमित किया जाना, तथा सार्वभौमिक मताधिकार का चलन और लोगों के परस्पर-विरोधी हित प्रमुख कारण माने जाते हैं।

दलीय व्यवस्थाएँ आम तौर पर तीन प्रकार की हैं — (1) एक दलीय व्यवस्था (या प्रणाली), (2) दो दलीय व्यवस्था, तथा (3) बहु-दलीय व्यवस्था। एक-दलीय व्यवस्था प्रायः ग़ैर-लोकतान्त्रिक होती है। उधर, दो-दलीय और बहु-दलीय व्यवस्थाओं के अपने गुण और दोष होते हैं। इसलिए

सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी देश की राजनीतिक संस्कृति ही यह निर्धारित करती है कि उस देश के लिए कौन-सी दलीय व्यवस्था उपयुक्त होगी। दलीय व्यवस्था में अवश्य कुछ दोष हैं, फिर भी लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है, क्योंकि राजनीतिक दल ही मतदाताओं को सरकार के साथ सम्बद्ध करते हैं।

20.9 शब्दावली

राजनीतिक दल/पार्टी : एक ऐसा समूह जो सरकार पर नियंत्रण कर सत्ता में आने के लिए कार्यशील होता है।

दलीय व्यवस्था : विभिन्न दलों की ऐसी व्यवस्था जो देश के कानूनों के अनुसार कार्यान्वित होती है।

अधिनायकवादी व्यवस्था : जहाँ एक ही दल को बने रहने और शासन करने का अधिकार होता है और जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र को नष्ट कर दिया जाता है।

राजनीतिक संस्कृति : राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक मुद्दों पर लोगों के व्यवहार, विचारों, मूल्यों, विश्वासों एवं दृष्टिकोणों का योग।

20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

M. Duverger, *Political Parties* (New York: Wiley, 1954)

Jean Blondel, *An Introduction to Comparative Government* (London: Weidenfed and Nicolson, 1969)

S.E. Finer, *Comparative Government* (London: Allen Lane, The Penguin Press, 1970)

H. Eckstein and David E. Apter, *Comparative Politics,* (London, 1963)

Roy C. Macridis and Bernard Brown, *Comparative Politics* (Dorsey, 1964)

Amal Ray and Mohit Bhattacharya, *Political Theory: Ideas and Institutions* (Calcutta : The World Press, 1994) Chapter 27.

20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) तीन प्रकार के स्पष्टीकरण दिए जाते हैं: (क) लोगों की झगड़ालू प्रवृत्ति — लोग अपनी इस प्रवृत्ति के कारण अलग-अलग दल बनाते हैं; (ख) लोगों के अलग-अलग दृष्टिकोण उनके विभिन्न विचार एवं आस्थाएँ उन्हें उनके जैसे विचार रखने वाले लोगों के साथ मिलकर पृथक दल बनाने के लिए प्रेरित करती हैं; (ग) किसी चमत्कारी व्यक्ति का नेतृत्व जिसके पीछे लोग एकत्र हो जाते हैं।

2) राजनीतिक दल लोगों का संगठित समूह होता है, जिसका उद्देश्य चुनावी प्रक्रिया द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना होता है। दबाव समूह अपने हितों की अभिवृद्धि करते हैं, परन्तु वे न ही चुनाव लड़ते हैं और न सत्तारूढ़ होते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) राजनीतिक दल वर्गीय हितों में एकता स्थापित करते हैं। वे चुनाव के लिए उम्मीदवार खड़े करके लोकतन्त्र के प्रति योगदान करते हैं; वे राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। वे शासन करते हैं या फिर विपक्ष में बैठकर सरकार को उसके दोष बताते हैं।

2) एक दलीय प्रणाली अक्सर तानाशाही प्रणाली होती है यह प्रणाली लोगों की स्वतन्त्रता नष्ट करती है। दो-दलीय प्रणाली जनता के समक्ष दो विकल्प पेश करती है और स्थायित्व प्रदान करती है। परन्तु इसमें अन्य विचारों को पनपने का अवसर नहीं मिलता। बहु-दलीय व्यवस्था में विभिन्न विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किए जाते हैं, परन्तु स्थायित्व नहीं होता।

बोध प्रश्न 3

1) विधायिका को रणभूमि बना देते हैं; राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों एवं राष्ट्रीय हितों का प्रायः बलिदान कर दिया जाता है; नैतिक मूल्यों को छोड़ दिया जाता है; बड़ी धनराशि एकत्र करके चुनाव लड़े जाते हैं; परन्तु इससे भ्रष्टाचार पनपता है।

2) राजनीतिक दल स्वतन्त्र लोकतन्त्र सरकार की गारन्टी होते हैं; वे सामाजिक वर्गों के मतभेद दूर करते हैं और प्रशासन को उत्तरदायी बनाते हैं।

MAADHYAM IAS

इकाई 21 दबाव समूह

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 दबाव समूहों का अर्थ
21.3 दबाव समूहों की भूमिका
21.4 दबाव समूहों के तरीके
21.5 दबाव समूह तथा राजनीतिक दल
21.6 दबाव समूहों के प्रकार
21.7 भारतीय तथा पाश्चात्य दबाव समूहों की तुलना
21.8 सारांश
21.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप इस योग्य होंगे किः

- लोकतान्त्रिक राजनीति में दबाव समूहों की भूमिका की समीक्षा कर सकें;
- दबाव समूहों के प्रकारों का वर्णन कर सकें; तथा
- भारतीय और पाश्चात्य दबाव समूहों की तुलना कर सकें।

21.1 प्रस्तावना

लोकतान्त्रिक राज-व्यवस्थाओं में दबाव समूह ऐसे संगठन होते हैं जो सरकार को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। सामाजिक विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश (International Encyclopaedia of the Social Sciences) में दबाव समूहों की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि यह उन विभिन्न वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें कोई समाज विभाजित होता है; इनमें भी विशेषज्ञ हितों के प्रतिनिधि समूहों की संख्या काफ़ी अधिक होती है। ये समूह जिन वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें प्रमुख हैं: — कृषक, श्रमिक, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, व्यावसायिक व्यक्ति तथा छात्र। दबाव समूहों को 'हित समूह' भी कहा जाता है।

21.2 दबाव समूहों का अर्थ

MAADHYAM IAS

दबाव समूह, समान हित वाले लोगों के संघ या संगठन होते हैं। उनका उद्देश्य अपने संगठित प्रयासों के द्वारा अपने सदस्यों के लिए अधिक सुविधाएँ सुनिश्चित करना है। वे अपने पक्ष में कानून बनवाने और निर्णय करवाने के लिए विधायिका, कार्यपालिका तथा अन्य नीति-निर्धारकों और निर्णय करने वालों को प्रभावित करते हैं।

वी.ओ. की (V.O. Key) का विचार है कि अमेरिकी राजनीति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने वाले निजी समूह काफ़ी हद तक राजनीतिक दलों को सहायता प्रदान करते हैं। इन समूहों को प्रायः दबाव समूह कहा जाता है। डेविड बी. ट्रूमैन (Truman) ने हित समूहों की परिभाषा करते हुए लिखा है — "वे ऐसे समूह होते हैं जिनके सदस्यों का साझा दृष्टिकोण होता है, तथा वे समाज के अन्य समूहों से कुछ दावे करते हैं।" लोकतान्त्रिक राजनीति प्रक्रिया में एक प्रमुख विशेषता दबाव समूहों की बढ़ती भूमिका हो गई है। हर्मन फ़ाइनर का यह विचार था कि राजनीति विज्ञान की एक वास्तविकता यह है कि जहाँ सिद्धान्त और संगठन की

दृष्टि से राजनीतिक दल कमज़ोर होंगे, वहाँ दबाव समूहों की भूमिका अधिक होगी; जहाँ दबाव समूह शक्तिशाली होंगे वहाँ राजनीतिक दल कमज़ोर होंगे; तथा जहाँ राजनीतिक दल सशक्त होंगे वहाँ दबाव समूह को दबा दिया जाएगा। संयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीति में दबाव समूहों के विकास और उनके शक्तिशाली होने के कारण हैंः अमेरिका के संविधान की कठोर प्रकृति, शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त, तथा लोगों की शिकायतें सरकार तक पहुँचाने में कठिनाई आदि। अमेरिकी दबाव समूहों पर राजनीतिक दलों का कोई विशेष प्रभाव नहीं है। दूसरी ओर, इंगलैण्ड में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दबाव समूह राजनीतिक दलों से सम्बद्ध होते हैं।

भारत में राजनीतिक दल सिद्धान्त और संगठन की दृष्टि से शक्तिशाली नहीं हैं। अतः भारत की राजनीति व्यवस्था में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सरकार की संसदीय प्रणाली में यह मान्यता है कि विधायिका पर कार्यपालिका का नियंत्रण होता है, इसलिए दबाव समूह सामान्यतया कार्यपालिका पर दबाव डालकर उसे प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। कार्यपालिका से यहाँ हमारा अभिप्रायः राजनीतिक (मन्त्रिगण) और स्थायी (लोक सेवक) कार्यपालिका से ही है।

21.3 दबाव समूहों की भूमिका

व्यक्तिगत गतिविधियों की तुलना में सामूहिक गतिविधियाँ सदैव अधिक प्रभावी होती हैं। अतः लोकतान्त्रिक समाज में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे ऐसा समाज के किसी न किसी वर्ग के सामान्य हितों को अभिव्यक्त और उन्हे प्रोत्साहित करके सरकार को प्रभावित करने के द्वारा करते हैं। किसी भी दबाव समूह की उपयोगिता का मापदंड यही होता है कि वह सरकार को कितना प्रभावित कर सकता है। सरकार को प्रभावित करने का अर्थ है सार्वजनिक नीति के निर्धारकों को, विधायकों को तथा नीतियों और निर्णयों को लागू करने वालों को प्रभावित करना आदि। दबाव समूहों की भूमिका, राजनीति से निकटता से संबंधित है। परन्तु, यहाँ हमारी यह धारणा है कि शक्ति, किसी भी राजनीति का ऐसा अनिवार्य तत्व होता है जिसका अर्थ है प्रभाव का अध्ययन। इस सन्दर्भ में, हैरल्ड डी. लासवेल ने राजनीति से सम्बन्धित अपनी आरंभिक कृति में लिखा था कि :

"Who gets what, when, how?" (किसको क्या, कब, कैसे मिलता है?) और उत्तर में लिखा था कि, "राजनीति का अध्ययन, प्रभावों और प्रभावित करने वालों का अध्ययन है।" (the study of politics is the study of influence and influential) यदि इस परिभाषा को ध्यान में रखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि लोकतान्त्रिक देशों में दबाव समूह, राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण आयाम होते हैं, क्योंकि प्रत्येक दबाव समूह का मूलभूत उद्देश्य किसी विशिष्ट सार्वजनिक नीति से संबंधित मुद्दे अथवा समस्या पर सरकार को प्रभावित करना होता है।

दबाव समूह चुनावों में भाग नहीं लेते हैं अर्थात् उनके सदस्य चुनाव नहीं लड़ते हैं। दबाव समूहों के प्रायः उनके कोई राजनीतिक कार्यक्रम भी नहीं होते हैं। दबाव समूह तो किसी सार्वजनिक मुद्दे पर, जिसमें उनके हित निहित होते हैं, सरकार को अनौपचारिक रूप से प्रभावित करने के प्रयत्न करते हैं।

सभी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में सामान्यतः संघ बनाने की स्वतन्त्रता होती है। यह इसलिए आवश्यक होती है ताकि सामूहिक कार्रवाई के द्वारा लोगों के सामान्य हितों की पहचान की जा सके तथा उन हितों की अभिवृद्धि करवाई जा सके। यह दबाव समूहों की स्थापना का मूल कारण होता है। अतः हित-निर्धारण और हित-अभिव्यक्ति में दबाव समूह अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

दबाव समूह, जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ की भूमिका भी निभाते हैं। वे व्यक्ति के हितों और राष्ट्र के हितों में संतुलन स्थापित करते हैं। सामान्यतया व्यक्तियों के हित संगठित नहीं होते हैं। दबाव समूह, लोगों के हितों को सुनिश्चित आकर देने में योगदान करते हैं। अतः उन हितों का संगठन और उनकी अभिव्यक्ति का कार्य दबाव समूह करते हैं। लोगों की कठिनाइयों और

शिकायतों को यह सरकार तक पहुँचाते हैं। लोगों की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप भी हितों का निर्धारण होता है। कुछ ऐसे विषय जिन पर लोगों की तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त हो सकती है उनमें शामिल हैः गैट (GATT), परमाणु परीक्षण, आरक्षण नीति, पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दे, मूल्य वृद्धि, क्षेत्रीय असंतुलन, ग्राम विकास कार्यक्रम इत्यादि।

ग्रैब्रियल **(Gabriel)** आल्मंड तथा बिंघम पॉवेल के अनुसार, माँगों को नीति-विकल्पों का रूप देना ही हित संवर्द्धन **(Interest aggregation)** होता है। इस प्रक्रिया में भी दबाव समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि वे संभावित नीतिगत विकल्पों की पहचान करते हैं। वे विभिन्न विकल्पों के गुण और दोषों की व्याख्या करके नीति-निर्धारकों की सहायता करते हैं ताकि वे सबसे अधिक उपयुक्त विकल्प का चयन कर सकें। नीति-निर्माण प्रक्रिया में योगदान करना दबाव समूहों का एक प्रमुख कार्य है। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि दबाव समूह, सार्वजनिक नीति और विधायन **(law making)** के लोकतन्त्रीकरण में योगदान करते हैं।

जहाँ ऐसा होता है कि राजनीतिक दल जनता की आकांक्षाओं का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे होते, वहाँ दबाव समूह लोगों की अभिलाषाओं का प्रतिनिधित्व करने के साधन के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार, दबाव समूह प्रतिनिधित्व का कार्य भी करते हैं।

किसी भी कल्याणकारी राज्य में, सरकार के कार्यों में विस्तार के कारण राजनीतिक व्यवस्था की उत्तरदायित्व की क्षमता कम हो जाती है। राजनीतिक अभिजात या कुलीन वर्ग (elite) प्रायः राजनीतिक गतिविधियों में व्यस्त होते हैं, अतः सरकार के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त समय नहीं होता कि वह किसी सार्वजनिक महत्व के विषय-विशेष पर विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सके। ऐसी स्थिति में, दबाव समूह किसी नीति-विशेष से संबंधित विवरण उपलब्ध कराने और लोगों की आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को सत्ताधारी राजनीतिक अभिजात अथवा कुलीन वर्ग तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इस प्रकार विकास सम्बन्धी गतिविधियाँ अधिक प्रभावी रूप से चलाई जा सकती हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) दबाव समूहों का अर्थ स्पष्ट करते हुए लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में उनकी भूमिका का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

21.4 दबाव समूहों के तरीके

दबाव समूहों के प्रमुख तरीके हैं — जनमत को अपनी इच्छानुसार मोड़ना, तथा विधायकों और प्रशासकों इत्यादि को समझा-बुझा कर प्रभावित करना आदि। उदाहरण के लिए, जब गुजरात की सरदार सरोवर परियोजना तथा कर्नाटक की कायगा (Kaiga) परियोजना से किसी वर्ग या क्षेत्र के हितों के प्रभावित होने की संभावना हो, तब दबाव समूह आवश्यक सूचना जनता तक पहुँचा कर पर्यावरण-सम्बन्धी जागृति लाने का प्रयास कर सकते हैं। दबाव समूहों के इस कार्य से किसी विशेष मुद्दे पर जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो सकता है। कोई दबाव समूह जनमत को कहाँ तक

प्रभावित कर सकता है इसी से उसकी सरकार पर दबाव डालने की क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः दबाव समूहों के लिए यह आवश्यक है कि वे जनमत निर्धारण की प्रक्रिया को प्रभावित करते रहें। इसीलिए यह कहा जाता है कि दबाव समूह जनमत को तोड़ते-मोड़ते (चतुराई से उसका प्रबन्ध करते) हैं।

दबाव समूहों के, विधायिकाओं में मित्र और हितैषी होते हैं। ऐसा विशेषकर अमरीकी कांग्रेस, और भारत की संसद में पाया जाता है। किसी विधेयक या क़ानून में, कोई विशेष प्रावधान जोड़ने या हटाने के लिए दबाव समूह विधायकों को प्रभावित करने के प्रयास करते हैं। इस कार्य के लिए वे अत्यंत प्रभावी लॉबिंग की प्रक्रिया का प्रयोग करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह लॉबिंग अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका निभाती है।

प्रशासकों के माध्यम से दबाव समूह, नीतियों और निर्णयों को लागू करवाने का कार्य भी करते हैं। इसके अतिरिक्त न्यायालयों में जनहित मुक़दमों (याजिकाओं) के माध्यम से भी दबाव समूह, सरकार को प्रभावित करने के प्रयत्न करते हैं।

जब हम दबाव समूहों के तरीकों की बात करते हैं तब हमें सरकार की प्रणाली को ध्यान में रखना होगा जिसमें दबाव प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। अमेरिका की अध्यक्षात्मक सरकार अथवा राष्ट्रपति प्रणाली में दबाव समूह काफ़ी सक्रिय रहते हैं। भारत में संसदीय सरकार के परिवेश में दबाव की राजनीति की जाती है। भारत में दबाव समूहों की भूमिका अस्पष्ट, तथा उनके तरीके कुछ हद तक अपरिष्कृत हैं। अमेरिकी दबाव समूहों के तरीके अत्यधिक परिष्कृत और स्पष्ट हैं। अमेरिका में दबाव समूहों की इसलिए आवश्यकता होती है क्योंकि वहाँ कार्यपालिका, विधायिका (कांग्रेस) से स्वतन्त्र है, और विधायिका एवं कार्यपालिका दोनों ही न्यायपालिका से स्वतन्त्र हैं। भारत में कार्यपालिका और विधायिका (संसद) और न्यायपालिका में समन्वय स्पष्ट रूप से परिभाषित है। हालाँकि भारत में न्यायपालिका स्वतन्त्र है किन्तु उसे अमेरिका की न्यायपालिका की तरह न्यायिक समीक्षा की असीमित शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। एक विचार यह है कि भारत में न्यायपालिका भी दबाव समूहों के प्रभाव में आकर अपनी भूमिका को प्रभावी बना रही है। ऐसा विशेषकर पर्यावरण दबाव समूह तथा आर्थिक दबाव समूह कर पा रहे हैं। वे प्रायः न्यायपालिका के समक्ष जनहित याचिकाओं के माध्यम से प्रभाव डालने की चेष्टा करते हैं। मेधा पाटेकर तथा उनकी सहयोगियों ने नर्मदा बाँध, विशेषकर बाँध के कारण विस्थापित होने वाले लोगों के संदर्भ में केन्द्र और राज्य दोनों स्तरों पर कार्यपालिका को प्रभावित करने के निरंतर प्रयास किए। परन्तु नवम्बर 2000 में सर्वोच्च न्यायालय के बाँध के समर्थन में दिए गए निर्णय से इन प्रयासों को धक्का लगा। कई दबाव समूह ऐसे भी हैं जोकि दिहाड़ी (दैनिक वेतन) पर कार्य करने वाले श्रमिकों और महिलाओं की समस्याओं को जनहित याचिकाओं के माध्यम से उजागर करके दबाव की राजनीति करते हैं। स्थानीय निकायों के संदर्भ में भी दबाव समूह सक्रिय हैं। उदाहरण के लिए, मुम्बई में नागरिकों के समूह, नगर निगम के अधिकारियों पर दबाव डलवाने के लिए उच्च न्यायालय में गए ताकि निगम को आदेश दिया जाए कि नगर की सड़कों की सफ़ाई सुनिश्चित की जा सके और पर्यावरण की सुरक्षा के उपाय किए जा सकें। कई अन्य विकासशील देशों की भांति, भारत में भी ये तरीके नए हैं। इसलिए, दबाव समूहों को काफ़ी परिश्रम करना पड़ रहा है ताकि जनता को संगठित करके सरकार और लोक प्रशासन पर प्रभावी दबाव डाला जा सके। पुणे जैसे नगरों में, सरकार के विरोध के बावजूद, जनता निगम आयुक्त का वापस पुणे के लिए तबादला करवाने में सफल रही।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) सरकार की विभिन्न प्रणालियों में दबाव समूह क्या तरीके अपनाते हैं?

....

....

....

....

....

....

21.5 दबाव समूह तथा राजनीतिक दल

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की संरचना में राजनीतिक दलों और दबाव समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है। राजनीतिक दल तथा दबाव समूह, दोनों ही ऐसी सँस्थाएँ हैं जिनका प्रावधान संविधान में नहीं होता है। राजनीतिक प्रक्रिया में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। कभी-कभी दबाव समूह आगे चलकर राजनीतिक दलों में परिवर्तित भी हो सकते हैं। महाराष्ट्र में शिव सेना एक दबाव समूह था, जो अब एक राजनीतिक दल बन चुका है। इसी प्रकार 'कर्नाटक राज्य संघ' भी पहले एक दबाव समूह ही था। कुछ समय पश्चात् इसने राजनीतिक दल का रूप ले लिया।

कुछ दबाव समूह, राजनीतिक दलों की स्थापना में सहायक हो सकते हैं। 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नामक सांस्कृतिक एवं धार्मिक संगठन ने 1951 में भारतीय जनसंघ की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जनसंघ आगे चलकर 1980 में भारतीय जनता पार्टी की स्थापना का अग्रणी सिद्ध हुआ। अनेक भारतीय राजनीतिक दलों के छात्र संगठन भी हैं, जैसे 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्' (A.B.V.P.), स्टूडैन्ट्स फ़ैडेरेशन ऑफ इंडिया (SFI), अखिल भारतीय स्टूडैन्ट्स फ़ैडेरेशन (AISF) तथा नेशनल स्टूडैन्ट्स यूनियन ऑफ इंडिया (NSUI) इत्यादि। ये सभी किसी न किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध दबाव समूह हैं। कुछ राजनीतिक दलों के भीतर भी दबाव समूह होते हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व सेवा दल कांग्रेस पार्टी का एक दबाव समूह था। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी सेवा दल एक दबाव समूह बना रहा, परन्तु अब वह उतना प्रभावी नहीं है जितना पहले था।

राजनीतिक दल प्रायः विशाल राजनीतिक संगठन होते हैं, जबकि दबाव समूह आकार में छोटे होते हैं। राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य सत्तारूढ़ होकर सरकार चलाना होता है, जबकि दबाव समूहों का उद्देश्य अपने हितों की अभिवृद्धि के लिए सरकार पर दबाव डालना होता है। परन्तु, राजनीतिक दल विभिन्न वर्गों के सामूहिक हितों की अभिव्यक्ति करते हैं। इसीलिए दबाव समूहों को ग़ैर-राजनीतिक समूह कहा जाता है। चुनावों में राजनीतिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं, चुनाव अभियान चलाते हैं, विधायिका में अधिक से अधिक स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, और यदि संभव हो तो सरकार बनाते हैं। दबाव समूह स्वयं, प्रत्यक्ष रूप से, इनमें से कोई भी कार्य नहीं करते हैं।

प्रत्येक राजनीतिक दल की अपनी स्पष्ट विचारधारा होती है, जिससे उसकी पहचान बनती है। दबाव समूहों को किसी विचारधारा की आवश्यकता नहीं होती। हाँ, कभी-कभी वे किसी विचारधारा के प्रभाव में आने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) दबाव समूह राजनीतिक दलों से किस प्रकार भिन्न होते हैं?

....

....

....

....

....

....

21.6 दबाव समूहों के प्रकार

विभिन्न देशों में, विभिन्न दबाव समूहों की स्थापना के कारक तथा उनके द्वारा अपनाए गए तरीकों में मूल रूप से कोई भिन्नता नहीं होती है। कुछ सामान्य कारक और तरीके हैं जो सामान्यतया सभी दबाव समूहों पर लागू होते हैं। दबाव समूहों की उत्पत्ति अलग-अलग परिस्थितियों में होती है। उनके हित आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, किसी भी आयाम विशेष से सम्बद्ध हो सकते हैं। कुछ विशेष हितों की अभिव्यक्ति, उनकी सुरक्षा अथवा अभिवृद्धि करना ही दबाव समूहों का उद्देश्य होता है।

दबाव समूहों को मोटे तौर पर निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

1) व्यापारिक समूह;

2) श्रमिक संगठन;

3) कृषक समूह;

4) व्यावसायिक संगठन; तथा

5) धार्मिक संगठन।

1) व्यापारिक समूह

व्यापारी लोग सामान्यतया सुसंगठित होते हैं तथा उनका उद्देश्य यह होता कि कुछ वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण पर कुछ प्रतिबंध लगाए जाएँ, कुछ वस्तुओं के आयात और निर्यात को प्रतिबंधित किया जाए तथा विभिन्न पदार्थों के मूल्यों का निर्धारण किया जाए आदि। कुछ व्यापारिक समूहों के उदाहरण हैं: अमेरिका के उत्पादकों का राष्ट्रीय संघ **(National Association of Manufacturers of USA), ब्रिटिश** उद्योगों का संघ **(Federation of British Industries),** फ्रांसीसी नियोक्ताओं की राष्ट्रीय परिषद् **(National Council of French Employers),** जर्मन उद्योगों का संघ **(Federation of Germany Industry), तथा** भारतीय वाणिज्य और उद्योग का परिसंघ - फिक्की **(Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry - FICCI),** इत्यादि।

भारत में ब्रिटिश व्यापारियों ने 1830 के दशक में वाणिज्य संघ की स्थापना की थी। सन् 1926 में यह निर्णय किया गया कि एक देश-व्यापी भारतीय व्यापारिक संगठन की स्थापना की जाए। अगले वर्ष यही संघ, वाणिज्य और उद्योग का परिसंघ **(FICCI)** बन गया। घनश्याम दास बिड़ला जैसे धनाढ्य व्यापारियों की सहायता से यह व्यापारिक समूह एक महत्वपूर्ण और प्रभावी शक्ति बन गया। इस परिसंघ फिक्की के अतिरिक्त भारत में कुछ और भी प्रमुख व्यापारिक संगठन हैं, जैसे अखिल भारतीय निर्माता संगठन **(All India Manufacturers Organisation)** एसोसिएटिड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री ऑफ इंडिया आद। ये व्यापारिक समूह निरंतर राजनीतिक दलों के सम्पर्क में रहते हैं, वे पार्टियों को चंदा देते हैं, तथा कुछ उम्मीदवारों का चुनाव ख़र्च भी कुछ व्यापारी उठाते हैं।

MAADHYAM IAS

किसी भी व्यापारी समूह का मूल कार्य अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा करना है, और इसके लिए वे करों में वृद्धि का विरोध करते हैं, तथा श्रमिकों पर न्यूनतम नियन्त्रण की माँग करते हैं।

2) श्रमिक संगठन

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् 1886 में अमेरिकी श्रम संघ **(American Federation of Labour)** की स्थापना के साथ ही श्रमिक संघों की राजनीति का प्रारम्भ हुआ था। साम्यवादी प्रभाव वाले श्रमिक संगठनों में प्रमुख हैं: फ्रांस की क्रिश्चियन ट्रेड यूनियनों का परिसंघ, श्रमिक संघों का जर्मन परिसंघ, इंग्लैण्ड का यातायात एवं सामान्य श्रमिक संघ **(Transport and General Workers**

Union of England), तथा भारत में ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस इत्यादि। समुचित मज़दूरी और भत्तों का भुगतान, काम के औचित्यपूर्ण घंटे, उचित सेवा सुविधाएँ, तथा दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़े का भुगतान इत्यादि श्रमिक संघों का उद्देश्य होता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं, और उसके लिए दबाव की राजनीति करते हैं। ये दबाव समूह प्रायः किसी न किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध होते हैं।

भारत में, इंडियन नेशलन ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) एवं यूनाईटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (UTUC) हिंद मज़दूर सभा (HMS) तथा भारतीय मज़दूर संघ (BMC), कांग्रेस (आई), कम्युनिस्ट पार्टियों, समाजवादी पार्टी और भारतीय जनता पार्टी आदि राजनीतिक दलों से सम्बद्ध हैं। इन सभी श्रमिक संगठनों को भारत के प्रमुख मज़दूर संगठन माना जाता है।

3) कृषक समूह

कृषकों के दबाव समूह का प्रमुख उद्देश्य कृषकों के हितों की रक्षा करना है। वे प्रयास करते हैं कि आधुनिकीकरण के दुष्परिणामों से बचा जाए, तथा किसानों को आधुनिकीकरण से सकारात्मक सुविधाएँ प्राप्त हो सके। इनमें किसानों को मिलने वाली आर्थिक राहत (subsidy) को जारी रखना, तथा कृषि उत्पादों के लिए उचित न्यूनतम मूल्य निर्धारित करवाना आदि शामिल हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में अमेरिकन फ़ार्म ब्यूरो फ़ेडरेशन, दि नेशनल ग्रांज (Grange) तथा नेशनल फ़ार्मर्स एजूकेशनल एण्ड कोऑपरेटिव यूनियन प्रमुख कृषक संगठन हैं, जो किसानों के लिए सरकार से समुचित सुविधाएँ प्राप्त करवाने के प्रयास करते हैं। भारत में कुछ प्रमुख कृषक संगठन हैं: कर्नाटक राज्य रैथ संघ, महाराष्ट्र में शरद जोशी का शेतकारी संघ, तथा उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत का किसान संगठन इत्यादि।

4) व्यावसायिक (Professional) संगठन

व्यावसायिक संगठन, विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध व्यक्तियों के हितों के लिए कार्य करते हैं। वे अपने-अपने व्यवसायों के लिए उचित सेवा शर्तें तथा अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करवाने के लिए दबाव की राजनीति करते हैं। अध्यापक संघ, चिकित्सक संघ, वकीलों के संगठन इत्यादि संघ, व्यवसायों के आधार पर संगठित दबाव समूह हैं। अमेरिका के विश्वविद्यालयों के अध्यापकों का संघ (The America? Association of University Teachers), अखिल भारतीय विश्वविद्यालय एव महाविद्यालय अध्यापकों का संघ (Federation of University and College Teachers Organisation); अमेरिकी वकीलों का संघ (American Bar Association), भारतीय राजनीति विज्ञान संघ तथा ब्रिटिश चिकित्सक संघ (British Medical Association) व्यावसायिक दबाव समूहों के कुछ उदाहरण हैं।

5) धार्मिक संगठन

धार्मिक दबाव समूह प्रायः अपने धर्म-विशेष के हितों की सुरक्षा के लिए संगठित किए जाते हैं। अमेरिका में गिरजाघरों (चर्चो) की राष्ट्रीय परिषद् (National Council of Churches) एक धार्मिक दबाव समूह है। अमेरिका में अन्य धार्मिक दबाव समूहों में शामिल हैं: अमरीकी यहूदी समिति (American Jewish Committee) तथा अमरीकी यहूदी कांग्रेस (American Jewish Congress) इत्यादि। भारत के संदर्भ में धर्म तथा सम्प्रदाय से सम्बन्धित समूहों को धार्मिक दबाव समूहों में रखा जा सकता है। भारत की राजनीति में जाति-आधारित समूहों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

MAADHYAM IAS

भारत में बाबूलाल फडिया ने दबाव समूहों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। उनके वर्गीकरण के अनुसार (जैसा कि हिचनर और लेवाइन ने सैद्धान्तिक रूप से किया), भारत में संस्थागत समूह, संघीय समूह, ग़ैर-संघीय समूह तथा उद्दंड समूह पाए जाते हैं। 'संस्थागत समूहों' में उन्होंने कांग्रेस कार्य समिति, मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन तथा लोक सेवकों और सेना के संगठन इत्यादि को शामिल किया है। विभिन्न श्रमिक संगठनों और व्यापारिक समूहों को 'संघीय दबाव समूहों' में शामिल किया गया है। ग़ैर-संघीय समूहों में सम्प्रदायों, जातियों तथा भाषाओं आदि से सम्बन्धित संगठन शामिल हैं। नक्सलवादियों और शिव सेना आदि को उद्दंड समूहों की श्रेणी में रखा जाता है।

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) विभिन्न प्रकार के दबाव समूहों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

21.7 भारतीय तथा पाश्चात्य दबाव समूहों की तुलना

सर्वप्रथम, अमेरिका में दबाव समूहों को सरकार का चौथा अंग कहा जाता है, परन्तु भारत के दबाव समूहों की देश की राजनीति में इतनी महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है।

दूसरे, भारत और इंगलैण्ड में दबाव समूहों का मुख्य उद्देश्य मन्त्रियों और लोक सेवकों को प्रभावित करना होता है। अमेरिका की भान्ति लॉबिंग का प्रयोग यहाँ नहीं होता, और संसद प्रायः दबाव की राजनीति से स्वतन्त्र रहती है। परन्तु, अमेरिका में दबाव समूहों का लक्ष्य वहाँ का राष्ट्रपति न होकर कांग्रेस और उसकी समितियाँ होती हैं। अमरीकी कांग्रेस और उसकी समितियों को लॉबिंग के द्वारा प्रभावित किया जाता है।

तीसरे, अन्य देशों में जहाँ व्यापारिक समूह अधिक शक्तिशाली और प्रभावी होते हैं, वहाँ भारत में जाति, धर्म और क्षेत्र आदि पर आधारित दबाव समूहों का प्रभाव अधिक है।

चौथे, अमेरिका के दबाव समूहों की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि वे विदेश नीति के क्षेत्र में भी अच्छी-ख़ासी रुचि लेते हैं, जबकि भारतीय दबाव समूहों की कि विदेशिक मामलों में विशेष रुचि दिखाई नहीं देती। भारत के दबाव समूह आन्तरिक समस्याओं में ही रुचि लेते हैं, और उन्हीं के लिए कार्य करते हैं, विदेश नीति पर उनका ध्यान कम ही जाता है।

कुल मिलाकर यही कहा ज़ा सकता है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में यह अपेक्षा की जाती है कि दबाव समूह, समाज के विभिन्न वर्गों के हितों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे।

21.8 सारांश

दबाव समूह, लोकतान्त्रिक राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। वे लोगों की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति और अभिवृद्धि करते हैं। दबाव समूहों के महत्व का निर्धारण मुख्य रूप से राजनीतिक दलों कुछ सरकार की प्रणाली, राजनीति के प्रति लोगों के दृष्टिकोण तथा नेतृत्व की प्रकृति आदि पर निर्भर करता है।

MAADHYAM IAS

दबाव समूह राजनीतिक दलों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के समान हितों की सुरक्षा सुनिश्चित तथा उनके लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करवाना होता है। उधर, राजनीतिक दल विधायिकाओं के लिए चुनाव लड़ते हैं, तथा जिस दल को बहुमत प्राप्त होता है वह सरकार बनाता है, तथा प्रशासन पर नियन्त्रण रखता है। दबाव समूह अपने लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते। वे तो केवल दबाव की राजनीति के द्वारा सरकारी तन्त्र को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

दबाव समूह अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे कि व्यापारिक समूह, श्रमिक संगठन (मज़दूर संघ), कृषकों के संघ, व्यावसायिक संगठन (जैसे वकीलों, डाक्टरों, अध्यापकों, लेखा परीक्षकों (Char-

tered Accountants) इत्यादि के समूह), तथा धार्मिक दबाव समूह। कुछ दबाव समूह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी अथवा अन्य राजनीतिक दल के साथ स्वयं को सम्बद्ध कर लेते हैं। परन्तु वे औपचारिक रूप से किसी दल का भाग नहीं होते।

21.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

International Encyclopaedia of the Social Sciences, New York, Macmillan and Free Press, 1968, p.286.

V.O. Key, Politics, Parties and Pressure Groups, New York, Thomas & Crowell Company, 1969, p.18.

Verman Van Dyke, Political Science : A Philosophical Analysis, Stanford, Stanford University Press, 1960, p.146.

Herman Finer, Governments of Greater European Powers, New York, Henry Holtard Company, 1956, p.341.

Herman Finer, Theory and Practice of Modern Government, Delhi, Surjeet, 1977.

The Comparison of the Indian and Western Pressure Groups is based on Babulal Fadia's book Pressure Groups in Indian Politics, New Delhi, Radiant Publishers, 1980, pp.182-193.

Encyclopaedia of Government and Politics, Vol. 1, London, Routledge, 1992, pp.377-89.

Eugene J. Mechan, John P. Roche and Murrays Stedman Jr., The Dynamics of Modern Government, Tokyo, McGraw Hill Kogakusha, 1996, pp.59-86.

Verinder Grover (Ed.) Politics of Influence, Violence and Pressure Groups, New Delhi, Deep and Deep Publication, 1990.

21.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) यह लोगों के ऐसे संगठित समूह होते हैं जिनका उद्देश्य एक - समान उद्देश्य की प्राप्ति करना होता है। वे निर्णय-कर्त्ताओं को प्रभावित करके अपने सदस्यों के लिये अधिक से अधिक रियायतें जुटाने का प्रयास करते हैं। (देखें भाग 21.2 एवं 21.3)

बोध प्रश्न 2

1) जनमत को अपनी इच्छानुसार ढालना, विधायकों तथा प्रशासकों को अपने साथ मिलाना। विधानमंडलों तथा प्रशासन में उनके मित्र होते हैं। ये समूह अपने पक्ष में निर्णय करवाने के लिए निर्णय-कर्त्ताओं को विविध प्रकार के प्रभोलन भी देते हैं। (देखें भाग 21.4)

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) राजनीतिक दलों की अपनी स्पष्ट विचारधारा होती है, जबकि दबाव समूह केवल अपने समूह के सामूहिक हितों की अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दल चुनाव लड़ते हैं, और राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं जबकि दबाव समूह ऐसा कुछ नहीं करते। दबाव समूह तो नीति-निर्धारकों इत्यादि पर दबाव डालकर उन्हें प्रभावित करते हैं। (देखें भाग 21.5)

बोध प्रश्न 4

1) वे मुख्य रूप से श्रमिक संघ, व्यापारिक समूह, कृषक समूह, धार्मिक संगठन तथा व्यावसायिक समूह होते हैं। व्यावसायिक समूहों में डाक्टरों (चिकित्सकों), वकीलों, अध्यापकों तथा व्यापारियों के संगठन शामिल होते हैं। (देखें भाग 21.6)

इकाई 22 चुनाव प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 बहुमत-आधारित व्यवस्थाएँ
22.2.1 साधारण बहुमत प्रणाली अथवा विजय स्तंभ पर पहले पहुँचने की प्रणाली
22.2.2 द्वितीय मतदान प्रणाली
22.2.3 अन्य प्रणालियाँ
22.2.4 बहुमत-आधारित व्यवस्थाओं के दोष
22.3 आनुपातिक प्रतिनिधित्व
22.3.1 एकल संक्रमणीय मत पद्धति
22.3.2 सूची प्रणाली
22.3.3 अर्द्ध-आनुपातिक प्रणाली
22.3.4 स्लेट प्रणाली
22.3.5 सामूहिक मत प्रणाली
22.4 चुनावी प्रक्रिया तथा राजनीतिक दल
22.4.1 पार्टी एकता तथा लगाव
22.5 सारांश
22.6 शब्दावली
22.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप चुनावी प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। साथ ही आप प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियों एवं पद्धतियों के विषय में भी पढ़ेंगे।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- चुनाव प्रक्रिया का अर्थ स्पष्ट कर सकेंगे;
- प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियों का पुनः स्मरण कर सकेंगे;
- विभिन्न चुनावी प्रणालियों की तुलना कर सकेंगे;
- बहुमत-आधारित बहुलवादी व्यवस्था का वर्णन कर सकेंगे;
- आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणालियों की समीक्षा कर सकेंगे; तथा
- राजनीतिक दलों और निर्वाचन प्रक्रिया के सम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

22.1 प्रस्तावना

निर्वाचन (चुनाव) वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा जनता अपने मतों का प्रयोग करके अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है। यह चुने हुए व्यक्ति विधायिकाओं में जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह विद्यायिका, संसद भी हो सकती है और स्थानीय निकाय भी। अब निर्वाचन के द्वारा चयन की यह प्रक्रिया, प्रतिनिधि (अप्रत्यक्ष) लोकतन्त्र का अभिन्न अंग बन गई है। बीसवीं शताब्दी में अधिकांश, या लगभग सभी, देशों ने अपने समस्त वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया। शुरू में केवल सम्पत्ति के स्वामियों को ही मत देने का अधिकार हुआ करता था। किन्तु बीसवीं शताब्दी में सभी वयस्कों को धर्म या जाति या लिंग के किसी भेदभाव के बिना मताधिकार प्राप्त है। आज

सम्पत्ति के आधार पर भी किसी को मताधिकार से वंचित नहीं रखा जाता। आज मतदान का आधार "एक व्यक्ति, एक मत, एक मूल्य" हो गया है। इस प्रकार राजनीतिक समानता स्वीकार कर ली गई है। बिना किसी भेदभाव के सभी नर-नारी मतदान कर सकते हैं।

निर्वाचन के कई कार्य होते हैं। इनका प्रमुख लक्ष्य (और कार्य) प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरकार की स्थापना करना होता है। वे सरकार और जनता के मध्य कड़ी का कार्य करते हैं। वे उनके मध्य संचार माध्यम होते हैं। किसी शासन के पक्ष या विपक्ष में वे जन-समर्थन जुटा कर उसका प्रदर्शन करते हैं। निर्वाचन एक ऐसा माध्यम है जो राजनीतिक नेताओं की तलाश करता है, या उनको राजनीति में भागीदार बनाता है। चुनावों के द्वारा ही मतदाताओं के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जाता है। हाँ, जिन देशों में एक-दलीय व्यवस्था है या जहाँ मतदाताओं के समक्ष कोई विकल्प नहीं होता और सत्तारूढ़ दल की प्रभुत्ता होती है, वहाँ चुनाव दिखावा-मात्र होता है। इन देशों में चुनाव का कार्य मात्र औपचारिकता होती है।

बेल्जियम, इटली, डेनमार्क, नीदरलैण्डस (हालैण्ड) जैसे देशों में चुनावों के परिणामों से सरकार का गठन न होकर, राजनीतिक दलों की सौदेबाजी से निश्चय किया जाता है कि सरकार का गठन कौन करेगा, और उसका रूप क्या होगा। परन्तु, जिन देशों में दलीय व्यवस्था ऐसी है कि मतदाताओं के पास विकल्प होते हैं, और वे स्वेच्छा से मतदान करते हैं, वहाँ वे यह तय करते हैं कि बहुमत किसे मिले और सरकार किसकी बने।

प्रत्येक देश में निर्वाचन में चयन प्रक्रिया की प्रकृति तीन तत्वों के आधार पर निश्चित की जाती है। प्रथम, चुनाव का उद्देश्य क्या है — निर्वाचन क्षेत्रों से प्रतिनिधियों का निर्वाचन होना है, अथवा दलों की सूचियों में से किसी एक के पक्ष में मतदान होना है, अथवा राष्ट्रपति का चुनाव होना है। द्वितीय दलीय प्रणाली अथवा मतदान की प्रवृत्ति क्या है। इसका निर्णय समाज की वर्ग व्यवस्था, निर्वाचन प्रणाली तथा अभिजात्य अथवा कुलीन वर्ग की जोड़-तोड़ के आधार पर होता है। तृतीय, चुनाव प्रक्रिया विशेष रूप से वे प्रावधान जिसके अनुसार मतों को सीटों में परिवर्तित किया जाता है, अर्थात् मतों की गिनती करके और उनके मूल्यों का निर्धारण करने की क्या व्यवस्था है।

22.2 बहुमत-आधारित व्यवस्थाएँ

हमें तीन अलग व्यवस्थाओं में स्पष्ट अंतर समझना होगा। वे हैं: पहली फ्रांस की व्यवस्था जैसी, जिसमें विजयी प्रत्याशी के लिए आवश्यक है कि उसे कुल डाले गए मतों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो; दूसरी बहुलवादी, अर्थात् साधारण बहुमत प्रणाली या विजय स्तम्भ पर पहले पहुँचने की प्रणाली (जो कि भारत, इंगलैण्ड तथा अन्य अंग्रेज़ी-भाषी देशों में प्रचलित है); तथा तीसरी आनुपातिक प्रतिनिधित्व की अनेक पद्धतियाँ (जैसे कि एकल संक्रमणीय मत पद्धति इत्यादि)।

22.2.1 साधारण बहुमत प्रणाली अथवा विजय स्तम्भ पर पहले पहुँचने की प्रणाली

MAADHYAM IAS

बहुलवादी प्रणाली, प्रतिनिधित्व की सबसे अधिक प्रचलित निर्वाचन प्रणाली है। इसे विजय स्तम्भ पर पहले पहुँचने (First-past-the-post) की प्रणाली, अथवा सामान्य बोलचाल की भाषा में साधारण बहुमत प्रणाली कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी निर्वाचन क्षेत्र में जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक मत प्राप्त हुए हों वही विजयी घोषित किया जाता है। भारत में लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य इसी पद्धति से चुने जाते हैं। इसी पद्धति से इंगलैण्ड के कॉमन सदन, अमेरिका के प्रतिनिधि सदन तथा कनाडा, फिलीपीन्स एवं वेनेज़ुएला के निचले सदनों के सदस्यों का निर्वाचन होता है। इस साधारण बहुमत प्रणाली में यह सम्भव है कि कोई उम्मीदवार आधे मतों से अधिक (स्पष्ट बहुमत) प्राप्त किए बिना ही जीत जाए क्योंकि इसमें सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाला विजयी घोषित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी क्षेत्र में तीन उम्मीदवारों को क्रमशः 40, 35 एवं 25 प्रतिशत मत प्राप्त हुए हों तो सर्वाधिक मत अर्थात् 40 प्रतिशत मत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार विजयी होगा। तीन प्रत्याशियों के चुनाव लड़ने की स्थिति में यदि दो को एक-तिहाई से कुछ कम मत प्राप्त होते हैं तो तीसरे प्रत्याशी को एक-तिहाई से थोड़े

अधिक प्राप्त होने पर भी वह जीत सकता है। जहाँ और भी अधिक (चार, पाँच, छह, इत्यादि) उम्मीदवार होंगे, वहाँ विजयी उम्मीदवार और भी कम मतों के आधार पर चुनाव जीत सकता है। चुनाव की इस पद्धति को "विजय स्तम्भ पर पहुँचने वाली पद्धति" (First Past the Post system)

है उसे ही प्रथम स्थान मिलता है, चाहे उसने कितना ही समय क्यों न लिया हो। चुनाव के संदर्भ में इसका यह अर्थ है कि प्रत्याशी का सर्वाधिक मत प्राप्त करके जीतना, भले ही उसे कुल डाले गए मतों में से आधे से भी कम मत प्राप्त हुए हों।

अनेक लोकतान्त्रिक देशों में बिना स्पष्ट बहुमत के विजय प्राप्त करने की इस प्रणाली को अवांछनीय माना जाता है। यह आपत्ति की जाती है कि इस पद्धति में बहुमत के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। यह भी कहा जाता है कि स्पष्ट बहुमत के अभाव में विजयी उम्मीदवार को प्रभावी वैधता प्राप्त ही नहीं होती, फिर भी वह सांसद या विधायक के रूप में अपने निर्वाचन क्षेत्रों का एकमात्र प्रतिनिधि होता है।

22.2.2 द्वितीय मतदान प्रणाली

यह सुनिश्चित करने के लिए कि जो भी उम्मीदवार जीतता है उसे कम से कम आधे मतों से अधिक अवश्य मत प्राप्त हुए हों, कुछ और प्रणालियों का प्रयोग भी किया जाता है। इनमें से एक पद्धति यह है कि तब तक बार-बार मतदान करवाया जाए जब तक किसी एक उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत न प्राप्त हो जाए। फ्रांस में, तीसरे और चौथे गणतन्त्र के संविधानों के अनुसार, राष्ट्रपति पद के लिए, देश की संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों में तब तक बार-बार मतदान करवाया जाता था जब तक किसी एक उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल जाता था लेकिन इस पद्धति का प्रमुख दोष यह था कि एक ही व्यक्ति को चुनाव जीतने के लिए बार-बार के मतदान में समय और धन का अपव्यय होता था। कुछ इसी प्रकार की मिलती-जुलती पद्धति का प्रयोग प्रति चार वर्ष बाद दोनों प्रमुख अमरीकी राजनीतिक दल अपने राष्ट्रीय सम्मेलनों में करते हैं। ऐसा पार्टी के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के चयन के लिया किया जाता है। बार-बार तब तक मतदान करवाया जाता है। जब तक कि किसी एक को स्पष्ट बहुमत न मिल जाए। स्पष्ट बहुमत प्राप्त व्यक्ति ही राष्ट्रपति पद के लिए उस दल का उम्मीदवार चुना जाता है। इसको मिली-जुली बहुमत-बहुल प्रणाली भी कहते हैं।

इस प्रणाली की दूसरी अधिक लोकप्रिय पद्धति फ्रांस के राष्ट्रपति तथा संसद के चुनाव के लिए अब प्रयोग में लाई जाती है। इस द्वितीय मतदान पद्धति (Second ballot system) में बार-बार मतदान नहीं होता। यदि आवश्यक हो तो केवल दूसरी बार मतदान करवाकर चुनाव का निर्णय कर लिया जाता है। यदि प्रथम मतदान में कोई उम्मीदवार 50 प्रतिशत से एक मत अधिक (स्पष्ट बहुमत) प्राप्त कर लेता है तो वह विजयी घोषित कर दिया जाता है, और द्वितीय मतदान नहीं होता। परन्तु यदि तीन या अधिक उम्मीदवारों में से किसी को भी स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तो किसी अन्य दिन (प्रायः एक सप्ताह बाद) दोबारा मतदान करवाया जाता है। परन्तु, इस बार केवल उन दो उम्मीदवारों के नाम ही मतपत्र पर होते हैं जिन्हें सबसे अधिक मत मिले हों, अर्थात् जो प्रथम दो स्थानों पर रहे हों। द्वितीय मतदान में बचे दो उम्मीदवारों में से जिस को भी बहुमत मिलता है वहीं विजयी घोषित कर दिया जाता है। फ्रांस के वर्तमान पाँचवें गणतन्त्र में राष्ट्रीय सभा के सदस्यों का चुनाव इसी द्वितीय मतदान प्रणाली से होता है।

MAADHYAM IAS

22.2.3 अन्य प्रणालियाँ

बहुमत पर आधारित दो अन्य प्रणालियाँ भी हैं, जो अधिक प्रचलित तो नहीं हैं, परन्तु उनकी उपयोगिता की विशेषज्ञों द्वारा प्रशंसा की जाती है।

1) **सीमित मत पद्धति** : इस पद्धति की खोज राजनीति-शास्त्री स्टीवेन जे. ब्रैम्स ने की थी। यह पद्धति बहुलवादी नियम का ही संशोधित रूप है। इस प्रणाली के अनुसार मतदाता किसी एक उम्मीदवार के स्थान पर अपनी पसंद के एक से अधिक उम्मीदवारों को मत दे सकता है। उदाहरण

के लिए यदि कोई पाँच-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र हो तो मतदाता एक से लेकर चार तक (जितने चाहे) मत दे सकता है। परन्तु पाँच मत देने से वे सभी अवैध हो जायंगे। यदि कई मतदाता दो या दो से अधिक मतों की सुविधा का प्रयोग करके किसी एक उम्मीदवार को विजयी बनवाना चाहें तो वह, अनेक उम्मीदवारों के होते हुए भी, उसे विजयी बना सकते हैं।

सीमित मत पद्धति, इस पद्धति को स्वीकृति पद्धति या मतदान (approval voting) भी कहा जाता है। इस का प्रयोग अनेक निजी संस्थानों में किया जाता है, परन्तु अभी तक विधान मंडलों में इसका प्रयोग कहीं नहीं किया गया है सन् 1990 के रूस, बेलारुस तथा यूक्रेन के संसदीय चुनावों में बहु-उम्मीदवारों की अनुमति दी गई थी। लेकिन मतदान का फार्मूला भिन्न था। इसमें मतदाताओं को कहा गया था कि वे जिन उम्मीदवारों को मत नहीं देना चाहते उनके नाम काट दें। इस प्रकार, अस्वीकृति पद्धति अपनाई गई, जिसे स्वीकृति पद्धति का पर्याय भी कहा जा सकता है। इन चुनावों में, सीमित मत पद्धति से हटकर कुछ नियम बनाए गए थे। अर्थात् यह आवश्यक था कि प्रत्येक क्षेत्र में कम से कम पचास प्रतिशत मतदाता मतदान अवश्य करें। साथ ही विजयी होने के लिए यह भी आवश्यक था कि कम से कम आधे से अधिक मत प्राप्त हों। यदि इनमें से कोई भी एक शर्त पूरी न हुई हो, तो पुनः मतदान करवाया जाना था।

2) **कौन्डोर्सेट पद्धति** (Condorset Method): इस पद्धति के जनक एक फ्रांसीसी गणितशास्त्री मार्किस डिकौन्डोर्सेट थे। उन्होंने अठारहवीं शताब्दी के बहुउम्मीदवारी संघर्ष को अनेक दो-उम्मीदवार संघर्षों में विभाजित करने की योजना बनाई थी। इस पद्धति के अंतर्गत मतदाताओं से कहा जाता है कि वे दो-दो उम्मीदवारों की जोड़ियों में से एक-एक के पक्ष में मतदान करें। उदाहरण के लिए यदि तीन उम्मीदवार हैं: क, ख और ग, तो मतदाताओं से अपेक्षा होगी कि वे **क** और **ख; क** और **ग**; तथा **ख** और **ग** में से एक-एक को चुनें। उस उम्मीदवार को विजय मिलेगी जो इन जोड़ियों में अन्य सबको पराजित कर दे। उदाहरण के लिए, यदि मतदाताओं का **क** को **ख** की अपेक्षा, तथा **क** को ही **ग** की अपेक्षा अधिक मत मिलें तो **क** ही विजयी होगा।

कुछ लोग इस प्रणाली की बहुत प्रशंसा करते हैं, जबकि अन्य अनेक इसमें दोष पाते हैं। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि हो सकता है कि विभिन्न जोड़ियों में से कोई भी एक ऐसा न हो जो अन्य सभी को पराजित कर सका हो। इस उदाहरण के लिए हम तीन प्रत्याशी और तीन मतदाताओं की संख्या को लेकर चलते हैं। पहले मतदाता का प्राथमिकता क्रम क, ख, ग (अर्थात् पहला मतदाता क और ख, ख और ग, ग और क को प्राथमिकता देता है) दूसरे मतदाता का प्राथमिकता क्रम ख, ग, क है तथा तीसरे मतदाता का ग, क, ख (कुल मिलाकर तीन मतदाताओं ने क और ख, ख और ग तथा ग और क) (प्रत्येक मामले में 2-1 बहुमत) प्राथमिकता दी है। इस प्रकार के उदाहरण अक्सर नहीं होते लेकिन यदि कहीं ऐसा हो जाए तो इसका समाधान वैकल्पिक मत जैसे अन्य अतिरिक्त नियम द्वारा किया जाता है।

इसके अतिरिक्त कौन्डर्सेट पद्धति मतदाताओं और गणकों दोनों के लिए ही उलझी हुई है। जब केवल तीन ही उम्मीदवार हों, और तीन ही जोड़ियाँ बनें तब तो निर्णय पर पहुँचना सरल है। परन्तु उदाहरण के लिए यदि चुनावी मैदान में आठ उम्मीदवार हों और उनकी 28 जोड़ियाँ बनें तो उनमें से किसी एक का चयन कर पाना अत्यंत कठिन कार्य होगा। तब प्रत्येक जोड़ी का तर्कसंगत आधार प्राथमिकताएँ निकालनी पड़ेंगी। कंप्यूटर के द्वारा आसानी से गणना कार्य किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

22.2.4 बहुमत-आधारित व्यवस्थाओं के दोष

बहुमत-आधारित निर्वाचन प्रणाली का एक प्रमुख दोष यह है कि बड़े दलों के प्रति पक्षपात होता है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता छोटे दलों के प्रति उदासीन रहते हैं। परिणाम यह होता है कि चुनाव परिणामों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न दलों द्वारा देश-भर में प्राप्त मतों और संसद में प्राप्त सीटों के अनुपात में भारी अंतर होता है। बड़े दलों को अनुपात से अधिक तथा छोटे दलों को प्राप्त मतों से कम स्थान प्राप्त होते हैं।

इंगलैण्ड में साधारण बहुमत प्रणाली के अनुसार संसदीय चुनाव इसका एक अच्छा उदाहरण पेश करते हैं। इंगलैण्ड में 1979 और 1992 के मध्य हुए चार आम चुनावों में कंजर्वेटिव पार्टी (अनुदार दल) को देश-व्यापी मतों के औसतन 42.6 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, परन्तु उसी दल (Conservative Party) को कॉमन सदन में लगभग 56 प्रतिशत स्थान प्राप्त हो गए। अर्थात् सदन में जिस दल को ज्यादा सीटें मिलीं उसे कुल 42.6 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए थे। जबकि इन्हीं चुनावों में लेबर पार्टी को औसतन 32.4 प्रतिशत मत मिले और उनको 37.8 प्रतिशत सीटों पर विजय प्राप्त हुई। तीसरे दल (लिबरल डेमोक्रेट इत्यादि) को 19.9 प्रतिशत मत मिलने के बावजूद केवल 2.9 प्रतिशत स्थान ही प्राप्त हो सके। क्षेत्रीय दलों (स्कॉटिश नेशनल पार्टी, वेल्श नेशनल पार्टी तथा उत्तरी आयरलैण्ड के क्षेत्रीय दल) को कुल मिलाकर 4.2 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, परन्तु उन्हें केवल 3.2 प्रतिशत सीटें ही मिली थी। इस प्रकार, सबसे बड़ी पार्टी (कंज़र्वेटिव) को अपने मतों के अनुपात से कहीं अधिक और तीसरे दल को मतों से कहीं कम स्थान प्राप्त हुए।

फ्रांस की राष्ट्रीय सभा के लिए 1993 के चुनाव में दो बड़े कज़र्वेटिव पार्टियों (अनुदार दलों) के गठबंधन को 79.7 प्रतिशत सीटें मिली, जबकि उन्हें प्रथम मतदान में केवल 39.5 प्रतिशत मत ही मिले थे। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि दूसरी बड़ी पार्टी की दृष्टि से अधिक क्षेत्रों में थोड़े से अंतर से अधिक स्थान प्राप्त हो जाएँ, और इस प्रकार उन्हें मत-अनुपात से कहीं अधिक सीटें प्राप्त हों और चुनाव जीत जाएँ। इंगलैण्ड में 1951 में और न्यूज़ीलैण्ड में 1978 और 1981 में ऐसा ही हुआ।

भारत में लोक सभा चुनाव में किसी भी दल ने किसी भी चुनाव में पचास प्रतिशत या उससे अधिक मत प्राप्त नहीं किए, चाहें अनेक बार काँग्रेस जैसे बड़े दल को मतों के अनुपात से कहीं अधिक सीटें मिली जैसे कि 1984 में (अधिकतम) 49 प्रतिशत मत लेकर उसे 543 में से 402 सीटें प्राप्त हो गई थीं। ऐसा चुनावी मैदान में अनेक दलों और उम्मीदवारों के कारण होता है। जीतने वाले उम्मीदवार को प्रायः हारने वाले सभी उम्मीदवारों को कुल प्राप्त मतों से कम मत प्राप्त होते हैं, परन्तु अनेक उम्मीदवारों में मत बँट जाने के कारण अल्पसंख्यक मतों के आधार पर अनेक उम्मीदवार जीत जाते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) साधारण बहुमत प्रणाली (विजय स्तम्भ पर पहले पहुँचने वाली प्रणाली) के दोष क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) किन दो देशों में मिली-जुली बहुमत-बहुल प्रणाली पाई जाती है?

....

....

....

3) द्वितीय मतदान प्रणाली क्या होती है?

....

....

....

....

....

....

....

22.3 आनुपातिक प्रतिनिधित्व

आनुपातिक प्रतिनिधित्व का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में इंगलैण्ड और फ्रांस को छोड़कर अनेक यूरोपीय देशों ने इस प्रणाली को अपनाया। अनेक देशों के संसदीय चुनावों में आज भी इसका प्रचलन है। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् 23 दीर्घ-कालीन लोकतन्त्रों में कभी लोकतन्त्र को धक्का नहीं लगा (जिनमें 15 पुराने पश्चिमी यूरोपीय लोकतन्त्र तथा संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, भारत, जापान, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, इज़राइल तथा कोस्टा रीका शामिल हैं)। 23 में से 15 ने मुख्य रूप से इस अवधि में आनुपातिक प्रतिनिधित्व को अपनाया, एक (जापान) ने अर्द्ध-आनुपातिक व्यवस्था के अनुसार चुनाव करवाए तथा शेष सात देशों में ही साधारण बहुमत पद्धति जारी रही।

जैसा कि इस प्रणाली के नाम से ही स्पष्ट है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व का उद्देश्य साधारण बहुमत प्रणाली के उस दोष को दूर करना है जिसके कारण मतों की संख्या एवं सीटों की संख्या में तालमेल या अनुपात नहीं होता। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के द्वारा मतों की संख्या और प्राप्त सीटों की संख्या में अधिक वास्तविक अनुपात हो सकता है। परन्तु, व्यवहार में इस प्रणाली से भी पूरी तरह आनुपातिक प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं हो पाता। साधारण बहुमत प्रणाली के विपरीत, आनुपातिक प्रतिनिधित्व वहीं लागू किया जा सकता है जहाँ निर्वाचन क्षेत्र बहु-सदस्यीय हों। अन्य शब्दों में, इस व्यवस्था का आधार यह है कि जहाँ तक सम्भव हो विधायिका में विभिन्न दल लगभग उस अनुपात में स्थान प्राप्त कर सकें जिस अनुपात में उन्हें मत प्राप्त हुए हों।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं:(1) एकल संक्रमणीय मत पद्धति, तथा (2) सूची प्रणाली।

22.3.1 एकल संक्रमणीय मत पद्धति

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की इस पद्धति को (1) हेयर प्रणाली भी कहते हैं क्योंकि इसका सुझाव टॉमस हेयर ने दिया था; तथा (2) पसंद या रुचि के अनुसार मतदान की प्रणाली भी कहा जाता है क्योंकि इस पद्धति में मतपत्र (Ballot paper) पर प्रत्येक मतदाता अपनी पसंद के उम्मीदवारों के नामों के सामने 1, 2, 3 इत्यादि लिखकर अपनी रुचि अभिव्यक्ति करते हैं, चाहे प्रत्येक मतदाता का एक ही मत होता है। यह पद्धति केवल अनेक सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों में ही लागू की जाती है। इसका अर्थ हुआ कि एक निर्वाचन क्षेत्र से दो या अधिक सदस्य चुने जाने होते हैं। परन्तु प्रत्येक मतदाता का एक ही मत (वोट) होता है, जिसे सम्बद्ध मतदाता की पसंद के उम्मीदवारों को हस्तांतरित किया जा सकता है। इसीलिए इसको एकल संक्रमणीय मत पद्धति कहते हैं। मतदान के पश्चात्, कुल डाले गए मतों को, स्थानों (सीटों) की कुल संख्या +1 से विभाजित करके भजनफल में 1 जोड़ा जाता है। यह जो संख्या प्राप्त होती है वह ही नियतांश (Quota) कहलाता है। किसी भी उम्मीदवार को जीतने के लिए इस कोटे के बराबर मत प्राप्त करने होते हैं। जो मत इस कोटे से अधिक (surplus) होते हैं उन्हें मतदाताओं की पसंद के अनुसार हस्तांतरित कर दिया जाता है। इसी प्रकार, जिन्हें सबसे कम मत प्राप्त हुए हों उनको एक-एक करके नीचे (कम मतों) से ऊपर के क्रम से हटा दिया (eliminate) जाता है, तथा उनके द्वारा प्राप्त सभी मतों को मतदाताओं की पसंद के दूसरे/तीसरे उम्मीदवारों को हस्तांतरित कर दिया जाता है। इस प्रकार जहाँ तक सम्भव हो मतदाताओं की पसंद के अनुपात में उम्मीदवार विजयी होते हैं। अतः कोई भी

MAADHYAM IAS

मत बेकार नहीं जाता। इस पद्धति को भारत की राज्य सभा के चुनाव में प्रयोग किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक राज्य की विधान सभा एक बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होती है और इस पद्धति से राज्य सभा के सदस्यों को चुना जाता है। इसी पद्धति से भारत में राज्यों की विधान परिषदों, ऑस्ट्रेलिया की सीनेट तथा माल्टा और आयरलैण्ड के संसदीय चुनाव होते हैं।

22.3.2 सूची प्रणाली

सूची प्रणाली, आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एक अन्य प्रमुख पद्धति है। इसका उपयोग भी बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में ही होता है। जितने सदस्य चुने जाने होते हैं, प्रत्येक पार्टी उतने-उतने उम्मीदवारों की सूचियाँ मतदाताओं के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। अतः, यदि किसी क्षेत्र से सात सदस्यों का निर्वाचन होना है तो प्रत्येक दल अपने सात उम्मीदवारों की सूची वरीयता के आधार पर तैयार करता है। अर्थात् पार्टी अपनी सूची में उसका नाम सबसे ऊपर रखती है जिसको वह प्रथम स्थान पर चुनवाना चाहती है। मतदाता किसी न किसी सूची के पक्ष में मतदान करते हैं, किसी उम्मीदवार के पक्ष में नहीं। एकल संक्रमणीय मत पद्धति की भान्ति सूची प्रणाली में भी प्रत्येक क्षेत्र में मतों का एक कोटा निर्धारित किया जाता है। किसी पार्टी की सूची के पक्ष में यदि प्राप्त मतों की संख्या उदाहरण के लिए कोटे के तीन गुणा के बराबर है तो उस सूची के ऊपर के तीन उम्मीदवार निर्वाचित घोषित कर दिए जायंगे। कोटे के आधे से अधिक मतों को एक कोटा गिना जाता है तथा आधे से कम को छोड़ दिया जाता है।

स्विट्ज़रलैण्ड में संसदीय चुनावों के लिए इस पद्धति का किंचित परिवर्तित रूप में प्रयोग में लाया जाता है। वहाँ प्रत्येक मतदाता को सूचियों के अतिरिक्त एक ख़ाली मतपत्र भी दिया जाता है। कोई मतदाता या तो किसी एक सूची के पक्ष में मतदान कर सकता है, या फिर विभिन्न सूचियों में से नाम लेकर अपनी एक सूची बना सकता है।

22.3.3 अर्द्ध-आनुपातिक प्रणाली

कुछ देशों ने आंशिक (या अर्द्ध) आनुपातिक प्रणाली अपनाई है। राष्ट्रीय स्तर पर, जापान ने प्रतिनिधि सदन के चुनाव में 1947 से 1993 तक एकल-ग़ैर हस्तांतरणीय पद्धति अपनाई गई। इस पद्धति में बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों (जापान में प्रायः 3, 4 या 5 सदस्यीय) में प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार था। वे उम्मीदवार जिन्हें सबसे अधिक मत प्राप्त हों निर्वाचित घोषित कर दिए जाते हैं। इस पद्धति में (जिसे सीमित मत पद्धति भी कह सकते हैं) छोटे राजनीतिक दलों को भी कुछ न कुछ स्थान प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, किसी चार-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में यदि कोई पार्टी केवल एक उम्मीदवार खड़ा करती है, और उसे 20 प्रतिशत से अधिक मत मिल जाएँ तो वह अवश्य निर्वाचित हो सकता है। ऐसा, बिना औपचारिक आनुपातिक पद्धति के प्रयोग किए सम्भव हो सकता है।

एक अन्य प्रथा का प्रयोग जातीय अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए किया जा सकता है। यह न तो साधारण बहुमत प्रणाली है, और न आनुपातिक न्यूज़ीलैण्ड में कुछ माओरी (Maori) क्षेत्र हैं जिनमें केवल माओरी मतदाता ही मतदान कर सकते हैं। भारत के संविधान में प्रावधान है कि कुछ विशेष वर्गों (अनुसूचित जातियों और जनजातियों) को संसद और विधान सभाओं में आरक्षण प्राप्त होगा। भारत की व्यवस्था के अनुसार, कुछ क्षेत्रों को आरक्षित क्षेत्र घोषित किया गया है जहाँ से केवल अनुसूचित जाति या जनजाति के उम्मीदवार ही चुने जा सकते हैं, चाहे मतदान का अधिकार क्षेत्र के सभी मतदाताओं को होता है। यह मात्र आरक्षण है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं।

MAADHYAM IAS

22.3.4 स्लेट प्रणाली

यह एक अनोखी व्यवस्था है। इस पद्धति के द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका में, राष्ट्रपति के चुनाव के लिए गठित किए जाने वाले निर्वाचक मंडल (Electoral College) के सदस्यों के चुनाव के लिए किया जाता है। प्रत्येक राज्य में (चुने जाने वाले निर्वाचकों की संख्या के बराबर) विभिन्न दल अपनी-अपनी सूची तैयार करते हैं। इस सूची को स्लेट कहा जाता है। मतदाता किसी एक

उम्मीदवार को अपना मत न देकर, किसी एक सूची (स्लेट) के पक्ष में मतदान करते हैं। जिस स्लेट को बहुसंख्यक मत प्राप्त होते हैं वह पूरी की पूरी स्लेट (सूची) चुन ली जाती है। दूसरी सूची में से कोई भी निर्वाचित नहीं होता। अतः, यदि किसी सूची के पक्ष में 51 प्रतिशत मत पड़ें तो वह पूरी चुन ली जायगी। इस प्रकार उदाहरण के लिए कैलीफ़ोर्निया (California) राज्य में 51 प्रतिशत मत डैमोक्रेट्स की सूची को मिलते हैं तो उसके सभी 54 डैमोक्रेट्स चुन लिए जायंगे, तथा रिपब्लिकन पार्टी का एक भी डैमोक्रेट्स नहीं होगा। इसे हम साधारण बहुमत प्रणाली का एक रूप कह सकते हैं।

22.3.5 सामूहिक मत प्रणाली

इस प्रणाली को भी आंशिक आनुपातिक पद्धति की श्रेणी में रख सकते हैं। इसमें यदि कोई धार्मिक, जातीय या भाषायी अल्पसंख्यक वर्ग चाहे तो अपने सभी मत एक उम्मीदवार के पक्ष में डालकर उसकी विजय सुनिश्चित कर सकते हैं। यह प्रणाली भी बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में ही लागू होती है। अतः, यदि किसी क्षेत्र से दस सदस्य चुने जाने हैं तो प्रत्येक मतदाता को दस मत देने का अधिकार होगा। वह जिस प्रकार चाहे उन दस मतों का प्रयोग करे। चाहे तो वह दस अलग-अलग उम्मीदवारों को एक-एक मत दे, या उन्हें दो या तीन उम्मीदवारों में विभाजित कर दे, या फिर सभी दस मत एक ही उम्मीदवार के पक्ष में दे दे। मतपत्र पर किस को कितने मत दिए उसकी संख्या लिखनी होती है। मतदाता स्वेच्छा से 1, 2, 5 या फिर 10 जितने मत किसी को भी देना चाहे लिख देगा, परन्तु मतों का योग दस से अधिक नहीं होना चाहिए। मतगणना के पश्चात् वे दस उम्मीदवार चुने जायंगे जिन्हें सबसे अधिक मत मिलें होंगे।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) कुछ देशों ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को क्यों अपनाया है?

....
....
....
....
....

2) सूची प्रणाली तथा एकल संक्रमणीय मत पद्धति में क्या अंतर है?

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

3) एकल संक्रमणीय मत पद्धति का वर्णन कीजिए।

....
....
....
....
....

4) सामूहिक मत प्रणाली क्या है?

....

....

....

....

....

22.4 चुनावी प्रक्रिया तथा राजनीतिक दल

चुनावी प्रक्रिया सम्बन्धी चर्चा में दो प्रमुख प्रकरण सामने आते हैं। प्रथम का सम्बन्ध चुनावी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व की आनुपातिकता, और अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की सम्भावना के साथ है। दूसरे का सम्बन्ध दलों पर चुनावी प्रक्रिया के प्रभाव से है। जिसके परिणामस्वरूप फलस्वरूप लोकतान्त्रिक सरकार के प्रभावी होने को सुनिश्चित किया जा सकता है।

किसी एक ही पद के लिए होने वाले चुनाव स्वभावतः साधारण बहुमत पर आधारित तथा ग़ैर-आनुपातिक होते हैं। परन्तु, द्वितीय मतदान प्रणाली उन दलों को विजय के अवसर प्रदान करती है जिनका प्रदर्शन मतदान के प्रथम दौर में अच्छा रहा हो। मतदान के दो दौरों के बीच सौदेबाज़ी हो सकती है, तथा उन्हें उन चुनावों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। बहुलवादी व्यवस्था में बड़े दलों को प्रोत्साहन मिलता है। ऐसी व्यवस्था में दो दलीय प्रणाली के विकास में सहायता मिलती है। दो-दलीय व्यवस्था में भी विधायिका में छोटे दलों को कुछ स्थान प्राप्त करने की सम्भावना अवश्य रहती है। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड के कॉमन सदन में सामान्यतः बड़े-छोटे दस दल तो होते हैं किन्तु प्रभुत्व केवल दो ही दलों का रहता है जिनमें से एक सत्तारूढ़ होता है तथा दूसरा मुख्य विपक्षी दल होता है।

बहुलवादी (बहुमत आधारित) साधारण बहुमत प्रणाली में जिस एक दल को संसद में आधी सीटें मिलती हैं, हो सकता है उसे प्राप्त राष्ट्रव्यापी मतों का योग आधे से कहीं कम हो। भारत, इंगलैण्ड, न्यूज़ीलैण्ड इत्यादि देशों में अनेक बार ऐसा हुआ है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली वाले देशों में प्रायः बहुदलीय व्यवस्था पाई जाती है, परन्तु उनमें किसी भी एक दल को स्पष्ट बहुमत कभी नहीं मिलता। इसी कारण संसदीय प्रणाली वाली सरकारें या तो अल्प-मतों के आधार पर चुनी हुई सरकारें होती हैं जिन्हें ज्यादा सीटें मिल जाती हैं, या फिर वे मिली-जुली (coalition) सरकारें होती हैं। सामान्य तर्क यह है कि दो दलीय व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ होती है, क्योंकि इसमें किसी एक दल को निश्चित रूप से बहुमत मिलता है, और सरकारों को स्थायित्व प्राप्त होता है। इसके विपरीत साझी (मिली-जुली) सरकारें अस्थिर होती हैं, उन्हें बार-बार दलीय सिद्धान्तों से समझौते करने पड़ते हैं, तथा निर्णय करना प्रायः कठिन हो जाता है।

जब हम द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् के पश्चिम के विभिन्न संसदीय लोकतन्त्रों की पारस्परिक तुलना करते हैं तब पाते हैं कि दो-दलीय प्रणालियाँ, किसी भी प्रकार से, बहुदलीय प्रणालियों से श्रेष्ठ सिद्ध नहीं हुईं। यह बात अर्थव्यवस्था के प्रबंध (आर्थिक विकास करने, मुद्राव स्फीति और बेरोज़गारी पर नियंत्रण) और क़ानून-व्यवस्था बनाए रखने, दोनों के संदर्भ में सही है। दो दलीय प्रणाली के आलोचकों का तर्क है कि जर्मनी जैसे बहुदलीय लोकतन्त्र निरंतरता, मज़बूती और कार्यकुशलता में इंगलैण्ड की दो-दलीय प्रणाली की तुलना में अधिक सक्षम रहे हैं। उनका मत है कि एक शक्तिशाली (strong) हाथ की अपेक्षा एक परिश्रमी/संतुलित/गंभीर/एकसमान अथवा मज़बूत (steady) हाथ कहीं बेहतर है और मध्यमार्गी मिली-जुली सरकारें, सार्वजनिक नीति को दो दलीय वैकल्पिक सरकारों की अपेक्षा अधिक निरंतरता प्रदान करती हैं। इसी प्रकार, धार्मिक और भाषायी विविधता वाले समाजों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व और मिली-जुली सरकारें, संकीर्ण एक दल की (दो दलीय में) सरकारों की अपेक्षा ऐसी नीतियाँ अपनाने में अधिक सफल होती हैं जो सामान्य रूप से अधिक मान्य होती हैं।

MADHYAM IAS

दो दलीय सरकारों का महत्वपूर्ण गुण है कि उनमें उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जा सकता है।

मतदाता जानते हैं कि पिछली नीतियों के लिए कौन-सी पार्टी उत्तरदायी थी। जब वे नीतियाँ सफल पाई जाती हैं तो मतदाता उसी पार्टी को पुनः सत्तारूढ़ कर देते हैं। परन्तु यदि ये नीतियाँ उन्हें स्वीकार्य नहीं होतीं, तो मतदाता दूसरे दल को जनादेश देकर सत्तारूढ़ कर देते हैं। परन्तु, उत्तरदायित्व का यह अर्थ नहीं है कि यह सरकार जन-हित के प्रति अधिक जागरूक होती है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि एक दल की सरकारों की अपेक्षा अनेक दलों की मिली जुली सरकारें जनहित के प्रति कम सजग तथा उत्तरदायी होती हैं। दूसरी ओर, मिली-जुली सरकारें प्रायः राजनीतिक परिवेश के केन्द्र में पाई जाती हैं। इस प्रकार उनकी वैचारिक स्थिति वामपंथी या फिर दक्षिणपंथी विचारधारा के शिकंजे में जकड़ी एक दल की सरकार की वैचारिक स्थिति के स्थान पर औसत मतदाता के अधिक निकट होती है। परन्तु, जिस प्रकार आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थक इस पद्धति के पक्ष में सब कुछ दाँव पर लगा देते हैं, उसी प्रकार दो-दलीय प्रणाली में विश्वास करने वाले इसे कुशलता के शिखर पर बैठा देते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थक और आलोचक दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि साधारण बहुमत प्रणाली की अपेक्षा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पर आधारित चुनावों में अधिक उचित अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इसका परिणाम होता है अल्पसंख्यकों का बेहतर प्रतिनिधित्व। इसमें छोटे दल ही नहीं, धार्मिक, भाषायी और जातीय अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना भी शामिल है। यही नहीं, आनुपातिक प्रतिनिधित्व से महिलाओं को भी अन्य पद्धतियों की अपेक्षा अधिक औचित्यपूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है।

22.4.1 पार्टी एकता और लगाव

राजनीतिक दलों की एकता और लगाव (cohesion) तथा दलों के मध्य गठबंधनों पर चुनावी प्रक्रिया का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि किसी एक ही दल के सदस्य एक-दूसरे के विरुद्ध चुनाव लड़ते हैं तो इससे पार्टी की एकता को धक्का लगता है।

पार्टी एकता के सम्बन्ध में, बहुमत-आधारित (साधारण बहुमत) प्रणाली तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धतियों में स्पष्ट भेद दिखाई देता है। बहुमत पर आधारित व्यवस्था में एक ही दल के सदस्यों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती है, परन्तु अमेरिका में राष्ट्रपति चुनाव से पूर्व जो पार्टी प्राईमरी होती हैं उनमें अवश्य ही एक ही दल के सदस्यों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता अवश्य होती है।

सूची प्रणाली के दो रूप होते हैं। वे हैं बन्द-सूची तथा खुली-सूची पद्धतियाँ। बन्द सूची में मतदाता किसी न किसी पूरी सूची के पक्ष में मतदान करते हैं। इज़राइल में यही होता है। उन्हें सूचियों में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होता। दूसरी ओर सूचियाँ पूरी तरह खुली होती हैं। फिनलैण्ड में यह परम्परा है कि मतदाता किसी एक सूची के पक्ष में मतदान करने के साथ-साथ पार्टी के किसी एक उम्मीदवार के पक्ष में भी मत देते हैं। इस प्रकार मतदाता यह सुनिश्चित करते हैं कि विजयी सूची में से कौन-से उम्मीदवार चुनाव जीतेंगे। इन दोनों के मध्यम बेल्जियम की सूची प्रणाली है। वहाँ मतदाता चाहे तो किसी सम्पूर्ण सूची के पक्ष में मतदान कर सकता है, या फिर वह किसी एक उम्मीदवार के पक्ष में भी। वहाँ सूची में जिन लोगों के नाम नीचे की ओर दर्ज होते हैं यदि उन्हें ऊपर दर्ज नाम व्यक्ति से अधिक संख्या में व्यक्तिगत मत मिल जाएँ तो वे भी विजयी हो सकते हैं।

पार्टियों के बीच गठबंधनों को वैकल्पिक मत, एकल संक्रमणीय मत पद्धति, द्वितीय मतदान प्रणाली तथा सूची प्रणाली से प्रोत्साहन मिलता है। ऑस्ट्रेलिया की लिबरल पार्टी तथा नेशनल पार्टी के बीच स्थायी गठबंधन को चुनावी प्रक्रिया से प्रोत्साहन मिला है। इसी प्रकार, अस्थायी रूप से अर्थात् कभी-कभी, आयरलैण्ड की लेबर पार्टी तथा फाईन जेल (Fine Gael) के बीच भी गठबंधन चुनावी प्रक्रिया के कारण सम्भव हो पाता है। कुछ इसी प्रकार का गठबंधन फ्रांस की बहुदलीय, परन्तु दो गुटों की, दलीय व्यवस्था में भी पाया जाता है। वहाँ वामपंथी दलों तथा दक्षिण पंथी दलों के दो गठबंधन, या गुट, प्रायः उभर कर आते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) चुनाव प्रक्रिया सम्बन्धी विवाद या चर्चा के प्रमुख प्रकरण क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

2) दो दलीय व्यवस्था के पक्ष में पारम्परिक तर्क क्या है?

....

....

....

....

....

....

....

22.5 सारांश

आधुनिक प्रतिनिधि लोकतान्त्रिक सरकारों के लिए चुनावी प्रक्रियाएँ, अनेक कारणों से महत्वपूर्ण होती हैं। प्रथम, चुनावों के परिणामों से प्राप्त आनुपातिकता के मान, दलीय व्यवस्था, स्थापित किए जा सकने वाले मन्त्रिमंडलों के स्वरूप, सरकार के उत्तरदायित्व तथा दलों की एकता इत्यादि पर चुनावी प्रक्रिया के महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं। द्वितीय, लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्य तत्वों की अपेक्षा चुनावी प्रक्रिया को अधिक सरलता से संचालित किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि लोकतान्त्रिक सरकार की प्रणाली में कोई परिवर्तन करना हो तो ऐसा करने के लिए निर्वाचन पद्धति सर्वश्रेष्ठ साधन है।

चुनावों की सबसे अधिक प्रचलित प्रणाली है – साधारण बहुमत प्रणाली या विजय स्तम्भ पर सबसे पहले पहुँचने वाली प्रणाली। इस पद्धति में उस उम्मीदवार को विजयी घोषित किया जाता है जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं, (भले ही वे कुल डाले गए मतों के आधे से कम ही क्यों न हों)। इस पद्धति मे उदाहरण के लिए चालीस प्रतिशत मत पाने वाला भी चुना जा सकता है, क्योंकि शेष मत अनेक अन्य उम्मीदवारों में विभाजित हो जाते हैं। लेकिन इससे बहुसंख्यक जनता को प्रतिनिधित्व प्राप्त ही नहीं हो पाता है।

दूसरी ओर, साधारण बहुमत प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए अनेक देशों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ अपनाई गई हैं। इनके द्वारा डाले गए मतों तथा विभिन्न दलों और वर्गों को प्राप्त सीटों में प्रायः उचित अनुपात पाया जाता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ बहु-सदस्यीय चुनाव क्षेत्रों में लागू की जाती हैं।

MADHYAM IAS

परन्तु, उचित आनुपातिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के अलावा भी इन पद्धतियों के अनेक लाभ हैं। अधिक विकल्प उपलब्ध होने तथा मतों के व्यर्थ न चले जाने की सम्भावना के फलस्वरूप अधिक संख्या में मतदाता मतदान करने आते हैं। द्वितीय, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के द्वारा राष्ट्र-व्यापी पार्टी-गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता है। उन क्षेत्रों में भी जहाँ किसी पार्टी का संगठन कम शक्तिशाली हो, तथा जहाँ उसकी पकड़ कम हो वहाँ भी प्रत्येक पार्टी को कुछ न कुछ मत प्राप्त करने की सम्भावना रहती है।

22.6 शब्दावली

साधारण बहुमत प्रणाली अथवा विजय स्तम्भ पर पहले पहुँचने वाली प्रणाली : इस पद्धति में कुल डाले गए मतों की बहुसंख्या की चिंता किए बिना, जिस भी उम्मीदवार को साधारण बहुमत मिलता है, अर्थात् सबसे अधिक मत मिलते हैं (जो सबसे पहले विजय स्तम्भ पर पहुँच जाता है) उसे ही निर्वाचित घोषित्त कर दिया जाता है।

बारम्बार अथवा अनेक (Repeat) मतदान प्रणाली: इस पद्धति में दो, तीन, चार या उससे अधिक बार तब तक मतदान करवाया जाता रहता है जब तक कि किसी उम्मीदवार को डाले गए मतों का स्पष्ट बहुमत (आधे से अधिक मत) प्राप्त न हो जाए।

साधारण द्वितीय मतदान प्रणाली : सामान्यतया किसी भी उम्मीदवार को जीतने के लिए स्पष्ट बहुमत मिलना चाहिए। यदि प्रथम मतदान में किसी को आधे से अधिक मत मिलें तो वह जीत जाता है, अन्यथा दूसरी बार मतदान करवाया जाता है। इस बार जिसे भी सर्वाधिक मत मिलते हैं, उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

बहुमत द्वितीय मतदान प्रणाली : इस पद्धति में विजय के लिए स्पष्ट बहुमत अवश्य मिलना चाहिए। यदि प्रथम दौर के मतदान में किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत न मिले तो दूसरी बार मतदान होता है जिसमें मतपत्र पर केवल उन दो उम्मीदवारों के नाम होते हैं जिन्हें (प्रथम मतदान में) सबसे अधिक मत मिले हों। इन दो में से अधिक वोट पाने वाला विजयी होता है।

सामूहिक मत प्रणाली : इस पद्धति में मतदाताओं को प्रत्याशियों को प्राथमिकता के क्रम से लगाने के लिए कहा जाता है। मतगणना के पहले चरण में केवल प्रथम वरीयता प्राप्त उम्मीदवारों पर विचार किया जाता है। यदि कोई उम्मीदवार बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता तो उसका नाम हटा दिया जाता है और दूसरे क्रम के अनुसार कमज़ोर उम्मीदवार को पड़े मतो को प्रथम प्राथमिकता प्रदान कर दी जाती है।

दोहरा समानान्तर मत : इस पद्धति में विभिन्न दलों के उम्मीदवार खुले तौर पर (बिना पार्टी सूची में) चुनाव लड़ते हैं। मतदाता किसी भी एक उम्मीदवार के पक्ष में मतदान कर सकते हैं। इसका अर्थ सम्बद्ध उम्मीदवार की पार्टी के लिए किया गया मतदान भी माना जाता है।

MAADHYAM IAS

स्वीकृति मतदान : मतदान की इस प्रणाली के अनुसार, मतदाता किसी एक उम्मीदवार के स्थान पर अपनी पसंद के एक से अधिक उम्मीदवारों को मत दे सकते हैं।

कॉन्डरसेट प्रणाली : इस प्रद्धति में दो-दो उम्मीदवारों की जोड़ियों में से मतदाता किसी भी जोड़ी के पक्ष में वोट देता है। विभिन्न जोड़ियों में कोई न कोई साझा उम्मीदवार होता है। जिस उम्मीदवार को अधिकांश मत मिलते हैं उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है।

22.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Barber, Benjamin R. (1984) Strong Democracy, Berkeley: University of California Press.

Grofman, Bernard and Arend Lijphart (eds.) (1986) Electoral Laws and *Their Political* Consequences, New York: Agathon Press.

Lijphart, Arend. (1994) Electoral Systems *and* Party Systems, Oxford: Oxford University Press.

Lipset, S. and S. Rokkan (eds.) (1967) Party Systems *and* Voter *Alignments, New* York.

Nurmi, Hannu (1987) Comparing Voting Sysfems, Dordrecht, The Netherlands: Reidel.

Rokkan, S. (1970) Citizens, Elections, Parties, New York.

22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रथम, यदि विजयी उम्मीदवार को डाले गए मतों के आधे से भी कम मत प्राप्त होते हैं, और शेष मत अनेक उम्मीदवारों में विभाजित हो जाते हैं, तो यह लोकतन्त्र के बहुमत सिद्धान्त के विरुद्ध हुआ। द्वितीय, आधे से कम मत प्राप्त विजयी उम्मीदवार को लोकतान्त्रिक मान्यता नहीं मिलती।
2) फ्रांस तथा अमेरिका।
3) यदि प्रथम मतदान के पहले दौर में किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तब दूसरी बार मतदान में ऊपर के दो उम्मीदवारों में से चुनाव किया जाता है और उनमें से अधिक वोट जिसे मिलें वह विजयी होता है।

बोध प्रश्न 2

1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व, साधारण बहुमत प्रणाली के दोष को दूर करने का साधन है। इससे मतों की संख्या तथा चुने गए उम्मीदवारों एवं उनके दलों के मध्य समुचित अनुपात स्थापित होता है। (देखें भाग 22.3)
2) सूची प्रणाली में मतदाता किसी एक पार्टी की सूची के पक्ष में मतदान करते हैं, जबकि एकल संक्रमणीय मत पद्धति में मतदाता अपनी पसंद के अनुसार अपने मत को हस्तांतरित करवाने का संकेत कर सकते हैं। (देखें भाग 22.3.1 और 22.3.2)
3) प्रत्येक मतदाता का एक मत होता है (निर्वाचन क्षेत्र बहु-सदस्यीय होते हैं)। मतदाता अपनी पसंद का संकेत करते हैं, जिसके अनुसार यदि आवश्यक हो तो मत हस्तांतरित किए जा सकते हैं। एक कोटा निर्धारित किया जाता है। उसके बराबर मत पाने वाले विजयी होते हैं। विजयी उम्मीदवार के अतिरिक्त मत और कम मत प्राप्त उम्मीदवारों के मतों को अन्य उम्मीदवारों को हस्तांतरित कर दिए जाते हैं ताकि वे कोटा पूरा कर सकें और जीत जाएँ। (देखें भाग 22.3.1)
4) सभी मत एक ही उम्मीदवार के पक्ष में डाले जा सकते हैं, या फिर उन्हें मतदाता विभिन्न उम्मीदवारों के पक्ष में विभाजित कर सकता है। (देखें भाग 22.3.5)

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) प्रथम, प्रतिनिधित्व का आनुपातिकता पर प्रभाव, तथा द्वितीय, चुनावी प्रक्रिया का राजनीतिक दलों पर प्रभाव। (देखें भाग 22.4)
2) दो दलीय प्रणाली बेहतर है, क्योंकि इसमें किसी एक दल की सरकार बनती है जो सशक्त होती है, तथा आसानी से निर्णय कर सकती है। इसके विपरीत, बहु-दलीय प्रणाली की मिली-जुली सरकारें अस्थायित्व का शिकार होती हैं, तथा उन्हें नीतियों के साथ समझौते करने पड़ते हैं। (देखें भाग 22.4)

इकाई 23 श्रम संगठन आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 श्रम संगठन सिद्धान्तवादियों के विचार
23.3 व्यवहारवादी सिद्धान्त
23.3.1 व्यवहारवादी सिद्धान्त के आलोचक
23.4 अराजकतावादी श्रम संघवादी सिद्धान्त
23.4.1 श्रम संघवादी
23.5 मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त
23.5.1 अराजकतावाद और मार्क्सवाद में अंतर
23.5.2 श्रम संगठन आन्दोलन पर लेनिन के विचार
23.6 नव वामपंथी विचार
23.6.1 सुधारवादियों की लेनिन द्वारा आलोचना
23.6.2 नव वामपंथ
23.7 विकासशील देशों में श्रम संगठन आन्दोलन की विशिष्टताएं
23.8 विभिन्न देशों में श्रमिक संघ आन्दोलन
23.8.1 संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रमिक संघ आन्दोलन
23.8.2 यूनाइटिड किंगडम में श्रमिक आन्दोलन
23.8.3 समाजवादी राज्य में श्रमिक संगठन आन्दोलन : पूर्व सोवियत संघ
23.9 भारतीय श्रमिक संघ आंदोलन
23.10 सारांश
23.11 शब्दावली
23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य श्रम संगठन आन्दोलन का संक्षिप्त लेखा प्रस्तुत करना है। साथ ही श्रम संगठन आन्दोलन के विभिन्न सिद्धान्त और विभिन्न देशों में श्रम संगठन के कार्य संचालन को भी प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप :

- श्रम संगठन आन्दोलन के विभिन्न सिद्धान्तों को समझ सकेंगे;
- उदारवादी, मार्क्सवादी और अराजकतावादी सिद्धान्तों में अंतर कर सकेंगे;
- विभिन्न देशों में श्रम संगठन आन्दोलन के विकास और प्रकृति को समझ सकेंगे; तथा
- भारत में श्रम संगठन आन्दोलन के उद्भव और विकास को समझ सकेंगे।

MAADHYAM IAS

23.1 प्रस्तावना

मानव का सामाजिक जीवन उसके कार्य पर निर्भर करता है। कार्य की प्रकृति समय और स्थान के अनुसार बदलती रहती है। श्रमिकों की विभिन्न प्रकार की श्रेणियाँ व सम्बन्ध होते हैं। आधुनिक युग में उद्योगों के विकास के साथ औद्योगिक श्रमिकों की एक श्रेणी होती है जो श्रमिक वर्ग का प्रमुख हिस्सा होते हैं। वर्ग की अवधारणा से जुड़े अनेक सिद्धान्त और विवाद हैं। 'श्रमिक वर्ग' क्या है से जुड़े अनेक सिद्धान्त हैं। जब भी 'श्रमिक वर्ग' शब्दों का प्रयोग होता है इससे उन लोगों का बोध होता है जो अपने श्रम का विक्रय कर अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। इसमें यह भी मान्यता है कि कुछ लोग श्रम क्रय करते हैं। श्रमिक वर्ग एक-दूसरे से हाथ मिलाकर या एकजुट होकर

अपनी सौदेबाज़ी की क्षमता को बढ़ा सकते हैं। उनके आपस में इस प्रकार मिलने को श्रम संघवाद कहा जाता है।

आधुनिक युग में श्रम संघवाद के विकास पर एक नज़र डालने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि विश्व मंच पर श्रम संगठन आन्दोलन, औद्योगिक श्रमिक वर्ग तथा पूँजीवाद का उदय साथ साथ हुआ। राज्य द्वारा समर्थित शक्तिशाली पूँजीवादी वर्ग का सामना श्रमिक वर्ग केवल संगठित होकर ही कर सकता था। इस कारण पूँजीवादी वर्ग ने श्रमिकों की संगठनबन्दी का कभी स्वागत नहीं किया। उसने सदा श्रमिकों के किसी भी संगठन को कुचला है। पूँजीवादी वर्ग का हित व्यक्तिगत रूप से एक श्रमिक से सौदेबाज़ी करने में होता है न कि श्रमिकों के सामूहिक संगठन से जबकि श्रमिकों के अनुभव ने उन्हें सिखाया है कि वे पूँजीवादियों का अकेले नहीं केवल एक जुट होकर सामना कर सकते हैं।

आरम्भ से ही पूँजीवादियों ने श्रमिक संगठनों पर प्रहार किया है। राज्य ने भी अपने संयंत्र - विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका के समर्थन से उन्हें सहयोग दिया है। श्रमिक संगठनों पर रोक लगाने के लिए कानून बनाए गए।

जी. डी. एस कोल का विचार है कि "ग्रेट ब्रिटेन में अठारहवीं शताब्दी में ऐसे कई कानून बने जिन्होंने विशिट उद्यमों में श्रमिकों की एक जुटता पर रोक लगाई।" उनका कहना है कि 1799 और 1800 के संयुक्त (combination) अधिनियमों का उद्देश्य इन संगठनों को ग़ैर-कानूनी घोषित कर उन पर और रोक लगाना था। इस प्रकार इन्हें सार्वजनिक हितों के विरुद्ध घोषित कर व इन कानूनों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही को सरल बनाया गया। 1799 व 1800 के संयुक्त अधिनियमों को एकजुटता पर प्रतिबन्ध का आरंभ नहीं मानना चाहिए। वास्तव में यह तो उन कानूनों की परिणति थी जो संसद ने 1548 के **बिल ऑफ़ कांस्पिरेसीज़ व विक्युअलर्स व ड्राफ्ट्समैन** - जो मज़दूरी बढ़ाने तथा काम के घंटे कम करने की माँग को लेकर संगठन बनाने के विरुद्ध पारित किए गए थे। श्रम संगठनों को बदनाम किया गया और उन्हें उद्योगों को तोड़ने, अर्थव्यवस्था के ह्रास तथा समाज के कोमल तंतु को जोड़ने वाले सामाजिक अधिकारों व विशेषाधिकारों को क्षीण करने वाला ठहराया गया।

श्रमिक संगठनों के विरुद्ध सिद्धान्तवादियों ने राज्य के उन अधिकारों को स्वीकार किया जो श्रमिकों के किसी भी प्रकार के संगठन पर प्रतिबन्ध लगा सकते थे और इसका आधार 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सार्वभौमिक अधिकार' माना गया। पूँजीवाद के यह दार्शनिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के संपूर्ण अधिकार के नाम पर यह सिद्ध करने लगे कि 'संगठनबाजी समझौते में प्रवेश करने के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के संप्रभु अधिकार का हनन है।' न्यायालयों ने भी इस दलील को स्वीकारा और ऐसे सभी गठबन्धनों को ग़ैर-कानूनी घोषित करने की प्रवृत्ति दर्शाने लगे। इसका आधार यह था कि इनके द्वारा लोगों की अपने मनमाने ढंग से अपने श्रम का प्रयोग करने की 'प्राकृतिक' स्वतन्त्रता पर बंधन लगता है। रुढ़िवादी अर्थशास्त्री (पूँजीवादी व्यवस्था के वक्त) भी श्रमिकों के संगठनों का विरोध करने लगे और यह मानने लगे कि "उद्योगों के उत्पाद में मज़दूरी का भाग अटल है जो जनसंख्या के नियंत्रण व विकास के कानूनों पर आधारित हैं।" यह कहा गया कि "मज़दूरी जीवन निर्वाह के स्तर से कभी आगे नहीं बढ़ सकती क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो अधिक बच्चे पैदा होंगे या अधिक जीवित रहेंगे और अतिरिक्त श्रम संभव हो सकेगा।"

MAADHYAM IAS

अतः अपने को संगठित करने के अधिकार को मान्यता दिलाने के लिए मज़दूरों को संघर्षरत होना पड़ा। कई देशों में उन्होंने गुप्त समूह बनाए ताकि श्रमिकों की एकता के मूल अधिकार को प्रश्रय दिया जा सके। कोल के अनुसार, "आरंभिक श्रम संगठनों को कठोर संघर्ष करना पड़ा। जिन लोगों ने इनके संगठन की अगुवाई की उन्हें अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ा और नई नौकरी मिलना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त जिन्होंने हड़तालों का संगठन किया या मात्र श्रम संगठन की स्थापना का अपराध किया या सामूहिक माँगें की उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।" श्रमिकों को उत्पीड़न और दमन का सामना करना पड़ा। अंततः सभी बाधाओं को पार कर वे संगठन का अधिकार पाने में सफल हुए। 1824 में ग्रेट ब्रिटेन में श्रमिकों के गठबन्धनों का विरोध करने वाले

कानून वापस ले लिए गए। यह पर्याप्त नहीं था क्योंकि अधिनियम में कई खामियाँ थीं। यह कहने की बात नहीं कि कारखानों के मालिक किसी न किसी भांति उनके अधिकारों को अस्वीकार करते रहे। यह भी स्पष्ट होने लगा कि श्रमिकों के अधिकारों का संघर्ष राजनीतिक संघर्ष से विलग नहीं किया जा सकता। अतः मताधिकार व अन्य अधिकारों के लिए श्रमिकों ने जी जान से संघर्ष किया। अपने खून पसीने की कीमत पर ही मज़दूरों ने अपने को संगठित करने का अधिकार हासिल किया।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) मालिकों द्वारा श्रमिकों के किसी भी प्रकार के गठबन्धन का विरोध क्यों किया गया?

....

....

....

....

2) श्रम संगठनों में संगठित होने का अधिकार श्रमिकों ने किस प्रकार हासिल किया?

....

....

....

....

23.2 श्रम संगठन सिद्धान्तवादियों के विचार

अब अधिकतर पूँजीवादी देशों में श्रमिकों के संगठन के अधिकार को मान्यता मिल गई है। परन्तु श्रम संगठनों के राजनीतिकरण की आलोचना की गई है। कुछ विद्वानों ने यह भविष्यवाणी की है कि भविष्य में श्रम संगठन अब तक प्राप्त पद खो देंगे। **प्रोफेसर गैलब्रेथ** के मतानुसार, भविष्य में यह संगठन "लगभग स्थाई तौर पर विलीन हो जाएंगे"। जो लोग श्रम संगठनों को व्यवस्था का आवश्यक हिस्सा मानते हैं और समाज में उनकी सकारात्मक भूमिका को स्वीकार करते हैं, वे भी राजनीति से उनके घनिष्ठ सम्बन्धों को पसन्द नहीं करते। **ऐलन फ्लैन्डर्स** श्रम संगठनों को "आन्दोलन व संगठन का मिश्रण" मानते हैं। उनका कहना है कि "श्रम संगठनों का एक मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों की नौकरी व कामकाजी जीवन से जुड़े अनेक मुद्दों के सम्बन्ध में सौदेबाजी करना है।" वह मानते हैं कि, "श्रम संगठनों का सतत् सामाजिक उद्देश्य नौकरी या काम काज नियंत्रण में भागीदारी है पर भागीदारी साध्य नहीं है यह तो श्रमिकों को अपने कामकाजी जीवन पर अधिक नियंत्रण दिलवाने का साधन है।" **आर. एफ. होक्सी** का कहना है कि "यद्यपि संपूर्ण में और अलग संगठन के लिए अलग रूप श्रम संगठनों का कार्यक्रम मिश्रित व अपूर्ण होता है, तथापि उसका आर्थिक कार्यक्रम एक निश्चित, असाधारण संकेत देता है।" संगठनवाद का आर्थिक दृष्टिकोण एक समूह का दृष्टिकोण होता है और इसका कार्यक्रम एक समूह का कार्यक्रम। संगठन का मुख्य उद्देश्य सम्बन्धित समूह के श्रमिकों को लाभ पहुँचाना है न कि संपूर्ण रूप में श्रमिकों को या समाज को। इसके सिद्धान्त मज़दूरी, काम के घंटे, कार्य की दशाओं आदि से संबंधित होते हैं। अमेरिकी श्रम संगठनों का अध्ययन करने वाले जैक बार्बश का कथन है, "अधिक मज़दूरी और कम घंटे संघ में शामिल होने के स्पष्ट व वास्तविक कारण है।" श्रमिक संगठनों में इसलिए शामिल होते हैं ताकि पक्षपात और व्यक्तित्वहीनता से बच सकें। **फ्रैड रुच. ब्लम** ने हॉर्मल पैकिंग हाऊस के श्रमिकों के अनुभव का अध्ययन करके यह विचार व्यक्ति किया कि संगठनों का उद्देश्य कार्य प्रक्रिया को इस प्रकार संचालित करना है कि मानवीय मूल्य केन्द्रीभूत महत्व पा सकें। मुक्त समाजों में श्रम संगठनों की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए आर. सी. राबर्टस ने कहा है कि, "मुक्त समाजों में श्रम संगठन

MADHYAM IAS

स्त्री और पुरुषों की सामूहिक कार्यवाही द्वारा अपने हितों के संरक्षण और संवर्धन के लिए स्वयं को संगठित करने के मूलभूत अधिकार की अभिव्यक्ति है।' वह लिखते हैं, "एक मुक्त समाज में संगठन के अधिकार का तात्पर्य उस शक्ति का प्रयोग है जो उदारवादी, कानूनी ढांचे के अन्तर्गत सामूहिक कार्यवाही में निहित है। लोकतंत्र की परिभााा से ही यह स्पट है कि यह ऐसा समाज है जिसमें शक्ति पूर्णरूपेण या मुख्यतः सरकार के हाथों में केन्द्रित नहीं है। आधुनिक शब्दावली में विविध अभिकरणों जैसे स्वयंसेवी संगठनों या श्रम संगठनों के माध्यम से यह शक्ति विकेन्द्रित है। श्रम संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण है अतः उन्हें उद्योगों में कार्य संचालन या अपने पक्ष में विधि निर्माण के लिए सरकार पर दबाव डालने की आवश्यक स्वतन्त्रता होनी चाहिए।" आर. सी. राबर्ट्स का मानना है कि "एक मुक्त समाज में विभिन्न समूहों के हित आवश्यक रूप से परस्पर टकराएंगे। लोकतंत्र का सार सामाजिक व राजनीतिक शक्तियों की अन्तर्क्रिया द्वारा इस टकराव को सुलझाना है। यह उस आधारभूत मान्यता में निहित है जिसके अनुसार एक लोकतान्त्रिक समाज में श्रम संगठनों को मालिकों व राज्य दोनों से स्वतन्त्र होना स्वीकार किया गया है।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) एक पूँजीवादी समाज में श्रम संगठनों का क्या उद्देश्य होता है?

....

....

....

....

2) आधुनिक विकसित समाजों में इनका राजनीति से क्या सम्बन्ध होता है?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

23.3 व्यवहारवादी सिद्धान्त

आरंभ में श्रम संगठनों को शासन द्वारा विरोध का सामना करना पड़ा, पर वे अडिंग रहे और आज वे सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग माने जा रहे हैं। उन्हें दबाव समूह माना गया है और इसलिए कहा जाता है कि "एक विरोधी आन्दोलन के रूप में शुरूआत कर श्रम संगठन मान्य संस्थाओं के रूप में आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में स्थापित हो चुके हैं।" श्रम संगठनों की भूमिका में बहुत परिवर्तन हुआ है। आरंभ में उन्हें व्यवस्था का विरोधी माना जाता था परन्तु अब श्रम संगठन सामाजिक व्यवस्था से संबंध स्थापित कर चुके है। **मार्क बैंडे वाल** "वर्ग और वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी अवधारणा का खंडन करता है और **पीटर ड्रकर** द्वारा 1952 में अमेरिकन सोशिओलॉजिकल सोसाइटी की सातवीं वार्षिक बैठक में प्रयुक्त शब्दावली स्वीकार करता है।" "वर्तमान समाज स्तरीय समाज है, पुरातन समाज वर्गीय समाज था।" दबाव समूहों के रूप में श्रम संगठन राजनीतिक व्यवस्था का हिस्सा माने जाते है। राजनीतिक व्यवस्था को व्यवहारवादी एक इलैक्ट्रानिक कम्प्यूटर जैसा मानते हैं जो प्रक्रियाओं से गुज़र कर 'निवेश' को 'निर्गतों' में रूपांतरित करता है। समायोजन

प्रक्रम द्वारा निर्गतों से निवेश प्रक्रम में पुनः संभरण होता है जो निवेश व्यवस्था पर पड़ने वाले विभिन्न प्रकार के दबाव हैं। पूँजीवाद की आरंभिक अवस्था में श्रम संगठनों को संदेहास्पद दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु आधुनिक राजनीतिक विद्वान मानते हैं कि वे व्यवस्था पर बराबर का या कभी कभी अधिक सशक्त दबाव डालते हैं। एक विकसित समाज में व्यवस्था को निर्मित तटस्थ प्रक्रम माना जाता है जो विभिन्न समूहों के मध्य संतुलन स्थापित करता है। ब्लान्डेल का मानना है कि, "यह कहना कि राजनीति समाज में मूल्यों का आधिकारिक आबंटन है यह कहने के बराबर होगा कि मूल्यों और इन मूल्यों के स्वामियों के मध्य कुछ न कुछ टकराव होता है। सरकार को अपने उपलब्ध सब साधनों द्वारा इस टकराव को सुलझाना ही होता है, इस शक्ति पर बंधन केवल यही है कि व्यवस्था का बिखराव न होने पाए।"

व्यवहारवादी राजनीतिक विद्वान यह मानते हैं कि विकसित समाजों में श्रम संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। परन्तु वे मार्क्सवादियों व समाजवादियों की इस मान्यता का खंडन करते हैं कि श्रम संगठन वर्ग संघर्ष का साधन है या समाजवादी समाज की स्थापना में उनका कोई राजनीतिक योगदान है। उनके लिए श्रम संगठन उत्पीड़ित श्रमिक वर्ग के संगठन नहीं है। राजनीति में उनकी भागीदारी का अर्थ है राजनीति व्यवस्था में विभिन्न प्रकार से दबाव डालना ताकि श्रमिकों को अधिकतम लाभ हो सके।

23.3.1 व्यवहारवादी सिद्धान्त के आलोचक

परम्परावादियों, उदारवादियों व आधुनिक व्यवहारवादियों के अनुसार राज्य एक निष्पक्ष और तटस्थ संस्था है जो बिना किसी पक्षपात के विरोधी हितों में मध्यस्थता करता है। राज्य की ओर से पूँजी और श्रम बराबर हैं और यांत्रिक रूप में उनके दावे स्वीकार या अस्वीकार किए जाते हैं। वे समाज को एक यांत्रिक प्रक्रिया मानते हैं जहाँ भारी परिवर्तन व क्रांतिकारी बदलाव नहीं होते, श्रमिक वर्ग इस व्यवस्था का सामान्य हिस्सा है। समाजवादी विचारधारा राज्य को निष्पक्ष निकाय नहीं मानती और यह मानती है कि श्रमिक वर्ग को एक अलग और क्रांतिकारी भूमिका, अर्थात् समाज को परिवर्तित करना, निभानी है। नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में राज्य की भूमिका को लेकर वैचारिक मतभेद है परन्तु समाजवादी विचारधाराएँ यह स्वीकार करती हैं कि राज्य शासन वर्ग के हाथों में शोषण का साधन है। समाजवादी यह आशा करते हैं कि शांतिपूर्ण तरीके से समाज के रूपान्तरण में राज्य एक साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। मार्क्सवादी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के रूप में राज्य की संक्रमणकारी भूमिका मानते हैं। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का स्थान वर्गविहीन समाज की साम्यवादी सामाजिक अवस्था ले लेगी जहाँ वर्गीय समाज का प्रमुख लक्षण वर्ग विभेद पूर्णतः लुप्त हो जाएगा। अराजकतावादी (Anarchists) और श्रम संघवादी (Syndicatists) राज्य को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और राज्य से दूर ही रहना चाहते हैं। उनके अनुसार राज्य स्वभाव से ही उत्पीड़क है और समाज के परिवर्तन का साधन हो ही नहीं सकता। उनके अनुसार राज्य और धर्म शासक वर्गों के साधन हैं व उन्हीं का हित साधन करते हैं।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

MAADHYAM IAS

1) व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीति में श्रम संगठनों की क्या भूमिका है?

....

....

....

....

....

23.4 अराजकतावादी श्रम संगठनवादी सिद्धान्त (Anarchist Syndicalist Theory)

अराजकतावादी विचारक प्रोधों (Proudhon) का कहना था 'संपत्ति चोरी है' जिसे संपत्तिवान वर्गों ने मानव का मूलभूत अधिकार माना है। संपत्तिवान वर्ग राज्य द्वारा समर्थित चोर हैं। लोगों को यह कोशिश करनी चाहिए कि इन संपत्तिवान वर्गों की सभी संस्थाओं को निर्मूल कर दें! एक वास्तविक मानवीय समुदाय केवल वर्गविहीन नहीं वरन् राज्य विहीन समाज होगा। एक आदर्श अराजकतावादी "समाज का संगठन इस प्रकार करना चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्त्री और पुरुष जीवन में और अपने कार्य में अपनी विविध क्षमताओं के प्रयोग और संवर्धन के लिए लगभग एक समान साधन उपलब्ध कर सके। ऐसे समाज के निर्माण से, जहाँ किसी के भी श्रम का शोषण असंभव हो जाए, प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संपदा का पूर्ण उपभोग कर सकेगा।" यह संपदा वास्तव में सामूहिक श्रम द्वारा उत्पन्न होती है परन्तु एक व्यक्ति वहीं तक उसका उपभोग कर सकता है जहाँ तक उसके निर्माण में उसने योगदान दिया है। इसके लिए, बैकुनिन (Bakunin) का मानना है कि "इसके लिए सिद्धान्त और व्यवहार में राजनीतिक सत्ता का उन्मूलन करना होगा क्योंकि जब तक राजनीतिक सत्ता का अस्तित्व है तब तक शासक व शासित, मालिक और गुलाम, शोषक और शोषित रहेंगे।" निर्मूल राजनीतिक सत्ता का स्थान उत्पादन शक्तियों और आर्थिक सेवाओं का संगठन ले लेगा। उसका मानना है कि आधुनिक राज्यों के अत्यधिक विकास के बावजूद यह विकास स्वयं राज्य को निरर्थक बना रहा है अतः राज्य व राज्य सिद्धान्तों के दिन गिनती के रह गए हैं। अराजकतावादियों के इस विचार का आधार यह है कि राज्य पूँजीवादी व्यवस्था को सरंक्षण देता है अतः पहलेपहल राज्य पर प्रहार करना चाहिए, अन्य व्यवस्थाएँ स्वयमेव टूट जाएगी। वे मार्क्सवादी साम्यवादियों का घोर विरोध करते हैं जो बूर्जुआ वर्ग के विनाश के लिए राज्य सत्ता पर नियंत्रण पाना चाहते हैं। बैकुनिन का मानना है कि "केवल साम्यवादी ही यह कल्पना कर सकते हैं कि वे श्रमिक वर्ग की राजनीतिक सत्ता, शहरी सर्वहारा व उग्र बूर्जुआ के सहयोग से इसे (वर्गविहीन सामाजिक व्यवस्था) को प्राप्त कर सकते हैं - जबकि क्रांतिकारी समाजवादी, इस प्रकार के महत्वाकांक्षी गठबंधन के विरोधी, विश्वास करते हैं कि यह सामान्य लक्ष्य राजनीतिक नहीं वरन् शहरी व ग्रामीण कामगरों के सामाजिक (और इसलिए अराजनीतिक) संगठन व ताकत से ही हासिल हो सकता है।

बैकुनिन साम्यवादियों की आलोचना करते हुए कहता है कि "साम्यवादियों का विश्वास है कि राज्य की राजनीतिक सत्ता पर स्वामित्व के लिए श्रम शक्ति का संगठन आवश्यक है। क्रान्तिकारी समाजवादी संगठित होते हैं राज्य के विनाश या बेहतर भाषा में राज्य के उन्मूलन के लिए। साम्यवादी सिद्धान्ततः और व्यवहार में सत्ता के पक्षधर हैं जबकि क्रांतिकारी समाजवादियों का विश्वास केवल स्वतन्त्रता में हैं।" वे आगे कहते हैं, "इसका दुर्भाग्य सरकार के इस या उस रूप में नहीं है वरन् उसके सिद्धान्त व सरकार के अस्तित्व में है चाहे उसकी प्रकृति कैसी भी हो" ... हमारे झंडे, सामाजिक क्रान्तिकारी झंडे में यह शब्द कठोर और खूनी शब्दों में अंकित है, सभी राज्यों का विनाश, बूर्जुआ सभ्यता का सर्वनाश..." अतः अराजकतवादी प्रतिपादन करता है "इस नये संगठन के निर्माण से पूर्व बल्कि उसके निर्माण में लोगों को सहयोग देने के लिए, उसे उखाड़ फेंकना होगा, जो है, ताकि उसे स्थापित किया जा सके जिसे होना चाहिए।"

MAADHYAM IAS

23.4.1 श्रम संघवादी (Syndicatists)

अराजकतावादियों की भांति श्रम संघवादी राज्य शब्द से घृणा करते हैं। श्रमिक वर्ग के राज्य सत्ता से किसी भी प्रकार का सूत्र उनके उद्देश्य को विफल कर देगा। संघवादियों का यह दृढ़ विश्वास है कि राज्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह क्रांतिकारी परिवर्तन का साधन बन ही नहीं सकता। अतः संघवादियों के लिए आदर्श समाज श्रमिक वर्ग संगठनों का संघटन है जहाँ राज्य सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। श्रमिकों के संगठन पूँजीवादी व्यवस्था व राज्य सत्ता पर प्रहार करेंगे जो इस व्यवस्था का पोषक है। संघवादी दर्शन का दार्शनिक और वक्ता, सोरेल (Soral) हिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादक था। वह हिंसा की प्रशंसा करता है और वर्तमान व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए हिंसात्मक उपायों को स्वीकार करता है। पूँजीपति वर्ग को भयग्रस्त करने के लिए श्रमिको को आम

हड़ताल का उपाय करना चाहिए। अपनी पुस्तक '*रिफ्लैक्शन्स ऑन वॉयलैन्स*' में सोरेल लिखता है, "क्रान्तिकारी संगठनवाद लोगों के मनोमस्तिक में हड़ताल की इच्छा को जीवन्त रखता है और वह स्वयं समृद्ध होता है जब महत्वपूर्ण हिंसात्मक हड़ताले हों।" हड़तालों का एक भावप्रणव उद्देश्य है। वे केवल सौदेबाजी का साधन नहीं है, उनकी एक संवेदनात्मक व शैक्षणिक भूमिका है। सोरेल बुद्धिवाद-विरोध का समर्थक था। वह लिखता है कि 'संघवादी अनायास या स्वतःप्रवर्तिन में विश्वास रखता है, ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है जिसके माध्यम से वैज्ञानिक रूप से भविष्यवाणी की जा सके। इसलिए उसके विचार से मिथक के माध्यम हड़ताल की भावना श्रमिकों में भरनी चाहिए। "ऐसी छवि का प्रयोग किया जाना चाहिए जो सोचे समझे बिना सहजता से, बिना किसी विश्लेषण के, ऐसी भावनाओं को भड़काएँ जो आधुनिक समाज के विरुद्ध समाजवादियों के युद्ध के विभिन्न रूपों जैसी हों।" सोरेल विरतार से कहता है कि "हड़ताल एक मिथक है जिसमें समाजवाद समाया है, अर्थात् छवियों का ऐसा समूह जो स्वतः ऐसी भावनाएँ भड़काएँ जो आधुनिक समाज के विरुद्ध किए गए उपायों का प्रतिरूप हों; हड़तालों से सर्वहारा वर्ग की गहन, भावप्रणव व अच्छी भावनाओं का खात्मा हुआ है, आम हड़ताल उन्हें एकजुट करती है, हरेक को ऐसी पैठ देती है कि वे अपने विशिष्ट संघर्षमय अतीत की दुःखद स्मृतियों को अस्त्र बना लेते हैं.." अतः संघवादियों के लिए हड़ताल का एक मनोवैज्ञानिक उद्देश्य है और हिंसा के साथ जुड़कर वह श्रमिकों में क्रान्तिकारी चेतना जगाती है। संघवादियों के साधनों में मिथक का प्रचार, हिंसा, हड़ताल, आम हड़ताल और तोड़-फोड़ शामिल है।

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) श्रम संगठन आन्दोलन के विषय में अराजकतावादियों और संघवादियों के विचारों की चर्चा करें। उनमें क्या समानता और क्या विभिन्नता है?

....

....

....

....

....

....

23.5 मार्क्सवादी - लेनिनवादी सिद्धान्त

मार्क्स अराजकतावादियों और संघवादियों का घोर विरोधी था। उसने फर्स्ट इंटरनेशनल में प्रोधोंवाद, बेकुनिनवाद और लैसेलवाद (Lassalleism) के विरुद्ध घोर संघर्ष किया। मार्क्स के लिए प्रोधों ऐसा क्षुद्र बूर्जुआ समाजवादी था जिसकी बड़ी लड़ाईयाँ प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों तक सीमित थी। 'वह गुणी प्रचारक था जो भावुक समाजवादी अपराध का प्रतिनिधि था।' वह दिलो-दिमाग व भोजन तक से क्षुद्र बूर्जुआ दार्शनिक अर्थशास्त्री था, जिसने एक प्रकाशवान आरोप, 'स्वामित्व चोरी है' के फार्मूले से बूर्जुआ का स्तर ऊँचा किया। प्रोधों स्वयं को श्रमिक वर्गों का दार्शनिक मानता था और निर्धनता के दर्शनशास्त्र पर उसने सशक्त सैद्धान्तिक तर्क प्रस्तुत किए। मार्क्स ने प्रोधों के निर्धनता के दर्शनशास्त्र का अपनी पुस्तक 'दर्शनशास्त्र की निर्धनता' में कटु आलोचना की। एक अराजकतावादी के रूप में प्रोधों ने हड़तालों या मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष को विशेष मूल्य प्रदान नहीं किया। मार्क्स के लिए वर्ग संघर्ष के हिस्से के रूप में इन संघर्षों का बहुत महत्व था जिसके माध्यम से सर्वहारा वर्ग राज्य संयंत्र पर काबू पाएगा। बैकुनिन ने अराजकतावादी परम्परा में ही 'राजनीति' का तिरस्कार

MAADHYAM IAS

किया और चाहा कि श्रमिक केवल आर्थिक रूप ग्रहण करे। लोज़ोव्स्की (Lozovsky) बैकुनिन व मार्क्स के विचारों में अंतर करता है। वह लिखता है, "यहाँ हम देखते हैं कि बैकुनिन 'मात्र आर्थिक आन्दोलन' की बात करता है। वह मात्र आर्थिक संघर्ष के लिए विरोधी समाजों के निर्माण की बात करता है। वह कहता है कि श्रमिक अनभिज्ञ होते हैं इसलिए उन्हें कठिन समस्याओं में नहीं उलझाना चाहिए। ज्यादा से ज्यादा वे विरोध समर्थक समाजों के निर्माण को स्वीकार करता है।" इससे यह सिद्ध होता है कि बैकुनिन, प्रोधों से एक क़दम आगे था फिर भी उनकी दिशा एक ही थी। उसने यह नहीं जाना कि श्रम संगठन जन संगठन के केन्द्र हैं इसलिए वे जनता को सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के संघर्ष के लिए तैयार करते हैं। वह मार्क्स की भांति श्रम संगठनों का महत्व नहीं जान पाया।

अराजकतावादियों - संघवादियों के विपरीत मार्क्स ने प्रतिपादन किया कि वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए श्रमिकों को राज्य पर नियंत्रण करना चाहिए। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के आम वर्ग संघर्ष में आर्थिक संघर्ष की भूमिका स्पट परिभाति की गई है। श्रमिक वर्ग के हाथों में श्रम संगठन एक 'उत्तोलक' (Lever) है जो उसे शोषक की राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष में सहायक है। श्रमिक वर्ग के राजनीतिक आन्दोलन का अंतिम उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना है।

23.5.1 अराजकतावाद व मार्क्सवाद में अंतर

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही श्रमिकों की अंतर्राष्ट्रीय एकता पर निर्भर करती है। अंतर्राष्ट्रीय कामगर संघ और फर्स्ट इंटरनेशनल में मार्क्स की भूमिका उसके इस विश्वास से जुड़ी थी कि अपने बंधन तोड़ने के लिए दुनिया भर के मज़दूरों को एक होना है। अतः श्रमिक वर्ग के सभी आन्दोलनों को श्रमिकों की एकता की स्थापना की दिशा में ले जाना है, मार्क्स के अनुसार, श्रमिक वर्ग के हित समान हैं और विभिन्न देशों के श्रमिकों के मध्य कोई मतभेद या विरोध नहीं है।

मार्क्स की श्रम संगठन विचारधारा अराजकतावादी-संघवादी विचारधारा से अलग है जो श्रम संगठन आन्दोलनों को राजनीतिक संघर्ष से अलग रखना चाहते हैं जबकि मार्क्स श्रमिक वर्ग के दिन प्रतिदिन के संघर्षों को बहुत महत्व देता है। मार्क्स ठोस हड़तालों के विषय में लिखता है और श्रमिकों की कार्यवाहियों के दर्जनों उदाहरण देता है और यह स्पष्ट करता है कि इन सबका काम के घंटों, मज़दूरी, श्रम कानूनों आदि पर क्या प्रभाव पड़ा है। बैकुनिन फैक्ट्री कानूनों में रुचि नहीं रखता क्योंकि उसके लिए आंशिक माँगों और अंतिम लक्ष्य में कोई सम्बन्ध नहीं है। वह समझता है कि प्रत्येक हड़ताल अंततः क्रान्ति में परिणत हो जाएगी। मार्क्स उस संपूर्ण क्षेत्र में रुचि रखता है जिसके अंतर्गत श्रम संगठन सक्रिय हो सकते हैं। लोज़ोव्स्की के अनुसार, "इसका तात्पर्य है कि क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों के हड़ताली तौर तरीकें अराजकतावादियों और सुधारवादियों के हड़ताली तौर तरीकों से नितान्त भिन्न हैं।"

23.5.2 श्रम संगठन आन्दोलन पर लेनिन के विचार

सर्वहारा वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीयवाद, वर्ग संघर्ष व सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की मार्क्सवदी परम्परा का अनुसरण करते हुए लेनिन ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो श्रमिक वर्ग तथा श्रमिक वर्गीय दल के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध पर केन्द्रित था। लेनिन की रचना "क्या किया जाना चाहिए" उसके श्रम संगठन दर्शन का सार है। इसमें वह श्रम संगठनवाद के मार्क्सवादी लक्ष्य पाने के तौर तरीकों का विवेचन करता है। लेनिन का विचार था कि श्रमिकों का आर्थिक संघर्ष विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि "आर्थिक संघर्ष केवल सरकार के श्रमिक वर्ग के प्रति दृष्टिकोण को जानने के लिए श्रमिकों को 'प्रेरित' करता है। अतः हम 'आर्थिक संघर्ष को कितना भी राजनीतिक प्रकृति में ढालने' की कोशिश करें, हम श्रमिकों की राजनीतिक चेतना को सामाजिक-लोकतांत्रिक-राजनीतिक चेतना के स्तर तक नहीं ला सकते यदि हम आर्थिक संघर्ष के दायरे तक सीमित रहें क्योंकि यह दायरा बहुत संकीर्ण है।" लेनिन का विचार था, श्रमिकों में वर्ग चेतना केवल बाहर से लाई जा सकती है अर्थात् आर्थिक संघर्ष के बाहर, मज़दूरों और मालिकों के सम्बन्ध क्षेत्र के बाहर से।" लेनिन स्पष्ट करते हैं कि, "सभी देशों का इतिहास साक्षी है कि मात्र अपने प्रयासों से श्रमिक वर्ग

MAADHYAM IAS

केवल श्रम संगठन चेतना ही जागृत कर सका है, अर्थात् संगठनों की एकजुटता, मालिकों से टकराव तथा सरकार को आवश्यक कानून बनाने के लिए विवश करना आवश्यक है, परन्तु संपत्तिवान वर्ग के शिक्षित, प्रतिनिधियों, बुद्धिजीवियों द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक, ऐतिहासिक व आर्थिक सिद्धान्तों से ही समाजवाद के सिद्धान्त का विकास हुआ है।" इसलिए लेनिन का मानना था कि समाजवादी क्रान्ति के लिए श्रमिकों की राजनीतिकी चेतना अति आवश्यक हैः परन्तु श्रम संगठन गतिविधि तक सीमित रहने पर वह मात्र 'अर्थवाद' तक ही ले जाएगी। श्रमिक वर्ग चेतना वास्तविक राजनीतिक चेतना नहीं हो सकती जब तक कि श्रमिकों को सभी प्रकार के अत्याचार, उत्पीड़न, हिंसा, व दुराचार का जवाब देने के लिए प्रशिक्षित न किया जाए। लेनिन ने यह भी चेताया कि मात्र सैद्धान्तिक वँ किताबी ज्ञान पर्याप्त नहीं है। सामाजिक लोकतन्त्रवादियों को निरन्तर श्रमिक वर्ग व उनकी कार्यवाहियों के संपर्क में रहना होगा। वह लिखते हैं, "जो श्रमिक वर्ग की निगाह और चेतना पूर्ण रूप से या मुख्य रूप से अपने ऊपर ही केन्द्रित करते हैं वह असली सामाजिक लोकतंत्रवादी नहीं है क्योंकि श्रम वर्ग का स्वःज्ञान घनिष्ठ रूप से केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से न जुड़ा होकर आधुनिक समाज के विभिन्न वर्गों के सम्बन्धों के व्यावहारिक ज्ञान से जुड़ा है। और यह ज्ञान राजनीतिक जीवन के अनुभव से ही प्राप्त होता है।" लेनिन ने कहा, "एक सामाजिक लोकतन्त्रवादी बनने के लिए श्रमिक के मस्तिक में भूस्वामी और पादरी, उच्च शासनाधिकारी व कृषक, विद्यार्थी व बदमाश की आर्थिक प्रकृति तथा सामाजिक व राजनीतिक लक्षणों की स्पष्ट तस्वीर होनी चाहिए, उसे समझना चाहिए कि कुछ संस्थाओं द्वारा किन और किस प्रकार विभिन्न हितों को परिलक्षित किया जाता है। पर यह 'स्पष्ट तस्वीर' किसी पुस्तक द्वारा हासिल नहीं की जाती। यह केवल संजीव उदाहरणों और अपने आस पास होने वाली घटनाओं के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त की जा सकती है। यह संपूर्ण राजनीति परिदृश्य क्रान्तिकारी गतिविधियों में जनता को प्रशिक्षित करने की आवश्यक व मूलभूत शर्त है।

लेनिन ने श्रम संघवाद की सुधारवादी अवधारणा पर घोर प्रहार किया। जिसके अनुसार श्रमिकों की श्रम संगठन गतिविधियाँ स्वतः उन्हें राजनीतिक चेतना की ओर ले जाएंगी। उसका विचार था कि श्रम वर्ग संघर्षो के लिए स्पष्ट राजनीतिक सूझ-बूझ आवश्यक है और यह समझ श्रम वर्ग संघर्षो से प्रत्यक्ष व सक्रिय सम्बन्ध के बिना आ नहीं सकती।

बोध प्रश्न 5

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) श्रम संगठनों के वर्ग संघर्ष रूप के विषय में मार्क्स के क्या विचार थे?

....

....

....

....

2) लेनिन श्रमिक वर्ग संघर्ष व श्रमिक वर्गीय दल के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध कैसे स्पष्ट करता है?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

23.6 नव वामपंथी विचार

सुधारवादियों का दावा है कि उन्होंने मार्क्सवाद को आधुनिक पूँजीवाद की बदलती हुई प्रकृति के अनुसार सुधारा है जिसका मार्क्स भी अपने जीवन काल में पूर्वानुमान नहीं कर पाया था। आधुनिक सामाजिक लोकतन्त्रवादियों ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की मार्क्सवादी अवधारणा का त्याग कर दिया है। उनका विचार है कि परम्परागत मार्क्सवाद कालातीत हो गया है इसलिए उस पर पुनर्विचार, उसका सुधार और उसे पूरा करना होगा। उनके अनुसार मार्क्सवाद में निम्नांकित खामियाँ हैं:

1) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त स्वयं में सही है, परन्तु श्रम संगठनों के विकास और लोकतन्त्र की स्थापना से इसका महत्व समाप्त हो गया है;

2) क्रान्ति एक पूर्ण अवधारणा है; यह निम्न स्तर के सामाजिक विकास के बराबर है लोकतान्त्रिक राज्य, क्रान्ति और क्रान्तिकारी संघर्ष का निवारण करता है।

3) लोकतन्त्र पूँजीवाद से समाजवाद में शान्तिपूर्ण परिवर्तन का श्रमिकों को आश्वासन देता है अतः सर्वहारा वर्ग की तानाशाही आवश्यक नहीं है।

4) श्रमिकों की निरूपायता का सिद्धान्त कभी सही था, आज नहीं है।

5) मार्क्स के युग में शायद यह सच था कि श्रम संगठनों में दल की नेतृत्त्व परक भूमिका है परन्तु आज दलीय राजनीतिक तटस्थता ही श्रम संगठन आन्दोलन का प्रभावी विकास सुनिश्चित कर सकती है।

श्रम संघवाद के इस वैकल्पिक दर्शन या सुधारवाद के कई रूप हैं : राज्य समाजवाद, विकासवादी समाजवाद, सामूहिकतावाद, गिल्ड समाजवाद, फेबियनवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद इत्यादि। कुछ मुद्दों में उनके बीच छोटे मोटे अंतर हैं परन्तु वे इस विश्वास पर आधारित है कि श्रमिकों को चुनावों में भाग लेकर श्रम का संगठन करके, सामाजिक लोकतान्त्रिक दलों के निर्माण व सरकारी प्राधिकरणों का प्रयोग कर श्रमिकों के लाभार्थ उपाय करके लोकतान्त्रिक संस्थाओं का प्रयोग करना चाहिए। सत्ता के बाहर रहकर विपक्षी दल के रूप में श्रमिकों को सहूलियतें दिलाने के लिए इसे सरकार पर दबाव डालना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे समाजवाद की स्थापना और शांतिपूर्ण तरीके से समाजवादी राज्य पूँजीवादी राज्य का स्थान ले लेगा।

23.6.1 सुधारवादियों की लेनिन द्वारा आलोचना

यह कहने की बात नहीं कि मार्क्सवाद के पूरक के रूप में सुधारवाद से लेनिन को गंभीर आपत्तियाँ थी। उसने सुधारवादियों को मौका परस्त और पूँजीपतियों का पिठ्ठू कहा। लेनिन का मानना था कि साम्राज्यवाद के प्रचलन से औपनिवेशिक देशों के शोषण द्वारा साम्राज्यवादियों ने अत्यधिक लाभ अर्जित किया। अपने कोष में से लाभ का एक हिस्सा टुकड़ों के रूप में उन्होंने तथाकथित श्रम वर्गीय नेताओं - श्रमिक कुलीनवर्ग में बाँट दिया। सामाजिक लोकतन्त्र के नेताओं द्वारा विकसित पूँजीवादी देशों में श्रम वर्ग की बेहतर दशाओं का हवाला देने से इन श्रमिक नेताओं की मौकापरस्ती ही सामने आई जिन्होंने उपनिवेशों के साम्राज्यवादी शोषण से सहयोग कर लाभ उठाया है।

MAADHYAM IAS

23.6.2 नव वामपंथ

नवीन वामपंथी विचारक मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त का खंडन करते हैं कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिक वर्ग की दशा बदहाल होती जाएगी। उनका मानना है कि वास्तव में विकसित पूँजीवाद में श्रमिक वर्ग की शक्ति में वृद्धि हुई है उनका अब शोषण नहीं होता बल्कि अपनी संगठित शक्ति द्वारा वे मालिकों और राजनीति व्यवस्था पर भारी पड़ते हैं। वे सत्ता के नये अधिकारी (New Men of Power) हैं।

नवीन वाम का विचार है कि विकसित पूँजीवाद में श्रमिक क्रान्तिकारी नहीं होते, उनका बूर्जुआकरण

हो गया है और उन पर उपभोक्तावाद हावी हो गया है। मार्क्यूज़ (Marcuse) के अनुसार, यह समाज बड़े उद्यम और श्रमिक वर्ग के गठबन्धन पर आधारित है, ऐसा श्रमिक वर्ग जिसे नित नई वस्तुएँ और ग़ैर-ज़रूरी उपकरण खरीदने के लिए पागल बना दिया गया है जिसे उनकी सापेक्ष अमीरी ने संभव बनाया है। मार्क्यूज़ का मानना है कि श्रम वर्ग अब पूँजीवाद का विरोधी नहीं है बल्कि उसके साथ मिलकर वर्तमान व्यवस्था का संरक्षण कर रहा है। उसके अनुसार 'जो वर्ग एक बार पूँजीवादी व्यवस्था के घोर विरोधी थे अब उसमें ज्यादा से ज्यादा समाहित हो रहे हैं।'

राजनीति में श्रम संगठनों को क्या भूमिका निभानी चाहिए। निःसंदेह इस पर मतभेद हैं। पूँजीवादी व्यवस्था को श्रम संगठनों के अस्तित्व को आज्ञा देने के लिए विवश किया गया है, परन्तु कुछ विचारकों द्वारा, जो पश्चिमी लोकतान्त्रिक व्यवस्था को आदर्श और अवश्यभावी मानते हैं, इस बात पर बल दिया गया है कि श्रम संगठन केवल सौदेबाज हैं और राजनीति में उनकी भूमिका श्रमिकों के लिए कुछ सहूलियतें हासिल करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव डालने तक सीमित है। दूसरी ओर, मार्क्सवादी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि श्रमिकों का राजनीतिकरण किया जाना चाहिए, कि श्रमिक संगठन केवल श्रमिकों के लिए सहूलियतें हासिल करने का साधन मात्र नहीं है वरन् उन्हें पूँजीवादी व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था में रूपान्तरित करना होगा और समाजवादी समाज का निर्माण करना होगा। अतः विश्व पूँजीवादी विश्व, समाजवादी विश्व और नवोदित देशों जिन्होंने हाल ही में विदेशी शासन को उखाड़ फेंका है, में बंट गया है। इन देशों में श्रम संगठनों की क्या भूमिका है, क्या वह आर्थिक भूमिका तक सीमित हैं और काम के घंटे कम करने, मज़दूरी बढ़ाने व कुछ सुविधाओं के लिए सरकार पर दबाव डालने तक सीमित हैं। इन औपेनिवेशिक देशों में स्थिति भिन्न थी। औपनिवेशिक शासकों द्वारा निर्दयी शोषण के कारण समाज के अन्य वर्गों के साथ साथ श्रमिक वर्ग को भी घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। इसलिए अन्य तबकों के साथ-साथ वे भी स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। इसलिए भारत जैसे देशों में अन्य वर्गों के साथ-साथ श्रम संगठन भी राष्ट्रीय आन्दोलन में जुड़े थे। यह राजनीतिक आन्दोलनों से श्रम संगठनों के सूत्रों का असाधारण लक्षण था।

बोध प्रश्न 6

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) श्रम संगठनों के मार्क्सवादी सिद्धान्त की बेहतरी के रूप में सुधारवाद की जाँच करो।

....

....

....

....

....

23.7 विकासशील देशों में श्रमिक संघ आन्दोलन की विशिष्टताएँ

MAADHYAM IAS

साम्राज्यवाद के भीतर के विरोधाभास ने उपनिवेशों में औद्योगीकरण के लिए साम्राज्यवादियों को विवश किया। भारत में भी औपनिवेशिक शासकों के हतोत्साहित करने के बावजूद औद्योगीकरण हुआ। चाहे बेमन से, मंद गति से, सीमित या असंतुलित ही हो, साम्राज्यवादियों को भारत में औद्योगीकरण करना ही पड़ा। ब्रिटिश बूर्जुआ ने भारत में रेलवे उद्योग आरंभ किया ताकि कच्चा माल और मंडियों तक पहुँच प्राप्त की जा सकें। क्यों और कैसे का उत्तर मार्क्स ने दिया। मैं जानता हूँ कि अंग्रेज़ी मिल मालिक भारत में रेलवे की शुरूआत करना चाहते थे ताकि कम कीमत पर अपने उत्पाद के लिए कपास व अन्य कच्चा माल हासिल कर सकें। पर जब एक बार देश की

गति में मशीनरी प्रयुक्त कर दी जाए विशेष रूप से रेलवे की आवश्यकताओं के लिए तो उद्योग की उन शाखाओं में भी मशीनरी का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जो तात्कालिक रूप से रेलवे से न भी जुड़े हो।" अतः अंग्रेज़ी बूर्जुआ चाहे कुछ भी करने को विवश था उनसे आम जनता का उत्थान या सामाजिक दशाओं की बेहतरी नहीं हो सकती थी क्योंकि यह केवल उत्पादन शक्तियों के विकास पर ही नहीं लोगों द्वारा उसके उपयोग पर निर्भर करता है।

अतः साम्राज्यवाद की यह अवधारणा, उभरते हुए देशी बूर्जुआ से इसका सम्बन्ध, श्रमिक वर्ग के प्रति इसका दृष्टिकोण, देशी बूर्जुआ का श्रमिक वर्ग व साम्राज्यवादियों के प्रति दृष्टिकोण, श्रमिक वर्ग का देशी बूर्जुआ और साम्राज्यवादियों को जवाब बहुत जटिल हैं। अतः भारत में श्रम संघवाद पूर्ववर्त्ती उपनिवेशों की सामाजिक-आर्थिक वास्तविकता की जटिलता को परिलक्षित करता है। तब भी राजनीतिक तत्व श्रम संगठन आन्दोलन पर गहन प्रभाव डालते हैं। भारतीय श्रम संगठन आन्दोलन के विचारक साम्राज्यवाद की भूमिका की अवहेलना करके श्रम संगठन आन्दोलन की प्रकृति को जटिल बना देते हैं। वह श्रमिकों की सामाजिक पृष्ठभूमि उनके धर्म, जाति, आयु, वित्तीय स्थिति, परिवार का आकार इत्यादि को ध्यान में रखते हैं उन सामाजिक आर्थिक ताकतों को नहीं जो उन जटिल दशाओं के द्वारा उत्पन्न होती हैं, जो 'श्रम व सामाजिक व्यवस्थापन' की देन हैं, जो वास्तव में राजनीति तत्वों द्वारा निर्धारित होते है। ग़ैर-मार्क्सवादी पश्चिमी विद्वान विकसित पूँजीवादी देशों में श्रम संगठनों के राजनीति से सम्बन्ध उसी सीमा तक मानते हैं जहाँ तक वे समूहों के रूप में अपने हितों के लिए सरकार की आर्थिक नीति के प्रति सचेत होते हैं। औपनिवेशिक देशों में, यह एक तथ्य है कि राजनीतिज्ञों ने श्रमिकों को श्रम संगठन बनाने के लिए सक्रिय किया और इन श्रम संगठनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सुब्रतो घोष के अनुसार, "बीस के दशक में, श्रम संगठन आन्दोलन राष्ट्रवादियों और मानवतावादियों से अत्यधिक प्रभावित था।" वास्तव में, अल्प विकसित देशों में, जहाँ श्रम संगठनों का हाल ही में जन्म हुआ है, हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि शुरू में श्रम संगठनवाद का जन्म उन पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष दबावों से होता है, जो उनके पहले से ही निम्न जीवन स्तर को और कमज़ोर करते हैं, न कि कानून निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी की उनकी इच्छा से।" कैर और सीगल (Kerr and Siegal) के इस विचार का खंडन घोष ने किया है कि श्रमिकों द्वारा श्रम संगठनों का निर्माण 'देश की कानून निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने' के लिए किया जाता है। यह विकसित देशों के लिए तो सही हो सकता है विकासशील देशों के लिए नहीं। जिन विद्वानों ने समाजों को केवल 'मुक्त समाजों' या 'सर्वाधिकारवादी समाजों' के रूप में देखा है, उन्होंने उस विशाल समाज की अनदेखी की है जो हाल तक साम्राज्यवादी ताकतों के अधीन था। वह मुक्त समाजों में श्रम संगठन की बात करते हैं और यह मानते हैं कि स्त्री और पुरुषों में स्वयं को संगठित करने के अधिकार की अभिव्यक्ति है ताकि सामूहित कार्यवाही द्वारा उनके हितों का संरक्षण और संवर्धन हो सके। पर यह नहीं माना जा सकता कि श्रम संगठनों के अस्तित्व मात्र से ही दक्षिण पंथी व वामपंथी समाजों ने अपने उद्देश्यों के लिए श्रम संगठनों का प्रयोग किया ही है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 7

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) विकासशील देशों में श्रम संगठनों की क्या विशिटताएँ हैं?

....

....

....

....

....

23.8 विभिन्न देशों में श्रमिक संघ आन्दोलन

जी.डी. एच. कोल के अनुसार "श्रम संगठनवाद की आकृति केवल आर्थिक विकास की अवस्था से ही तय नहीं होती वरन् उस सामान्य संरचना से भी होती है जिसमें उसे कार्यरत होना होता है। विकसित देशों में प्रचलित श्रम संगठनवाद की संरचना व लक्ष्य अलग होते हैं। उन्हें दबाव समूह माना जाता है राज्य संरचना का हिस्सा नहीं। उन्हें अराजनीतिक माना जाता है। समाजवादी देश श्रम संगठनों की राजनीतिक भूमिका पर बल देते हैं, वह राज्य संरचना का हिस्सा होते हैं और उन्हें समाजवादी रूपान्तरण का कार्य करना होता है। विकासशील देशों में श्रम संगठन आन्दोलन का जन्म और विकास अलग परिस्थितियों में हुआ इसलिए उनकी प्रकृति भी भिन्न है।

23.8.1 संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रमिक संघ आन्दोलन

संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रम संगठन आन्दोलन अमेरिकी समाज का स्वीकृत व स्थाई हिस्सा है। दशाब्दियों के तीव्र संघर्ष के बाद संगठित श्रम अब आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक जीवन का मान्य तथ्य बन चुका है।

उद्योगों के विकास के बाद अमेरिका के श्रमिक व फैक्ट्री मज़दूरों ने यह जान लिया कि सामूहिक कार्यवाही द्वारा ही वे बराबरी के आधार पर सौदेबाजी कर सकते हैं। अतः उन्होंने संगठित होना शुरू किया।

"फिलेडैल्फिया के छापेखाने के कामगर" वह पहला श्रम संगठन था जो 1786 में न्यनूतम $ 6 प्रति सप्ताह की मज़दूरी के लिए हड़ताल पर गया। छः वर्ष बाद क्वेकर शहर के मोचियों ने एक स्थाई संगठन बनाया। दो दशाब्दियों में छुट-पुट संगठन बनते रहे और 1827 में ही श्रम आन्दोलन प्रकट हुआ और विभिन्न व्यवसायों से जुड़े श्रमिकों ने एक केन्द्रीकृत श्रम संगठन का निर्माण किया - **द मैकेनिक्स यूनियन ऑफ ट्रेड एसोसिएशन**। इसके बाद न्यूयार्क, बोस्टन व अन्य स्थानों पर केन्द्रीकृत निकाय उभरने लगे।

गृह युद्ध के दौरान फौजों को सामग्री पँहुचाने के लिए नई फैक्ट्रियों की स्थापना हुई। देश भर में बाज़ार का विस्तार होने लगा। राष्ट्रीय मंडी के विकास से राष्ट्रीय व स्थानीय स्तर पर संगठित होने के लिए मज़दूरों को बल मिला। धीरे-धीरे अन्य संघ बनने लगे। 1869 में एक और राट्रीय श्रम संगठन बना - **द राइट्स ऑफ लेबर**। इसका महत्व बढ़ने लगा पर 1894 तक इसका ह्रास आरंभ हो गया क्योंकि एक और संघ अमेरिकिन फैडरेशन ऑफ लेबर (ए. एफ. एल.) 1886 में स्थापित हुआ। इसका अध्यक्ष सैमुऊल गाम्पर्स था। 1905 में अन्य सशक्त श्रम संगठन बने जैसे इंडस्ट्रियल वर्क्स ऑफ द वर्ल्ड जो फ्रांसीसी संगठनवाद के हिमायती थे।

1935 में जॉन एल लूइस ने ए. एल. अल. के अंदर औद्योगिक संगठन बनाया कमेटी ऑन इंडस्ट्रियल ऑर्गेनाइज़ेशन। तत्पश्चात् ए. एल. अल. और इस कमेटी के बीच मतभेद हो गए जिस कारण इस कमेटी से जुड़े दो नेताओं को निकाल दिया गया। बाद में इस कमेटी ने अपना बदलकर कांग्रेस ऑफ इंडस्ट्रियल आरगेनाइज़ेशन (सी. आई. ओ.) रख लिया। राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिका में यही दो संघ ए. एल. अल. और सी. आई. ओ. कार्यरत हैं। वे अक्सर एक दूसरे के निकट आने की चेष्टा करते हैं। यह दोनों संगठन किसी भी राजनीतिक दल से स्पष्ट रूप से जुड़े नहीं है। परन्तु समय समय पर राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के लिए अपना समर्थन, राज्य की विशिष्ट नीतियों के पक्ष या विपक्ष में विचार प्रकट करते रहते हैं तथा श्रम संगठनों के अंतर्राष्ट्रीय परिसंघ से जुड़े हैं।

MAADHYAM IAS

28.8.2 यूनाइटिड किंगडम में श्रमिक आन्दोलन

ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन दुनिया में सर्वाधिक प्राचीन है। औद्योगीकरण के उदय और पूँजीवाद के विकास से श्रमिकों ने यह जान लिया था कि वे मालिकों की शक्ति का अकेले मुकाबला नहीं कर

सकते और उन्हें सामूहिक रूप से सौदेबाजी करनी होगी। मालिक नहीं चाहते थे कि श्रमिक एक दूसरे से हाथ मिलाएँ और संगठन स्थापित करें। जी. डी. एच. कोल ने लिखा है कि "अठारहवीं शताब्दी में ऐसे कई कानून थे जो श्रमिकों पर रोक लगाते थे। श्रमिकों को विभिन्न प्रकार से उत्पीड़न और दमन का सामना करना पड़ा परन्तु सब बाधाओं के बावजू वे संगठन का अधिकार पाने मे सफल हुए।"

विचित्र बात यह है कि आरंभ में आधुनिक उद्योगों के भय से ही श्रमिकों की संगठनबाजी शुरू हुई। श्रमिकों को भय था कि उत्पादन प्रक्रिया के मशीनीकरण से उन्हें नौकरियों से हाथ धोना पड़ेगा। इस कारण श्रमिकों ने मशीनें तोड़ दी। इस प्रकार के विरोध को लुडिज़्म (Luddism) कहा गया और राज्य ने इसे आड़े हाथों लिया। अंततः श्रमिकों ने इस तथ्य से समझौता कर लिया कि आधुनिक उद्योग स्थाई हैं और उनके साथ सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ेगा फलतः वे संगठनबाजी के नये चरण में प्रवेश कर गए। बेहतर मज़दूरी व सुविधाओं के लिए संघर्ष के साथ साथ मज़दूरों ने राजनीतिक सत्ता में भागीदारी के महत्व को भी जान लिया। 1830 में नेशनल एसोसिएशन फॉर प्रोटैक्शन ऑफ लेबर की स्थापना हुई। 1834 में राबर्ट अवन ने ग्रैन्ड नेशनल कन्सोलिडेटड ट्रेड यूनियन की स्थापना की।

राजनीतिक प्रक्रिया द्वारा मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए माँगों का एक चार्टर प्रस्तुत किया गया। इसे चार्टिस्ट आन्दोलन नाम दिया गया।

वर्तमान काल में ब्रिटेन में श्रमिकों की शीर्षस्थ संस्था ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस है। अधिकतर संगठन इससे जुड़े हैं। यह स्वयं को राजनीतिक दलों से अलग रखती हैं। फिर भी, आम तौर पर लेबर पार्टी को अधिकांशतः श्रमिक संगठनों से समर्थन मिलता है जबकि व्यवसायी कंज़रवेटिव पार्टी के समर्थ हैं। ब्रिटेन में अमेरिका की भांति श्रमिक संगठनवाद का 'आर्थिक' आधार है।

28.8.3 समाजवादी राज्यों में श्रमिक संगठन आन्दोलन : पूर्व सोवियत संघ

पूँजीवादी व्यवस्थाओं में श्रमिक संगठनों को दबाव समूह माना जाता है जबकि समाजवादी देशों मे इनकी भूमिका बिल्कुल अलग होती है। समाजवादी देशों में श्रमिक संगठनों का उद्देश्य समाजवादी उत्पादन प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी सुनिश्चित करना है। इस कारण विशाल सोवियत संघ में श्रमिक संगठन सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक शक्ति थे। सोवियित संघ के श्रमिक संगठन श्रमिकों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित करने, जनता को समाजवादी अनुशासन का शिक्षण देने, काम और समाजवादी संपत्ति के प्रति जनता के दृष्टिकोण को बदलने और औद्योगिक व कार्यालय श्रमिकों में अपने देश के स्वामी होने की भावना जगाने का काम करते थे।

श्रमिक संगठन आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास यह दर्शाता है कि रूसी श्रमिक संगठन नवीन संगठन है। रूसी साम्राज्य में पूँजीवाद का आरंभ देर से हुआ और श्रमिकों के रक्षक संघों का उदय भी देरी से ही हुआ। पहली अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांफ्रेंस अक्तूबर 1905 में हुई जिसमें अधिकतर मास्को के संगठनों के प्रतिनिधि शामिल थे। रशियन अधिकारियों द्वारा इनकी गतिविधियों का क्रूर दमन किया गया। फलतः रूसी ताकत का मुकाबला करना कठिन हो गया और 1916-17 तक इन संगठनों की संख्या 1500 तक रह गई। मार्च की क्रान्ति के बाद श्रमिक संगठनों की परिद् मॉस्को व पेत्रोग्राद में स्थापित हुई। पेत्रोगाद, मॉस्को व अन्य शहरों में संघ श्रमिकों ने अक्तूबर क्रान्ति के बाद सत्ता पर अधिकार कर लिया।

MAADHYAM IAS

1918 में पेट्रोगाड में ऑल रशियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस की पहली कांग्रेस में इसकी भूमिका पर विचार किया गया। नई आर्थिक नीति के आरंभ किए जाने के बाद संघवादी उद्योग के प्रबन्ध में भागीदार व सलाहकार बन गए। मार्च की क्रान्ति के बाद कई छोटे संगठन बन गए थे बाद में इन्हें एक केन्द्रीकृत संगठन में इकट्ठा कर दिया गया था जिसे ऑल यूनियन सैन्ट्रल काऊन्सिल ऑफ ट्रेड यूनियन (ए.सी.सी.टी.यू.) या सैन्ट्रल काऊन्सिल ऑफ ट्रेड यूनियन (सी.सी.टी.यू.) नाम दिया गया।

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) अमेरिका, ब्रिटेन व पूर्ववर्ती सोवियत संघ के प्रमुख राष्ट्रीय श्रम संघ कौन से हैं?

....

....

....

....

....

....

23.9 भारतीय श्रमिक संघ आन्दोलन

विकासशील देशों में श्रमिक संघ आन्दोलन विकसित पूँजीवादी व समाजवादी देशों के श्रमिक संघ आन्दोलन से बिल्कुल अलग ढंग से विकसित हुआ। इन उत्तर-औपनिवेशिक देशों में श्रमिक संघ आन्दोलन की अनेक विशेषताएँ हैं।

यहाँ श्रमिक संघ आन्दोलन की एक विशेषता इसका देरी से विकास है। वास्तव में राष्ट्रीय स्तर पर यह आन्दोलन प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही आरंभ हुआ। उद्योगों के देरी से पनपने के कारण श्रमिकों की ग्रामीण पृष्ठभूमि है और औद्योगिक संस्कृति उनके लिए नई है। आमतौर पर औपनिवेशिक शासन के दौरान, श्रमिक संगठन स्वतन्त्रता संघर्ष की प्रथम पंक्ति में थे। इसलिए श्रमिक संघ गतिविधियों के अतिरिक्त देश की राजनीति में भी खूब संलग्न थे।

भारतीय श्रमिक संघ आन्दोलन एक पूर्ववर्त्ती औपनिवेशिक राज्य में श्रमिक संघ आन्दोलन की विशेष प्रकृति को दर्शाता है।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व भारत में श्रमिक संगठनवाद न के बराबर था। आमतौर पर कुछ संगठन बने पर वे थोड़े समय तक जीवित रहे। युद्ध के दौरान श्रमिकों को आधुनिक श्रमिक संगठनों की तर्ज़ पर संगठित करने का प्रयास किया गया ताकि भारत का अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन में प्रतिनिधित्व किया जा सके अतः 1920 में ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (ए. आई. टी. यू. सी.) का निर्माण हुआ।

ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध थे। इसके कई अध्यक्ष राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय थे। स्वतंत्रता से पूर्व यह श्रमिकों का प्रमुख संगठन था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भाँति जो विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करता था, ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में भी श्रमिक संगठनवाद की विभिन्न पद्धतियाँ एक श्रमिक संघ में विलीन हो गई थी। कई बार तीव्र मतभेदों के कारण फूट भी पड़ी। गाँधीजी ने अपनी सर्वोदय की विचारधारा के आधार पर श्रमिक संगठन आन्दोलन का प्रतिपादन किया। अहमदाबाद टैक्सटाइल यूनियन या मज़दूर महाजन सभा ऐसा ही श्रमिक संगठन था जो औद्योगिक सम्बन्धो पर गाँधीवादी दर्शन का प्रतिनिधित्व करता था।

MADHYAM IAS

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में फूट पड़ गई। जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन में कई विचारधाराएँ बनी वैसे ही श्रमिक संगठन आन्दोलन भी विभिन्न श्रमिक संगठनों में बँट गया। ऑल

इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस विभिन्न श्रमिक संगठनों में बँट गया जो किसी न किसी दल से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से, भारतीय मज़दूर संघ भारतीय जनता पार्टी से, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी से, सेन्टर फॉर इंडियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस कम्यूनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी से तथा हिन्द मज़दूर पंचायत और हिन्द मज़दूर सभा समाजवादियों से जुड़े हैं। कुछ अन्य श्रमिक संगठन भी हैं जो किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े हैं।

अतः भारत जैसे विकासशील देश में श्रमिक संगठन आन्दोलन की महत्वपूर्ण विशेषता उसकी राजनीतिक संलग्नता है।

बोध प्रश्न 9

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) भारत में श्रम संगठन आन्दोलन की राजनीतिक प्रकृति किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में ढूंढी जा सकती है?

....

....

....

....

....

....

....

23.10 सारांश

अपने हितों की रक्षा के लिए श्रमिक वर्ग स्वयं को श्रम संघों में संगठित कर लेते हैं। श्रमिकों को स्वयं को संगठित करने के अधिकार की प्राप्ति के लिए दीर्घ काल तक संघर्ष करना पड़ा। श्रमिक संगठनों के उद्देश्यों, राजनीति से उनके सम्बन्धों तथा वर्ग चेतना के सम्बन्ध में विविध विचार प्रस्तुत किए गए हैं। फलतः श्रमिक संगठनों से जुड़े विविध सिद्धान्त है जैसे व्यवहारवादी, अराजकतावादी, श्रम संघवादी, मार्क्सवादी व लेनिनवादी तथा नवीन वाम सिद्धान्त। अधिकांशतः यह सिद्धान्त विकसित देशों या समाजवादी देशों की सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करते हैं। विकासशील देशों के श्रमिक संगठन आन्दोलन भिन्न प्रकार के होते हैं। भारत में श्रमिक संगठन राष्ट्रीय आन्दोलन से उदय हुए और राजनीति से इनका गहरा सम्बन्ध है। यहाँ श्रम संगठनों की बहुलता है।

MAADHYAM IAS

23.11 शब्दावली

अराजकतावादी : व्यक्ति जो इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं कि प्रत्येक प्रकार की सरकार बुरी और अत्याचारी हैं। इसलिए राज्यों को समाप्त कर देना चाहिए और व्यक्तियों के मुक्त संगठन होने चाहिए जो बिना हथियारों के स्थापित किया जा सकें।

बूर्जुआ : एक शब्द जो मार्क्सवादी साम्यवादियों ने स्वामियों (कृषकों को

छोड़कर), पूँजीपतियों, वस्तु-निर्माताओं, व्यापारियों, व्यक्ति जो अपना व्यापार करते हैं, और व्यक्ति जो उदार व्यवसाय करते हैं के लिए प्रयोग किया है।

वर्ग-संघर्ष : वर्तमान समय में विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष, विशेषतयाः सर्वहारा और बूर्जुआ वर्गों के बीच में संघर्ष जो उनके अपने हितों के संरक्षण के लिए होता है।

सर्वहारा : लोगों का एक ऐसा वर्ग, जो बहुत कम कमाते हैं और जिनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती है, जो अपने श्रम को बेचने पर निर्भर रहते हैं।

23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अहमद, मुखगर, *ट्रेड यूनियन एन्ड लेबर डिस्प्यूट्स इन इंडिया*, 1935।

चैटर्जी राखरी, *वर्किंग क्लास एन्उ नेशनलिस्ट मूवमैंट इन इंडिया*, द क्रिटीकल ईयर्स, नई दिल्ली, 1984।

क्लार्क, टॉम, *ट्रेड यूनियनिज़्म अंडर कैपिटलिज़्म*, न्यूयार्क 1977।

कोल, जी. डी. एच, *इन्ट्रोडक्शन टू ट्रेड यूनियन मूवमैंट*, लंदन 1962।

क्राऊच, हैरल्ड, *ट्रेड यूनियन्स एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया*, मुम्बई, 1966

गैलेन्सन, वॉल्टर एण्ड सेमौर मार्टिन लिप्सैट, *लेबर एण्ड ट्रेड यूनियनिज़्म एन इंटरडिसीप्लिनरी रीडर*, न्यूयार्क 1960।

घोष सुब्रतो, *ट्रेड यूनियनिज़्म इन अंडरडैवलप्ड कंट्रीज़*, कोलकत्ता, 1960।

होक्सी, आर. एफ. *ट्रेड यूनियनिज़्म इन यूनाइटिड स्टेट्स*, न्यूयार्क 1966।

रमन, एन. पट्टाभी, *पॉलीटिकल इन्वॉल्वमैंट ऑफ इन्डियाज़ ट्रेड यूनियन्स*, न्यूयार्क 1967।

सक्सेना, किरन, *नेशनल मूवमैंट एण्ड ट्रेड यूनियन मूवमैंट*, नई दिल्ली, 1990।

23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 23.1 देखें।
2) भाग 23.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 23.2 देखें।
2) भाग 23.2 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 23.3 देखें।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 4

1) भाग 23.4 देखें।

बोध प्रश्न 5

1) उप-भाग 23.5.1 देखें।

2) भाग 23.5.2 देखें।

बोध प्रश्न 6

1) भाग 23.6 देखें।

बोध प्रश्न 7

1) भाग 23.7 देखें।

बोध प्रश्न 8

1) भाग 23.8 देखें।

बोध प्रश्न 9

1) भाग 23.9 देखें।

MAADHYAM IAS

इकाई 24 कृषक वर्ग

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 कृषक वर्ग : परिभाषा व पहचान की समस्या
24.2.1 कृषक वर्ग का वर्गीकरण
24.3 गतिशीलता के निर्धारक तत्त्व
24.3.1 तकनीकी विकास
24.3.2 ऐतिहासिक तत्व या घटनायें
24.3.3 पारिस्थितिकीय आयाम
24.3.4 कृषक संरचना तथा समुदायों की भूमिका
24.4 कृषक संघर्षों की विविधता
24.4.1 राष्ट्रवादी
24.4.2 सामन्त विरोधी
24.4.3 राज्य/शासन विरोधी संघर्ष
24.4.4 भूण्डलीकरण विरोधी या नए कृषक/किसान आंदोलन
24.5 सारांश
24.6 शब्दावली
24.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

यह इकाई ग्रामीण कृषक वर्ग से सम्बन्धित है, किसी प्रकार वर्षों तक निष्क्रिय, रुढ़िवादी तत्व के रूप में माने जाने वाला यह वर्ग विवेकशील, प्रगतिशील सामाजिक ताकत के रूप में परिवर्तित हुआ है। क्या भूखण्डों के आकार में अंतर, सांस्कृतिक विविधता और सामाजिक व्यवस्था में भिन्नता के कारण इस वर्ग को एकरूप श्रेणी माना जा सकता है? इसे परिभाषित करना सबसे बड़ा प्रश्न है। इस इकाई में कृषक गतिशीलता के निर्धारक तत्वों का परिचय भी दिया गया है, विभिन्न स्थानों में कृषक संघर्षों का भी उल्लेख है। साथ ही, हाल के वर्षों में कृषक आन्दोलन द्वारा राजनीति, राज्य व विश्व पूँजी के सम्मुख प्रस्तुत विभिन्न प्रश्नों पर भी यह इकाई विचार करती है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में कृषक श्रेणियों पर विवाद जान सकेंगे;
- विभिन्न देशों के कृषक आन्दोलन जान सकेंगे; तथा
- तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में वर्ग की प्रकृति तथा उनके द्वारा उठाए गए मुद्दे जान सकेंगे।

MAADHYAM IAS

24.1 प्रस्तावना

कृषक वर्ग को आज तक एक विनीत, परम्परावादी, रुढ़िवादी, प्रतिक्रियावादी, यथास्थिति को स्वीकार करने वाले ग्रामीण कोटि का माना जाता था जो अपने ग्रामीण व सामाजिक परिप्रेक्ष्य से परे नहीं देख पाते। उन्हें उस श्रेणी का माना जाता था जो दृढ़ता से ग्रामीण मूल्यों से जुड़े थे तथा आधुनिकता के सभी विकल्पों के प्रति आँखे मूंदे थे। साथ ही उन्हें मंद बुद्धि, 'आलू के बोरे' अथवा निम्न बुर्जुआ कोटि का माना जाता था जो सच्चे अर्थों में वर्ग भी नहीं कहे जा सकते थे, न ही योजनाबद्ध तरीके से अपने दल या संगठन बना सकते थे। कृषकों के विषय में यह दृष्टिकोण विभिन्न स्थानों और देशों में उनकी सत्ता परिवर्तन की क्षमता, राष्ट्रवादी आन्दोलन में उनकी

भागीदारी, सामन्तवाद और सामन्तवादियों व उत्पीड़न के खिलाफ उनका संघर्ष, उत्पादन की आधुनिक प्रौद्योगिकी अपनाने, उनके द्वारा राष्ट्रवाद, राज्य, स्वतंत्रता, विकास और हाल ही में भूमण्डलीकरण के मुद्दे उठाने को नज़रअंदाज़ करता हैं।

24.2 कृषक वर्ग : परिभाषा व पहचान की समस्या

कृषक वर्ग की कोई परिभाषा नहीं है। यह ग्रामीण क्षेत्र के अनेक तबकों को जोड़ने या घटाने से प्रस्तुत अस्पष्टता तथा कृषक वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका की आंशिक समझ से उत्पन्न होता है। कृषक का शाब्दिक अर्थ है साधारण औज़ारों से भूमि पर कार्य करने वाला व्यक्ति। सारी की सारी ग्रामीण जनता जिनमें बड़े ज़मींदार तथा खेतिहर मज़दूर भी शामिल हैं, कृषक मान लिए गए हैं। इस परिभाषा में वर्गीकरण करने से विभिन्न श्रेणियों में भूखण्डों, प्रौद्योगिकी, रोज़गार श्रम का प्रयोग आदि से उत्पन्न विभिन्नताओं की अनदेखी हो जाती है।

कृषक वर्ग की कुछ परिभाषाएँ हैं। कृषक संघर्षों के विद्वान **एरिक वोल्फ** (Exie Wolf) ने उन्हें ऐसे लोग कहा है जिनका अस्तित्व खेती में संलग्नता से जुड़ा है और वे खेती की प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में स्वायत्त निर्णय लेते हैं।" इस परिभाषा में निर्धन और सीमान्त किसान तथा बंटाईदारों (share croppers) की श्रेणियाँ सम्मिलित नहीं है। दूसरी ओर, एक अन्य विद्वान **थियोडोर शैनिन** (Theodar Shanin) उन्हें वह लोग मानता है जो "छोटे कृषि उत्पादक हैं जो साधारण औजारों और अपने पारिवारिक श्रम द्वारा मुख्य रूप से अपने उपभोग के लिए और आर्थिक व राजनीतिक सत्ता के प्रति अपनी बाध्यताओं को पूरा करने के लिए करते हैं।" यह परिभाषा उन धनिकों और पूँजीपतियों को इस श्रेणी में शामिल नहीं करती जो अधिकतम लाभ के लिए विस्तृत बाज़ार में प्रवेश करते हैं। **इरफान हबीब** ने भी एक सरल परिभाषा दी है। "वह कृषक उस व्यक्ति को कहते हैं जो अपने आप, अपने पारिवारिक उपकरणों द्वारा कृषि करता है।" इन परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए कृषक वर्ग को "जनसंख्या की वह कोटि माना जा सकता है जिनके पास कुछ भूभाग है, जो कृषि उत्पादन के लिए मुख्यतः पारिवारिक या भाड़े के श्रम पर निर्भर है, जो प्रतियोगी बाज़ार या सीमित बाज़ार व्यवस्था में विश्वास रखता है।"

तथापि सभी को कृषक वर्ग नहीं कहा जा सकता। ग्रामीण क्षेत्र में किसानों व भूमिहन मज़दूरों के भी वर्गीकरण हैं। उदाहरण के लिए, किसान, उत्पादन के संसाधनों के वैकल्पिक प्रयोग की आशा करता है और बाज़ार का जोखिम उठाने को तैयार रहता है। कृषक से किसान में परिवर्तन मात्र मनोवैज्ञानिक ही नहीं वरन् भौतिकवादी भी है। परन्तु भूमि से जुड़ा होने के कारण उसे भी कृषक मान लिया जाता है।

खेतिहर मज़दूरों को भी कृषकों की श्रेणी में मान लिया जाता है क्योंकि भूमि के विकास में उनकी संलग्नता और उसके उत्पाद का उनके लिए महत्व उनके लिए भी उतना ही है जितना भूमि के मालिकों व उनके जोतने वालों के लिए। भूमि दोनों के लिए एक तत्व है और किसी भी प्रकार का सामाजिक, आर्थिक व तकनीकी परिवर्तन अपनी भूमि पर खुद खेती करने वालों तथा खेतिहर मज़दूरों दोनों को प्रभावित करता है।

MAADHYAM IAS

भूमिहीन मज़दूर, कृषक वर्ग से मनोवैज्ञानिक व व्यवहार में भिन्न है। वह निश्चित मज़दूरी, काम के निश्चित घंटे, उचित शैक्षणिक व स्वास्थ्य सुविधाओं व क्रय शक्ति में वृद्धि को वरीयता देता है।

जनजातियों को भी कृषक वर्ग मान लिया जाता है विशेषतः उनको जो किसी क्षेत्र विशेष में दीर्घकाल से बसे हैं और भूमि पर कार्य करते हैं। भू-संरचना में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उन्हें भी समान रूप से प्रभावित करता है।

24.2.1 कृषक वर्ग का वर्गीकरण

कृषक वर्ग के अन्तर्गत विविध श्रेणियाँ हैं: छोटे, बड़े, मध्यम, सीमान्त आदि। इस वर्गीकरण का आधार जोतों के आकार (भूभाग पर अधिकार) सहित उनकी आर्थिक स्थिति है। **एन्ज़ेल्स** जैसे

मार्क्सवादी सामान्तवादी कृषक, काश्तकार तथा खेतिहर मज़दूरों में वर्गीकरण करते है जो क्रमशः अपने भूस्वामियों के लिए बेगारी करते हैं, ज्यादा लगान देते हैं तथा अपनी छोटी जोतों पर खेती करते हैं।

रूस में क्रान्ति के संदर्भ में, **लेनिन** ने कृषक वर्ग को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया - **मध्यम, धनी, छोटे, कृषि सर्वहारा तथा अर्ध सर्वहारा**। खेतिहर मज़दूर उन्हें कहा गया जो अपने श्रम को किराए पर लगाते थे। अर्ध सर्वहारा वह थे जो छोटी जोतों के मालिक थे और आंशिक रूप से खेतिहर मज़दूर का काम करते थे; छोटे कृषक काश्तकार थे, वे अपने श्रम को किराए पर लगाते थे। बड़े किसान, पूँजीपति उद्यमी होते हैं जो बहुतायत में श्रमिक रखते हैं। धनी कृषक को 'कुलाक' कहा गया जो एक प्रति क्रान्तिकारी भी थे। मध्यम कृषक अपने ऊपर ही आश्रित है जो समय के साथ धनी कृषकों या सर्वहारा की श्रेणी में आ जाएगा।

चीन में क्रान्ति के संदर्भ में **मॉओ** ने कृषक वर्ग को भूस्वामी, मध्यम कृषक, निर्धन कृषक और श्रमिकों में श्रेणीबद्ध किया। परन्तु उसने पूँजीपति भूस्वामी की श्रेणी का प्रयोग नहीं किया जो या तो बहुत कमज़ोर था या एक ताकत के रूप में स्थित नहीं हो पा रहा था। भूस्वामी अर्ध उद्यमी था जो लगान वसूल कर दूसरों का शोषण करता था। मध्यम कृषक दूसरों का शोषण नहीं करता पर धनी कृषक के सम्बन्ध में यह सही नहीं है। निर्धन किसान अपना श्रम विक्रय करते हैं और लगान, या ऋण पर ब्याज के माध्यम से शोषण का शिकार होते हैं। श्रमिक किराए पर श्रम लगाते हैं।

भारतीय स्थिति में भी इसी प्रकार की वर्गीकरण की समस्याएँ हैं जो मुख्यतः सांस्कृतिक विविधताओं, कृषि संरचनाओं के विभेदों, जोतों के विभिन्न आकारों तथा जाति विभेदों के कारण उत्पन्न हुई है। भारत के संदर्भ में मोटे तौर पर तीन श्रेणियाँ बताई जा सकती हैं। पहला, मालिक या अनुपस्थित जमींदार व छोटे स्वामी जो काश्तकारों और उपकाश्तकारों से लगान लेकर उनका शोषण करते हैं। दूसरा, किसान जो छोटी जोतों के मालिक होते हैं या जीविका के लिए काश्तकार होते हैं और उनके संपत्तिगत हित होते हैं। तीसरा, मज़दूर जो निर्धन काश्तकार या भूमिहीन श्रमिक होते हैं जो जीवन निर्वाह के लिए श्रम विक्रय करते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) कृषक वर्ग की परिभाषा व जाँच (की पहचान) कैसे कर सकते हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) कृषक वर्ग की विभिन्न श्रेणियाँ कौन सी हैं?

....

....

....

....

3) कृषक वर्ग से क्या तात्पर्य हैं?

....

....

....

....

24.3 गतिशीलता के निर्धारक तत्व

अनेक निर्धारक तत्वों ने कृषकों की गतिशीलता में मदद की है। इनमें से कुछ हैं प्रौद्योगिकी, ऐतिहासिक तत्व, भौगोलिक परिस्थितियाँ, कृषि संरचनाएँ तथा सम्बन्ध, सरकारी नीतियाँ, जाति व सामुदायिक सम्बन्ध।

24.3.1 तकनीकी विकास

तकनीकी विकास ने कृषि सम्बन्धों को प्रभावित किया है। सिंचाई, बीज प्रौद्योगिकी, अधिक उत्पादन करने वाली किस्मों का प्रयोग, हरित क्रान्ति, जैव उर्वरकों के स्थान पर रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल, हल-बैलों के स्थान पर ट्रेक्टरों के प्रयोग इत्यादि से विभिन्न देशों में कृषि में पूँजीवाद का युग आया है। वास्तव में पश्चिमी विश्व में प्राचीन कृषि संग्रहण से ही औद्योगीकरण। औद्योगिक पूँजीवाद विकसित हुआ। यह फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि जैसे पूर्ववर्ती औपनिवेशिक देशों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अन्य शब्दों में, तृतीय दुनिया के देशों जैसे भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, बर्मा, चीन, नाईजीरिया आदि से बहुत पहले पश्चिमी देशों में पूँजीवादी रूपान्तरण हो चुका था। विकासशील देशों में औपनिवेशिक शासन के मध्य में या अन्त के आस पास पूँजीवाद शुरू किया गया था। रुचिकर तथ्य यह है कि इन देशों में पूँजीवाद ऊपर से थोपा गया जिस कारण इन देशों का एक समान विकास नहीं हुआ। अधिकांशतः कृषिक पूँजीवादी, पूर्व पूँजीवादी सामाजिक संरचना के साथ साथ या मिलकर बढ़ता रहा। परन्तु पश्चिमी विश्व, जिसमें रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि शामिल हैं, में पूँजीवाद अंदर से ही उपजा, या तो सामन्तवाद के विनाश से या उपनिवेशों के शोषण से या फिर राज्य नीतियों के माध्यम से। कृषिक पूँजीवाद दो मार्गों से पनप सकता है - अमेरिकी मार्ग या प्रशियन मार्ग (या जंकर (Junker) पूँजीवादी मार्ग)। तृतीय विश्व का निर्बल कृषिक पूँजीवाद पाश्चात्य देशों को चुनौती देने में सक्षम नहीं है। तथापि, कृषिक पूँजीवाद के आरंभ से नये वर्गीकरण अवश्य उभरे हैं। रूस में इसने प्रतिक्रान्तिकारी ताकत कुलाकों तथा खेतिहर मज़दूरों को जन्म दिया। भारत में इसने वृषभ (बैल) पूँजीपति या भद्र किसान या मालिकों को जन्म दिया। इसके अन्य प्रभाव भी पड़ेः कृषि श्रमिक अधिक मज़दूरी, काम के निश्चित घंटे, स्वास्थ्य व मातृत्व सुविधाओं आदि की माँग करने लगे हैं। दूसरे शब्दों में, कृषिक पूँजीवाद ने आधारभूत, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कृषि श्रमिकों तथा पूँजीवादी कृषकों की सौदेबाजी क्षमता को बढ़ाया है। यह यूरोपीय महाद्वीप में उदारीकरण व एकीकरण के संदर्भ में वहाँ के शराब बनाने वाले कृषकों की संरक्षण की माँग से स्पष्ट है।

MAADHYAM IAS

24.3.2 ऐतिहासिक तत्व या घटनाएँ

ऐतिहासिक तत्वों या घटनाओं जैसे औपनिवेशिक शासन, युद्ध में सफलता या विफलता, मुद्रा-स्फीति, राष्ट्रवाद, विकास के नये आविष्कारों इत्यादि से भी गतिशीलता पर प्रभाव पड़ा है। भूमि सुधार के मुद्दे सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के साथ साथ गतिशीलता को भी प्रभावित करते हैं। चीन, भारत, अल्जीरिया, वियतनाम आदि में औपनिवेशिक शासन का ज़्यादा असर हुआ। जापान व ताइवान में भूमि-सुधारों ने गतिशीलता को प्रभावित किया है। 1970 के दशक के आरंभ में तेल की कीमतों में वृद्धि ने विभिन्न महाद्वीपों में, भारत व पाकिस्तान सहित, हरित क्रान्ति की गति को मन्द कर दिया था।

24.3.3 पारिस्थितिकीय आयाम

पारिस्थितिक आयाम जैसे फसल प्रतिरूप (cropping pattern) लगाने के निर्णय, उन्नत बीजों को अपनाना, सिंचाई के प्रतिरूप आदि ने भी कृषक गतिशीलता को प्रभावित किया है। पिछले कुछ वर्षों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तृतीय विश्व में जिस प्रकार के फसल प्रतिरूप आरंभ किए हैं उससे यहाँ के कृषकों में भय की भावना उत्पन्न हुई है। तृतीय विश्व के देशों जैसे भारत में कृषकों ने टर्मिनेटर बीज का विरोध किया है क्योंकि उन्हें यह भय है कि इससे पुनः उत्पादन की आशा समाप्त हो सकती है इससे कोमल पौध के समूल नष्ट होने की संभावना हो जाती है।

24.3.4 कृषक संरचना तथा समुदायों की भूमिका

कृषिक संरचनाएँ जिनमें भूमि स्वामित्व, भूमि अधिकार, काश्तकारी अधिकार, जोतों का आकार आदि शामिल हैं गतिशीलता पर प्रभाव डालते हैं। इन तत्वों से काश्तकारी अधिकार, जोतने वाले को भूमि, भूमि-सुधार काश्तकारों की सुरक्षा आदि के मुद्दों ने जन्म लिया है। सामन्तवाद के उन्मूलन, दास प्रथा व बेगारी का समापन जैसे अन्य महत्वपूर्ण मुद्दे भी उभरे हैं। इतिहास के विभिन्न चरणों में कृषकों की गतिशीलता में यह मुद्दे दृष्टिगत हुए हैं: 1950-60 में भारत में, 15वीं शताब्दी के बाद इंग्लैण्ड में, 1900 के आरंभ में रूस में, 1920-47 के बीच चीन में, 1946-52 में फिलीपीन्स में तथा 15वीं शताब्दी के बाद जर्मनी में।

समुदायों अथवा जातियों की भूमिका से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। यद्यपि जाति भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण है तथापि समुदायों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे प्रकट होता है कि भारत में या अन्य स्थानों में कृषक गतिशीलता विशिष्ट रूप में वर्गीय घटनाक्रम नहीं है। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान विभिन्न जातियों जैसे वातारों, (wattars), जाटों और कोलियों ने जमींदारों के खिलाफ खुद को क्रियाशील बनाया। समुदाय जैसे मोपिला, कुंबी और पट्टीदारों ने सामन्ती उत्पीड़न, ज्यादा लगान व उपकर या सैंस (cess) के खिलाफ उठ खड़े हुए। विश्व के अन्य भागों में भी समुदाय जैसे फिलीपीन्स में हुक्स (Huks), लेटिन अमेरिका में चेपा (Cheapas) आदि समुदाय के आधार पर राज्य, शासन या भूमिपतियों के खिलाफ जागरूक हुए।

कई देशों जैसे भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नाईजीरिया में औद्योगीकरण, उदारीकरण, भूमि सुधार, बैंक राष्ट्रीयकरण आदि सरकारी नीतियों के तथाकथित कृषक विरोधी प्रकृति ने भी कृषक गतिशीलता में मदद की है।

बोध प्रश्न 2

नोट: क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) कृषक गतिशीलता के निर्धारक तत्व कौन से हैं?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) पाश्चात्य देशों और भारत के कृषिक पूँजीवाद में अन्तर करो।

....

....

....

....

3) भारत और पाश्चात्य देशों के कृषक गतिशीलता के समान मुद्दों को स्पष्ट करो।

....

....

....

....

24.4 कृषक संघर्षों की विविधता

श्रमिकों की गतिशीलता के निर्धारक तत्वों की विविधता के कारण कृषक संघर्ष भी विविध रूप के हो सकते हैं। परन्तु कृषक संघर्ष या क्रान्ति में कौन सा वर्ग नेतृत्व संभालता है, इस विषय पर मतभेद हैं। एक विचार यह है कि कृषक संघर्षों में सदैव 'मध्यम कृषक' अग्रणी रहता है क्योंकि अन्य श्रेणियों की अपेक्षा यह अधिक संवदेनशील व आर्थिक रूप से स्वायत्त है। दूसरा विचार यह है कि राष्ट्रवादी आन्दोलन की स्थिति में 'धनी कृषक' दो कारणों से अग्रणी होता है: **पहला**, विशाल बाज़ार पर नियंत्रण पाने के लिए इसका वृहद कार्यक्रम जिस कारण यह राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी ताकत के रूप में उभरते हैं। **दूसरा**, अपने विकास के मार्ग में आने वाली हर बाधा को निर्मूल कर देते हैं। यह राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रत्यक्ष भाग लेकर या उसे समर्थन देकर संभव होता है। परन्तु यह भी एक सच्चाई है कि इतिहास में कई अवसरों पर निर्धन कृषकों नें (चीन में) नेतृत्व किया है। साथ ही यह भी सच है कि कई बार क्रान्तिकारी बनने की अपेक्षा कृषक प्रतिक्रान्तिकारी बन जाते हैं। पूर्ववर्ती सोवियत संघ में कुलकों की भूमिका से यह स्पष्ट है जब उन्होंने स्वयं सोवियत राज्य का घनघोर विरोध किया था। भारतीय संदर्भ में विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा कृषकों की सापेक्ष निष्क्रियता के तीन कारण माने जाते हैं: जाति प्रथा, बुर्जुआ का प्रभाव, व गाँधीजी का प्रभाव। यह कृषकों द्वारा छेड़े गए संघर्षों की संख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। एक विद्वान ने मुगल काल से लेकर 1970 के दशक में 77 कृषक विद्रोहों का अनुमान लगाया है। यहाँ तक कि गृह मंत्रालय ने 1960 के दशक में आंध्र प्रदेश, असम व उत्तर प्रदेश में पाँच, बिहार, उड़ीसा व राजस्थान में तीन तथा तमिलनाडू में दो आन्दोलनों का उल्लेख किया हैं। यूरोपीय महाद्वीप में 1336 से 1789 तक एक अनुमान के अनुसार 125 कृषक व्रिद्रोह हुए जिनमें जर्मन कृषक युद्ध शामिल नहीं है।

तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में कृषक संघर्ष के विभिन्न रूप हो सकते हैं और इन्हें चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता हैं : 1) राष्ट्रवादी, 2) सामन्त विरोधी, 3) राज्य या शासन विरोधी तथा 4) भूमण्डलीयकरण विरोधी अथवा नवीन कृषक-किसान आन्दोलन। यह आतंकवादी, धार्मिक, डाकाजनी, उदार सुधारवादी इत्यादि कोई भी रूप ग्रहण कर सकते हैं।

24.4.1 राष्ट्रवादी

इसे उपनिवेश या साम्राज्य विरोधी आन्दोलन भी कहा जाता था जिसे कृषकों ने स्वतन्त्र रूप से या राष्ट्रीय आन्दोलन के हिस्से के रूप में चलाया था। स्वयं उपनिवेशवादियों द्वारा या उनके विभिन्न अभिकर्त्ताओं द्वारा,जिनमें उपनिवेशों में स्थापित नये सामाजिक सम्बन्ध भी थे, कृषकों के औपनिवेशिक शोषण ने इसकी भागीदारी को उकसाया। क्यूबा, रूस, वियतनाम, चीन, अल्जीरिया व भारत में कृषकों ने राष्ट्रीय संघर्षों में बढ़ चढ़ कर भाग लिया। भारतीय संदर्भ में उपनिवेशवादियों ने कृषक वर्ग का प्रत्यक्ष रूप से और नई कृषिक संरचनाओं जमींदारी व रैयतवारी की स्थापना करके दोनों तरह शोषण किया। इस व्यवस्था ने ऐसी सोपानक्रम सामन्तवादी व्यवस्था स्थापित की जिसमें कृषकों का जीवन दूभर हो गया। ब्रिटिश काल में ऐसे कई उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन हुए जो स्वतन्त्र रूप से या राष्ट्रीय आन्दोलन के हिस्से के रूप में जनजातियों या किसानों द्वारा चलाए गए थे। अंग्रेज़ों, अंग्रेज़ी उपनिवेशवादियों या उनके औपनिवेशिक अभिकरणों के विरुद्ध जनजातियों व किसानों के नेतृत्व में चले संघर्ष निम्नांकित हैं:

MAADHYAM IAS

• सन्यासी विद्रोह	1771-1789
• मुन्डा बगावत	1797
• दलभूम के राजा	1769-1774
• छोटा नागपुर के कोली, हो और मुंडा	1831-32
• तरार विद्रोह	1820
• सूथाल बिहार	1855-56
• भोक्ता विद्रोह	1857
• बिरसा बगावत	1890-95
• कोल विद्रोह	1831-32
• दक्खन विद्रोह	उन्नीसवीं शताब्दी
• बोरली संघर्ष	उन्नीसवीं शताब्दी

इसके साथ ही, ब्रिटिश शासन के दौरान कृषकों के मुद्दे राष्ट्रीय कार्यसूची का हिस्सा बन गए विशेषकर जब गाँधी और कांग्रेस ने इन्हें उठाया। वास्तव में गाँधीजी ने तीन महत्वपूर्ण संघर्षों का नेतृत्व किया जिसके कारण कृषक उस राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के भाग बन गए जिनका नेतृत्व गान्धी कर रहे थे। गाँधी ने चंपारन (1918), खेड़ा (1919) और बारडोली (1920) संघर्षों का नेतृत्व किया। इन संघर्षों में मुख्य मुद्दे थेः प्राकृतिक आपदा के दौरान वसूली, लगान या राजस्व में कटौती या तीन काटिया व्यवस्था (बारडोली)। 1936 में फैज़पुर कांग्रेस ने प्रसिद्ध कृषिक कार्यक्रम स्वीकार किया। परन्तु गांधी और कांग्रेस की विफलता ने कई स्वतन्त्र कृषक संगठनों का मार्ग प्रशस्त किया - विशेष रूप से किसान सभाएँ बनी प्रारंभ में कांग्रेस के प्रभाव में व बाद में साम्यवादी प्रभाव से। साम्यवादी विचारधारा में कृषक विद्रोह कोई नई घटना या भारत तक सीमित नहीं है। फिलीपीन्स में मध्य लुजान में 1946-52 में साम्यवादियों ने काश्तकारी अधिकारों या काश्तकार-भूमिपति सम्बन्धों को बदलने के लिए संघर्ष किया। चीन, क्यूबा, वियतनाम में इन्होंने उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध या उनके अभिकरणों के खिलाफ़ संग्राम कर आमूल परिवर्तन किये। रूस में क्रान्ति के दौरान कृषकों ने औद्योगिक श्रमिक वर्ग या लेनिन के नेतृत्व में बोल्टाविक दल के साथ कंधा मिलाया। भारत में औपनिवेश या उत्तर औपनिवेशिक काल में कृषकों ने किसान सभाओं या कम्यूनिस्ट दलों के अंतर्गत कई संघर्ष किएः 1920 में किसान सभाओं ने जमींदार ज़ुल्म के विरुद्ध लड़ाई की, कच्यूर में 1940 के दशक में साम्यवादियों ने संघर्ष का नेतृत्व किया, तेभाग में भी संघर्षरत रहे। उत्तर-स्वतंत्रता काल में 1946-51 में उन्होंने तेलंगाना संघर्ष का नेतृत्व किया और 1967-71 के बीच प्रसिद्ध नक्सलवादी आन्दोलन चलाया।

24.4.2 सामन्त विरोधी

MAADHYAM IAS

कृषक संघर्ष का दूसरा महत्वपूर्ण रूप सामन्त विरोधी संघर्ष है। यह सामन्तवादी वर्गों के अत्याचार तथा गुलामी, बेगारी, अधिक लगान, अबवाव तथा मजबूरन श्रम के विरोध के रूप में छेड़ा जाता है। मध्यकालीन यूरोप में जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड आदि में बहुत से सामन्तवाद - विरोधी आंदोलन हुए। ऐसा एक प्रसिद्ध संघर्ष 1514 का डोज़ा (Dozsa) संघर्ष था। भारत में ब्रिटिश शासन के बाद ऐसे विद्रोह होते ही रहे। इन विद्रोहों का कारण यह था कि ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में नई कृषिक संरचनाएँ बनाई जिनसे सामन्तवादी संरचनाएँ व सम्बन्ध सोपानक्रमिक हो गए। कई स्थानों में जमींदार व सामन्तशाही सम्बन्ध बने जिनकी कृषि उत्पादन बढ़ाने में इतनी रूचि नहीं थी जितनी कृषकों व काश्तकारों के शोषण में जैसे भारत के तटवर्ती क्षेत्रों में वार्गदार ऐसा वर्ग था। औपनिवेशिक शासन के दौरान व उसके बाद भारत में हुए सामन्तवादी विरोधी आन्दोलन निम्नांकित हैं:

- कर्नाटक में नागर कृषक विद्रोह - 1830-33
- जमींदारों के विरुद्ध पाबना विद्रोह - 1870
- जमींदारों के विरुद्ध मोपला विद्रोह - 1920 के दशक में
- जमींदारों के विरुद्ध एलारिंजी विद्रोह - 1941
- केरल में नादियांगा संघर्ष - 1940 के दशक में
- कर्नाटक में कोडागू सत्याग्रह - 1951
- महाराष्ट्र में वोरली संघर्ष - 1945
- केरल में कोटियूर संघर्ष - 1945

24.4.3 राज्य/शासन विरोधी संघर्ष

राज्य या शासन विरोधी संघर्ष दो प्रकार के हैं: एक जो पूर्ण रूप से राज्य संरचना का विरोध करते हैं; दूसरे वह जो राज्य या सरकार की किन्हीं नीतियों का विरोध करते हैं और इस प्रक्रिया में वह राजनीतिक तंत्र से अधिक सुविधाओं की माँग करते हैं। उपनिवेश विरोधी संघर्ष मुख्य रूप से राज्य विरोधी संघर्ष थे क्योंकि कृषकों के विचार से उपनिवेशवाद उनके अस्तित्व के लिए एक खतरा था। स्वतन्त्रता या क्रान्ति के बाद भी नये राज्य या सरकार के विरुद्ध आन्दोलन किये जाते रहे हैं। रूस में कुलाकों का विद्रोह ऐसा ही एक उदाहरण है। भारत में तेलंगाना व नक्सलवादी आन्दोलन राज्य/शासन विरोधी आन्दोलन माने जा सकते हैं। हालांकि राज्य द्वारा दमन के कारण यह दीर्घकाल तक चल नहीं पाए। किन्तु भारत में राज्य/शासन विरोधी आन्दोलन का एक आयाम और भी है: यह दृष्टिगम हुआ जब स्वतन्त्रता के पूर्व और बाद में देशी रियासतों के भारतीय संघ में विलय की माँग कर रही ताकतों का बड़ी संख्या में कृषकों ने भी समर्थन किया।

अंत में राज्य/शासन विरोधी आन्दोलन, कृषकों को सरकार से या राज्य से अधिक सुविधाएँ दिलाने के लिए भी जुटे रहे हैं। यह कृषि उद्योग का दर्जा दिए जाने, समर्थन मूल्य, भूमि सुधारों का प्रभावशाली रूप से कार्यान्वयन की माँग के रूप में प्रकट होता है। इस प्रक्रिया में संघर्ष का यह रूप विभिन्न श्रेणियों के कृषकों द्वारा अपने वर्ग के लिए माँगों को स्थान भी देता है। उदाहरण के लिए, खेतिहर मज़दूर हरित क्रान्ति के बाद से औद्योगिक वर्गों के बराबर या अधिक मज़दूरी, बोनस, स्वास्थ्य सुविधाओं, काम के निश्चित घंटों आदि की माँग करते रहे हैं। इस कारण विश्व के विभिन्न भागों में हिंसात्मक घटनाएँ भी घटी हैं। भारत में तमिलनाडू के तंजौर में खेतिहर मज़दूरों के घर जला दिए गए और उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया।

24.4.4 भूमण्डलीकरण विरोधी या नए कृषक/किसान आन्दोलन

यह हाल के वर्षों के नए प्रकार के कृषक आन्दोलन हैं। वास्तव में यह पाश्चात्य विश्व के सामाजिक आन्दोलन का हिस्सा है। परम्परागत संघर्षों की अपेक्षा यह आन्दोलन अनेक मुद्दों को उठाते हैं जैसे महिलाएँ, पर्यावरण, आणविक, मानव अधिकार आदि। यह नये कृषक/किसान आन्दोलन इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि में नज़र आते हैं पर यह भारत के आन्दोलनों जैसे जोरदार नहीं है।

MAADHYAM IAS

यह कई कारणों से नये कहे जा सकते हैं। वे कई मुद्दों से जुड़े हैं जैसे अभाव, विकास, अर्थव्यवस्था व्यापार शर्तें, शहरी-ग्रामीण विभेद इत्यादि। दूसरा, इनकी सक्रियता ग्रामीण क्षेत्रों तक सीमित नहीं है, वे वृहद गठबन्धनों में यकीन रखते हैं जो राज्य व राष्ट्र की सीमाओं से परे हैं, वे उन मुद्दों के लिए लड़ते हैं जो कृषकों की सभी श्रेणियों को प्रभावित करते हैं जैसे समर्थन मूल्य, ऋण, बिजली आपूर्ति तथा वृहद मुद्दे जैसे भूमण्डलीकरण व उदारीकरण का देश विशेष की ग्रामीण जनता पर प्रभाव आदि। तीसरे, यह सामाजिक व्यवस्था या परिवेश के भेद के बिना विभिन्न श्रेणियों के कृषकों

में एकता में यकीन रखते हैं। दूसरे शब्दों में यह आन्दोलन कृषक वर्ग को छोटे, बड़े, धनी इत्यादि में वर्गीकृत किये जाने का विरोध करते हैं। चौथे, भारत या अन्य देशों के पहले आन्दोलनों के विपरीत यह उग्रवाद या हिंसा को अपने तौर तरीकों का प्रमुख केन्द्र बनाए जाने से परहेज़ करते हैं हालांकि एक दो मामलों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश या उदारीकरण के विरोध में हिंसा का सहारा भी लिया गया। पर अधिकांशतः यह अहिंसात्मक साधनों, सत्याग्रह, पद यात्रा, शान्तिपूर्ण विरोध, हड़तालों आदि का सहारा लेते रहे हैं। कभी कभी इन्होंने गाँवबन्दी या चक्का जाम जैसे हथकण्डे भी अपनाए हैं। इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार देश में अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवेश का विरोध या समर्थन है जिससे विभिन्न श्रेणियों के कृषक विस्थापित हो जाएंगे। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम, विश्व व्यापार संगठन आदि के सम्बन्ध में विश्व निकायों या पाश्चात्य देशों द्वारा प्रस्तुत चर्चा में भी यह आन्दोलन विरोधी विचार प्रकट करते हैं। साथ ही नये कृषक आन्दोलन पाश्चात्य देशों की तृतीय विश्व के देशों के सम्बन्ध में प्रस्तुत नीतियों का उन्हीं के देशों में बढ़ते विरोध से भी संबंधित हैं। यह विरोध तृतीय दुनिया निर्भरता सिद्धान्त के वैचारिक ढांचे में अभिव्यक्त किया जा रहा है हालांकि गांधीवाद, मार्क्सवाद, रोज़ा लक्ज़मबर्ग के आंतरिक उपनिवेशवाद उनके लिए मुख्य आधार है। वास्तव में एक विशेष आन्दोलन, शेतकारी संगठन ने 'भारत बनाम् इन्डिया' पर ज़ोर दिया है ताकि शहरी/पाश्चात्य भारत तथा ग्रामीण भारत में अंतर समझा जा सके और यही इसका वैचारिक आधार है।

भारत में नये कृषक/किसान आन्दोलन के लक्षण 1970 के दशक के आरंभ में पंजाब में खेतीबारी जमींदार यूनियन तथा तमिलनाडू में तमिलिगा व्यावसायगल संगम की स्थापना में देखे जा सकते हैं। इसी अवधि में भारत के विभिन्न भागों के श्रमिक राजनीति दलों की छत्रछाया में बैठकें व सम्मेलन भी कर रहे थे। ऐसे ही एक सम्मेलन में उन्होंने समर्थन मूल्यों, विभिन्न निकायों में कृषकों के प्रतिनिधित्व, उद्योगों व कृषि में बढ़ती असमानताओं को पाटने, कृषि उत्पादों के लिए अनुपूर्ति देने, आय की असमानाएँ कम करने, ग्रामीण क्षेत्रों को अधिक धन आवंटित करने की माँग की थी।

इसी अवधि में पंजाब खेतीबाड़ी यूनियन ने छः प्रमुख आन्दोलन किएः एकल खाद्य क्षेत्र (Single Food zone) के विरुद्ध (1974), जल व सैस की दरों में वृद्धि के खिलाफ (1975), दोषपूर्ण ट्रेक्टरों के खिलाफ़, गन्ने के ग़ैर-लाभकारी मूल्यों के खिलाफ़ (1975) तथा डीज़ल कीमतों (1975) पर। इसी बीच तमिलिगा व्यावसैगल संगम ने भी कई आन्दोलन कियेः बिजली कीमतों में वृद्धि, कृषि आय कर, भूमि कर, सैस के विरुद्ध, ऋण राहत, खेतिहर मज़दूरों को अनुपूर्ति, विभिन्न फसलों के लाभकारी मूल्यों को लेकर।

1980 के दशक में इन आन्दोलनों को नई दिशा मिली जब महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन, उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन तथा कर्नाटक में कर्नाटक राज्य रैण संघ ने अपने अपने क्षेत्रों में कई आन्दोलन किये। इन आन्दोलनों से कई मुद्दे विवाद का केन्द्र बने हैं : लाभकारी मूल्य, ऋण माफी, वैज्ञानिक मज़दूरी नीति, शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में अंतर को पाटना आदि। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तो भूमण्डलीकरण का विरोध है।

ऐसा माना जा रहा है कि **भूमण्डलीकरण** से विभिन्न श्रेणियों के कृषक, कृषक नहीं रहेंगे, बेरोज़गारी बढ़ेगी, सांस्कृतिक संकट उत्पन्न होगा, कृषक अर्थव्यवस्था बदल जाएगी, पेटेन्ट की समस्या उत्पन्न होगी और अंततः भारत पाश्चात्य देशों का उपनिवेश बन जाएगा। परन्तु सभी कृषक आन्दोलन भूमण्डलीकरण का विरोध नहीं करते। महाराष्ट्र का कृषक आन्दोलन भूमण्डलीकरण का इस आधार पर समर्थन कर रहा है कि इससे भारतीय कृषक अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रवेश कर उससे अत्यधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे। इसे आशा है कि इससे प्रतियोगी पूँजीवाद आएगा तथापि विरोधी विभिन्न आन्दोलनों के द्वारा तथा देश के विभिन्न भागों में सीधे बहुराष्ट्रीय शाखाओं पर प्रहार कर रहे है। कर्नाटक में कारगिल कम्पनी, कैन्टकी फ्राइड चिकन तथा मान्स्टान्सो के टर्मिनेटर बीजों को कृषकों के क्रोध का शिकार होना पड़ा है। विश्व स्तर पर अन्य कई संगठन इस विरोध में शामिल हुए हैं। ऐसा ही एक संगठन मलेशिया स्थित थर्ड वर्ल्ड नैटवर्क है और दूसरा इंग्लैण्ड का मैक लिबल। फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि के कृषकों ने भी इनका समर्थन किया है। इससे यह प्रकट होता है कि वर्तमान संदर्भ में कृषकों को नासमझ मानना व उनके हितों को गाँवो की सीमा के अंदर ही देखना भूल होगी।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1) नये कृषक/किसान आन्दोलन से आप क्या समझते हो?

....

....

....

....

....

2.) कृषक/किसान आन्दोलनों की विविधता का परिचय दीजिए।

....

....

....

....

....

3) कृषक वर्ग के सामन्तवाद विरोधी आन्दोलन का क्या अभिप्राय है?

....

....

....

....

....

24.5 सारांश

MAADHYAM IAS

इस इकाई में आपने ग्रामीण क्षेत्र के 'कृषक वर्ग' का परिचय प्राप्त किया है। आपने यह भी जाना है कि उन्हें किस प्रकार छोटे, बड़े, धनी आदि में वर्गीकृत किया जाता है तथा उन्होंने भारत सहित विभिन्न देशों में क्या ऐतिहासिक भूमिका निभाई है? राज्य, सामन्तवाद तथा भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ किस प्रकार के संघर्ष किये हैं तथा उनकी गतिशीलता के निर्धारक तत्व कौन से हैं। अब यह एक वास्तविकता है कि 'कृषकों को गाँव के भोले भाले, विनीत कोटि का मानना एक भूल होगी, वह इतिहास की सक्रिय ताकतें हैं। अतः इतिहास में किसी भी प्रकार के जन संघर्ष में कृषक वर्ग का उल्लेख अवश्यभावी है।

24.6 शब्दावली

कृषक : भरण पोषण के लिए भूमि पर काम करने वाला।

सामन्तवाद : आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था जिसमें अधिपतियों को सैन्य व अन्य सेवाएँ प्रदान करने के बदले जागीरदारों का भूमि पर अधिकार था।

पूँजीवाद : आर्थिक व्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है।

उपनिवेशवाद : आर्थिक लाभ के लिए विदेशी ताकतों द्वारा कब्ज़ा जमाना।

बाज़ार : वस्तुओं के क्रय विक्रय का स्थान

24.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एरिक वोल्फ, *पीसेन्ट वार्स ऑफ टवन्टियर्थ सैन्चुरी,* लंदन 1975।

इरफान हबीब, *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुग़ल इन्डिया, 1556-1707,* मुम्बई, 1963।

थियोडोर शेनिन, *पैज़ेन्ट एण्ड पेज़ेन्ट सोसाइटीज़,* हार्मन्डस्वर्थ, 1976।

टॉम ब्राज (सं.) *न्यू फार्मर्स मूवमैंट इन इन्डिया,* इंग्लैण्ड, 1995।

मुज़फ्फर असादी, *पेज़ेन्ट मूवमैन्ट इन कर्नाटक,* 1980-84, दिल्ली, 1997।

24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जोतों के आकार, दूसरों का शोषण करने की क्षमता तथा उत्पादन की तकनीकों पर नियन्त्रण के आधार पर कृषक को परिभाषित किया जा सकता है।
2) सीमान्त, निर्धन, छोटा, धनी, मध्यम व बड़ा। इसमें खेतिहर मज़दूर तथा जमींदार शामिल हैं।
3) कृषक वह व्यक्ति है जो आजीविका के लिए भूमि पर निर्भर है।

बोध प्रश्न 2

1) तकनीकी विकास, कृषिक संरचना, पारिस्थितिक परिवर्तन, जाति व सामुदायिक सम्बन्ध, सरकारी नीतियाँ, ऐतिहासिक तत्व/घटनाएँ आदि।
2) सामन्तवाद के विनाश व तृतीय दुनिया के देशों का शोषण करके पाश्चात्य देशों में कृषि में पूँजीवाद अंदर से ही प्रस्फुटित हुआ; भारत में यह ऊपर से थोपा गया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) तौर-तरीकों, विचारधारा, चर्चा व मुद्दों के आधार पर वे नवीन हैं। वे कृषकों में परस्पर एकता व वर्गीय एकजुटता में विश्वास रखते हैं। वे भूमण्डलीकरण, अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के मुद्दों पर विचार करते हैं।
2) राष्ट्रवादी, सामन्तवादी विरोधी, राज्य विरोधी तथा भूमण्डलीकरण विरोधी।
3) सामन्तवाद विरोधी आन्दोलन उन जमींदारों के खिलाफ था जिनकी कृषि के विकास में कोई रुचि नहीं थी और वे काश्तकारों के शोषण पर निर्भर थे।

इकाई 25 महिला आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 महिला आन्दोलनों के विश्वव्यापी और स्थानीय संदर्भ
25.3 पृष्ठभूमि और इतिहास
25.3.1 ऐतिहासिक तत्वों की विविधता
25.3.2 प्रारंभिक स्त्रीवाद
25.3.3 महिलाओं की गतिशीलता और आन्दोलनों में भागीदारी
25.3.4 महिला मताधिकार आन्दोलन
25.4 समकालीन महिला आन्दोलन
25.4.1 पाश्चात्य संदर्भ
25.4.2 ग़ैर-पाश्चात्य संदर्भ
25.5 चरण और उपागम
25.6 महिला आन्दोलनों का संगठन - स्वायत्ता तथा लिंगीय विशिष्टता
25.6.1 लिंगीय विशिष्टता - दलीय राजनीति के लिए आशय
25.6.2 महिला आन्दोलन और आन्दोलनों में महिलाएँ
25.6.3 महिलायों के व्यावहारिक हित बनाम सामरिक हितों में अन्तर से जुड़े मुद्दे
25.7 महिला आन्दोलनों की राजनीति - विविधता और अंतर
25.7.1 विशिष्ट व समक्षणिक (साथ-साथ) शोषण
25.7.2 अश्वेत महिलाओं के आंदोलन - एक दुविधा
25.8 महिला आन्दोलनों की रणनीति
25.9 अर्थव्यवस्था, विकास, लोकतंत्र और महिला आन्दोलन
25.9.1 अर्थव्यवस्था और विकास
25.9.2 लोकतंत्र, नागरिक समाज एवं महिला आन्दोलन
25.10 सारांश
25.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
25.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य महिला आन्दोलनों की प्रकृति को उनसे जुड़े मुद्दों, उसकी राजनीति के संगठनात्मक आधार, महिलाओं की समस्याओं व विरोध की प्रकृति की विविधताओं के संदर्भ में जानना है।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आपः

- महिला आन्दोलनों की प्रकृति की विवेचना कर सकेंगे;
- विश्व के विभिन्न भागों में संगठित महिला आन्दोलनों के विभिन्न मुद्दों की चर्चा कर सकेंगे;
- महिला आन्दोलनों की राजनीति की विविधताओं और विभिन्नताओं की ओर संकेत कर सकेंगे; और
- इन आंदोलनों से जुड़े और उससे उत्पन्न सैद्धान्तिक विवादों के आधार को स्पष्ट कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

समसामयिक संदर्भ में महिला आन्दोलन, नवीन सामाजिक आन्दोलनों की राजनीति के नये प्रकार

MAADHYAM IAS

का हिस्सा है जो सार्वजनिक जीवन में जनता की सक्रिय भागीदारी का आधार बन गया है। नागरिक स्वतंत्रताओं, पर्यावरण, अभिज्ञान, जातिमूलक, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि मुद्दों के आधार पर संगठित यह आन्दोलन दलीय राजनीति से परे हट कर स्वयं को भागीदारी के स्वरूप में परिवर्तन करने में सफल हुए हैं। अब भागीदारी का स्वरूप प्रतिनिधित्व के पारम्परिक तरीकों से बदल कर प्रत्यक्ष सामूहिक कार्यवाही में परिणत हुआ है। दलीय प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित प्रतिनिधित्व की पारम्परिक विधि लोकतंत्र की विस्तृत भागीदारी की माँग को पूरा करने में असमर्थ रही है। यह देखा गया है कि विश्व की सर्वाधिक संस्थागत लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी समाज के हाशिए पर खड़े लोग और शक्तिहीन तबके, शक्ति की व्यवस्था से बाहर ही रह जाते हैं। नवीन सामाजिक आन्दोलन हाशिए पर के इन्हीं लोगों की आवाज़ बुलन्द कर इन्हें वैकल्पिक राजनीतिक दर्जा प्रदान करते हैं। अपनी प्रकृति के कारण ही यह आन्दोलन विस्तृत क्षेत्र पाते हैं। जहाँ पारम्परिक राजनीति केवल राजनीतिक स्तर पर क्रियाशील होती है वहीं यह नवीन सामाजिक आन्दोलन सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों तक विस्तारित होते हैं। अतः इन नवीन सामाजिक आन्दोलनों में सार्वजनिक व निजी तथा राजनीतिक व ग़ैर-राजनीतिक क्षेत्रों के बीच विभाजक रेखा नहीं होती। हाशिए पर के और समाज के शक्तिहीन तबकों के लिए (जैसे महिलाएँ) जिनकी शक्तिहीनता का मूल सामाजिक व सांस्कृतिक होता है, यह नवीन आन्दोलन विशिष्ट महत्व के हैं। यह इन्हें न केवल राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्यक्ष भागीदारी के लिए आधार प्रदान करते हैं वरन् उन सामाजिक व राजनीतिक मान्यताओं को चुनौती देने में उनकी मदद करते हैं जो उनके उत्पीड़न का आधार बनी हैं।

25.2 महिला आन्दोलनों के विश्व व्यापी और स्थानीय संदर्भ

आज के सन्दर्भ में महिला आन्दोलन सार्वभौमिक हैं क्योंकि यह भूमण्डल पर सर्वत्र महिलाओं द्वारा विरोध को अभिव्यक्त करता है। सभी महाद्वीपों में महिला होने के नाते अपने पर हुए अत्याचार के विरोध में महिलाएँ स्वयं को संगठित करती रहीं हैं। इस दृष्टिकोण से, बीसवीं शताब्दी के महिला आन्दोलन महिलाओं की चिंताओं को व्यक्त करते रहे हैं और इस कारण राज्य, राष्ट्र, जाति, समुदाय व संस्कृति की सीमाओं से परे एक समान मंच की आवश्यकता की ओर इंगित करते रहे हैं। महिला आन्दोलनों की सार्वभौमिक प्रकृति के बावजूद, ऐसे अनेक आन्दोलन स्थानीय संदर्भ में क्रियाशील रह कर उत्पीड़न की विशिष्ट दशाओं के प्रति महिलाओं की स्थानीय प्रतिक्रियाओं का बोध कराते रहे हैं। अतः विश्वव्यापी संदर्भ के होते हुए भी महिला आन्दोलन राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्नताओं का परिचय भी देते हैं।

25.3 पृष्ठभूमि और इतिहास

महिला आन्दोलन मुख्य रूप से आधुनिक युग की देन $ पूर्व-आधुनिक युग में महिलाओं के S F ~ अधिकारों a हितों पर आधारित संलग्नता के तत्कालीन संदर्भ अविदित थे। पश्चिमी यूरोप व उत्तरी अमेरिका की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों ने पहले पहल महिला आन्दोलनों को जन्म दिया। प्रारंभ if, 1776 की अमेरिकी क्रान्ति व 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद महिलाओं द्वारा विरोध उभरने लगा था। यह इन आन्दोलनों के श्वेत पुरुष नेताओं के प्रयासों के विरोध के रूप में उभरा जो नये प्राप्त अधिकारों को पुरुषों तक सीमित रखना चाहते थे।

ओलिम्पी डी गूजे (Olympe de Gouges) उन आरंभिक महिला नेताओं में से थी जिसका शीश अलग कर दिया गया था क्योंकि वह पेरिस की कामकाजी महिलाओं को, मात्र पुरुषों को दिए गए अधिकारों से वंचित रखे जाने के विरोध में, संगठित कर रही थी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका 'महिला अधिकार व स्त्री नागरिक' में उसने महिलाओं को सामाजिक व राजनीतिक अधिकार दिए जाने की माँग की थी। इसी संदर्भ में समान अधिकारों की माँग की गयी थी। 1868 में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं के संगठन **'द इन्टरनेशनल असोसिएशन ऑफ विमैन'** की स्थापना की गई थी। इसकी आरंभिक माँगों में *समान अधिकार, शिक्षा, समान कार्य के लिए समान वेतन* इत्यादि सम्मिलित थे।

MAADHYAM IAS

उन्नीसवीं शताब्दी व बीसवीं शताब्दी के आरंभ में विश्व के अन्य कई भागों में लिंग पर आधारित असमानताओं के विरोध में महिलाएँ संगठित होने लगी थीं। इसकी आरंभिक माँगों में पारिवारिक अधिकारों की पैतृक व्यवस्था के विरोध स्वरूप परिवार व समाज से लिंग पर आधारित भेदभाव को दूर करने की माँग शामिल थी। जब यह आन्दोलन कानूनी सुधारों पर लक्ष्य साध रहे थे। इसी बीच उत्तरी अमेरिका व यूरोपीय देशों में मताधिकार के मुद्दे उठाए जाने लगे।

25.3.1 ऐतिहासिक तत्वों की विविधता

किसी एक परिस्थिति में नहीं वरन् ऐतिहासिक तत्वों व दशाओं की विविधता से विश्व के विभिन्न भागों में महिलाओं की संगठित, सामूहिक क्रिया का जन्म हुआ। पश्चिमी यूरोप की ऐतिहासिक परिस्थिति के अतिरिक्त, अन्य देशों में उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, आधुनिकीकरण इत्यादि की दशाओं से महिलाओं की प्रतिक्रिया सामने आने लगी। कई औपनिवेशिक राज्यों में, औपनिवेशिक शासकों के प्रभाव स्वरूप महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना जागृत हुई जबकि अन्य कई राज्यों में उदारवादी संविधानवाद ने महिला अधिकारों के लिए आन्दोलनों को जन्म दिया। कई स्थानों में क्रान्तिकारी आन्दोलनों से महिलाओं की पृथकता ने महिलाओं द्वारा विरोध की कार्यवाही व संगठन का उदय किया। कई मामलों में राष्ट्रीय स्तर पर संगठित राजनीतिक आन्दोलनों से महिला आन्दोलन जुड़े रहे।

25.3.2 प्रारंभिक स्त्रीवाद

प्रारंभिक स्त्रीवाद ने ही महिला आन्दोलनों का बीजारोपण किया था। यह यूरोप, लेटिन अमेरिका तथा संयुक्त राज्य में मध्य वर्गीय महिलाओं की प्रतिक्रिया थी जो अपने ही वर्ग के पुरुषों द्वारा स्थापित राजनीतिक व पेशेवर संगठनों से अपने को अलग थलग महसूस कर रही थी। न केवल पश्चिमी यूरोप वरन् विश्व के अन्य भागों जैस पेरू, कैरीबियन, ट्रिनीडाड और इंडोनेशिया में भी प्रारंभिक स्त्रीवाद का प्रमुख विषय समान अधिकार और महिला मताधिकार था जबकि आंरभिक काल में इस आन्दोलन पर कई अन्य मुद्दे भी महत्वपूर्ण रहे। जैसे जैसे यूरोप और उत्तरी अमेरिका में महिलाएँ सवैतनिक कार्यों में संलग्न होने लगी महिला आन्दोलनों के संदर्भ बदलने लगे और 'महिलाओं के हितों' के प्रतिनिधित्व के लिए महिला समूह गठित होने लगे। महिलाओं की इन बदली हुई सामाजिक-आर्थिक दशाओं के कारण स्पष्ट रूप से स्त्रीवादी संगठनों का निर्माण होने लगा। ऐसा एक महत्वपूर्ण स्त्रीवादी संगठन 1966 में अमेरिकी महिलाओं द्वारा गठित किया गया - *द नेशनल आरगेनाइज़ेशन ऑफ विमैन*। यूरोप व उत्तरी अमेरिका में अन्य अनेक स्त्रीवादी संगठन निर्मित हुए। इन संगठनों की कार्यसूची में महिलाओं के लिए समान अधिकार, बेहतर अवसर, आर्थिक स्वतंत्रता और कार्य के लिए महिलाओं को अधिक आज़ादी शामिल थे। इन्होंने रोज़गार, वेतन, समझौते, संपत्ति अधिकार, गर्भ निरोध, गर्भपात इत्यादि के क्षेत्र में प्रचलित कानूनों व प्रथाओं को चुनौती दी। इन्होंने महिलाओं की यौन विषयवस्तु की छवि या एक कमज़ोर, निष्क्रिय और निर्भर प्रजाति की रूढ़िबद्ध अवधारणा को भी चुनौती दी। आधुनिक महिला आन्दोलनों पर सर्वाधिक प्रभाव **साइमन डी बीवौयर** (Simone **de** Beauvoir) की 1949 में मूल रूप से फ्रांसीसी भाषा में छपी पुस्तक *द सैकण्ड सैक्स* और **बैटी फ्रीडैस** (Betty Friedas) की पुस्तक *द फैमीनीन मिस्टीक* का पड़ा।

MAADHYAM IAS

25.3.3 महिलाओं की गतिशीलता और आन्दोलनों में भागीदारी

महिला आन्दोलनों के संगठन से पूर्व भी कई देशों में विभिन्न मुद्दों पर भागीदारी के लिए महिलाओं को प्रेरित किया गया हालांकि उनका सम्बन्ध तब लिंग हितों से नहीं था। यथा, अनेक औपनिवेशिक राज्यों में महिलाओं ने बड़ी संख्या में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में भाग लिया। इन्डोनेशिया, सोमालिया और सूडान जैसे देशों में महिला आन्दोलन राष्ट्रीय हितों से सम्बन्धित थे। कई देशों में जाति भेद विरोधी आन्दोलनों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी थी। दुनिया भर में संगठित श्रम आन्दोलनों में भी महिलाओं ने भाग लिया।

विभिन्न आन्दोलनों की गतिविधियों में इस प्रकार की भागीदारी से प्रत्यक्ष रूप से महिला आन्दोलनों

के संगठन पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव नहीं पड़ा, न ही इसने स्त्रीवादी कार्यक्रम को उकसाया या स्त्रियों के मुद्दे उठाए, परन्तु फिर भी इनसे महिलाओं में लिंग चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। महिलाओं को इन सामान्य मुद्दों के आधार पर संगठित करने की प्रक्रिया में उनका राजनीतिकरण हुआ और गतिशीलता बढ़ी - यह ऐसी प्रक्रिया थी जिससे बाद में वे विशिष्ट रूप से लिंग सम्बन्धी मुद्दों के आधार पर संगठित होने में सफल हुई।

25.3.4 महिला मताधिकार आन्दोलन

मताधिकार की माँग उन महत्वपूर्ण विषयों में से एक थी जो आन्दोलन की राजनीति में महिलाओं के संगठन और भागीदारी का कारण बनी। मताधिकार के विस्तार के बाद भी महिलाओं को मताधिकार से निरन्तर वंचित रखने के कारण महिलाओं के इसी मुद्दे के आधार पर संगठन बने। महिला मताधिकार के लिए तीव्रतम संघर्ष अमेरिका व इंग्लैण्ड जैसे देशों में हुए। इंग्लैण्ड में 1792 में **मेरी वौल्स्टोनक्राफ्ट** की पुस्तक '*ए विन्डीकेशन ऑफ राइट्स ऑफ विमैन*' के छपने के साथ ही संघर्ष का आधार तैयार हो गया था। **1840 में चार्टिस्ट आन्दोलन** ने महिलाओं के लिए मताधिकार की माँग की। इंग्लैण्ड के उदारवादी विचारकों जैसे जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी महिला अधिकारों की पुरज़ोर माँग की। उन्नीसवीं शताब्दी में इस मुद्दे पर महिलाएँ सक्रिय हो उठी। महिलाओं के मताधिकार का अत्यधिक विरोध था इसलिए 1869 तक ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत मताधिकार का प्रत्येक प्रस्ताव अस्वीकार होता रहा। इंग्लैण्ड के लगभग प्रत्येक प्रमुख शहर में महिला मताधिकार संघ स्थापित हुए। 1869 में निगम चुनावों में **करदात्री महिलाओं** को मत देने का अधिकार प्रदान किया गया। 1897 में महिला संगठनों ने स्वयं को 'महिला मताधिकार संघों के राष्ट्रीय संघ' में एकीकृत कर लिया। 1918 में तीस वर्ष से ऊपर की महिलाओं को पूर्णरूपेण मताधिकार प्राप्त हुआ। 1928 में इस आयु को 21 वर्ष किया गया और महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष मताधिकार प्राप्त हुआ।

अमेरिका में दास प्रथा के विरुद्ध संघर्ष के दौरान महिलाओं और अश्वेत गुलामों के लिए मताधिकार की माँग की गई। 1869 में राष्ट्रीय महिला मताधिकार संघ और अमेरिकी महिला मताधिकार संघ बने। इन संघों का मुख्य उद्देश्य संविधान संसोधन द्वारा महिलाओं को मताधिकार उपलब्ध कराना था। यह दोनों संगठन 1890 में विलय हो गए तथा राष्ट्रीय अमेरिकी महिला मताधिकार संघ बना। इस संगठन के अनथक प्रयासों से **1920 में अमेरिकी महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष मताधिकार प्राप्त हुआ।**

अनेक अन्य देशों में भी महिला मताधिकार की प्राप्ति के लिए संघर्ष हुए। बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक न्यूजीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया, नार्वे, फिनलैण्ड आदि देशों में महिलाओं को मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया था। 1930 के दशक तक सोवियत रूस, कैनेडा, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी आदि देशों में महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक देशों में महिलाओं को समानता के आधार पर मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। यद्यपि विश्व के अधिकांश देशों में महिलाएँ मताधिकार प्राप्त कर चुकी हैं तथापि कुछ देशों में महिलाओं को अभी भी इससे वंचित रखा गया है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) महिला आन्दोलनों के विश्व व्यापी और स्थानीय संदर्भो का परिचय दीजिए।

....

....

....

....

....

2) अमेरिका व इंग्लैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों में महिला आन्दोलनों की पृष्ठभूमि क्या थी?

....

....

....

....

....

3) पुरुषों के साथ बराबरी के आधार पर अमेरिका व इंग्लैण्ड में महिलाओं को मताधिकार कब प्राप्त हुआ?

....

....

....

....

....

25.4 समकालीन महिला आन्दोलन

1960 के दशक में तत्कालीन महिला आन्दोलन प्रकट होने लगे थे। इस दशक के मध्य में अमेरिका में महिला आन्दोलनों का प्रभाव स्पष्ट होने लगा था जब विभिन्न महिला संगठनों ने उन कानूनों और मूल्यों पर प्रहार किया जो महिलाओं से भेदभाव करते थे और जिनके कारण समाज में महिलाओं को निम्न दर्जा प्राप्त था। 1970 के दशक तक एशिया और लेटिन अमेरिका में भी स्त्रियों की सक्रियता स्पष्ट होने लगी थी। फिर भी, 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष तथा 1975-85 को महिला दशक घोषित किए जाने के उपरान्त विश्व के विभिन्न भागों में वास्तव में महिला आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी अवधि में विभिन्न देशों में महिलाओं की स्थिति पर राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना हुई और संयुक्त राष्ट्र ने ग़ैर सरकारी संगठनों से लिंग भेद के उन्मूलन की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने का आह्वान किया। विभिन्न महाद्वीपों में महिला आन्दोलनों के घटना चक्र की इस कदर पैठ थी कि 1990 के दशक के आरंभ में उसने सार्वभौमिक रूप ग्रहण कर लिया और महिला राजनीति का प्रभाव न केवल अनेकों अफ्रीकी देशों में वरन् पूर्वी व मध्य यूरोप के अनेक उत्तर साम्यवादी देशों में भी दृष्टव्य होने लगा।

MAADHYAM IAS

महिला आन्दोलनों के इस विश्व व्यापी संदर्भ में 1975 में मैक्सिको में पहला अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में अन्य बातों के अतिरिक्त महिलाओं के लिए शिक्षा, रोज़गार और नीति निर्माण के पदों पर महिलाओं की नियुक्ति के विस्तार, भेदभाव के उन्मूलन तथा समान अवसरों और सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों की समानता के आधार पर उपलब्धि के लक्ष्य रखे गए थे। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन 1980 में कोपनहेगन में तथा तृतीय सम्मेलन 1985 में नैराबी में हुआ। इस तृतीय महिला सम्मेलन की विशिष्टता यह थी कि इसमें ग़ैर-सरकारी संगठनों, महिला समूहों तथा जन आन्दोलन संगठनों ने भी भाग लिया था। **1995 में बेंजिंग में चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन के आयोजित होने तक महिला आन्दोलन विश्व व्यापी वास्तविकता बन चुके थे।**

25.4.1 पाश्चात्य संदर्भ

1970 के दशक में स्त्रीवाद का द्वितीय चरण पश्चिम में उभरा। अमेरिका में स्त्रीवादी संगठन विशेषकर राष्ट्रीय महिला संगठन बहुत सक्रिय हो गए। इसी दौरान पश्चिमी यूरोपीय देशों में स्थान स्थान पर महिला संगठनों की स्थापना होने लगी। इनमें से अनेक देशों में महिला संगठनों का मध्यमवर्गीय आधार विस्तृत होने लगा जिससे महिला आन्दोलन तीव्र हो गए। इनमें से कई आन्दोलनों में मध्यमवर्गीय महिलाओं के साथ साथ कामकाजी महिलाएँ भी शामिल हो गई।

उत्तरी अमेरिका व यूरोप के अधिकांश आन्दोलनों में महिला संगठनों ने विशेष रूप से दो माँगों पर बल दिया। **पहला**, महिलाओं का अपने शरीर पर स्वामित्व व **दूसरा** उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता। वास्तव में पहली माँग को अमेरिका, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी व ब्रिटेन में भरपूर समर्थन मिला। अमेरिका के राष्ट्रीय महिला संगठन ने महिलाओं के प्रजनन अधिकारों पर बल दिया। यह सुरक्षित व विधिवत् गर्भपात की माँग थी। इसी प्रकार फ्रांस में भी गर्भपात व गर्भ निरोध के मुद्दों पर संवेदनशील आन्दोलन हुए। फ्रांसीसी महिलाओं ने उन प्रचलित कानूनों के विरुद्ध प्रचार किया जो गर्भपात व गर्भ निरोध पर प्रतिबंध लगाते थे। उन्होंने कई तरीकों जैसे जन प्रदर्शन व विधायी दबाव डालकर इस कानून के समाधान की माँग की। इसी प्रकार पश्चिम जर्मनी की महिलाएँ भी परिवार नियोजन व गर्भपात के मुद्दों पर संगठित हुई। राष्ट्रव्यापी आन्दोलनों में उन्होंने प्रचलित गर्भपात कानूनों के उन्मूलन की माँग की। ब्रिटेन में भी महिलाओं के आन्दोलन उनके शरीर व प्रतिनिधित्व के मुद्दों पर चले।

25.4.2 ग़ैर पाश्चात्य संदर्भ

यूरोप व अमेरिका के अतिरिक्त अन्य कई देशों में महिलाओं के उत्थान के लिए आन्दोलन चलते रहे हैं। इन आन्दोलनों की ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह आवश्यक नहीं कि इन्होंने पश्चिमी आन्दोलनों की नकल की हो। इसके विपरीत, इन देशों के आन्दोलन इनके विशिष्ट सामाजिक व आर्थिक परिवेश की देन हैं। इस कारण अपने परिप्रेक्ष्य और माँगों में यह आन्दोलन पश्चिमी स्त्रीवाद से भिन्न हैं। इस परिप्रेक्ष्य में अंतर का कारण वह भिन्न परिस्थितियाँ हैं जिसमें विश्व के अन्य देशों, विशेष रूप से विकासशील देशों की स्त्रियाँ स्वयं की पहचान करती हैं। जहाँ उत्तरी अमेरिका व यूरोप में महिला संगठनों के सम्मुख प्रमुख मुद्दे प्रजनन अधिकारों, विशेष रूप से गर्भपात व गर्भ निरोध से जुड़े हैं, वहीं दक्षिण के विकासशील देशों की स्त्रियाँ इन मुद्दों को लेकर बहुत सक्रिय नहीं हैं। इसके दो कारण हैं। उनकी निर्धनता और अल्प विकास के संदर्भ में अन्य कई महत्वपूर्ण मुद्दे उनके सम्मुख हैं। दूसरे, इन देशों में स्त्रियों के प्रजनन अधिकारों का मुद्दा परिवार नियोजन के साथ जुड़ गया है। कुछ दक्षिणी देशों में आम तौर पर, राज्य द्वारा नियंत्रित परिवार नियोजन कार्यक्रम इस प्रकार संचालित किये गए हैं जिससे स्वयं महिलाओं के हितों की हानि हुई हैं। अतः महिला संगठनों ने गर्भ नियंत्रण कार्यक्रमों को सहजता से नहीं लिया है। अतः दक्षिण की महिलाओं के लिए प्रजनन नियंत्रण का अधिकार प्रजनन स्वास्थ्य के साथ जुड़ कर महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा हैं। इन देशों के महिला संगठन हानिकारक गर्भ निरोध के साधनों, हानिकारक दवाओं और महिलाओं के स्वास्थ्य पर विश्वीकरण के कुप्रभाव के विरुद्ध प्रचार करते रहे हैं और उनके सामान्य स्वास्थ्य, शिक्षा, आर्थिक विकास और जन जागरण का स्तर बढ़ाने की आवश्यकता पर बल देते रहे हैं। साथ ही परम्परागत ज्ञान विशेष कर परम्परागत औषधियों और देशीय स्वास्थ्य प्रथाओं के संवर्धन पर भी बल दिया है।

MAADHYAM IAS

ग़ैर-पश्चिमी देशों में महिला संगठनों द्वारा उठाए गए मुद्दे उनके विशिष्ट आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परिवेश से भी प्रभावित हुए हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि ग़ैर-पश्चिमी देशों में यह विशिष्टता किस प्रकार महत्वपूर्ण हैं।

जापानी महिलाओं के संदर्भ में सांस्कृतिक विशिष्टता का उदाहरण निम्नांकित है। यद्यपि जापान में महिला आन्दोलन ने अमेरिकी आन्दोलन से प्रेरित होकर मताधिकार, मुक्त प्रेम, स्त्री समलैंगिक अधिकार, गर्भ निरोध आदि मुद्दे उठाए हैं परन्तु फिर भी स्थानीय सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश

महत्वपूर्ण हैं। जापानी महिला आन्दोलन के द्वारा उठाए जाने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दों में महिलाओं पर काम का दोहरा बोझ और उनके प्रति सामाजिक भेदभाव है। यहाँ कामकाजी महिलाओं को कम वेतन और काम की बुरी दशाओं का सामना तो करना ही पड़ता है और साथ ही बिना पुरुषों की सहायता के घर भी संभालना होता है।

आरंभ में भारत में भी महिला आन्दोलनों ने महिलाओं के लैंगिक शोषण और घरेलू हिंसा के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी पर शनैःशनैः इनकी कार्यसूची में विशेष रूप से स्त्री लिंग के मुद्दे उठाए जाने लगे। 1980 और 1990 के दशक के आरंभ में स्त्रीवादी मुद्दे जिनका सम्बन्ध स्त्रियों की लैंगिकता, अपने शरीर व प्रजनन पर नियंत्रण व चयन का अधिकार, जन संचार माध्यमों में स्त्री को भोग्य पदार्थ या लैंगिक भूमिकाओं में निबद्ध करने तथा प्रजनन स्वास्थ्य आदि से था उठाए जाने लगे। परन्तु फिर भी परिवार नियोजन कार्यक्रमों और चिकित्सा प्रौद्योगिकी व इस प्रौद्योगिकी में निहित व्यापारिक व भूमंडलीय हितों के महिलाओं के स्वास्थ्य पर प्रभाव से महिलाओं प्रजनन पर नियंत्रण के अधिकार से जुड़े मुद्दे तूल पकड़ने लगे। भ्रूण परीक्षण, कन्या भ्रूण हत्या तथा प्रजनन स्वास्थ्य जैसे मुद्दे महिला आन्दोलन की राजनीति में तेजी से उभरने लगे। जैसे जैसे भारत में महिला आन्दोलन परिपक्व होने लगा वैसे वैसे यह एक ओर लिंग तथा दूसरी ओर जाति, वर्ग व समुदाय की जटिलताओं से घिरने लगा। अतः महिला राजनीति अब 'दलित', 'जनजातीय', 'कृषक', 'श्रमिक' संदर्भ में समझी जाने लगी। अतः दलित महिला, जनजातीय महिला या कृषक महिला के संदर्भ में विशिष्ट मुद्दे उठने लगे।

पाकिस्तान में महिला आन्दोलन लोकतांत्रिक राजनीति के वृहद आन्दोलन में अवस्थित है। पाकिस्तानी राजनीतिक व्यवस्था में लोकतांत्रिक संरचनाओं के संस्थागत न हो पाने के कारण स्त्रियाँ ही सर्वाधिक पीड़ित होती है। ज़िआ अल हक के जैसे सर्वाधिकारवादी शासन में महिलाओं को कठोर बन्धनों का सामना करना पड़ा है। इस कारण पाकिस्तान में स्त्री आन्दोलन, महिलाओं के सार्वजनिक जीवन में प्रतिबन्ध व उनके व्यावसायिक चयन पर सीमितताओं के विरुद्ध संगठित किए गए हैं।

लेटिन अमेरिकी स्त्री आन्दोलन इन देशों की विविधता व जटिलता को दर्शाता है। पेरू में महिला आन्दोलन स्त्रियों की विविध वास्तविकताओं को परिलक्षित कर विविध मुद्दों व आवाज़ों को बुलन्द करता है। जहाँ एक ओर स्त्रीवादी संगठन उन समस्याओं को उठाते हैं जो स्त्रियाँ स्त्री होने के नाते, अपनी लैंगिकता व विषय पदार्थ समझे जाने के कारण झेलती हैं, वहीं, महिला, संगठनों ने महिला श्रमिकों खदान श्रमिकों व शिक्षिकाओं के आन्दोलन से भी सम्बन्ध रखे हैं। निर्धनता व अभाव के कारण महिलाओं के सम्मुख प्रस्तुत समस्याएँ भी महिलाओं को संगठित करने का कारण बनी है। श्रम संगठनों व राजनीतिक दलों के माध्यम से भी महिलाओं ने अपनी समस्याएँ प्रस्तुत की हैं।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) तत्कालीन पश्चिमी महिलाओं के आन्दोलन के प्रमुख मुद्दे कौन से हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) भारतीय महिलाओं के आन्दोलन के कुछ मुख्य मुद्दे कौन से हैं?

....

....

....

....

....

....

3) दक्षिणी देशों की महिलाओं द्वारा उठाए गए मुद्दे यूरोप व उत्तरी अमेरिका की महिलाओं द्वारा उठाए गए मुद्दों से किस प्रकार भिन्न हैं?

....

....

....

....

....

25.5 चरण और उपागम

महिला आन्दोलन के विकास की दिशा में तीन प्रमुख चरण व तीन सुस्पष्ट पद्धतियाँ सामने आई हैं जिनका उद्देश्य स्त्रियों का उत्थान हैं।

प्रथम, आन्दोलन का आदर्शवादी व अव्यावहारिक चरण। इस अवधि में महिला आन्दोलन ने दो मुख्य बातों पर बल दिया:

1) महिलाओं की पुरुषों से बराबरी व
2) महिलाओं में बहनापा। इस चरण में दुनिया भर के महिला संगठनों में सर्वसम्मति तथा विश्व स्तर पर एकात्मकता पर ज़ोर दिया गया।

इस चरण के बाद की अवधि में स्त्री पुरुष समानता की अपेक्षा स्त्री-पुरुष विभिन्नता पर बल दिया गया था। यह ऐसा चरण था जिसमें नारीत्व को गौरवान्वित किया गया था व नारी के अपने अनुभव को प्रश्रय दिया गया था। इस चरण में स्त्रियों की समस्याओं की एकसारता को समझ कर एक सांझे मंच से विरोध प्रदर्शन की आवश्यकता को प्रश्रय दिया गया था। नारी का उत्पीड़न पितृसत्तात्मक संरचनाओं की देन माना गया। 1970 के दशक में पश्चिमी नारी आन्दोलन की यही मुख्य विशेषताएँ रहीं। उस समय तीन मुख्य अवधारणाओं का विकास हुआ - **पहला**, 'नारी' की अवधारणा। इसका निहितार्थ यह था कि स्त्री का शोषण उसके 'स्त्रीत्व' की दशाओं से पनपता है। **दूसरा**, 'अनुभव' की अवधारणा। इसका आशय, यह था कि सार्वभौमिक रूप से स्त्री 'स्त्रीत्व' के कारण शोषण का शिकार होने का अनुभव प्राप्त करती है। **तीसरा**, 'व्यक्तिगत राजनीति' की अवधारणा जिसने सार्वजनिक व निजी के बीच के विभाजन के समाप्त करने पर ज़ोर दिया। इसके माध्यम से महिला राजनीति ने सार्वजनिक तौर पर यह सिद्ध किया कि निजी या घरेलू क्षेत्र में नारी पर किस प्रकार शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस कारण स्त्री संगठनों ने राज्य के हस्तक्षेप द्वारा पारिवारिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन की माँग की। इस अवधि में महिलाओं के

MAADHYAM IAS

उत्थान की राजनीति का मुख्य आधार उत्पीड़न की सार्वभौमिक प्रकृति था, इसलिए इस अवधि में वर्ग, मूल, जाति या अन्य भेदभाव के बिना स्त्रियों की एकजुटता पर बल दिया गया।

समसामयिक काल महिला उत्थान की राजनीति का **तीसरा चरण** है। इस चरण की विशिष्टता स्त्रियों में बहुलवाद व अन्तर को समझना है। स्त्रियों की एकरूपता व उनके अनुभव की समानता की मान्यता को दक्षिण में व्यवस्थित तत्कालीन नारी आन्दोलन ने चुनौती दी है। समानता की अपेक्षा, राष्ट्रीयता, जाति, वर्ग व संस्कृति के आधार पर महिलाओं में परस्पर विभिन्नता पर ज़ोर दिया गया है। इस विचारधारा का आशय यह है कि महिलाएँ एक समूह नहीं हैं और उनका शोषण 'नारीत्व' की सार्वभौमिक दशा में निहित नहीं है। वास्तव में महिलाओं का उत्पीड़न विशिष्ट संदर्भयुक्त है। श्वेत महिलाओं द्वारा अनुभूत उत्पीड़न अश्वेत महिलाओं के उत्पीड़न के अनुभव से नितान्त भिन्न हो सकता है। एक वर्ग की स्त्रियों का उत्पीड़न दूसरे वर्ग की स्त्रियों के उत्पीड़न की प्रकृति से अलग हो सकता है। अतः 'उत्पीड़न के स्थल' और 'विरोध के स्थल' भिन्न भिन्न हो सकते हैं।

25.6 महिला आन्दोलनों का संगठन - स्वायत्तता तथा लिंगीय विशिष्टता

तत्कालीन महिला आन्दोलन स्वायत प्रकृति के हैं। स्वायत्तता का तात्पर्य यह है कि महिलाएँ स्वयं को संगठित करती हैं, अपनी कार्यसूची तैयार करती हैं और अपनी कार्य शैली तय करती हैं। परम्परागत संगठनों के सोपान क्रमिक व आधिकारिक संरचनाओं की अपेक्षा यह संगठन मुख्यतः लघु रूप समूह थे जिनमें संरचनात्मक अभाव था वे परस्पर विचारों की बहुलता व विभिन्नता थी। इन संगठनों का किसी राजनीतिक दल या किसी सामाजिक आन्दोलन से सम्बन्ध नहीं था। इन संगठनों की राजनीति अनुपम इसी कारण थी कि इसने सोच समझ कर स्वयं को राजनीतिक दलों व अन्य संगठित समूहों से अलग कर लिया था।

स्त्रियों की स्वायत्तता का प्रश्न लिंग मुद्दों की विशिष्टता पर बल से भी जुड़ा था। अतः स्वायत्त महिलाओं के आन्दोलन लिंग अधीनता के विरुद्ध प्रतिबद्धता पर आधारित थे। वैचारिक तौर पर, स्त्री उत्पीड़न को पितृसत्तात्मक संरचनाओं से जोड़ा गया। अतः उन मुद्दों पर जोर दिया गया जो महिलाओं के लिंगीय हितों के इर्द गिर्द थे और जो पितृसत्तात्मक मूल्यों व संरचनाओं का विरोध करते थे।

स्वायत्त महिला आन्दोलन की इस राजनीति जिसमें लिंग विशिष्ट मुद्दों पर ही ज़ोर दिया गया है ने स्त्री सक्रियता व उससे जुड़े मुद्दों की प्रकृति के सम्बन्ध में विवाद को जन्म दिया है। यह तर्क दिया गया है कि महिला आन्दोलनों की सीमा रेखा न तो महिला संगठनों की स्वायत्त प्रकृति पर और न ही लिंग विशिष्ट हितों के आधार पर परिभाषित की जा सकती है। अतः राजनीति दलों में सक्रिय महिलाएँ महिला आन्दोलनों का उतना ही हिस्सा है जितना सामाजिक आन्दोलनों से जुड़ी वे महिलाएँ जो केवल लिंग विशिष्ट मुद्दों के आधार पर ही संगठित नहीं है। वास्तव में, स्त्रियों के लिंग हितों का प्रश्न सकल रूप में स्वयं विवादित है। यह तर्क भी दिया गया है कि केवल महिला लैंगिकता से जुड़े मुद्दे ही नहीं वरन् उनकी निर्धनता व आर्थिक अभाव से जुड़े सभी मुद्दे लिंग हितों में शामिल हैं। महिला आन्दोलन की राजनीति से जुड़े विभिन्न पहलू निम्नांकित हैं।

MAADHYAM IAS

25.6.1 लिंगीय विशिष्टता - दलीय राजनीति के लिए आशय

लिंगीय मुद्दों की विशिष्टता और स्वायत्तता के प्रश्न विशेष रूप से वामपंथी विचारधारा वाली सक्रिय महिलाओं के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं। तत्कालीन नारी आन्दोलनों को आरम्भ से ही इस प्रश्न का सामना करना पड़ा है कि क्या महिलाओं का समानता के लिए संघर्ष सकल रूप में नई समाजवादी व्यवस्था के लिए संघर्ष का हिस्सा है या महिलाओं को स्वतन्त्र रूप से विशिष्ट लिंगीय उत्पीड़न के विरुद्ध संगठित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, महिलाओं के उत्पीड़न का आधार क्या है - वर्ग अथवा लिंग या दोनों। उग्र सक्रिय स्त्रियाँ जिन्होंने स्वायत्त स्त्री संगठनों की स्थापना की यह

विश्वास करती थी कि स्त्रियाँ स्वयं में एक शोषित वर्ग हैं अतः वृहद राजनीतिक संगठनों का हिस्सा बनने की अपेक्षा उन्हें अपनी क्षमताओं का प्रयोग महिलाओं की विशिष्ट राजनीति के लिए करना चाहिए। दूसरी ओर, वामपंथी राजनीतिक दल यह मानते हैं कि समानता के लिए महिलाओं का संघर्ष पूर्ण रूप से नई समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के संघर्ष का हिस्सा होना चाहिए।

वामपंथी विचारधारा वाले संगठनों के अन्तर्द्वन्द्व के कारण विभिन्न देशों में समाजवादी-स्त्रीवादी संगठनों ने इस विषय पर मतैक्य स्थापित किया है कि स्त्रियों के उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष को लैंगिक व वर्गीय दोनों प्रश्नों से जोड़ कर संगठित करना होगा। इस विचारधारा के अनुसार महिलाओं के उत्पीड़न का कारण केवल पूँजीवादी संरचनाओं के साथ पितृसत्तात्मक संरचनाओं में भी निहित है। फलतः कई वामपंथी संगठनों ने अपनी कार्य सूची में लिंगीय- विशिष्ट मुद्दों को भी सम्मिलित किया है। इनमें से कई संगठनों की महिला शाखाएँ भी सक्रिय हुई हैं।

25.6.2 महिला आन्दोलन तथा आन्दोलनों में महिलाएँ

कई लोगों का यह मानना है कि महिलाओं के आन्दोलनों को स्वायत्त और केवल लिंगीय हितों के प्रतिनिधित्व वाला मानना अपूर्ण होगा क्योंकि इस परिभाषा में वे गतिविधियाँ शामिल नहीं है जिनमें महिलाएँ सामूहिक हितों के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संलग्न होनी हैं चाहे वे स्त्रीवादी हों या नहीं। यद्यपि महिलाओं के लिंगीय हितों के उद्देश्य से चले आंदोलन स्त्रीवाद के विकास में सहायक होते हैं तथापि यह संपूर्ण नहीं होते और स्त्रियों की गतिशीलता का पूर्ण परिचय नहीं देते। इस संदर्भ में 'आन्दोलन में महिलाएँ' अवधारणा का हवाला दिया जा सकता है। यह उक्ति विभिन्न प्रकार से महिलाओं की क्रियाशीलता का परिचय देती हैं जिसके अंतर्गत प्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों के लिंगीय हितों का अनुसरण नहीं किया जाता परन्तु वह स्त्रियों की सक्रियता व एकजुटता का आधार अवश्य है। इनमें सामाजिक आंदोलनों, श्रम संगठनों, क्रांतिकारी व राष्ट्रवादी आंदोलनों की विविधता का उल्लेख किया जा सकता है।

'आंदोलन में महिलाएँ' राजनीति स्त्रियों के मुद्दों की जटिलता तथा महिला आंदोलनों की प्रकृति व दिशा की ओर संकेत करती है। इस जटिलता से पीड़ित वर्गों, जिनका स्त्रियाँ एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, के संघर्ष और स्त्रियों की लिंग विशिष्ट हितों के लिए संघर्ष की क्रियाशीलता के यह रूप महिला आंदोलनों में वर्गीकृत नहीं किए जाते परन्तु फिर भी यह आधुनिक युग में स्त्री एकजुटता का कारण बने हैं। लिंगीय कार्यसूची के संदर्भ में यह समझना होगा कि ऐसे आंदोलन जिनमें स्त्रियाँ बड़ी संख्या में शामिल होती हैं, भागीदारी की किसी न किसी अवस्था में लिंग संवेदनशील हो जाते हैं। इस संवेदनशीलता के कारण इन आंदोलनों में स्त्रियाँ, स्त्री विशिष्ट माँगों की अभिव्यक्त कर नेतागणों पर दबाव डालने लगती हैं कि स्त्रियों और उनकी माँगों की पहचान की जाए। 'आंदोलन में महिलाओं' की यह लिंगीय संवेदनशीलता राजनीति महिलाओं के आंदोलन का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

25.6.3 महिलाओं के व्यावहारिक हित बनाम सामरिक हितों में अंतर से जुड़े मुद्दे

MADHYAM IAS

जन आन्दोलन के भीतर लिंग संवेदनशीलता को लिंग विशिष्ट हित का अर्थ जानकर ही जाना जा सकता है। इस विवाद का केन्द्र बिंदु स्त्रियों के व्यावहारिक हित व सामरिक हित के संबंध में है। **मौलीनैक्स** (Molyneuse) के अनुसार, स्त्रियों के व्यावहारिक हित वह हैं "जो लिंग आधारित श्रम विभाजन व्यवस्था में महिलाओं की स्थिति के आधार पर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें"। सामरिक सुधारने के उद्देश्य से सामाजिक संबंधों में परिवर्तन का दावा करे और लिंग व्यवस्था व अंततः समाज में महिलाओं की स्थिति की स्थाई आधार पर पुनर्स्थापना करे। (मोलीनैक्स, पृ. 232) इस परिप्रेक्ष्य में दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति व उससे जुड़े उपाय स्त्रियों के विशिष्ट व्यावहारिक हित हैं, जबकि विशिष्ट रूप से लिंगीय हित माने जाने वाले हित जैसे उनकी लैंगिकता, प्रजनन स्वास्थ्य, प्रजनन पर उनके नियंत्रण से जुड़े मुद्दे उनके सामरिक हित माने जाते हैं। महिला आन्दोलनों के लिए व्यावहारिक हित उतने ही महत्वपूर्ण है जितने सामरिक हित। इस संदर्भ में लैटिन अमेरिका, भारतीय उप महाद्वीप, अफ्रीका व पूर्व एशियाई देशों में सामाजिक अन्याय के

विरुद्ध और उपभोग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुए संघर्षों की ओर संकेत किया जा सकता है। 1970 व 1980 के दशकों में आर्थिक मंदी की दशाओं के चलते पेरू व केन्या जैसे देशों में महिलाओं की सक्रियता उनकी आधारभूत आवश्यकताओं के लिए प्रकट हुई थी न कि उनके विशिष्ट लिंगीय हितों के लिए।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) स्वायत्त महिलाओं के आंदोलनों के क्या लक्षण हैं?

....

....

....

....

....

2) महिलाओं के आन्दोलन व आंदोलन में महिलाओं में क्या अन्तर है?

....

....

....

....

....

3) महिलाओं के व्यावहारिक हित व सामरिक हितों में क्या अंतर है?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

25.7 महिला आंदोलनों की राजनीति - विविधता और अंतर

हितों, अभिव्यक्ति के रूपों और स्थलों की विविधता महिला आंदोलनों की विशेषता रही है। अतः महिला आंदोलनों को वर्गीकृत किया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, शिक्षित मध्यवर्गीय महिलाओं के आंदोलन श्रमजीवी या खेतीहर महिलाओं के आंदोलनों से अपनी प्रकृति में भिन्न हो सकते हैं। इस संदर्भ में न केवल मुद्दों वरन् नीतियों में भी अंतर देखा जा सकता है। महिला

आंदोलनों की राजनीति में बहुलता व विविधता के संदर्भ में ही महिला आंदोलन में एक सार्वभौमिक आधार के विचार को नकारा गया है। यह अनुभव किया गया है कि महिलाओं के अनुभव की सार्वभौमिकता को स्वीकार करना यूरोप केन्द्रित सिद्ध होगा। वैसे ही इस पक्षपात से केवल श्वेत मध्यवर्गीय महिलाओं की समस्याओं के संदर्भ में ही महिलाओं की चिंता को व्यक्त किया गया है। इसी कारण पश्चिमी रूढ़िवद्ध, अवधारणा भूमण्डलीय विकास कार्यक्रमों से जुड़ी है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि दक्षिणी अर्थव्यवस्थाओं की जीविकोपार्जन कृषि में महिलाओं के योगदान की अवहेलना की गई है। इस कारण दक्षिण की सक्रिय महिलाएँ, स्त्रियों के मध्य अंतर को दृष्टिगत ने करने की पश्चिमी प्रवृति की निन्दा करती हैं। वह महिलाओं के अंतर को समझ कर महिला आंदोलनों को सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक व विशिष्ट समाजों के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की पक्षधर हैं। विभेदों की पहचान से स्त्रियाँ अपने शोषण पर सशक्त प्रहार करने में समर्थ होती हैं।

25.7.1 विशिष्ट व समक्षणिक (साथ-साथ) शोषण

यह समझना ज़रूरी है कि महिलाएँ कोई समरूप या अभिन्न ढेर नहीं है न ही अखण्डित श्रेणी हैं। वे विभिन्न सामाजिक आर्थिक परिवेशों से जुड़ी होती हैं जो वर्ग, मूल, जाति या समुदाय पर आधारित होते हैं और विभिन्न प्रकार से अधीनता व उत्पीड़न से ग्रस्त होती है। महिलाओं की अधीनता में लिंग का बड़ा हाथ होता हे, तथापि उपरोक्त श्रेणियों की भूमिका कम नहीं होती। **गेल ओमवैट** (Gail Omvedt) का मानना है कि स्त्रियाँ कई श्रेणियों में निबद्ध होती हैं और उनका शोषण महिला होने के नाते व इन श्रेणियों के सदस्य होने के नाते दोनों कारणों से होता है। अतः उनका शोषण 'विशिष्ट' भी है और 'समक्षणिक' भी जैसे दलित स्त्री का शोषण उसकी दलित वास्तविकता की विशिष्टता से जुड़ा है और एक अश्वेत स्त्री का शोषण उसकी अश्वेत वास्तविकता का परिणाम है। पहले मामले में दलित स्त्री का समक्षणिक शोषण है 'दलित' के नाते भी और 'महिला' के नाते भी और दूसरे मामले में भी स्त्री का समक्षणिक शोषण है 'अश्वेत' व 'स्त्री' दोनों होने के कारण। इसमें सार तत्व यह है कि दोनों का स्त्री होने के कारण शोषण होता है परन्तु दोनों के शोषण की प्रकृति उनकी विशिष्ट परिस्थिति 'दलित' व 'अश्वेत' में निहित है।

25.7.2 अश्वेत महिलाओं के आंदोलन - एक दुविधा

इस प्रकार की विशिष्ट व समक्षणिक शोषण की महिलाओं की स्थिति आंदोलन की राजनीति के लिए जो विरोधाभास उत्पन्न करती है उसे अश्वेत स्त्रियों के सम्बन्ध में बेहतर समझा जा सकता है। **बैल हुक्स** (Bell Hooks) इस विरोधाभास का हवाला देती है। उसका कहना है कि एक लम्बे समय तक जातिवाद व पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण अश्वेत महिलाएँ उत्पीड़न का दोहरा शिकार होती रही हैं। आरंभ में वे अश्वेत लोगों के आंदोलन में भागीदार हुई और 'नारीत्व' को अपने अभिज्ञान के महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में नहीं जान सकी। उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि लिंगवाद भी जातिवाद की भांति उत्पीड़नकारक है अतः उन्होंने यह आशा की कि सामाजिक उत्पीड़न से मुक्ति उन्हें लिंगीय उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने में समर्थ होगा। धीरे-धीरे उन्हें अश्वेत पुरुषों के लिंगवाद का ज्ञान होने लगा। जब इन स्त्रियों ने लिंग भेद को उत्पीड़न के आधार के रूप में जान भी लिया और विश्व महिला आंदोलन का हिस्सा बनी तब भी उन्हें श्वेत महिलाओं के जातिभेद का सामना करना पड़ा। उनकी दुविधा यह थी कि एक ओर तो वे श्वेत महिलाओं के नेतृत्व में जातिविभेदवादी महिला आंदोलन तो दूसरी ओर पुरुषों के नेतृत्व अश्वेतों के आंदोलन में फंस गई। केवल महिला आंदोलन के समर्थन का तात्पर्य था श्वेत महिलाओं के जातिवाद को स्वीकारना तो दूसरी ओर अश्वेतों के आंदोलन का समर्थन पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करना था। उनकी समस्या 'अश्वेत पुरुष प्रधानों के हितों की पूर्ति करने वाले अश्वेत आंदोलन और जातिवाद श्वेत महिलाओं के हितों की पूर्ति करने वाले स्त्री आंदोलन के मध्य चयन की थीं, अतः बहुत सी अश्वेत महिलाओं ने अश्वेत आंदोलन स्वीकार किया तो कुछ स्त्री आंदोलन में शामिल हो गई। कुछ अश्वेत स्त्रियाँ असमंजस में पड़ गई तो कुछ अन्य ने अश्वेत स्त्रीवादी संगठनों की स्थापना की। ***(हुक्स, पृ. 49)***

NAADHYAM IAS

अश्वेत महिलाओं का यह आंदोलन संपूर्ण विश्व में स्त्रियों के सम्मुख प्रस्तुत विरोधाभास को दर्शाता है जो किसी एक श्रेणी, मूल या लिंग को स्त्रियों के शोषण को आधार मान लेती हैं। काफी समय से अब यह ज्ञात हो गया है कि शोषण के स्थल और विरोध के स्थल एक नहीं अनेक हैं। आवश्यकता है शोषण के इन विभिन्न स्रोतों के मध्य संबंध को समझना और सामूहिक विरोध को जानना। अश्वेत महिलाओं के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जाति मूलक या लिंग मूलक शोषण को दो पृथक मुद्दों के रूप में देखा नहीं जा सकता। दोनों परस्पर गुंथ है फलतः जातिभेद व लिंगवाद के विरुद्ध संघर्ष को भी परस्पर जोड़ कर देखना होगा।

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) महिला आन्दोलनों में विविधता की प्रकृति कैसी है?

....

....

....

....

....

2) अश्वेत महिला आन्दोलनों को किस विरोधाभास का सामना करना होता है?

....

....

....

....

....

25.8 महिला आंदोलनों की रणनीति

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्त्री समूह बहुत प्रकार के तौर तरीके प्रयोग करते हैं। शक्ति की संरचनाओं के प्रति विरोधी नीतियों के साथ साथ वे सत्ता के विभिन्न स्तरों तक पहुँच के अवसरों का लाभ भी उठाती हैं ताकि स्त्रियों की बेहतरी हो। वे स्त्रियों के हितों के पक्ष में सरकार व संस्थाओं से वार्ता भी करती हैं।

MAADHYAM IAS

इन तौर तरीकों की बहुलता के संदर्भ में राज्य के प्रति दृष्टिकोण में भी विविधता देखने को मिलती है। एक ओर राज्य की पितृसत्तावादी प्रकृति के प्रति आलोचनात्मक और संशयवादी भाव हैं तो दूसरी ओर राज्य पर निर्भरता का भी दृष्टिकोण है।

महिला आंदोलन राज्य के प्रति संशयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। यह संशय राज्य की नीतियों में उपस्थित लिंग पक्षपात के कारण होता है। पितृसत्तात्मक संरचनाओं के संभरण ओर विकास के लिए राज्य को एक अभिकर्त्ता के रूप में देखा जाता है। स्त्रियों के प्रजनन की भूमिका पर राज्य की नियंत्रणकारी शक्तियों के कारण भी महिलाएँ राज्य को आलोचना का पात्र बनाती हैं।

साथ-साथ, दुनिया भर के महिला, संगठन राज्य की सरकारी संस्थाओं से नये कानूनों, प्रशासनिक कार्यवाहियों तथा न्यायिक निर्णयों के माध्यम से हस्तक्षेप की आशा भी रखते हैं। महिलाओं द्वारा समान अधिकारों, प्रजनन नियंत्रण, मातृत्व कल्याण, समान कार्य के लिए समान वेतन आदि के सम्बन्ध में उठाए गए मुद्दे राज्य को ही प्रेषित होते हैं।

राज्य के प्रति इस प्रकार के संशयात्मक व साथ ही निर्भरता के दृष्टिकोण को 'सामरिक दुविधा' का नाम दिया गया है। राज्य के हस्तक्षेप की माँग की जाती है, जब कानूनों या कल्याणकारी नीतियों के माध्यम से परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जाए परन्तु साथ ही यह भी ज्ञात है कि महिलाओं की शक्तिहीनता तथा लिंग भेद की समस्याओं के निदान में राज्य सीमित भूमिका ही निभा सकता है।

फिर भी कुछ क्षेत्रों में स्त्रीवाद व राज्य के बीच सुगम संबंध दृष्टिगत होता है। **थैलफॉल** (Threlfall) का मानना है कि स्पेन में महिला आंदोलन संस्थागत हो चुके हैं जिस कारण राज्य संस्थाएँ लिंग संवेदनशील हुई है। उसके विचार से स्पेन की स्त्रियाँ राज्य संस्थाओं के माध्यम से अपनी आवाज़ बुलन्द कर पाई हैं। विशेषरूप से स्पेन की नौकरशाही ने महिला समूहों, द्वारा उठाए मुद्दों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है। *(थ्रैलफॉल, पृ. 145)* परन्तु राज्य संस्थाओं और स्त्री आंदोलनों के बीच यह सरल सम्बन्ध अन्य कई देशों में दिखाई नहीं पड़ता। वास्तव में विकास और आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में कई क्षेत्रों में राज्य व स्त्री आंदोलनों में तनाव स्पष्ट नजर आता है।

25.9 अर्थव्यवस्था, विकास, लोकतंत्र और महिला आंदोलन

25.9.1 अर्थव्यवस्था और विकास

विशेष रूप से दक्षिणी देशों के तत्कालीन महिला आंदोलनों की चिंता का विषय भूमण्डलीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था और विकासवादी नीतियों का महिलाओं पर प्रभाव है। यहाँ मुद्रा स्फीति, विस्थापन, वनविनाश, बेरोज़गारी, निर्धनता जैसे मुद्दे स्त्री संगठनों द्वारा उठाए गए हैं क्योंकि इन सभी का स्त्रियों पर प्रभाव पड़ता है। यह मुद्दे आर्थिक आधुनिकीकरण बढ़ते हुए मशीनीकरण, उदारवादीकरण और भूमण्डलीयकरण का परिणाम हैं। नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य एकीकृत विश्व बाज़ार की स्थापना है जहाँ व्यापार पर कोई बंधन नहीं। इसने दक्षिण के देशों को **संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम** (structural adjustment programme) अपनाने के लिए विवश किया है जो निजीकरण, व्यापार उदारीकरण और आर्थिक सहायता में कटौती पर जोर देते हैं। महिलाओं पर इसके दूरगामी परिणाम हुए हैं। वे लघु उद्योगों में अपने परम्परागत रोज़गार से अलग हो गई हैं क्योंकि इन उद्योगों को सुसंगठित उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है फलतः स्त्रियों को शोषणकारी दशाओं में काम करने के लिए विवश होना पड़ा। साथ ही उन्हें वन विनाश, विस्थापन, बेरोज़गारी व निर्धनता की समस्याओं का भी सामना करना पड़ा है।

कुछ समय से इन विकासवादी नीतियों व प्रौद्योगिकी में निहित लिंग पक्षपात के विरोध में स्त्री संगठन अपनी आवाज़ उठाने लगे हैं। अतः वे समानता व समता के आधार पर दीर्घकालीन (sustainable) विकास की माँग कर रहे हैं। उन्होंने जीवन रक्षा, आजीविका, के अधिकारों की माँग की है। **सामूहिक संपत्ति साधन** (common property resources) और **पर्यावरण के संरक्षण**, से तथा **विकास की प्रक्रिया से उत्पन्न विस्थापितों की समस्या** आदि के मुद्दे भी उठाए हैं। दुनिया भर के स्त्री संगठनों द्वारा उठाई गई माँगों के कारण आज स्त्रियों को विकास कार्यक्रमों के लाभार्थी मात्र होने की बनिस्पत विकास प्रक्रिया के प्रमुख पात्र माना जा रहा है। महिला आंदोलनों के साथ साथ जन आंदोलन 'विकास' को पुनर्भाषित कर रहे हैं और विकल्प सुझा रहे हैं। वर्तमान कालीन विकास के रूपों को जन विरोधी व नारी विरोधी मान कर, महिला संगठन विकास का ऐसा प्रतिमान प्रस्तुत कर रहे हैं जो समानता पर आधारित व प्रकृति से संबंधित है। महिलाओं के प्रकृति के प्रति यही दृष्टिकोण आंदोलन को नया आयाम दे रहा है जिसे **'पारिस्थितिक स्त्रीवाद'** या ecofeminism कहा जाता है। कगार पर के अभावग्रस्त लोगों, विशेषकर महिलाओं की चिंता को व्यक्त करते हुए

MAADHYAM IAS

पारिस्थितिक स्त्रीवाद महिलाओं को पर्यावरण के विनाश के विरुद्ध कार्य करने को प्रेरित करता है इसकी मान्यता यह है कि यदि प्रकृति का असंतुलन होगा तो सर्वाधिक कुप्रभाव स्त्रियों पर पड़ेगा पारिस्थितिक स्त्रीवाद, अतः, महिला आंदोलन का वह रूप है जो मनुष्यों और प्रकृति तथा पुरुष औ स्त्री के मध्य असमानता के प्रश्न उठाता है। यह न केवल विकास के परिप्रेक्ष्य पर ऊँगली उठात है, वरन् उस प्रचलित विचार को भी चुनौती देता है जिसके अनुसार विज्ञान और प्रौद्योगिकी प्रगति के मापक हैं। अतः यह वैकल्पिक ज्ञान व्यवस्था पर बल देता है।

25.9.2 लोकतंत्र, नागरिक समाज तथा महिला आंदोलन

अन्य सामाजिक आंदोलनों के साथ साथ महिला आंदोलनों ने विश्व में राजनीति व समाज के लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया को भी पुष्ट किया है। इस प्रक्रिया द्वारा महिलाओं के उत्थान, अधिकार व सामाजिक न्याय की अवधारणाओं का पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है। इसी पुनर्मूल्यांकन के कारण महिला आंदोलन पर विचार 'अधिकारों' पर केन्द्रित होने लगा है। महिलाओं को सामाजिक नागरिक, राजनीतिक अधिकारों का उपभोग करने वाले व सत्ता के स्तरों तक पहुँचने वाले पूर्ण नागरिक मानने की माँग उठी है। (मौलीनैक्स)। नागरिकता का विस्तार राजनीति क्षेत्र तक सीमित न होकर विशाल माना जा रहा है। अतः महिला अधिकारों की सीमा सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित न होकर उन सामाजिक व निजी क्षेत्रों तक हैं जो उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। अतः पहले जो मुद्दे महिलाओं के जीवन के 'निजी' क्षेत्र के अंतर्गत माने जाते थे अब महिला आंदोलनों की राजनीति का हिस्सा बने हैं। अतः स्त्री आंदोलनों ने राजनीतिक व ग़ैर-राजनीतिक, सार्वजनिक व निजी के बीच अंतर को चुनौती दी है।

बोध प्रश्न 5

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) महिला संगठन आम तौर पर राज्य की आलोचना क्यों करती हैं?

2) संरचनात्मक सामंजस्य कार्यक्रम महिलाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है?

MAADHYAM IAS

25.10 सारांश

वर्ष 1975 से स्त्री आंदोलनों ने महत्वपूर्ण पड़ाव देखे हैं। दुनिया भर में स्त्रियों ने अपने अनेक संगठन स्थापित किए हैं और अपने लिंगीय हितों के अतिरिक्त अन्य कई मुद्दे उठाए हैं। अतः महिला आंदोलनों की राजनीति बहु आयामी है और उन विषयों से जुड़ी है जो समाज के घरेलू, सांस्कृतिक, आर्थिक व पारिस्थितिक क्षेत्रों से संबंध रखते हैं। उनकी कार्यसूची में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन और राजनीतिक लोकतांत्रिकरण शामिल हैं। विरोध और सामाजिक विरोध के द्वारा वह प्रचलित प्रथाओं और विचारधारा को चुनौती देते हैं।

इस प्ररिप्रेक्ष्य में स्त्री आंदोलनों को 'असम्बद्ध व्यवहार' की संज्ञा दी गई है। असम्बद्ध व्यवहार का तात्पर्य विरोध की वह प्रक्रिया है जिसके कई अर्थ निकलते हैं। सामूहिक विरोध द्वारा स्त्री आंदोलनों ने स्त्रीवाद की परम्परागत परिभाषा को चुनौती दी है और लिंगीय भूमिका के प्रचलित विचार पर प्रहार किया है। दुनिया भर में महिला संगठनों द्वारा उठाए गए विविध मुद्दों से यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं में राजनीति की एक निर्धारित दिशा नहीं है। महिलाओं का सुर एक नहीं है। वास्तव में अस्सी व नब्बे के दशकों में महिला आंदोलनों ने महिलाओं में परस्पर अंतर को स्पष्ट किया है। अतः महिला आंदोलन की राजनीति का लक्षण विविधता है। यह विविधता में अच्छी बात है क्योंकि यह आधिपत्य के विभिन्न रूपों की परिचायक है जिससे स्त्रियाँ विभिन्न स्तरों पर आधिपत्य पर प्रहार करने में सक्षम होती हैं।

25.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैल हुक्स, 1982, *एन्ट आइ अ वुमैन,* लंदन सिडनी, प्लूटो प्रैस।

मुमताज़ खावर और फरीदा शाहीद, (सं.), 1987, *विमैन ऑफ पाकिस्तान : टू स्टैप्स फार्वर्ड, वन स्टैप बैक,* लंदन, जैड।

मोनिका थ्रैलफॉल, (सं.) 1996, *मैपिंग द विमैन्स मूवमैन्ट',* वर्सो, लंदन, न्यूयार्क।

डायने रॉथबार्ड मार्गोलीस, 1993, *विमैन्स मूवमैंअ अराऊण्ड द वर्ल्डः क्रास कल्चरल कम्पैरिज़न्स', जैन्डर व सोसाइटी,* खण्ड 7, अंक 3, सितंबर।

मैक्साइन मौलीनैक्स, 1998, *एनैलाइज़िग विमैन्स मूवमैंट,* सीसिल जैक्सन व रूथ पार्सन्स (सं.) में, *फैमीनिस्ट विशन्स ऑफ डेवलपमैंट,* लंदन, राऊटलेज।

ओमवैट, गेल, 1993, *रीइन्वैंटिग रिवोल्यूशन : न्यू सोशल मूवमैंट्स एण्ड द सोशलिस्ट ट्रेडीशन इन इंडिया,* न्यूयार्क ईस्ट गेट।

सास्किया वेअरिंगा, (सं.) 1995, *सबवर्सिव विमैनः विमैन्स मूवमैंट्स इन अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका एण्ड द कैरीबियन।*

MAADHYAM IAS

25.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 25.2
2) देखें उपभाग 25.3.1
3) देखें उपभाग 25.3.4

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 25.4.1
2) देखें उपभाग 25.4.2
3) देखें उपभाग 25.4.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 25.6
2) देखें उपभाग 25.6.2
3) देखें उपभाग 25.6.3

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 25.7
2) देखें उपभाग 25.7.2

बोध प्रश्न 5

1) देखें भाग 25.8
2) देखें उपभाग 25.9.1

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 पर्यावरण

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 परिभाषाएँ
26.3 ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि
26.4 अनिवार्यताएँ
26.5 विभिन्न देशों में हुए आन्दोलन
26.5.1 सरवाक जनजातीय आन्दोलन
26.5.2 ब्राज़ील में उष्ण कटिबंधीय वनों का सरंक्षण
26.5.3 चीन में वृक्षारोपण का माओवादी आन्दोलन
26.5.4 मैक्सिको में जनजातीय प्रतिरोध
26.5.5 फिलीपीन्स में शाइको आन्दोलन
26.5.6 दक्षिणी नाइजीरिया का प्रतिरोध आन्दोलन
26.5.7 जर्मनी का ग्रीन आन्दोलन
26.5.8 हरित शान्ति आन्दोलन
26.5.9 पर्यावरण आन्दोलन में अन्य योगदान
26.6 भारत में हुए आन्दोलन
26.6.1 चिपको आन्दोलन
26.6.2 प्रशान्त घाटी बचाओ आन्दोलन
26.6.3 ताज बचाओ अभियान
26.6.4 मिट्टी बचाओ अभियान
26.6.5 थाई बेशेट अभियान
26.6.6 बेडथी अभियान
26.6.7 भोपाल पतनम् - इंचमपाल बाँधों पर रोक
26.6.8 दून-खनन
26.6.9 कर्नाटक के निम्नीकृत वन
26.6.10 काइगा अभियान
26.6.11 गंध मर्दन बॉक्साइट - खनन
26.6.12 नर्मदा बचाओ अभियान
26.6.13 पश्चिमी घाट बचाओ पदयात्रा
26.6.14 टिहरी बाँध अभियान
26.6.15 रेयन कारखाने द्वारा प्रदूषण
26.6.16 चिल्का बचाओं आन्दोलन
26.6.17 विज्ञान एवं पर्यावरण संघ
26.6.18 छत्तीसगढ़ आन्दोलन
26.6.19 महाराष्ट्र, पालामऊ तथा सुखमोजोरी के जल संकरण आन्दोलन
26.6.20 ऑरोविले आन्दोलन
26.6.21 बिश्नोइयों की परंपरा
26.7 भारतीय परिदृश्य : एक परिप्रेक्ष्य
26.8 सारांश
26.9 शब्दावली
26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
26.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि लोग, अपने पर्यावरण में होते हुए परिवर्तनों के प्रति अपनी अवक्रियाएँ, संगठित होकर अथवा अन्यथा, राजनीतिक दलों या निर्वाचित

प्रतिनिधियों के परंपरागत साधनों के बजाय असहमति, विरोध एवं प्रतिरोध के द्वारा भी अभिव्यक्त किया करते हैं।

इस इकाई में जिन विषयों को शामिल किया गया है वे इस प्रकार हैं - पारिस्थितिकी, पर्यावरण, संसाधन, विकास, समाज पर विकास के प्रभाव तथा इन चुनौतियों के प्रति लोगों की अनुक्रियाएँ। इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात्, आप समझ सकेंगे किः

- पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण का निर्माण किस के द्वारा होता है;
- पर्यावरण संबंधी आन्दोलनों का अर्थ और उनकी प्रकृति;
- विभिन्न देशों में हुए पर्यावरण संबंधी कुछ आन्दोलनों के प्रकार; और
- भारत में पर्यावरण-आंदोलनों की प्रकृति और उनका महत्व।

26.1 प्रस्तावना

शताब्दियों से, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, आर्थिक संवृद्धि एवं सामाजिक विकास के माध्यम से मानव जाति के रहन-सहन की दशाओं में निरंतर सुधार होता रहा है। फिर भी रोम के क्लब ने, इस प्रगति को, निम्नलिखित पाँच प्रमुख कारणों के आधार पर, अत्यंत सीमित माना हैः

- निर्बाध जनसंख्या वृद्धि
- अपर्याप्त ऊर्जा
- संसाधनों का अवक्षय
- स्वास्थ्य विज्ञान एवं स्वच्छता
- प्रदूषण

इसी निष्कर्ष का समर्थन 'विश्व **2000** प्रतिवेदन' (Report) में भी किया गया है। प्रदूषण विकास का एक परिणाम भी है और स्वस्थ मानव जीवन के लिए खतरा भी। प्रदूषण की रोकथाम के लिए ही पर्यावरण संरक्षण आन्दोलन विकसित हुए हैं।

इसे समझने के लिए कि पर्यावरण-संरक्षण के लिए सामाजिक आन्दोलन क्यों होते हैं, पारिस्थितिकी, पर्यावरण, संसाधनों, उनके तंत्रों, विकास तथा परिणामों का ज्ञान अपेक्षित है। सर्वप्रथम कुछ परिभाषाओं को समझना आवश्यक है।

26.2 परिभाषाएँ

पारिस्थितिकी

पारिस्थितिकी का अर्थ है पृथ्वी नामक ग्रह के समस्त जातीय एवं स्थलीय अवयवों की पारस्परिक निर्भरता के आधार पर सहजीविता जिसमें सभी अवयव एक दूसरे का उपयोग करते हैं और समग्र संचय की पुनः पूर्ति भी करते रहते हैं। अतः मिट्टी, पानी, पौधे, जीव-जंतु, खनिज, वायुमंडल, ऊर्जा तथा मनुष्य आदि समस्त अवयव एक दूसरे का उपयोग करते हुए पारस्परिक संतुलन बनाए रखते हैं। पृथ्वी पर ये सब अलग-अलग क्रमचयों एवं संचयों में वितरित हैं। ऐसी प्रत्येक इकाई को उसके निदान सूचक एवं विभेदक लक्षणों के आधार पर, एक पारिस्थितिक तंत्र कहा जाता है।

MAADHYAM IAS

पर्यावरण

मानव जाति अपने आप को (पारिस्थितिक तंत्र के) अन्य अवयवों से पृथक मानती है तथा उन्हें अपने संसाधन भर मान कर संतोष का अनुभव करती है। अतः मिजवाखपाऊजंमा (SWAMPEAH) मानव समाज का पर्यावरण कहलाता है।

संसाधन

मानव जाति के लिए, अपने आप के अतिरिक्त, जल, मिट्टी और भूमि, पौधे जंतु, रोगाणु, खनिज

तथा वायुमंडल समावेश रूप से एक संसाधन-आधार तैयार करते हैं। गुण एवं परिभाषा, दोनों की दृष्टि से इनके वितरण तथा उत्पादकता में विविधता होती है।

पारिस्थितिक तंत्र

पृथ्वी पर उपर्युक्त संसाधन 40 से अधिक पारिस्थितिक तंत्रों में वितरित हैं। प्रत्येक पारिस्थितिक तंत्र में उपर्युक्त संसाधनों के विभिन्न प्रकार पाए जाते हैं और विकास की यथावधि में उसके विशिष्ट लक्षण बन जाते हैं। ऐसे पारिस्थितिक तंत्रों में वन, मरुस्थल, तराई क्षेत्र, समुद्र, द्वीप, नदियाँ, चरागाह, भूमध्यरेखीय, उष्ण कटिबंधीय, उपोष्ण कटिबंधीय शीतोष्ण कटिबंधीय तथा अन्य भौगोलिक क्षेत्रों की हरित भूमियों आदि को गिनाया जा सकता है जो भिन्न भिन्न अक्षांश एवं देशान्तर रेखाओं से घिरे होते हैं।

विकास

मनुष्य अपने ज्ञान, अनुभव एवं विज्ञान और तकनीकी की प्रायोगिक दक्षता के आधार पर इन विविध पारिस्थितिक तंत्रों में विद्यमान संसाधनों का, अपने उपयोग के लिए निरंतर दोहन करता रहता है। इस प्रकार का उपयोग राजनीतिक सत्ता, प्रशासनिक तंत्र के माध्यम से लोगों के सामाजिक - आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर कराती है। परिणामस्वरूप संसाधनों एवं विकास के उत्पादों के वितरण से इन सभी प्रक्रियाओं के ऐसे मूल उपादान का निर्माण होता है जिसमें समानता एवं न्याय सुनिश्चित हों। अतः उद्योग, व्यापार, वाणिज्य एवं व्यापार एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते हैं। इन प्रक्रियाओं से अनेक परिणाम सामने आए हैं।

परिणाम

यद्यपि विकास जन्म परिवर्तन सभी संबद्ध पक्षों के हितों के लिये होते हैं किन्तु देश और काल के अंतर से उन के परिणाम (क) पृथ्वी के अन्य अवयवों अर्थात् पारिस्थितिक तंत्रों तथा पारिस्थितिकी, (ख) अन्य पारिस्थितिक तंत्रों के अन्य लोगों, (ग) किसी पारिस्थितिक तंत्र के अपने ही लोगों तथा (घ) स्वयं पारिस्थितिक तंत्रों के लिये हानिकारक होने लगते हैं।

क) पहला परिणाम विद्यमान परिदृश्यों में परिवर्तन के रूप में प्राप्त होता हैं जिसके अंतर्गत संसाधनों का अवक्षय, तंत्रों का निम्नीकरण एवं पारिस्थितिक असंतुलन आदि शामिल हैं जिनमें संसाधनों का स्वामित्व या विकास हस्तान्तरित होते रहते हैं और अन्याय और असंतोष तथा आन्दोलन आदि का बीजारोपण होता है।

ख) दूसरा परिणाम आर्थिक होता है। इसके अंतर्गत आन्तरिक उत्पादन एवं वितरण में पुनरभिविन्यास, विदेशिक व्यापार में कमी, आतंरिक एवं बाहरी ऋण एवं निवेश, ऋण-भार तथा असहाय लोगों पर पड़ने वाली आर्थिक मार आदि शामिल हैं।

ग) तीसरा परिणाम सामाजिक होता है। असमानताएँ, आशाएँ और निराशाएँ, विभाजन, संघर्ष, घृणाओं और हिंसा इसमें शामिल होते हैं। परंपरागत संसाधनों एवं प्रचलनों के साथ-साथ परंपरागत मूल्यों का भी लोप हो जाता है और विश्व, समृद्ध राष्ट्रों एवं ग़रीब राष्ट्रों, अमीर लोगों एवं दीनहीनों जैसे वर्गों के बीच विद्यमान उभय प्रतिरोधियों के कारण तीन स्तरों में विभक्त हो जाता है। आशाएँ और निराशाएँ शक्ति एवं संपन्न लोगों की सनक के आधार पर बारी-बारी से उदित होती रहती हैं। भलमनसाहत तथा अन्य मानवीय मूल्य निरंतर विलुप्त होते रहते हैं और बहुसंख्यक लोगों के जीवन बेकार हो जाते हैं। पाण्डेकर की ग़रीबी रेखा का निहितार्थ यही है।

घ) चौथे प्रकार के परिणाम पर्यावरण एवं पारिस्थिक प्रक्रियाओं में पश्चगमन के रूप में होते हैं जिनके शमन की बात तो दूर रही, उन्हें समझना भी मुश्किल होता है। एक बार से घटित हो जाएँ तो इनका पलटना कठिन होता है। अम्लीय वर्षा या ओज़ोन परत का अवक्षय इसके उदाहरण हैं।

MAADHYAM IAS

अनुक्रियाएँ

परिणामस्वरूप पारिस्थितिक सुरक्षा को चुनौती देने वाली आपत्तियों के विरुद्ध लोगों की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त होती हैं भूग्रह के अनेक भागों में ऐसा पहले होता रहा है और आज भी हो रहा है। ऐसी कुछ अनुक्रियाओं को आगे रेखांकित किया जा रहा है।

ये अनुक्रियाएँ ही चिंता, परामर्श और सावधानी की प्रथम अभिव्यक्तियाँ थीं। अपने विशिष्ट लक्षणों एवं परिमाण की दृष्टि से इन्हीं का क्रमशः स्थानीय, क्षेत्रीय एवं विश्वस्तरीय विरोधों एवं प्रतिरोधों के रूप में विकास हुआ। इन प्रतिरोधों ने न केवल क़ानूनी रूप एवं सामाजिक आन्दोलन का स्वरूप ही धारण किया वरन् उन्होंने परिवर्तन के लिए सामान्यतः स्वीकृत राजनीतिक तंत्र की सीमाओं का अतिक्रमण भी किया। ये मनुष्य के द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा हेतु चलाए गए सामाजिक आन्दोलन या सामाजिक सहमति हेतु पर्यावरण आन्दोलन हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) पारिस्थितिकी, पर्यावरण तथा पारिस्थितिक तंत्र से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) विकास के परिणाम क्या हुए हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

26.3 ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि

हमारे ग्रह (पृथ्वी) की दशा नौ विश्वों के पैबंदों से बनी एक रज़ाई के समान है। ये पैबंद चार विश्व युद्धों द्वारा लगाए गए थे जबकि पाँचवा युद्ध अभी चल रहा है। वर्तमान विश्व में उच्च, मध्यम, एवं निम्न वर्ग के लोगों का अनुपात 2 : 3 : 5 है जो इतिहास के समस्त युद्धों की अंतिम परिणति है। इन युद्धों का सबसे बड़ा शिकार, संपूर्ण साधनों की जननी पृथ्वी हुई है जब कि सबसे बड़ी खलनायिका, समस्त समस्याओं की माता, उपभोक्तावादी संस्कृति रही है। इस सबका एकमात्र समाधान, पर्यावरण रक्षा संबंधी आन्दोलनों को निरंतर चलाते हुए पारिस्थितिकी को प्रकृतिस्थ रखना है।

इस तथ्य को अनेक लेखकों ने लिखा है जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं: **हक्सले वॉट, ऐर्लिच,**

कॉमनर, लियोपोल्ड, बॉल्डिंग, मीड, क्लब ऑव रोम, ग्रीन्स, गांधी, डब्ल्यू. डब्ल्यू. एफ. ऑडुबोर्न सोसायटी, सियरा क्लब, ज्योग्रेफ़िकल इंटरनेशनल आदि। इन सबसे पूर्व भारत के वैदिक, जैन और बौद्ध चिंतकों ने इस दिशा में कार्य किया था जिसे **डायसन थॉमस** एवं **ऐलन गिंसबर्ग** जैसे बीट कवियों, इस्कॉन तथा इसी प्रकार के अन्य भारतीय दार्शनिकों, जैसे; **राधाकमल मुखर्जी, शिशिर कुमार दास, कृष्ण चैतन्य तथा गांधीवादियों** ने, जिनकी जड़ें पाश्चात्य भौतिकतावाद से जुड़ी हुई नहीं थी, इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। इनमें सबसे रोचक नाम **चीफ़ बाल्टीमार** का है जिसने यूरोपियनों को अपनी ज़मीनों के अधिग्रहण के लिए चेतावनी दी थी और आज के पारिस्थितिक सक्रियतावादियों के लिए **इंद्रधनुषीय योद्धा** (रेन बो वारियर्ज़) पद का प्रयोग किया था। कालान्तर में इसी पद का प्रयोग हरित शान्ति आन्दोलन में अणुवीक्षक तथा गुप्तचर ध्वज पोत के लिए किया गया।

पर्यावरण रक्षक आन्दोलन न दक्षिणपंथी होते हैं और न वामपंथी। उनमें केवल आगा-पीछा होता है अर्थात् वे होते स्थानीय है किंतु उनके प्रभाव विश्वव्यापी होते हैं।

26.4 अनिवार्यताएँ

सम्पूर्ण विश्व के परोपकारवादी, स्वयंसेवी संगठनों के रूप में, सामाजिक न्याय और पारिस्थितिक सुरक्षा एवं पुनर्लब्धि के हेतु अपनी प्रतिबद्धता के साथ प्रारंभ में सरकारी गतिविधि के अनुलग्नक, बाद में विकास के बेहतर अभिकर्ता के रूप में तथा आज नवोदित (किंतु कम शक्ति संपन्न) राजनीतिक बलों की भूमिकाओं में खुलकर मैदान में आ गए हैं। भारत के पर्यावरण-रक्षा-आन्दोलन यहाँ की जनतांत्रिक व्यवस्था की उपज़ हैं। वे तीन मोर्चों पर सक्रिय हैं: देशभर के स्वयंसेवी अभिकरणों तथा सामाजिक सक्रियतावादियों की भागीदारी में वृद्धि का प्रयत्न, देश के जन संचार माध्यमों तथा न्यायालयों तक उनकी पहुँच में वृद्धि। भारतीय पर्यावरण संगठनों ने वनों की कटाई, ऊँचे बाधों के निर्माण, अतिशय खनन, प्रदूषण तथा नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों के स्थापन का विभिन्न सफलता - स्तरों तक विरोध किया है।

26.5 विभिन्न देशों में हुए आन्दोलन

26.5.1 सरवाक जनजातीय आन्दोलन

सरवाक इंडोनेशिया के कालीमंटन (बोर्नियों) द्वीप में मलयेशिया का अंतर्वती क्षेत्र है। यहाँ मलेशिया सरकार ने जंगलों की अंधाधुंध कटाई शुरू करा दी। कटे हुए पेड़ों का निर्यात जापान को किया जाता था जहाँ से वे यूरोप के कुछ देशों को भेजे जाते थे। सरकारी आदेश के अनुसार लाभ का एक अंश मलयमूल के ठेकेदारों को जाता था। मुख्य भूमि के लोगों का सरवाक क्षेत्र में प्रवेश क़ानूनन वर्जित था। पूरी कार्रवाई पर गोपनीयता का पर्दा पड़ा हुआ था। सरवाक के मूल निवासी जो संसाधनों के अवक्षय तथा लाभांश से वंचित रखे जाने की दुहरी मान तो झेल ही रहे थे जब सेंसरशिप के द्वारा सूचना प्राप्त के अधिकार से भी दूर कर दिए गए तो उन्हें जले पर नमक छिड़कने जैसी पीड़ा का अनुभव हुआ और वे भड़क उठे। एक शिक्षित आदिवासी युवक **हैरसिन - गाओ** के नेतृत्व में इमारती लकड़ी की कटाई के विरुद्ध आन्दोलन हुआ और तब तक चलता रहा जब तक आदिवासियों को कुछ रियायतें न मिल गईं। संसाधनों एवं लाभांश संबंधी अन्याय एक बड़ी सीमा तक कम हुए, पूरे विश्व को इस राजसी अत्याचार विरोधी संघर्ष की जानकारी मिली जिसकी चरम परिणति गाओ को मिले नोबल पुरस्कार के रूप में हुई।

MAADHYAM IAS

26.5.2 ब्राज़ील में उष्ण कटिबंधीय वनों का संरक्षण

ब्राज़ील में भारी वर्षा वाले वन पशुपालकों, खनिज संभावनाओं रबर की खेती तथा इमारती लकड़ी की कटाई के कारण निरंतर खतरे में थे। कुछ भागों में रबर के वृक्षारोपण के कारण प्रिस्टाइन वन समाप्त कर दिए गए जिसके कारण स्थानीय आदिवासियों को रबर के बागों में सस्ती दर पर मज़दूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ा। स्थानीय आदिवासियों को शाइको मोडेस के नेतृत्व में इस उत्पीड़न

का प्रतिरोध करना पड़ा। जब सरकारों और जन संचार माध्यमों में सजगता आ रही थी और थोड़ी सी न्यायिक समानता दिखाई पड़ने लगी थी तभी रबर माफ़िया के लोगों ने शाइको की हत्या कर दी। किन्तु आन्दोलन व्यर्थ नहीं गया।

26.5.3 चीन में वृक्षारोपण का माओवादी आन्दोलन

चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में माओ से तुंग ने पारिस्थितिकी तथा मानव जाति के लिए कल्याणकारी पर्यावरण निर्माण में वृक्षों की भूमिका के महत्व को अत्याधिक गंभीरता से समझा। परिणाम स्वरूप पूरे चीन में युवा क्रान्तिकारियों द्वारा **50 करोड़ वृक्ष** लगाए गए और शासनादेश द्वारा उस समय उनकी देखभाल की गई जब तक कि आवास में स्थायित्व का विकास नहीं हुआ।

26.5.4 मैक्सिको में जनजातीय प्रतिरोध

मैक्सिको, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कनाडा में हुए उत्तरी अमरीकी मुक्त व्यापार समझौते की उत्तर कथा के रूप में मैक्सिको के दक्षिण पूर्वी एंज़टेंक क्षेत्र में खेती के ढ़ाँचे को बदलने का प्रयत्न किया गया। स्थानीय आदिवासियों ने अपने परपंरागत मोर्स के ढंग में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का सशस्त्र विद्रोह के रूप में प्रतिरोध किया। उत्तरी अमेरिकी मुक्त व्यापार समझौते पर भी सवाल उठाए गए जिसके फलस्वरूप सरकार को आदिवासियों के पक्ष में हस्तक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा।

26.5.5 फिलीपीन्स में शाइको आन्दोलन

फिलीपीन्स के उत्तरी भाग में प्रवाहित शाइको नदी पर बाँध बनाने की योजना थी जिससे मैदानी भाग में सिंचाई और बिजली की व्यवस्था की जा सकती। उस निर्माण का विरोध किया गया क्योंकि अविकसित होते हुए भी दशकों से उस क्षेत्र की उपेक्षा की गई थी। अतः सरकार इस बात पर राज़ी हुई कि बाँध के निर्माण के साथ-साथ उस क्षेत्र का विकास भी प्राथमिकता के आधार पर किया जाएगा लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। बाँध पर काम करने वाले मज़दूरों ने काम रोक दिया जिसके कारण सरकारी दमन चक्र को आमंत्रण मिला। प्रतिक्रिया स्वरूप स्थानीय लोगों ने विद्रोह किया। स्थानीय लोगों की धारणा यह थी कि सिंचाई तथा बिजली का लाभ दूसरों को मिलने जा रहा था। वे स्वयं इनका लाभ उठाना तो दूर इन्हें समझने में भी असमर्थ थे। प्रतिहिंसा ने धीरे-धीरे गुरिल्ला युद्ध का रूप ले लिया। मनीला सरकार स्थानीय लोगों के नैसर्गिक संसाधनों का अपहरण औरों के लिए करने के अपने प्रभाव के विरुद्ध उठे सशस्त्र विद्रोह को दबाने में असमर्थ रही।

26.5.6 दक्षिणी नाइजीरिया का प्रतिरोध आन्दोलन

दक्षिणी नाइजीरिया पूरे देश से भिन्न है। वहाँ प्राकृतिक संसाधन बहुत हैं, लोग शिक्षित एवं सुसंस्कृत हैं किन्तु क्रिश्चियन होने के कारण बहुसंख्यक होते हुए भी राजनीतिक रूप से प्रभावहीन हैं। स्थानीय लोगों में देश की बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी द्वारा संसाधनों के दोहन को लेकर असंतोष था। **केन सरोवियों** के नेतृत्व में मानवाधिकारों के लिए एक आन्दोलन प्रारंभ हुआ जो क्रमशः जोर पकड़ता गया। आन्दोलन में इस क्षेत्र से प्राप्त पैट्रोलियम के राजस्व में से भागीदारी की माँग की गई। तेल कंपनियों और सरकार में बैचेनी फैलने लगी क्योंकि आन्दोलन में जैसा प्रायः होता है, हिंसा का प्रवेश हो गया था। आन्दोलन के नेताओं को बंदी बना लिया गया और विश्व नेताओं के सभी विरोधों की कोई चिंता न करते हुए केन सरोविको को प्राणदंड दे दिया गया।

MAADHYAM IAS

26.5.7 जर्मनी का ग्रीन आन्दोलन

संसार भर के पर्यावरण आन्दोलनों में जर्मनी का **'डाई गुनेन'** सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा है। इस समूह का गठन 1970 के दशक में उस समय किया गया था जब अपनी अपनी निहित अपर्याप्तताओं में अनेक क्षेत्रीय समुदायों ने अनुभव किया कि पारिस्थितिकी संबंधी चेतना सभी के लिए समान रूप से चिंता का विषय था। अतः वामपंथी, नारीवादी, अराजकतावादी, मार्क्सवादी, मुक्तिवादी, हिप्पी,

नास्तिक, निरनुरूपतावादी और इसी प्रकार के अन्य समुदाय पारिस्थितिक बोध के एक मात्र उद्देश्य को लेकर एक साथ हुए। इस उद्देश्य के साथ मार्क्सवाद भी सहमत था और गांधीवाद भी। इससे विरोध का स्वर इतना मुखरित हुआ कि इन लोगों की गणना आतंकवादियों तथा अराजकतावादियों के साथ की जाने लगी और उन पर प्रतिबंध लगा दिया गया जिससे वे किसी भी सार्वजनिक पद को ग्रहण करने के अधिकारी नहीं रहे। परन्तु, जन साधारण में उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई। सरकार की आत्मघाती नीतियों में किसी प्रकार का परिवर्तन न होता देखकर उन्होंने चुनावों में भाग लिया और कुछ निगमों पर अधिकार कर लिया। फिर भी वे आंशिक रूप से ही सफल हो सके। इस भय से कि कहीं वे राजनीति की मुख्य धारा में शामिल न हो जाएँ, सरकार ने यह क़ानून बना दिया कि केवल उसी राजनीतिक दल के सदस्य संसद में बैठ सकेंगे जिसे कुल राष्ट्रीय मतों के कम से कम 5% मत मिले हों। उन्हें 7% से अधिक मत मिल गए और ग्रीन्ज संसद में प्रविष्ट हो गए। संसार के पारिस्थितिकी आन्दोलन में यह एक असाधारण सफलता का उदाहरण है।

ग्रीन आन्दोलन पूरे यूरोप में फैल गया। परंपरागत राजनीतिक दलों ने अपने घोषणापत्रों में पारिस्थितिक कार्यसूची को शामिल किया। अगले चुनावों में जर्मनी में ग्रीन्ज़ को सफलता नहीं मिली किंतु यूरापीय देशों में समाज पारिस्थितिक मुद्दों के प्रति संवेदनशील हो चुका था। हाल ही के चुनावों में जर्मनी में ग्रीन्ज पुनः शक्तिशाली होकर उभरे हैं। वे अब अन्य दलों के साथ सत्ता में भागीदार हैं। अब संपूर्ण यूरोप में ऐसे संगठन हैं।

उन्होंने ग्रीन-घोषणापत्रों के माध्यम से पृथ्वी के प्रति चेतना जगाई है, एक निर्विरोध एवं सर्वमान्य कार्यसूची का विकास किया है, नागरिक पर्यावरणवाद एवं (पर्यावरण) निर्वाचकवाद को प्रस्तुत किया है। संक्षेप में पारिस्थितिकी का राजनीतिकीकरण हुआ है और राजनीति का पारिस्थितीकरण हुआ है। इस आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण नेताओं में से एक **पेट्राकैली** हुए हैं।

26.5.8 हरित शान्ति आन्दोलन

यूरोप में प्रारंभ हुआ हरित शान्ति आन्दोलन अन्य आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक यथार्थपरक है। इसमें व्यावहारिकता एवं प्रत्यक्षता अधिक है। इसके सदस्यों ने विविध उपायों से मानवीय पर्यावरण की रक्षा में बढ़-चढ़कर कार्य किया है। विविध स्तरीय सफलता के साथ उनके द्वारा चलाए गए कुछ प्रमुख आन्दोलन इस प्रकार हैं — जापान द्वारा ह्वेलों के शिकार के विरुद्ध आन्दोलन, फ्रांस कृत नाभिकीय परीक्षण का विरोध, ब्राज़ील के वर्षा-वनों में ताँबें के खनन का विरोध तथा सामान्य रूप से निरस्त्रीकरण का सर्वत्र समर्थन और विकिरण संकट का सदैव विरोध। अन्यत्र चलने वाले आन्दोलनों के लिए यह आन्दोलन एक आदर्श माना जा सकता है।

26.5.9 पर्यावरण आन्दोलन में अन्य योगदान

वर्ल्ड वाच इंस्टीट्यूट, वर्ल्ड रिसोर्स इंस्टीट्यूट, फ्रैण्ड्ज़ आफ दी अर्थ तथा यूरोप और अमेरिका में चल रही इसी प्रकार की बहुत सी संस्थाएँ है जो या तो परिवर्तन प्रारंभ करने की दिशा में सहायता देने के लिए सूचना एकत्र करने का अभियान चला रही हैं या पर्यावरण आन्दोलन चला रही हैं। **रोज़ली बैट्रेल, वंदना शिवा, हैरिसन न्गाओ**, आदि लोग जिन्हें वैकल्पिक नोबल पुरस्कार कहे जाने वाले उपयुक्त **जीविका पुरस्कार** (*राइट लाइवलीहुड एवार्ड्स*) प्रदान किए गए हैं, सब के सब पर्यावरण-रक्षा-कार्य में जुटे हुए सक्रिय व्यक्ति थे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) पर्यावरण आन्दोलनों का उदय क्यों और कैसे हुआ?

....

....

....

....

....

2) जर्मनी के ग्रीन्स का क्या महत्व है?

....

....

....

....

....

26.6 भारत में हुए आन्दोलन

26.6.1 चिपको आन्दोलन

सन् 1973 में, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा की जा रही वनों की नीलामी की नीति के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए दशोली ग्राम स्वराज्य मंडल नामक गांधीवादी संगठन ने चिपको आंदोलन प्रारंभ किया था। चिपको सक्रियतावादी वनों पर लोगों के अधिकार के समर्थक हैं और उन्होंने वृक्ष रोपण के लिए महिला-दलों का गठन किया है। 'चिपको' का अर्थ है 'पेड़ों को बाँहों में भर कर खड़े हो जाओ' जिससे उन्हें काटकर गिराया न जा सके। भारत में पर्यावरण आन्दोलनों में सबसे अधिक समर्थन प्राप्त आन्दोलन यही है। इसका प्रारंभ **सुंदरलाल बहुगणा** तथा **चंडी प्रसाद भट्ट** ने किया था।

इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप अनेक वन्य जीवन अभयारण्यों की स्थापना की गई हैं जिनमें शिकार करना संज्ञेय अपराध माना जाता है। वस्तुतः पशुओं एवं पक्षियों की लुप्त प्राय प्रजातियों को मारने पर प्रतिबंध लगाने वाले कानून साठ के दशक के मध्य में ही पारित हुए थे। गिर का सिंह, बंगाल के चीते, भारतीय सारंग तथा ऐसे ही कुछ अन्य जीवों की प्रजातियों को इन कानूनों से सुरक्षा प्राप्त हुई है। कुछ प्रजातियों; जैसे, भारतीय चीता और कस्तूरी मृग के लिए ये कानून देर से बन सकें। किंतु पर्यावरणवादियों ने कुछ मूलभूत प्रश्न उठाए हैं। संपूर्ण पर्यावरण आन्दोलन का सारतत्व इन्हीं प्रश्नों में निहित है।

MAADHYAM IAS

अनेक वर्षों के अनुभव के बाद इसी आन्दोलन ने **कर्नाटक** में एक और आन्दोलन **'आपिको'** को प्रेरित किया जिसमें पश्चिमी घाट के पेड़ों की कटाई रोकने के लिए उन्हें बाँहों में भरकर लोग खड़े हो जाते थे।

26.6.2 प्रशान्त घाटी बचाओ आन्दोलन

सन् 1980 के बाद प्रारंभ हुआ यह अभियान किसी बांध के विरुद्ध भारत में उठाया गया पहला क़दम था। इसी के द्वारा केरल में आनुवंशिक रूप से अत्यंत समृद्ध वर्षा-प्रचुर वनों में से अवशिष्ट अंतिम वन जलमग्न होने से बचाया जा सका है। इस अभियान को केरल-साहित्य-परिषद् ने प्रारंभ किया था जिसे भारत भर के विशेषज्ञों का समर्थन प्राप्त हुआ था।

26.6.3 ताज बचाओ अभियान

पर्यावरणविदों को डर था कि ताजमहल से 40 कि.मी. दूर मथुरा तेल शोधक कारखाने द्वारा फैलाए जाने वाले प्रदूषण से उस भव्य इमारत को क्षति पहुँच सकती थी। इस अभियान के कारण जो उत्तेजना फैली उसी का परिणाम है कि अधिकारियों को सावधानी बरतने और वायु प्रदूषण से होने वाली किसी भी क्षति के लिए उक्त स्मारक का समय समय पर अनुवीक्षण करने को बाध्य होना पड़ा।

26.6.4 मिट्टी बचाओ अभियान

मिट्टी बचाओ अभियान का प्रारंभ 1977 में हुआ था। यह अभियान मध्य प्रदेश में बनाए जा रहे तवा बाँध के विरुद्ध हुआ था जिसके कारण उपजाऊ मिट्टी में जलाक्रान्ति तथा लवणता में वृद्धि की आशंका थी। इस अभियान ने स्थानीय किसानों को एक जुट किया था और उन्होंने माँग की थी कि बाँध से प्रभावित भूमि के लिए उन्हें उपयुक्त क्षतिपूर्ति राशि दी जाए।

26.6.5 थाई बेशेट अभियान

मुंबई से 21 कि.मी. दूर थाई वेशेट में संसार के सबसे बड़े यूरिया उत्पादक संयंत्र की स्थापना का, मुंबई नगर के संगठनों, विशेषकर मुंबई - पर्यावरण कार्रवाई - समूह की ओर से ज़ोरदार विरोध किया गया। इन संगठनों को आशंका थी कि उक्त संयंत्र के कारण नगर के प्रदूषण स्तर एवं अकुशलता में वृद्धि होगी। उनके अथक प्रयत्नों के कारण संयंत्र के लगने में दो वर्ष की देरी तो अवश्य हुई किन्तु उसके स्थापन स्थल को परिवर्तित नहीं कराया जा सका।

26.6.6 बेडथी अभियान

भारत में पर्यावरणवादी विरोध के कारण प्रशान्त घाटी के बाद परिव्यक्त दूसरी जल विद्युत परियोजना बेडथी (कर्नाटक) थी। इस परियोजना से बहुत सा वन-प्रदेश तथा सुपारी इलायची एवं काली मिर्च के उद्यानों से सम्पन्न भूभाग जलमग्न हो सकता था। इस परियोजना का विरोध स्थानीय किसानों के साथ-साथ बंगलौर के प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने भी किया था।

26.6.7 भोपालपतनम् - इंचमपाल बाँधों पर रोक

महाराष्ट्र में इंद्रावती नदी पर इन दो बाँधों को बनाने की योजना 'जंगल बचाओ मानव बचाओ' आन्दोलन के कारण रद्द करनी पड़ी थी। इस आन्दोलन में आदिवासी, पर्यावरणवादी, सामाजिक कार्यकर्त्ता तथा राजनीतिज्ञ, सभी शामिल थे।

26.6.8 दून-खनन

मसूरी पहाड़ियों की दून घाटी में चूने के पत्थर के खनन के कारण इन पहाड़ियों के वनों और स्थायी जल स्रोतों को नष्ट कर के वहाँ स्थायी घाव लगाए हैं। ग्रामीण बादकारी एवं अधिकार केन्द्र, देहरादून ने उच्चतम न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की थी और न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक निर्णय में खनन बंद करने का आदेश दिया जिससे पर्यावरण क्षय को रोका जा सके।

MAADHYAM IAS

26.6.9 कर्नाटक के निम्नीकृत वन

कर्नाटक सरकार ने लगभग 80,000 एकड़ निम्नीकृत वन भूमि एवं राजस्व भूमि, वन-रोपण के लिए एक संयुक्त क्षेत्र की कंपनी को देने का निर्णय लिया। पर्यावरणवादियों की ओर से इस निर्णय का विरोध किया गया। एक स्थानीय स्वयंसेवी अभिकरण, समाज परिवर्तन समुदाय ने उच्चतम

न्यायालय में इस तर्क के साथ याचिका प्रस्तुत की कि सरकारी वन्य भूमि के क्षेत्र में लोगों के प्रवेश का अधिकार उनके जीवित रहने के लिए अत्यंत आवश्यक था। अतः सरकार द्वारा व्यापारिक लाभ की दृष्टि से वृक्ष रोपण कराना लोगों के जीवित रहने के मौलिक अधिकार को प्रभावित करता था।

26.6.10 काइगा अभियान

काइगा (कर्नाटक) में नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र लगाए जाने का विरोध 1984 में प्रारंभ हुआ। सरकार द्वारा इस परियोजना पर काम जारी रखने के निर्णय के बावजूद किसानों, सुपारी उत्पादकों, मछुआरों, पत्रकारों और लेखकों के समूह निरंतर यह चाहते है कि परियोजना बंद कर दी जाए। परियोजना, स्थानीय लोगों की आशंकाओं के बीच पर्याप्त संशोधनों के साथ चलती रही।

26.6.11 गंध मर्दन बॉक्साइट - खनन

उड़ीसा में गंधमर्दन वनों से बॉक्साइट के खनन का प्रस्ताव यद्यपि सरकार द्वारा औपचारिक रूप से स्वीकार किया जा चुका है किन्तु स्थानीय आदिवासी नहीं चाहते कि उनके वनों को नष्ट किया जाए। अतः उनके तीव्र आन्दोलन के कारण वहाँ काम रूका पड़ा है।

26.6.12 नर्मदा बचाओ अभियान

नर्मदा नदी पर चलाई जा रही दो महाकाय परियोजनाओं के विरुद्ध होने वाले अभियान ने जनता का बहुत अधिक ध्यान आकर्षित किया है। इनमें से एक परियोजना मध्य प्रदेश में है और दूसरी गुजरात में। **हरसूद** (मध्यप्रदेश) में हुई एक प्रसिद्ध बैठक में देश के हरभाग से आए हज़ारों कार्यकर्त्ताओं ने इस अभियान के उद्देश्य के प्रति एकात्मता व्यक्त की है।

सरदार सरोवर तथा नर्मदा सागर परियोजनाओं की रूपरेखा गुज़रात में कच्छ प्रदेश तक पानी पहुँचाने के उद्देश्य से बनाई गई थी। इस परियोजना का संबंध चार राज्यों - मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात तथा राजस्थान से हैं जिनमें से गुजरात को सबसे अधिक लाभ पहुँचेगा। पर्यावरण की स्थिति से संबंद्ध प्रतिवेदन में आए विषयों पर अनिवार्य रूप से ध्यान दिए जाने की सिफ़ारिश की गई थी जो इस प्रकार थे - जल ग्रहण क्षेत्र, अभिक्रिया, क्षतिपूरक वन रोपण, उपयोग क्षेत्र का विकास, पुनर्वास, वनस्पति/प्राणिजात, पुरातत्व, भूंकपनीयता तथा स्वास्थ्य विषयक पक्ष।

इस प्रतिवेदन में कहा गया कि निर्माण कार्य और पर्यावरण एवं पुनर्वास संबंधी कार्य साथ-साथ चलने चाहिए थे किन्तु जहाँ निर्माण कार्य की प्रगति चार वर्ष आगे चल रही थी वहीं अन्य सभी विषय पिछड़ गए थे। सबसे बुरी हालत विस्थापित लोगों के पुनर्वास की थी। यहाँ पर यह प्रमुख मुद्दा था जिसको लेकर **सुश्री मेधा पाटकर** ने इस ऐतिहासिक आन्दोलन को प्रारंभ किया था। इसी बीच में बाँध की ऊँचाई बढ़ाने की चेष्टा की गई। हर प्रकार के चालाकी भरे प्रयासों का डटकर मुक़ाबला किया गया जब तक कि विश्व बैंक ने अपनी शर्तों में संशोधन न कर लिया और मध्यप्रदेश सरकार थोड़ी सी झुक न गई। आन्दोलन अब भी चल रहा है।

26.6.13 पश्चिमी घाट बचाओ पदयात्रा

MAADHYAM IAS

पर्यावरणवादी अनेक गुटों ने 1988 में सम्मिलित रूप से महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, तमिलनाडू तथा केरल राज्यों से होकर 1300 किलोमीटर से अधिक लंबी पदयात्रा का आयोजन किया था। इस पदयात्रा के द्वारा पश्चिमी घाटों की पर्यावरण संबंधी समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित कराया गया था।

26.6.14 टिहरी बाँध अभियान

भूकंपीय हिमालय क्षेत्र में टिहरी बाँध के निर्माण को अनेक पर्यावरणवादी समुदायों ने चुनौती दी है। स्थानीय संगठन टिहरी बाँध विरोधी समिति को आन्दोलन करते हुए 20 वर्ष से अधिक समय हो चुका है।

उद्योगों और विद्युत उत्पादन केन्द्रों का निर्माण इस विरोध का प्रमुख लक्ष्य रहा है क्योंकि उसके कारण प्रदूषण और पर्यावरण की क्षति की आशंका है।

हाल के वर्षों में नरौरा, काक्रपुर, काइगा, कुडंकुलम, नागार्जुन सागर में स्थापित नाभिकीय ऊर्जा संयत्रों तथा ऐसे ही संयंत्रों की केरल में स्थापना का विरोध किया गया है।

26.6.15 रेयन कारखाने द्वारा प्रदूषण

केरल में 'मयूर' का मामला इस बात का उदाहरण है कि कानून क्या कर सकता है। उस क्षेत्र में बाँसों की बहुतायत का काम उठाते हुए बिरला ने रेयन का कारखाना खोला। शीघ्र ही स्थानीय लोगों का जीवन स्तर पहले की अपेक्षा अच्छा हो गया। कारखाने का गंदा पानी नदी में डाला जाने लगा जिसके कारण नदी का पानी पीने के योग्य नहीं रहा। अतः उस कारखाने को बंद करने के लिए आन्दोलन किया गया और कारखाना बंद हो गया। वह कस्बा फिर पहले की तरह ही गरीबी से घिर गया। तब कारखाने को दुबारा खुलवाने के लिए आन्दोलन किया गया जो सफल हुआ किन्तु वायु एवं जल के प्रदूषण को रोकने के उपाय सुनिश्चित किए गए।

26.6.16 चिल्का बचाओं आन्दोलन

बंगाल की खाड़ी में उड़ीसा राज्य के पूर्वी तट पर खारे पानी की एशिया की सबसे बड़ी झील 'चिल्का' स्थित है जिसकी अधिकतम लंबाई 60 कि.मी. एवं अधिकतम चौड़ाई 30 कि.मी. है तथा मानसून के मौसम में जिसका क्षेत्रफल 1200 वर्ग किलोमीटर हो जाता है। सर्दी में यहाँ संसार के दूर दराज कोनों से लाखों प्रवासी पक्षी आते हैं अतः नालबन द्वीप सहित झील का खुला भाग एक अभयारण्य बन जाता है। समुद्र की ओर खुलने वाला झील का मुहाना डॉल्फिन मछलियों से भरा पड़ा है। इन्हीं सब कारणों से, चिल्का झील, प्रकृति प्रेमियों और पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र चिरकाल से बनी हुई है किन्तु पिछले कुछ दशकों से स्थितियाँ अंधकारमय हो गई हैं जिनके कारण यह क्षेत्र संघर्षमय तथा हिंसापूर्ण हो उठा है।

यह सब उड़ीसा सरकार के साथ टाटा की एक परियोजना के कारण हुआ। यह 30 करोड़ की (वार्षिक) बिक्री वाली झील संवर्धन परियोजना थी। प्रत्युत्तर में राज्य के भूतपूर्व राजस्व मंत्री बॉकर बिहारी दास ने चिल्का बचाओ आन्दोलन छेड़ दिया। आन्दोलन में निम्नलिखित तर्क दिए गए कि इस परियोजना से:

क) झील में स्थानीय मछुआरों के प्रवेश पर रोक लग जाएगी।

ख) स्थानीय पशुओं से विशाल चरागाह छिन जाएगा।

ग) समय समय पर जैवपोषकों तथा किण्वित भोज्य के डाले जाने से झील प्रदूषित हो जाएगी जिससे समुद्री जीवन का क्षय होगा और खारेपन के स्रोत के कारण पहले से ही कम होते हुए मत्स्य झील में और भी गिरावट आ जाएगी।

घ) प्रवासी पक्षियों का आना कम हो जाएगा क्योंकि पानी के प्रवाह को बनाए रखने के लिए उच्च शक्ति के डीज़ल पम्पों का प्रयोग करना पड़ेगा।

MAADHYAM IAS

भारत, रामसर अन्तर्राष्ट्रीय संधि के हस्ताक्षरकर्त्ताओं में है जिसमें आर्द्र भूमि संरक्षण पर विचार करते हुए चिल्का को उसके अनुपम पारिस्थितिक तंत्र के कारण संसार के जलाशयों में अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया था। अतः अक्तूबर 1992 में केन्द्र सरकार ने टाटा परियोजना को अनुमति न देने का निर्णय लिया। नवंबर 1993 में चिल्का झील के पारिस्थितिक तंत्र की रक्षा के समर्थन में उड़ीसा उच्च न्यायालय की खंडपीठ का एक निर्णय भी आ गया।

इसी बीच आर्थिक दबाबों के कारण अनायास ही अनेक ऐसे लोग भी झील में मछली पकड़ने लगे जो मछुआरे नहीं थे। चिल्का बचाओ आन्दोलन ने स्थानीय ग्राम वासियों की सहायता से नई स्फूर्ति

के साथ मछुआरों के हितों के लिए ज़ोरदार संघर्ष किया। इस आन्दोलन को पर्यावरणवादियों की ओर से आमतौर पर समर्थन प्राप्त हुआ है।

फिर भी पारिस्थितिकी तथा कल्याण कार्य की अपेक्षा व्यापार और लाभ कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए। बाहरी लोगों ने स्थानीय ग़ैर मछुआरों से झील पर अतिक्रमण कराया तथा झील और समुद्र के मिलन स्थल पर झींगा फार्मों द्वारा प्रयुक्त अवरोधों ने स्थानीय मछली की पकड़ को बहुत कम कर दिया जिसके कारण आन्दोलन हुआ और पुलिस द्वारा गोली चलाई गई। आन्दोलन अभी चल रहा है और आज की माँग यह है कि झींगा पालन पर पूरी तरह रोक लगाई जाए।

26.6.17 विज्ञान एवं पर्यावरण संघ

यह केन्द्र गत दो दशकों से अनिल अग्रवाल के नेतृत्व में पर्यावरण के पक्ष में महत्वपूर्ण सेवा कर रहा है। यद्यपि इस केन्द्र ने प्रत्यक्ष रूप से कोई आन्दोलन नहीं चलाया किन्तु उन्होंने अपने उद्देश्यों को भली भाँति समझाया है; सूचना, समर्थन तथा पृष्ठभूमि - सामग्री जुटाई है; नीति-परिवर्तन संबंधी परामर्श दिए हैं; राष्ट्रपतियों और प्रधानमंत्रियों से लेकर जनसाधारण तक नीतिगत दृष्टिकोण तथा मनोवृत्ति में परिवर्तन के लिए अत्यन्त सकारात्मक रूप से लॉबियाँ तैयार की हैं। विज्ञान एवं पर्यावरण संघ तथा उसके यथार्थवादी सामयिक प्रतिवेदनों के बिना भारत में हुए अनेक आन्दोलनों के विषय में संबद्ध नागरिकों को सूचना भी प्राप्त नहीं हो सकती थी।

26.6.18 छत्तीसगढ़ आन्दोलन

शंकर गुहानियोगी ने छत्तीसगढ़ आदिवासियों को हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध संगठित किया था। ऐसे शोषणों में वन्य उत्पादों से होने वाला लाभ प्रमुख था। हालॉकि उन्होंने पर्यावरण के मुद्दे को श्रमिक संघ तथा प्रतिनिधिपरक राजनीति से जोड़ लिया किन्तु उनका विशेष बल सदैव स्थानीय लोगों एवं आदिवासियों के लिए परिस्थितिक तंत्र को सुरक्षित रखने पर ही रहा। उनकी सफलताओं को न सह सकने वाले अत्याचारी तत्वों द्वारा की गई उनकी हत्या हैरानी की बात नहीं थी।

26.6.19 महाराष्ट्र, पालामऊ तथा सुखमोजोरी के जल संकरण आन्दोलन

ये छोटे-छोटे आन्दोलन किसी अत्याचार के विरोध में जाग्रत नहीं हुए थे। इनका लक्ष्य यह है कि संसाधनों में सबसे अधिक पवित्र, 'जल' का वितरण ज़रूरतमंद लोगों में न्यायोचित ढंग से हो सके। महाराष्ट्र के कुछ भागों में पानी-पंचायतें बहुत सफल रही हैं। पानी को उपयोग में लाने के आधार पर सुखमोजोरी नामक पूरे गाँव के पुनरुद्भवन तथा इसी प्रयोग को पालामऊ में पुनरावृत्ति को आदर्श के रूप में माना गया है। कुछ न कुछ कमियाँ एक अलग बात है।

26.6.20 ऑरोविले आन्दोलन

ऑरोविले, श्री अरविंद के दर्शन तथा पारिस्थितिक संरक्षण एवं सुरक्षा के आधार पर परस्पर संबद्ध विभिन्न राष्ट्रों के लोगों की बस्ती है। यह बस्ती गत 30 वर्षों से कार्यरत है। अपने ही उदाहरण से इन लोगों में बेहतर पर्यावरण संबंधी चिंताओं और प्रयत्नों को पुनर्जीवित कर दिया है। उनकी गतिविधियों में से कुछ अपह्रासी मृदा (खेती के लिए खराब हो चुकी मिट्टी) के पुनः स्थापन, सौर ऊर्जा एवं पवन ऊर्जा के उत्पादन, बचे पदार्थों का बेहतर कृषि उत्पादन के लिए पुनः चक्रण, रासायनिक उर्वरकों के विकल्पों की खोज, सामाजिक वानिकी, जैव कृषि, टंकी का पुनर्योजन, जल-संभरण प्रबंधन तथा पारिस्थितिक दृष्टि से उपयुक्त आवास आदि हैं। वस्तुतः ऑरोविले आन्दोलन, शेष भारत के असंख्य लोगों में ऐसे ही आन्दोलनों को जन्म देने की क्षमता रखता है।

26.6.21 बिश्नोइयों की परंपरा

चिपको आन्दोलन ने अपने वृक्षों और वन्य जीवन की रक्षा की प्रेरणा राजस्थान के बिश्नोइयों से ली थी जिनकी महिलाओं ने बहुत पहले वन्य-जीवन-संरक्षण के उद्देश्य से अपने प्राणों की आहुति दी

MAADHYAM IAS

थी। आज फिर वह वन्य जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है। हाल ही में बिश्नोइयों की ही पहल पर उनकी परंपराओं के उल्लंघन के लिए मुंबई के कुछ फ़िल्मी सितारे बंदी बनाए गए थे। भारत के पर्यावरण आन्दोलनों में यह परंपरा बहुत पुराने समय से अब तक चली आ रही है।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) चिपको आन्दोलन की प्रकृति और उसके महत्व का विवरण दीजिए।

....

....

....

....

2) नर्मदा बचाओ आन्दोलन से जुड़े हुए मुद्दे क्या क्या हैं?

....

....

....

....

3) पर्यावरण-निम्नीकरण से जुड़े हुए मुद्दे क्या क्या हैं?

....

....

....

....

26.7 भारतीय परिदृश्य : एक परिप्रेक्ष्य

MAADHYAM IAS

सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए (भारत में) जल, मृदा, भूमि, पौधों, पशुओं, वायु, ऊर्जा, वन आदि संसाधनों की अपर्याप्तता है। सबकी साझा संपत्तियों पर व्यक्तिगत अधिकार कर लिए जाते हैं। विकास परियोजनाएँ न्यायपूर्ण ढंग से विस्तृत नहीं की जाती हैं। उनके उप-उत्पादों तथा संसाधनों के अंधाधुंध दोहन से साझी विरासत, पारिस्थितिक तंत्रों; का बहुत ह्रास हुआ है। परिणामस्वरूप अधिक से अधिक लोगों के लिए निर्वाह, मुश्किल होता जा रहा है और वे ग़रीबी रेखा से नीचे पहुँचते जा रहे हैं। शीघ्र ही भारत की आधी जनसंख्या इस वर्ग में आ जाएगी।

सिंचाई या उद्योग से संबंधित बड़ी परियोजनाओं से बहुत थोड़े समय के लिए राहत प्राप्त होती है। समय के साथ हर परियोजना उस क्षेत्र की पारिस्थितिकी को इतना अस्त व्यस्त कर देती है कि स्वच्छ जल, शुद्ध वायु, स्वस्थ आहार तथा जैव संसाधन सहज लभ्य नहीं रह जाते। सभी असमानताओं के स्वाभाविक परिणाम संघर्ष, हिंसा या बोस्निया जैसे हालात के रूप में फूट पड़ते हैं क्योंकि अन्याय को सभी लोग अनंतकाल तक स्वीकार नहीं कर पाते। विकास संलक्षण का

विस्तारवाद भविष्य में हमारे संसाधनों, पारिस्थितिकी और पर्यावरण का, और भी विनाश कर डालेगा। मानव जाति की प्रगति के लिए जितनी भारी कीमत चुकानी पड़ रही है उसे भुगतना अकल्पनीय हो जाएगा।

प्रगति एवं विकास के लिए सरकार जिम्मेदार है। उसके पास पर्यावरण रक्षा के सभी साधन, ज्ञान के सभी अंतर्वेश, निर्णयात्मक क्षमता, वित्तीय साधन, नौकरशाही, दलीय कार्यकर्ता, बाहरी निवेश तथा विशेषज्ञों की सलाहें आदि, सभी कुछ उपलब्ध है। फिर भी स्वयंसेवी संस्थाओं को पसंद किया जाता है, उनका समर्थन किया जाता है, उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता है और उन पर निर्भर रहा जाता है। क्या शासनतंत्र सर्वथा निकम्मा हो गया है?

कोई स्वैच्छिक कार्य कब तक अपने आपको संभाले रह सकता है? ग़ैर सरकारी संगठनों के किसी परिसंघ का बनाया जाना अनिवार्य है जिससे मनःपोषित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लॉबिंग करने की शक्ति में वृद्धि हो सके। यदि राजनीतिक बलों, दलों और क्रियाविधियों का पर्यावरणीकरण नहीं हो पाता तो पर्यावरण सक्रियतावादियों को स्वयं राजनीतिक बलों के रूप में ढलना पड़ेगा। अन्यथा पारिस्थितिक अराजकता कालान्तर में सामाजिक एवं राजनैतिक अराजकताओं के बीज बो देती है।

इस बीच में न्यायिक सक्रियता एक स्वागत योग्य परिवर्तन आया है। जनहित याचिका तथा ग्रीन बैंचों के कारण पर्यावरण पर विशेषकर प्रदूषणकारी उद्योगों द्वारा होने वाले हमलों का निवारण सुनिश्चित हुआ है और पर्यावरण संरक्षण आन्दोलनों को जीवित रहने के लिए आवश्यक प्राणवायु प्राप्त हुई है।

26.8 सारांश

पृथ्वी और उसके अवयव मानव जाति को विरासत में मिले संसाधन हैं। मानव समाज के कुछ गिने चुने वर्गों ने इन पर जो स्वामित्व जमा रखा है उसके भयंकर निषेधात्मक परिणाम दूसरों को झेलने पड़ते हैं। जब इन परिहार्य समस्याओं को रोक पाने में सरकारें असमर्थ हो जाती हैं तो उनके लाइलाज होने से पूर्व बचाव के किसी न किसी उपाय की पहल बुद्धिजीवियों, संबद्ध नागरिकों तथा प्रभावित स्थानीय लोगों द्वारा की जाती है। कल्याणकारी सरकार के उत्तरदायित्वों के विस्थापन के लिए गांधीवादियों, मार्क्सवादियों, वैज्ञानिकों, सरंक्षणवादियों तथा उत्पीड़ितों के सम्मिलित प्रयास से राजनीतिक सिद्धान्त का एक नया आयाम उभरने लगता है।

ये आन्दोलन चाहे राजनीतिक एवं सामाजिक प्रतिरोधों के रूप में हों, शैक्षिक एवं जागरूकता अभियानों के रूप में हों या सार्वजनिक राय निर्माण के उद्देश्य से किए गए हों, यह निश्चित है कि ये सब दीर्घकाल के लिए सभी के हित में बेहतर पर्यावरण संबंधी नीति-परिवर्तन कारक सिद्ध होते हैं।

संसार में पर्यावरण क्षय या उसके प्रति उदासीनता के विरुद्ध अगणित विद्रोह हुए होंगे किंतु न तो उनके उल्लेख मिलते हैं न उनके संबंध में की गई घोषणाएँ उपलब्ध हैं। सन्तोष में बात यह है कि आज संसार भर में इसके प्रति जागृति आ रही है तथा आन्दोलन विकसित हो रहे हैं।

MAADHYAM IAS

26.9 शब्दावली

गुरिल्ला युद्ध : छोटे-छोटे दलों द्वारा की गई लड़ाइयाँ जिनमें किसी नियमित सेना ने भाग न लिया हो।

मुक्ति-धर्मी : मूलतः धर्म में विश्वास रखने वाले विद्वान जो सामाजिक न्याय की चिंता रखते थे और उसके लिए कार्य भी करते थे। दूसरे शब्दों में सामाजिक न्याय की चिंता में आनन्दानुभूति करने वाले लोग।

नारीवादी : स्त्रियों के अधिकारों के प्रति चिंतित एवं उनके समर्थन में आन्दोलन करने वाले लोग।

अराजकतावादी : ऐसे लोग जिनका विश्वास था कि सरकारें तथा कानून अवांछनीय हैं अतः उन्हें समाप्त किया जाना चाहिए।

26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डाऊन टू अर्थ, इकालोजिस्ट, पब्लिकेशनस ऑफ सी.एस.ई. अर्थ स्केन एण्ड वर्ल्ड वॉच इन्स्टीट्यूट।

टी.वी. के 'डिस्कवरी' तथा 'नेशनल ज्यॉग्राफ़िक' चैनल।

26.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) **पारिस्थितिकी** - पृथ्वी नामक ग्रह के सभी अवयवों की पारस्परिक निर्भरता एवं पुनः पूर्ति की निरंतर चलने वाली चक्रीय व्यवस्था।

2) **पर्यावरण** - मानव जाति द्वारा पारिस्थितिकी के अन्य अवयवों को केवल अपने लाभ की दृष्टि से उपयोग में लाना।

3) **पारिस्थितिक तंत्र** - पर्यावरण संसाधनों का विभिन्न तंत्रों; जैसे, वन-प्रदेश, मरुभूमि और आर्द्र भूमि आदि में वितरण।

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 26.4.।

2) देखें उपभाग 26.5.7।

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 26.6.1।

2) देखें उपभाग 26.6.12।

3) देखें भाग 26.7।

MAADHYAM IAS

इकाई 27 मानवाधिकार

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 मानवाधिकारों का अर्थ
27.2.1 लोकतांत्रिक अधिकारों और मानवाधिकारों में अंतर
27.3 मानवाधिकार आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
27.3.1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मानवाधिकारों की माँग
27.4 मानवाधिकार संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा
27.5 मानवाधिकार आन्दोलन
27.6 संयुक्त राष्ट्र एवं मानवाधिकार
27.7 क्षेत्रीय समझौते एवं प्रसंविदाएँ
27.7.1 यूरोपीय समझौता
27.7.2 लैटिन अमेरिका
27.7.3 अफ्रीका
27.7.4 दक्षिण पूर्व एशिया
27.7.5 मध्य पूर्व
27.8 ग़ैर सरकारी संगठन तथा मानवाधिकार आन्दोलन
27.9 भारत में मानवाधिकार आन्दोलन
27.10 मानवाधिकार आन्दोलन का मूल्यांकन
27.11 सारांश
27.12 शब्दावली
27.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
27.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

सामाजिक आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत बीसवीं शताब्दी के मानवाधिकार आन्दोलन के अर्थ, प्रकृति, लक्षण तथा औचित्य पर एतत्संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा के विशेष संदर्भ के साथ विचार किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- मानवाधिकार की अवधारणा को समझ सकेंगे;
- लोकतांत्रिक अधिकारों और मानवाधिकारों में अंतर जान सकेंगे;
- मानवाधिकार संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा तथा अन्य विविध प्रसंविदाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे;
- जान सकेंगे कि राज्यों के संविधानों में उल्लिखित अधिकारों के बावजूद मानवाधिकारों की आवश्यकता क्यों है;
- मानवाधिकारों के विकास को विश्व व्यापी आन्दोलन के रूप में जान सकेंगे;
- मानवाधिकारों के संरक्षण एवं प्रोत्साहन में संलग्न विभिन्न क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, स्थानीय एवं ग़ैर सरकारी संगठनों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS

27.1 प्रस्तावना

अधिकारों के महत्व को रेखांकित करने के लिए उनके विकास के संबंद्ध इतिहास में उनके साथ किसी न किसी विशेषण, जैसेः 'स्वाभाविक', 'नैसर्गिक', 'मौलिक','मानव' का प्रयोग किया गया है।

बीसवीं शताब्दी को मानवाधिकार की शताब्दी कहा गया है क्योंकि उदार लोकतंत्रात्मक एवं समाजवादी राष्ट्रों के साथ विकासशील राष्ट्रों में भी 'मानवाधिकार' की अवधारणा का महत्व निरंतर बढ़ता ही गया। दो विश्व युद्धों के बाद, विशेष रूप से नाज़ियों और फासियों के दमन चक्र, तथा स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंधों के परिणामस्वरूप मानवाधिकारों के लिए विविध प्रकार के आन्दोलनों का प्रारंभ हो गया था। आज प्रायः सभी राज्य हर मामले में किसी न किसी प्रकार के मानवाधिकार संबंधी सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। साथ ही समाज एवं राजनीतिक संस्थाओं के विविध प्रकारों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए मानवाधिकार संबंधी एक सामान्य राजनीतिक सिद्धान्त भी बना है। मानवाधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा तथा परवर्ती मानवाधिकार प्रसंविदाओं (1966) में यह स्वीकार किया गया है कि अपने अपने न्यायिक एवं प्रशासनिक तंत्रों द्वारा प्रदत्त अधिकारों एवं दायित्वों के अतिरिक्त लोगों के कुछ वैयक्तिक दायित्व एवं अधिकार भी होते हैं। घोषणा में यह तथ्य स्वीकार किया गया है कि कुछ ऐसे स्पष्ट अवसर होते हैं जब किसी व्यक्ति के नैतिक दायित्व इन दायित्वों से अलग होते हैं जो उसे किसी राज्य के नागरिक के रूप में निभाने हैं। अभिप्राय यह है कि नागरिकता द्वारा दिए गए अधिकारों एवं कर्त्तव्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रदत्त नए प्रकार की स्वतंत्रताओं एवं दायित्वों (अथवा बाध्यताओं) के बीच एक अंतर दिखाई देता है। इसी को समझने के लिए हम आगे मानवाधिकारों के अर्थ, उनकी प्रकृति और उनके संरक्षण एवं प्रोत्साहन हेतु हुए आन्दोलनों पर विचार करेंगे।

27.2 मानवाधिकारों का अर्थ

'मानवाधिकार' शब्द की अवधारणा के अंतर्गत मानव जाति के वे सभी मौलिक दावे आते हैं जो उसे मनुष्य होने के नाते प्राप्त हैं। वे ऐसे अधिकार हैं जिन पर सभी मानवों का दावा मानव होने के नाते है। ये अधिकार मात्र राष्ट्रीय न होकर सार्वभौमिक होते हैं और कानूनी अधिकारों से भिन्न होते हैं। वे ऐसे दावे होते हैं जो कानूनी अधिकारों से भिन्न होते हैं। वे ऐसे दावे होते हैं जो सभी के होते हैं भले ही किसी राज्य ने अपने यहाँ उनका प्रावधान किया हो या न किया हो। वे सामान्य तथ्य पर आधारित होते हैं कि कोई भी मनुष्य किसी सरकार द्वारा उनसे वंचित न रखा जाए। वे समाजों या राज्यों के बजाय व्यक्तियों में होते हैं। वे 'मानवाधिकार' इसीलिए कहलाते हैं क्यों कि वे किन्हीं प्राकृतिक कारणों से होने वाली संक्रियाओं से नहीं अपितु स्वयं मानव से उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति कुपोषण, यातना, अनुचित कारावास, निरक्षरता या नियमित सवैतनिक अवकाशों के अभाव से पीड़ित है तो उसे मनुष्य के रूप में उपयुक्त जीवन जीने से वंचित रहना पड़ रहा है। मानवाधिकार (के उल्लंघन) की धारणा का उदय यहाँ से होता है। **मॅक्फरलेन** के अनुसार मानवाधिकार वे नैतिक अधिकार हैं जिन पर हर पुरुष या स्त्री का स्वामित्व केवल इसलिए हैं कि वह 'मानव' है। इसी प्रकार एक अन्य लेखक ने लिखा है कि मानवाधिकार वे अधिकार हैं जिन पर मानव जाति का स्वामित्व केवल मानव होने के नाते है, चाहे उनका राज्य, समाज, जाति या धार्मिक विश्वास कोई भी क्यों न हो।

27.2.1 लोकतांत्रिक अधिकारों और मानवाधिकारों में अंतर

सामान्य शब्दों में कहा जाए तो 'अधिकार' सामाजिक जीवन की वे दशाएँ हैं जिनके बिना कोई मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं कर सकता। वे ऐसे समग्र अवसर हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व को समृद्ध करते हैं। यूरोप में उदार लोकतंत्रीय राज्यों के उदय के साथ, अधिकार, प्रबुद्ध नागरिकता के अभिन्न अंग हो गए। वैयक्तिक अधिकारों के प्रावधान, प्रवर्तन तथा संरक्षण किसी राज्य की वैधता को आँकने के मापदंड बन गए थे। किन्तु विधिक एवं संवैधानिक राज्यों के उदय के साथ अधिकारों के क़ानूनी पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। अभिप्राय यह कि 'अधिकार' राज्य द्वारा सर्जित होते हैं तथा व्यक्ति उन्हें राज्य के नागरिक की हैसियत से ही प्राप्त करता है। जो कुछ क़ानून प्रदत्त हो वहीं अधिकार है। अधिकार नैसर्गिक या अंतर्निहित नहीं होते वरन् इस अर्थ में कृत्रित होते हैं कि राज्य द्वारा निर्धारित एवं सुरक्षित किए जाने पर ही उन्हें 'अधिकार' की संज्ञा प्राप्त होती है। राज्य ही अधिकारों को परिभाषित एवं निर्धारित करता है; राज्य ही उस क़ानूनी ढाँचे का प्रावधान करता है जिसके आधार पर उन अधिकारों का आश्वासन प्राप्त होता है क्योंकि राज्य ही अधिकार की

MADHYAM IAS

सर्जना करता और लगातार बनाए रखता है, अतः और भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अधिकारों में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः अधिकार सार्वभौमिक नहीं होते वरन् वे उस राज्य की प्रकृति और उसके प्रकार के सापेक्ष होते हैं जिसने उन अधिकारों को प्रदान किया है। उदाहरण के लिए अमेरिका के नागरिकों को प्राप्त अधिकार ठीक वे ही नहीं हैं जो भारत या रूस के नागरिकों को प्राप्त हैं। दूसरी और मानवाधिकारों में अधिकारों के सार्वभौम लक्षणों पर ज़ोर दिया जाता है - ऐसे अधिकार जो मनुष्यों को राज्य, समाज, जाति एवं धार्मिक विश्वास से निरपेक्ष रूप में केवल मनुष्य होने के नाते प्राप्त हैं। वे उस शपथ पर आधारित होते हैं जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों को दिलाई जाती है कि वे 'मानवाधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओं पर निरीक्षण रखने के लिए सार्वभौमिक आदर की भावना' का समर्थन करेंगे। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र की प्रस्तावना में कहा गया है कि 'मानवाधिकार का प्रयोजन' सभी लोगों तथा सभी राष्ट्रों में समान उपलब्धियों को वहाँ तक स्थापित करना है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज का प्रत्येक अंग इस घोषणा को निरंतर मन में रखते हुए सदस्य राज्यों के लोगों तथा अधिकार क्षेत्र के राज्यों के लोगों के बीच शिक्षा तथा संदेशों के द्वारा अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के प्रति आदर भावना को समर्थन देने के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रगतिशील उपायों से प्रयास करेगा।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) 'मानवाधिकार' का अर्थ क्या होता है?

....

....

....

....

....

2) 'लोकतांत्रिक अधिकारों' तथा 'मानवाधिकारों' में अंतर स्पष्ट कीजिए?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

27.3 मानवाधिकार आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

'मानवाधिकार' मद का प्रयोग पहली बार बीसवीं शताब्दी में किया गया था। उससे पहले की शताब्दियों में इन अधिकारों को 'नैसर्गिक अधिकार' या 'मनुष्य के अधिकार' कहा जाता था। 'नैसर्गिक अधिकार' के सिद्धान्त का प्रथम उल्लेख सत्रहवीं शताब्दी के लेखकों **क्रोशियस, हॉब्स, लौक** आदि के लेखन में मिलता है जिन्होंने 'नैसर्गिक नियम' को समझते हुए कहा था कि 'किसी को भी अन्य किसी के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता या स्वामित्व को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए' और इसी को 'नैसर्गिक अधिकार' का आधार माना गया था। इस नियम के आधार पर माना गया कि

हर व्यक्ति को जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता और संपत्ति का नैसर्गिक अधिकार है। इसी नियम से प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य भी बनता है कि उसे दूसरों के जीवन स्वतंत्रता और संपत्ति के प्रति सम्मान रखना चाहिए। इस सिद्धान्त की प्रतष्ठित अभिव्यक्ति **जॉन लौक** की पुस्तक **'द टू ट्रीटीज़ ऑन गवर्नमैण्ट'** में हुई है। **लौक** ने **'जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति'** के अधिकारों को नैसर्गिक अधिकार कहा है। उसने आगे कहा है कि राज्य स्थापना के पीछे मूल धारणा ही इन अधिकारों को बेहतर संरक्षण प्रदान करना है और यदि कोई सरकार इन अधिकारों का उल्लंघन करती है तो लोगों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। इसी प्रकार 1776 में अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा में इन 'स्वतः सिद्ध सत्यों' को प्रतिपादित किया गया था कि 'सभी मनुष्य बराबर बनाए गए हैं और सृष्टा ने उनको जीवन, स्वतंत्रता एवं प्रसन्नता की खोज जैसे अविच्छेद्य अधिकार दान में दिए हैं। आगे उसमें ज़ोर देकर कहा गया है कि सरकारों का गठन इन अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है जिससे कि वे (सरकारें) अपनी न्यायोचित शक्ति, शासितों की सहमति से प्राप्त कर सकें। जो सरकारें इन अधिकारों को नष्ट करने का प्रयत्न करें उनका उन्मूलन किया जा सकता है। 1789 में मनुष्य एवं नागरिक के अधिकारों के संबंध में फ़्रांसीसी घोषणा में भी 'नैसर्गिक अधिकारों' को अनिर्धारणीय एवं अविच्छेद्य अधिकारों के रूप में गिनाया गया है। संक्षेप में इन सभी घोषणाओं में इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि **मनुष्य के कुछ अधिकार उसके मनुष्य होने के कारण होते हैं न कि किसी राज्य का नागरिक होने के कारण। वह ही मानवाधिकार कहलाते हैं।**

मानवाधिकारों के संबंध में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारंभिक अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ दासता उन्मूलन से संबद्ध रही हैं, जैसे 1862 में वाशिंगटन की संधि; 1867 में बसेल्स तथा 1885 में बर्लिन सम्मेलन, युद्ध संबंधी नियम जैसे, 1856 की पेरिस घोषणा, 1864 का जेनेवा सम्मेलन, 1899 का हेग अधिवेशन, 1864 में रेड क्रॉस की अन्तर्राष्ट्रीय समिति का गठन आदि।

27.3.1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मानवाधिकारों की माँग

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व मानवाधिकार संबंधी ऐसा कोई अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून नहीं था जो सभी राष्ट्रों की सरकारों पर बाध्यतापूर्वक लागू होता हो। फिर भी दो सामाजिक आन्दोलनों को आज की मानवाधिकार शासन प्रणाली के पूर्ववर्ती माना जा सकता है। ***पहला आन्दोलन***, दास प्रथा एवं दासों के व्यापार के उन्मूलन के लिए 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन में प्रारंभ हुआ जिसने एक ग़ैर सरकारी संगठन, 'दासता विरोधी समुदाय' (एण्टी स्लेवरी सोसायटी) को जन्म दिया जो आज भी समसामयिक दासता के विरुद्ध संघर्ष करता है और जिसके द्वारा किए गए मत-निर्माण की प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रारंभिक दासता विरोधी संधियाँ अस्तित्व में आई थीं। ***दूसरा आन्दोलन*** रैडक्रॉस था जिसका प्रारंभ क्राइमी युद्ध में घायल सैनिकों की असह्या एवं अपरिमित पीड़ा को देखकर एक स्विस व्यापारी, **हेनरी ड्यूनाँ**, के हृदय-परिवर्तन के फलस्वरूप हुआ था।

प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच के समय में कई अन्य उल्लेखनीय कार्यों का प्रारंभ हुआ। 'अल्पसंख्यक-संधियों के द्वारा वैयक्तिक संरक्षण प्रदान करने के प्रयत्न किए गए जिनमें संबद्ध राज्य अपने अधिकार क्षेत्र में न केवल अल्पसंख्यकों को कुछ अधिकार तथा सद्व्यवहार का अनिवार्य न्यूनतम स्तर प्रदान करने को वचनबद्ध हुए वरन् इन समझौतों के समुचित पालन के दायित्व निर्वाह के कार्य के लिए एक सीमा तक राष्ट्र संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण के लिए भी सहमत हुए। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना के साथ आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त होने लगी तथा 1921 में अन्तर्राष्ट्रीय तत्वावधान में, शरणार्थियों के लिए राष्ट्र संघ के उच्चायोग की स्थापना के साथ शरणार्थियों को सर्वप्रथम सहायता उपलब्ध कराई गई।

MAADHYAM IAS

फिर भी, नाज़ी अत्याचारों का आतंक वह मूल कारण था जिस के प्रत्युत्तर में ग़ैर सरकारी संगठनों ने अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार क़ानून की अवधारणात्मक एवं वैधानिक आधारशिला तैयार करने के लिए राज्यों पर दबाव डालना प्रारंभ किया। ग़ैर सरकारी संगठनों ने ही संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र की प्रस्तावना तथा छह अलग-अलग अनुच्छेदों में मानवाधिकारों को शामिल कराया था। ग़ैर सरकारी संगठन ही थे जिन्होंने अनेक सरकारों को यह स्वीकार करने के लिए सहमत कर लिया

था कि संयुक्त राष्ट्र तंत्र में मानवाधिकारों का स्थान केन्द्रीय स्तंभों में से एक होना चाहिए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद गठित संयुक्त राष्ट्र में शामिल की गई मानवाधिकार व्यवस्था एक महत्वपूर्ण परिवर्तन की द्योतक थी। हिटलर के शासन काल में अपनाई पूरी की पूरी जाति के संहय की निर्मम नीतियों के विरुद्ध आक्रोशजन्य भावना परिवर्तन का प्रत्यक्ष परिणाम इस रूप में मूर्त हुआ था। इस भावना परिवर्तन के परिणामस्वरूप विजेता राष्ट्रों ने अनेक जर्मन नेताओं पर ऐसे अपराध के लिए मुक़दमें चलाए जिसका कानून की किसी भी पुस्तक में उल्लेख नहीं था वरन् अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों के आधार पर जो अस्तित्व में आया था। इस अपराध को 'मानवता के विरुद्ध अपराध' कहा गया था।

नूरेमबर्ग विचारण अधिकरण ने इतिहास में पहली बार यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि जब कभी आधारभूत मानवीय मूल्यों के संरक्षक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा किसी राज्य के कानूनों में विरोध हो तो नागरिक राज्य के कानून का उल्लंघन करने का अधिकारी है। नूरेमबर्ग के विचारणों के कानूनी ढाँचें में 'सैनिक अनुशासन' के सिद्धान्त को चुनौती दी गई थी और 'राष्ट्रीय संप्रभुता' के विचार को समाप्त कर दिया गया था। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने अधिकरण के मत का समर्थन किया और शान्ति तथा मनुष्यता के विरुद्ध अपराधों के उत्तरदायित्व के मामले में वरिष्ठ की आज्ञा को अस्वीकार करने को हृदयपूर्वक पुष्ट किया। सन् 1948 में, भविष्य के मानक के रूप में संयुक्त राष्ट्र की एक विशेष समिति ने 'मानवाधिकारों की घोषणा' का प्रारूप तैयार किया। संयुक्त राष्ट्र घोषणा के बाद मानवाधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रताओं के संरक्षण के लिए 1950 में यूरोपीय अधिवेशन 1966 में संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन तथा अनेक यूरोपीय, लेटिन अमरीकी, अफ्रीकी तथा दक्षिण एशियायी देशों के सम्मेलन हुए हैं। धीरे धीरे मानवाधिकारों की अवधारणा विश्वव्यापी हो गई और आज संसार के लगभग सभी देशों में मानवाधिकारों के सरंक्षण, समर्थन एवं सुरक्षा के लिए अनेक सरकारी तथा ग़ैर सरकारी संगठन अस्तित्व में आ चुके हैं।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उन्नीसवीं शताब्दी में हुई मानवाधिकारों से संबंधित कुछ संधियों के नाम लिखिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

27.4 मानवाधिकार संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मानवाधिकारों का प्रावधान द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी के फ़ासीवादियों के शासनकाल में किए गए अपराधों के प्रसंग में किया गया था। एक ओर जहाँ 'मानवता के विरुद्ध अपराधों' के लिए अनेक जर्मन नेताओं पर मुक़दमें चलाए गए थे वहीं दूसरी ओर भावी मानकों के निर्धारण हेतु, संयुक्त राष्ट्र ने 'मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' का प्रारूप तैयार करने के लिए 1948 में एक विशेष समिति की नियुक्ति की थी। इस घोषणा में 'सभी लोगों तथा सभी राष्ट्रों की उपलब्धियों के समान मानक' की उद्घोषणा की गई थी। उसमें घोषित किया गया था कि सभी मानव 'समान प्रतिष्ठा तथा समान अधिकारों के साथ स्वतंत्र रूप में जन्में हैं' अतः जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य विचार, राष्ट्रीय या सामाजिक मूल, संपत्ति,

जन्म या अन्य हैसियत के अंतर पर ध्यान न देते हुए इस घोषणा में उल्लिखित सभी अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को भोगने के अधिकारी हैं।

संयुक्त राष्ट्र घोषणा में अधिकारों के दो समुच्चय गिनाए गए हैं:

i) नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार तथा

ii) सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अधिकार

नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों में; व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता एवं सुरक्षा का अधिकार, दास प्रथा एवं दासता से मुक्ति, कानून की ओर से सभी को समान सुरक्षा, दोष के सिद्ध होने से पूर्व निरपराध माने जाने का अधिकार, संचलन की स्वतंत्रता, विचार एवं धर्म स्वतंत्रता, मत एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, साहचर्य एवं सभा का अधिकार तथा सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर समय-समय पर होने वाले चुनावों में भाग लेने का अधिकार आदि आते हैं। सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक अधिकारों में, सामाजिक सुरक्षा, कार्य, विश्राम एवं अवकाश, रहन-सहन का उपयुक्त स्तर, शिक्षा प्राप्ति तथा सामुदायिक सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने के अधिकार शामिल हैं। इसमें यह भी माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी सामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था प्राप्त करने का अधिकार है जिसमें इन अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को पूर्ण रूप से क्रियान्वित किया जा सके।

संयुक्त राष्ट्र घोषणा ने मानव ज़ाति की श्रेष्ठता में दृढ़तापूर्वक विश्वास व्यक्ति किया और मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता की बात कही - 'मानवाधिकार', अर्थात् ऐसे अधिकार जो किसी भी राज्य के क़ानून से निरपेक्ष रूप में, केवल मनुष्य होने के नाते प्राप्त होते हैं। इस (घोषणा) में मानवीय स्वतंत्रता के महत्वपूर्ण पक्षों को शामिल किया गया है और सरकार को इन से संबंधित दायित्वों के निर्वाह का कर्तव्य सौंपा गया है। मानवाधिकारों के समुदाय में व्यक्तियों, संस्थाओं (जिनमें सब रहते हैं) एवं सरकार के अंगों के संदर्भ में मनुष्य तथा समाज, के प्रमुख अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

फिर भी, यह घोषणा, सिद्धान्तों का कथन मात्र थी, क़ानून नहीं। सन् 1966 में संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकारों से संबंधित दो प्रसंविदाओं को अंगीकार किया - नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा तथा आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा। हस्ताक्षरकर्ता राज्य इन प्रसंविदाओं का पालन करने को बाध्य हैं। राज्यों की आवश्यक संख्या द्वारा अनुमोदित होने के बाद 1976 में ये प्रसंविदाएँ लागू हो गईं। संयुक्त राष्ट्र घोषणा तथा प्रसंविदाएँ मिलकर मानवाधिकारों के मानक निर्धारक यंत्रों के रूप में उभरे हैं।

इस संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने के योग्य है कि कुछ राज्यों ने आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों तथा नागरिक राजनीतिक अधिकारों में स्पष्ट अंतर माना है। संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसा पहला राज्य था जिसने सार्वभौमिक मानवाधिकारों को दो प्रसंविदाओं में विभाजित करने का आग्रह किया था। उसने घोषणा की कि आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार कम प्रामाणिक अधिकार थे और इनके साथ जुड़े हुए बाध्यताकारी कर्त्तव्य कम थे। दूसरी ओर, नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों को, प्रसंविदाओं के सभी हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों पर तत्काल लागू किया जाना चाहिए था। संयुक्त राष्ट्र ने समक्ष समय पर इस विचार का समर्थन किया है कि सभी अधिकार (समान रूप से) मानवाधिकार हैं। विभिन्न संयुक्त राष्ट्र सम्मेलनों एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलनों में यही मत व्यक्त किया गया है कि मानवाधिकार एवं मौलिक स्वतंत्रताएँ अविभाज्य हैं और सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का समुचित उपयोग किए बिना नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों का पूरी तरह उपभोग किया ही नहीं जा सकता।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) 1948 की मानवाधिकार संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा क्या है?

....

....

....

....

....

....

27.5 मानवाधिकार आन्दोलन

संयुक्त राष्ट्र घोषणा के अंगीकार किए जाने के तुरन्त बाद ही पूरे विश्व में मानवाधिकार के मुद्दे को सशक्त ढंग से उठाया जाना प्रारंभ हुआ और धीरे-धीरे इसने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। जहाँ पाश्चात्य लोकतांत्रिक देशों को मानवाधिकारों में उदार पूँजीवादी विचारधारा का औचित्य एवं शीत युद्ध के विरुद्ध लड़ने का हथियार दिखाई दिया वहीं एशिया और अफ्रीका के भूतपूर्व उपनिवेश देशों को उनमें पुरानी सामंती व्यवस्था से मुक्ति प्राप्त करने के अवसर एवं अपने विकास के लिए आवश्यक उपकरण दिखाई दिए। उदाहरण के लिए अफ्रीका में रंगभेद नीति के विरुद्ध संघर्ष में मानवाधिकार की अवधारणा प्रभावकारी हथियार के रूप में सिद्ध हुई थी। भूमंडल के विभिन्न भागों में संयुक्त राष्ट्र, महाद्वीपीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं स्थानीय स्तरों पर अनेक संगठन मानवाधिकारों का समर्थन और उन्हें संरक्षण देने के लिए अस्तित्व में आए। जहाँ संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकारों को संरक्षण प्रदान करने के लिए अनेक संगठन बनाए और कानून पारित किए वहीं अनेक देशों की सरकारों ने अपने यहाँ मानवाधिकार आयोगों की स्थापना की। इसके साथ ही अनेक ऐसे ग़ैर सरकारी संगठन भी अस्तित्व में आए जो सरकारों पर मानवाधिकार - उल्लंघन के विरुद्ध निगरानी रखते थे।

हमें यह जान लेना चाहिए कि हम जब मानवाधिकारों की बात एक आन्दोलन के रूप में करते हैं तो हमारा अभिप्राय अनेक संगठनों एवं व्यक्तियों के उस सामूहिक प्रयत्न से होता है जो मानवाधिकारों को समर्थन देने और उनके संरक्षण के लिए किया जाता है। ऐसे आन्दोलन में विधायक एवं कार्यपालक नीतिनिर्मातागण, पत्रकार एवं सम्मतिदाता नेतागण, शिक्षा शास्त्री तथा अन्य वर्ग भागीदार होते हैं। उनमें (अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय या स्थानीय) ग़ैर सरकारी संगठन तथा अन्य अनेक प्रकार के बहुत से संघ; जैसे, श्रमिक संघ, चर्च, व्यावसायिक संघ, जनता और ऐसे संगठन जिन्होंने मानवाधिकार हेतु संघर्ष में सक्रिय चिंता तथा भागीदारी व्यक्त की हो, भी सम्मिलित होते हैं। ये संगठन समस्त भूमंडल पर मानवाधिकारों के उल्लंघन का भंडा फोड़ने एवं सार्वजनिक रूप से विरोध करने, सरकारों की घेराबंदी करने और उत्पीड़ितों को कानूनी एवं मानवीय सहायता प्रदान करने, संरक्षणकारी वैधानिक प्रारूपण में सहायता करने, क़ानूनी उपचारों की युक्ति बताने, सरकारों तथा समुदायों को मानवाधिकारों के स्तरों के विषय में जानकारी देने तथा एकात्मता के सूत्र जोड़ने का कार्य करते हैं। ऐसे संगठनों का नेतृत्व मानवाधिकार सक्रियतावादियों या मानवाधिकार रक्षकों में से कुछ ऐसे व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है जो औरों के मानवाधिकारों की सुरक्षा एवं संरक्षण के प्रति अपनी खुली निष्ठा तथा सक्रिय कार्रवाई का प्रमाण देते हैं। मानवाधिकारवादी और ग़ैर सरकारी संगठन तथा मानवाधिकार - पोषक व्यक्ति ही उस मानवाधिकार आन्दोलन के अग्रणी नायक रहे हैं जो 1970 के बाद एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरकर आया। इससे पूर्व कि मानवाधिकारों के प्रोत्साहन एवं संरक्षण में ग़ैर सरकारी संगठनों की भूमिका पर विचार किया जाए, यह उपयुक्त है कि इस दिशा में संयुक्त राष्ट्र द्वारा किए गए कार्य पर दृष्टिपात कर लिया जाए।

MAADHYAM IAS

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) 'मानवाधिकार' एक आन्दोलन किस प्रकार कहा जा सकता है?

....

....

....

....

....

....

27.6 संयुक्त राष्ट्र एवं मानवाधिकार

संयुक्त राष्ट्र ने विश्व के विभिन्न भागों में मानवाधिकारों के प्रचार एवं संरक्षण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। सन् 1948 की सार्वभौमिक घोषणा के बाद संयुक्त राष्ट्र ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सहयोग से अनेक समझौते कराए जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आन्दोलन के मानकों की व्याख्या की गई और उनका विस्तार किया गया। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण समझौतों के नाम इस प्रकार हैं - जाति संहार को रोकने तथा तत्संबंधित अपराधों के लिए दंड का समझौता (1948), सैन्य बलों में बीमारों एवं घायलों की दशाओं में सुधार हेतु जेनेवा समझौता (1949), कैदियों के उपचार से संबंधित जेनेवा समझौता (1949), शरणार्थियों की स्थिति से संबंधित जेनेवा समझौता (1951), महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों का समझौता (1954), हर प्रकार के जातीय भेदभाव के निराकरण का समझौता (1966), वर्ण भेद के दमन तथा तज्जन्य अपराधों के लिए दंड का समझौता (1975), दास प्रथा और दास व्यापार के उन्मूलन का समझौता (1976), बच्चों के उत्पीड़न के विरुद्ध समझौता तथा उनके अधिकारों के लिए एक अन्य समझौता (1989)। इन सभी समझौतों का मूल प्रयोजन यह था कि राष्ट्रीय सरकारों को इस बात पर सहमत कराया जा सकें कि वे सभी मनुष्यों के प्रति उनकी जाति, वर्ण, राष्ट्रीयता, आदि से निरपेक्ष रूप में उपयुक्त व्यवहार करें तथा मानव की प्रतिष्ठा को उच्चतर स्तर प्रदान करें।

संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग, सदस्य राज्यों द्वारा मानवाधिकार-उल्लंघन के मामलों की ओर ध्यान आकर्षित कराने वाला एक प्रभावकारी साधन है। आयोग की 'कार्यसूची में बिन्दु 13' नामक मद पूरी तरह, संसार भर में कही भी होने वाले मानवाधिकार-उल्लंघन की व्याख्या करता है। इस मद में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग के सदस्य राज्यों को यह अवसर दिया जाता है कि वे विनिर्दिष्ट देशों में, गंभीर एवं अत्यावश्यक स्थितियों पर अपने मत व्यक्त करें। आयोग ने समय-समय पर विविध विषयों; जैसे अरब राज्य क्षेत्रों, चिल्ली एवं दक्षिण अफ्रीका में मानवाधिकार; एल सेल्वाडोर, ईरान एवं पोलैण्ड में आत्म-निर्णय के अधिकार के निषेध पर विचार किया है। नवें दशक में इसने विविध मुद्दों, जैसे, विलोपन, दासत्व तथा देसी लोगों के साथ व्यवहार आदि में अनुसंधान कार्य प्रारंभ किया। आयोग किसी भी राज्य के गलत कार्य की सूचना देने, उस ओर ध्यान आकर्षित कराने और कम से कम गलती करने वाले को उलझन में डालने की सामर्थ्य तो रखता है, हालाँकि उसके पास किसी प्रकार की सख्त एवं ठोस कार्रवाई करने की शक्ति नहीं है।

यद्यपि शीतयुद्ध के युग में उदारपंथी और समाजवादी देशों के बीच मानवाधिकारों की प्रकृति को लेकर तीखें मतभेद रहे हैं किन्तु शीतयुद्धोत्तर युग में मानवाधिकारों की रूपरेखा परिवर्तित हुई है और मानवाधिकारों के स्तरों का विकास करने में संयुक्त राष्ट्र एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में उभरा है।

MAADHYAM IAS

वियना में 1993 में हुई मानवाधिकार विश्व कांग्रेस में कहा गया था कि 'मानवाधिकारों का प्रोत्साहन एवं संरक्षण संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की वैध चिंता है।' उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार उच्चायुक्त के पद की स्थापना भी की गई। हाल ही में संयुक्त राज्य ने इराक़, सोमालिया एवं बोसनिया में मानवीय अंतःक्षेप के द्वारा लोगों के अधिकार की रक्षा के लिए क़दम उठाए थे। उसने भूतपूर्व युगोस्लाविया तथा रवाण्डा में जाति-संहार तथा मानवता विरोध जैसे अपराधों के आरोपी लोगों के अभ्यारोपण एवं उत्पीड़न से प्रभारित अधिकरणों की स्थापना भी की थी।

बोध प्रश्न 5

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा मानवाधिकारों के प्रचार एवं संरक्षण के लिए क्या भूमिका निभाई गई है?

....

....

....

....

....

....

27.7 क्षेत्रीय समझौते एवं प्रसंविदाएँ

मानवाधिकारों के समर्थन एवं संरक्षण की दिशा में दूसरा बड़ा प्रयत्न यूरोप, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका तथा दक्षिण-पूर्व-एशिया के क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा किया गया। इन संगठनों ने मानवाधिकारों को लागू करने के लिए समझौतों तथा तंत्रों का प्रावधान किया और संयुक्त राष्ट्र द्वारा किए गए कार्य में रहे रिक्त स्थानों की पूर्ति की।

27.7.1 यूरोपीय समझौता

मानवाधिकारों के पक्ष में अधिक उल्लेखनीय कार्य यूरोप में देखा गया। इसके दो स्पष्ट कारण थे। एक तो वहाँ नाज़ी और फ़ासी शासकों के अत्याचारों की याद ताज़ा थी; दूसरे लोकतांत्रिक यूरोप के निकट ही साम्यवादी सोवियत संघ था जिसने मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा की पृष्ठभूमि में निहित दर्शन के निष्कर्षों को ही नकार दिया था। मई 1948 में हेग में आयोजित यूरोपीय देशों की महासभा ने, 'विचार, सभा एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के आश्वासन के साथ मानवाधिकार पर एक अध्याय जोड़ने' की इच्छा प्रकट की थी। इसके बाद मानवाधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओं के संरक्षण के लिए नवंबर 1950 में यूरोपीय समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इस समझौते में, लोगों के जीवन, स्वतंत्रता, सुरक्षा, उचित जाँच, किसी के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन, घर एवं पत्राचार के प्रति सम्मान, विचार करने और घर बसाने आदि के अधिकार प्रदान करने और यदि इनमें से किसी अधिकार का उल्लंघन किया जाए तो उसके लिए समुचित एवं प्रभावकारी उपाय करने का सुनिश्चित आश्वासन प्रदान किया गया। उत्पीड़न, अमानवीय व्यवहार या अमानवीय दंड से मुक्ति; दास प्रथा एवं दास व्यापार से छुटकारा; विचार, अभिव्यक्ति, अंतःकरण एवं धर्म की स्वायत्तता तथा सभा एवं साहचर्य की स्वतंत्रता का आश्वासन दिया गया। कालान्तर में, संपत्ति एवं निष्पक्ष चुनाव का अधिकार माता पिता को अपनी आस्था के अनुरूप अपने

MAADHYAM IAS

बच्चों को शिक्षा दिलाने का अधिकार, 'ऋण के लिए कारावास के दंड विधान' से मुक्ति; देश निकाले से मुक्ति तथा विदेशियों के सामूहिक निष्कासन पर प्रतिबंध आदि विषय भी इस समझौते में सम्मिलित किए गए। संयुक्त राष्ट्र घोषणा से यह समझौता इस अर्थ में भिन्न था कि इसमें उक्त घोषणा के कुछ अधिकारों को लागू करने का प्रथम प्रयत्न किया गया था। इस समझौते की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित थीं:

i) इसने संबंद्ध पक्षों को प्रतिबद्ध किया कि वे इन अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को अपने नागरिकों के लिए सुरक्षित करें।

ii) इस (घोषणा) से अनुप्रयोग की सार्वभौमिकता के सिद्धान्त पर ज़ोर दिया।

iii) इस समझौते के लाभ केवल अनुबंधित पक्षों तक ही सीमित नहीं रखे गए।

iv) इसमें किसी प्रकार की क्षेत्राधिकार संबंधी सीमाएँ नहीं हैं।

अतः संरक्षण का मापदंड अधिक विस्तृत है। लगभग सभी यूरोपीय देशों ने इस समझौते की उस धारा को स्वीकार कर लिया है जिसके अनुसार किसी नागरिक को यूरोपीय मानवाधिकार आयोग के समक्ष सीधे ही याचिका प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान की गई है। इस समझौते का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह अधिकारों का संरक्षण तीन अंगों के द्वारा करता है। ये अंग हैं - यूरोपीय मानवाधिकार आयोग, यूरोपीय मानवाधिकार न्यायालय तथा मंत्रियों की समिति। इस समझौते ने किसी व्यक्ति को अपनी ही सरकार के विरुद्ध भी आयोग से शिकायत करने की अनुमति दी है। यद्यपि यह व्यवस्था स्पष्टवादिता से दूर है और अनेक पक्षों में समस्यामूलक भी है फिर भी यह दावा किया गया है कि यूरोपीय समुदाय में समाविष्ट किए गए कानूनी परिवर्तनों के संदर्भ में, इस समझौते ने राज्यों को इस बात के लिए स्वच्छंद नहीं छोड़ा है कि वे अपने नागरिकों से मनचाहा व्यवहार कर सकें।

27.7.2 लैटिन अमेरिका

इसी प्रकार अंध महासागर के पार लैटिन अमेरिकी राज्यों ने 1959 में राज्यों के अमेरिकी संगठन की स्थापना की। इस संगठन के (लिखित) अधिकार पत्र में मानवाधिकारों की रक्षा का दायित्व राज्यों का माना गया है। मानवाधिकारों के अमेरिकी समझौते पर चिल्ली, कोलंबिया, कोस्टा रिका, इक्वेडोर, ग्वाटेमाला एवं सेल्वेडोर, होण्डुराज, निकारागुआ, पनामा, पैरागजे यूरूग्वे तथा वेनीज़ुएला ने 1969 में हस्ताक्षर किए और यह समझौता 1978 में लागू हुआ। इस समझौते की धारा 1 के द्वारा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए और उनको लागू करने में राज्यों की अभिन्न भूमिका बताई गई। इस समझौते की उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसमें एक ही साधन से, नागरिक-राजनीतिक अधिकार तथा आर्थिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार, दोनों को समेटा गया था। इसमें आयोग भी था और न्यायालय भी।

आयोग, सदस्य राज्यों के व्यक्तियों और समुदायों से संदेश ग्रहण करता है, उनकी समीक्षा करता है, स्थितियों का अध्ययन करता है, विशिष्ट राज्यों में सत्रों एवं सार्वजनिक सुनवाइयों का आयोजन करता है और संबद्ध राज्य या राज्यों को अपनी सिफ़ारिशें भेजता है। आयोग ने, 1965 में डोमिनिकन रिपब्लिक के सामाजिक संघर्षों में निर्दोषों की ज़िंदगियों को बचाकर; बंदियों के अधिकारों को सुरक्षित कराकर; ब्राज़ील, चिली, हैती एवं क्यूबा में मानवाधिकारों के उल्लंघन के आरोपों की जाँच कराकर उल्लेखनीय प्रयास किए थे। इसने एल सेल्वेडोर तथा होण्टुराज़ के बीच हुए युद्ध में अत्यंत उपयोगी मानवीय कार्य भी किए थे।

MAADHYAM IAS

27.7.3 अफ्रीका

सातवें दशक में जब पूरे अफ्रीका में परिवर्तन की लहर चल रही थी जब (दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर) शेष सभी अफ्रीकी देशों के नेताओं ने अफ्रीकी एकता संगठन बनाया था और उन्होंने लोगों के आत्म निर्णय के अधिकार की उद्घोषणा की थी। इस संगठन ने 1981 में 'मानवाधिकारों

एवं जनाधिकारों के अफ्रीकी अधिकार पत्र' का प्रारूप तैयार किया था और मानवाधिकारों का प्रावधान करने, उन्हें समर्थन देने और उनका संरक्षण करने के लिए निकायों की स्थापना करने वाला एक आयोग भी है इस (आयोग) में जनाधिकार, सामुदायिक अधिकार या सामूहिक अधिकार के नाम से समाविष्ट हैं। यह आयोग राज्यों के विभिन्न पक्षों से प्राप्त शिकायतों के आवर्ती प्रतिवेदनों का अधिकार पत्र के प्रावधानों के अंतर्गत परीक्षण करता है तथा संबद्ध राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ संवाद स्थापित करके उनको मानवाधिकार संबंधी दायित्वों के पालन के लिए प्रोत्साहित करता है। अफ्रीकी एकता संगठन वर्णभेद को समाप्त करने में सफल रहा है।

27.7.4 दक्षिण पूर्व एशिया

यूरोपीय, लैटिन अमेरिका एवं अफ्रीकी देशों के अनुभवों ने दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों के लिए भी प्रोत्साहन दायक उदाहरण का काम किया। किन्तु कुछ ऐसे कारक थे कि इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। ऐसे कारकों में राजनीतिक अधिकारों एवं नागरिक स्वतंत्रताओं का अभाव, लोकतंत्रीकरण एवं बहुदलीय पद्धति का अभाव, आत्मसेवी संवैधानिक पद्धति, राष्ट्रीय सुरक्षा के अत्यधिक कानून, निवारक नज़रबंदी एवं नियत वैधानिक पद्धति पर नियंत्रण, विचार, अभिव्यक्ति एवं सम्मिलन की स्वतंत्रता पर व्यापक प्रतिबंध, मध्यमार्गी एवं दोषपूर्ण आपराधिक - न्यायिक पद्धति, असंतुलित विकास, अनुपयुक्त सामाजिक सुरक्षा तंत्र, आदि को गिनाया जा सकता है। फिर भी, गुट निरपेक्ष आन्दोलन (नैम), दक्षिण पूर्व एशियायी राष्ट्र संघ (आसेआन), एशिया-प्रशान्त संयुक्त आर्थिक सामाजिक आयोग (ऐस्कैप) तथा दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क) आदि के रूप में क्षेत्रीय स्तरों पर कुछ पहले हुई हैं। आसेआन की युगान्तकारी उपलब्धि, 1980 में, ई.ई.सी. के साथ हुई उसकी संधि थी, जिसमें आसेआन ने क्षेत्रीय स्तर पर मानवाधिकारों के सुधार की इच्छा व्यक्त की थी। भारत के निकट सार्क की स्थापना, मानवाधिकार के प्रति जागरूकता का हद संकेत था। यह संगठन आतंकवाद और मानवाधिकार उल्लंघन के विरुद्ध संघर्ष करता रहा है और इसे आशा है कि यह उक्त चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा। साथ ही राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोगों एवं समितियों की स्थापना का प्रारंभ भी हो चुका है। फिलीपीन्स, इंडोनेशिया, श्री लंका और भारत इसके उदाहरण हैं।

27.7.5 मध्य पूर्व

मध्यपूर्व के मुस्लिम देशों ने आपस में मानवाधिकार संबंधी कोई समझौता नहीं किया है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य होने के नाते उन सबने संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार घोषणा पर हस्ताक्षर किए हैं किन्तु वे मात्र काग़ज़ी हस्ताक्षर हैं क्योंकि इन देशों में घटित घटनाएँ उत्साहवर्धक नहीं रहीं। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि लोगों और उनकी सांस्कृतिक विरासत की कुछ नैतिकताएँ, स्वतंत्रता और समानता की पश्चिमी अवधारणा का बलपूर्वक निषेध करती हैं। उनके लिए शरीयत ही अंतिम सत्य है। उनके संविधानों में स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि उनका शासन तंत्र उनके पवित्र ग्रंथ के शब्दों पर आधारित है। सऊदी अरब, कुवैत, जोर्डन, क़तार, सीरिया, इराक़ आदि के संविधान अपने अपने राज्य में इस्लाम को राज्य का धर्म मानते हुए उस पर जोर देते हैं और शरीयत (कानून बनाने की कला और विज्ञान) को विधान का मूल स्रोत मानते हैं। अभिप्राय यह है कि शरीयत के स्वर से भिन्न किसी भी कानून को बनने से रोकना तथा धर्म के शिकंजे से बाहर किसी भी प्रकार के स्वतंत्र सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन को निष्फल करना उनका उद्देश्य है। इस्लाम की उदारतावादी व्याख्या करने वालों का कथन है कि मानवाधिकार इस्लाम की मूल भावना में ही अंतर्विष्ट हैं। इन देशों में मानवाधिकार संबंधी कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलन भी हुए हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 6

नोट: क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) मानवाधिकार के विकास में यूरोपीय समझौते की क्या भूमिका है?

....

....

....

....

....

27.8 ग़ैर सरकारी संगठन तथा मानवाधिकार आन्दोलन

ऊपर कहा जा चुका है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ग़ैर सरकारी संगठन ही थे जिन्होंने मानवाधिकारों के प्रति चिंता व्यक्त करना प्रारंभ किया था। छठे और सातवें दशक में उनकी संख्या काफ़ी कम थी लेकिन आठवें दशक से पूरे विश्व में ग़ैर सरकारी संगठनों की एक बड़ी संख्या अस्तित्व में आई जिनका एक काम तो राष्ट्रीय सरकारों द्वारा किए जा रहे किसी भी प्रकार के मानवाधिकार उल्लंघन पर निगरानी रखना था और दूसरा काम मानवाधिकारों का संरक्षण तथा उनके प्रति जागरूकता पैदा करना था। ग़ैर सरकारी संगठन एक निजी संघ होता है जो न तो सरकारी होता है न सरकारी नियंत्रण में होता है वरन् एक स्वतंत्र संगठन होता है जो किसी एक अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार (या अनेक मानवाधिकारों) के समर्थन एवं संरक्षण हेतु गठित किया जाता है और उसी के लिए निरंतर संलग्न होता है। मानवाधिकार के ये ग़ैर सरकारी संगठन ही मानवाधिकार आन्दोलन में अग्रमी होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कुछ ग़ैर सरकारी संगठन; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायविद् आयोग (जेनेवा) अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संघ (पेरिस), अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संघ (न्यूयॉर्क) तथा अल्पसंख्यक अधिकार समुदाय (लंदन) आदि हैं। संयुक्त राष्ट्र के साथ ये सभी संगठन विशिष्ट परामर्शदाताओं के रूप में संबंध रखते हैं। इनके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत अन्य अनेक संगठन हैं जिनमें श्रमिक संघों, चर्चों और व्यावसायिक संगठनों के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से कुछ संगठन देश विशेष से संबद्ध हैं तो कुछ किसी न किसी खास मुद्दे के लिए हैं अतः मानवाधिकार के संबंध में उनके दृष्टिकोण समान नहीं हैं। इन संगठनों को एक आन्दोलन की हैसियत प्रदान करने वाला लक्षण यह है कि वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के एक ही समुच्चय - अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार घोषणा- के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों की संख्याओं को उनके व्यवहार के प्रति उत्तरदायी ठहराने का कार्य करने का आग्रह करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के और अधिक महत्वपूर्ण दो अन्य ग़ैर सरकारी संगठन **ऐमनैस्टी इंटरनेशनल** (अन्तर्राष्ट्रीय सर्वक्षमा संगठन) तथा ह्युमन वाच ग्रुप (मानव सतर्कता समुदाय) हैं। ऐमनैस्टी इंटरनेशनल की स्थापना 1961 में की गई थी। इसका ज़ोर इस बात पर रहता है कि राजनीतिक क़ैदियों का न्यायोचित विचारण तत्काल किया जाए। उत्पीड़न, प्राणदंड, विलोपन, मनमाने ढंग से हत्याएँ, बंधकीकरण तथा इसी प्रकार के अमानवीय, क्रूर या निम्नस्तरीय व्यवहारों एवं दंडों को समाप्त करने का, यह संगठन आग्रह करता है। क़ैदियों से मिलना और उनकी समस्याओं के निराकरण के लिए संबंद्ध सरकारी अधिकारियों से बातचीत करना उनका निरंतर चलने वाला कार्यक्रम रहता है। इस संगठन ने 42000 क़ैदियों के मामलों में जाँच की है और उनमें से 38000 को सुलझाया है। इस संगठन को **1981** का **नोबल शान्ति पुरस्कार** दिया गया था। विशेष धर्म और आस्था की स्वतंत्रता के संरक्षण, राजनीतिक बंदियों के अधिकार रक्षण और उत्पीड़न एवं भेदभाव के विरुद्ध इस संगठन की अथक गतिविधियाँ प्रशंसनीय हैं।

MAADHYAM IAS

मानवाधिकार सतर्कता समुदाय (ह्युमन वाच ग्रुप) की स्थापना **1987** में न्यूयार्क में की गई थी और इसके सदस्यों की संख्या 8000 है। यह संगठन सरकारों की मानवाधिकार संबंधी कार्य पद्धतियों का मूल्यांकन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों, समझौतों एवं संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र के मानकों के आधार पर करता है। यह संगठन मानवाधिकारों के सरकारी दुरुपयोग की पहचान, ग़ैर सरकारी संगठनों के कार्यों के अनुवीक्षण के द्वारा करता है। यह संगठन संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा पूरे विश्व में तथा

अपने घरेलू मामलों में भी मानवाधिकारों के समर्थन, विशेषकर अमेरिका आने वाले परिदर्शकों एवं शरणार्थियों के प्रति व्यवहार, का मूल्यांकन करता है।

आठवें दशक के परवर्ती भाग में मानवाधिकार संगठनों के दबाव के फलस्वरूप राष्ट्रों की सरकारों में मानवाधिकारों के समर्थन तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय साधनों एवं मानकों के प्रारूपण पर ही ध्यान केन्द्रित न रखकर मानवाधिकारों के संरक्षण एवं उनके परिपालन और क्रियान्वयन पर ज़ोर देना प्रारंभ किया। क्रमशः विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों ने अपने अपने देश में मानवाधिकार आयोगों की स्थापना करना प्रारंभ कर दिया। ऑस्ट्रेलिया और भारत के मानवाधिकार आयोग इसके उदाहरण हैं।

मानवाधिकार प्रणाली को प्रभावी ढंग से चलाने और ग़ैर सरकारी संगठनों को विशेष भूमिका प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र ने इन संगठनों के साथ अपना एक औपचारिक संबंध स्थापित किया है। संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक-सामाजिक-परिषद् (एकोसॉक) ने ग़ैर सरकारी संगठनों के विषय में सूचना प्राप्त करने के लिए एक समिति गठित की है। ग़ैर सरकारी संगठनों को आर्थिक सामाजिक परिषद् के परामर्शदाताओं का स्तर दिया गया है और संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार आयोगों एवं उपायोगों की बैठकों में भाग लेने की उन्हें अनुमति दी गई है। **वियना (1993) में हुए विश्व मानवाधिकार सम्मेलन में मानवाधिकार आन्दोलन के ग़ैर सरकारी संगठनों की ज़ोरदार भूमिका पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया था।** ग़ैर सरकारी संगठन, सामान्य लोगों से संपर्क साधने, जागरूकता फैलाने, विभिन्न स्तरों पर तरह तरह से मानवाधिकारों के उल्लंघन का अनुवीक्षण करने तथा मानवाधिकारों के समर्थन एवं संरक्षण में भागीदारी आदि की अपनी सामर्थ्य के कारण विशेष रूप से चर्चित हो चुके हैं।

27.9 भारत में मानवाधिकार आन्दोलन

सन् 1950 में बने भारतीय संविधान के भाग III और IV में मौलिक अधिकारों एवं राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अंतर्गत मानवाधिकारों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। संविधान निर्माताओं ने विविध राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर न केवल संसार के अन्य संविधानों का वरन् संयुक्त राष्ट्र घोषणा एवं अधिकार पत्र का संदर्भ भी दिया है। संविधान में भारत के नागरिकों के लिए न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था एवं आराधना की स्वतंत्रता, स्तर एवं अवसर की समानता और उन सब में व्यक्ति के सम्मान के निश्चय के साथ भाई चारे को प्रोत्साहन देने की भावना के विकास की प्रतिज्ञा की गई है। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अनुरूप, राज्य ने मानवाधिकार से संबंधित अनेक अधिनियम जैसे, छुआछूत-उन्मूलन, अनैतिक व्यापार का दमन, मद्य निषेध, आदि पारित किए। संविधान में अल्पसंख्यकों एवं समाज के कमज़ोर वर्गों के हितों की रक्षा के लिए अनेक स्वतंत्र निकायों का सर्जन किया गया; जैसे, परिगणित जाति एवं परिगणित जनजाति आयोग; अल्पसंख्यक आयोग; भाषा-आयोग; राष्ट्रीय महिला आयोग आदि। इन सभी उपायों के बावजूद मानवाधिकारों का क्रियान्वयन एवं उल्लंघन, गंभीर चिंता का विषय रहा है। सन् 1975 में जब श्रीमति इंदिरा गांधी की सरकार ने आपातकाल लागू कर दिया और अनेक राजनेता तथा प्रमुख नागरिक बिना किसी प्रकार का अभियोग लगाए बंदीगृह में डाल दिए गए तब मानवाधिकार का प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठा। मानवाधिकार समर्थक अनेक सक्रियतावादी आपातकाल का विरोध करने को उठ खड़े हुए। **श्री जय प्रकाश नारायण** ने नागरिक स्वतंत्रता के लिए जनता मोर्चा का गठन किया। इसका मुख्य लक्ष्य आपातकाल के दौरान किए गए नागरिक एवं राजनीतिक दमन का विरोध करना था। जनता मोर्चे ने अंधाधुंध हत्याओं के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में मुक़दमें दायर किए। उसने मानवाधिकार सक्रियतावादियों, वकीलों, राजनीतिज्ञों एवं जन साधारण को अभिप्रेरित करने के लिए शिविरों एवं कार्यशालाओं का आयोजन किया। सन् 1981 में, लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए जनता का संघ (पी.यू.सी.एल.) नामक एक और संगठन ने मुठभेड़ के बहाने की जाने वाली हत्याओं के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में मुक़दमें लड़े। पंजाब का मानवाधिकार संगठन, ऐमनैस्टी इंटरनेशनल से संबद्ध है। लोकतांत्रिक अधिकार संघ तथा कुछ अन्य संगठन पंजाब में मानवाधिकारों को परिरक्षित एवं संरक्षित रखने का कार्य कर रहे हैं। मणिपुर का मानवाधिकार संगठन, नागालैण्ड का मानवाधिकारों के लिए नागा जन आन्दोलन आदि कुछ अन्य संगठन हैं जो दलितों एवं अल्पसंख्यकों को न्याय दिलाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। संक्षेप में वैयक्तिक अधिकारों

MAADHYAMIAS

के संरक्षण की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। उदाहरणार्थ, बंदियों एवं अभियोगाधीनों के अधिकारों की अब तक कहीं चर्चा भी नहीं थी किन्तु अब उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया है। इसी प्रकार बंधुआ मज़दूरों की मुक्ति और उनके पुनर्वास के प्रयत्न भी अत्यंत फलदायी रहे हैं। फिर भी, इन अधिकारों के संरक्षण के अधिकतर प्रयत्न न्यायिक निर्णयों और जन हित याचिकाओं के माध्यम से ही किए गए हैं। जो भी सही मानवाधिकारों के प्रति बढ़ी हुई जागरूकता के कारण बहुत से महत्वपूर्ण मुद्दे भी उठे हैं। प्रेस तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने की चेष्टाएँ, महिलाओं के अधिकारों पर सुनिश्चित आक्रमण, प्रतिष्ठा एवं आत्म सम्मान के लिए दलितों के संघर्ष के प्रश्न आदि सभी मानवाधिकार उल्लंघन के अनेक उदाहरणों को ही प्रकट करते हैं।

भारत सरकार भी पीछे नहीं रही और उसने **1993** में **राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना** कर दी। इस आयोग ने ऐमनैस्टी इंटरनेशलन द्वारा संस्तुत सभी मानकों को अपने कार्यक्रम में शामिल किया। **राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:**

1) ऐसे संस्थागत प्रबंध करना जिनके माध्यम से मानवाधिकार पर समग्रता में विचार एवं ध्यान केन्द्रित किया जा सके।

2) सरकारी मत से स्वतंत्र रहकर अतिचार संबंधी आरोपों की जाँच इस तरह करना कि मानवाधिकारों के संरक्षण के संबंध में सरकार की प्रतिबद्धता रेखांकित की जा सके।

3) इस दिशा में जो प्रयत्न किए गए हैं उनकी सराहना करना तथा उन्हें सुदृढ़ करना।

आयोग ने टाडा के अंतर्गत मनमाने ढंग से बंदी बनाए गए लोगों के मामलों का अध्ययन किया तथा उसने बच्चों के अधिकार, बाल मज़दूरी एवं महिलाओं के अधिकार आदि विषयों पर भी ध्यान दिया। उसने अरुणाचल में चकमा शरणार्थियों तथा तमिलनाडु में श्रीलंकाई शरणार्थियों की समस्याओं के विषय में दिशा-निर्देश भी दिए। राष्ट्रीय आयोग के अतिरिक्त कुछ राज्यों, जैसे मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल की सरकारों ने अपने यहाँ मानवाधिकार के मुद्दों से निपटने के लिए राज्य मानवाधिकार आयोगों का गठन किया है जिन्होंने हिरासत में हुई मृत्यु, बलात्कार उत्पीड़न, बंदीगृह सुधार आदि विषयों से संबंधित कार्यों को भी हाथ में लिया है।

27.10 मानवाधिकार आन्दोलन का मूल्यांकन

यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मानवाधिकार आन्दोलन बहुत लोकप्रिय रहा है, फिर भी, समय-समय पर उसके विरुद्ध दार्शनिक वैधानिक एवं सैद्धान्तिक आधारों पर आपत्तियाँ उठती रही हैं। उन सभी आपत्तियों में यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि 'मानवाधिकार कहाँ तक न्याय संगत है।'

मानवाधिकारों के विरोधी, उन्हें मात्र पूर्वग्रहों के पुलिंदे कह कर तिरस्कृत कर देते हैं। नैसर्गिक अधिकारों की संगति तो निसर्ग या प्रकृति के नियमों के आधार पर मानी जा सकती है किन्तु मानवाधिकार तो नैसर्गिक नियम की अवधारणा से पृथक्कत हैं। समसामयिक राजनीतिक चिंतक मानवाधिकार की संगति आधारभूत मूल्यों, जैसे, स्वतंत्रता, स्वायत्तता, समानता एवं मानव कल्याण के प्रति प्रतिबद्धता पर आधारित मानते हैं। जो भी सही, यह सत्य है कि मानवाधिकार का मुद्दा अत्यंत जटिल है क्योंकि विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों में विविध प्रकार के अंतर पाए जाते हैं। तथ्य यह है कि अपनी सारी लोकप्रियता के बावजूद, अभी तक, मानवाधिकार सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त कर नहीं सके हैं। कुछ मामलों में उन्हें राजनीति तक पहुँचने के अधिकार कह कर सामान्य आलोचना के तहत टाल दिया जाता है तो अन्य मामलों में आलोचना के लक्ष्य विशिष्ट मानवाधिकार को बनाया जाता हैं। आलोचना के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु निम्नलिखित हैं:

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

1) पहली आपत्ति मानवाधिकार और उसके उपयोग के दार्शनिक आधार को लेकर है। यह दावा करना कि मानवाधिकार किसी भी प्रकार की आस्था से निरपेक्ष, मानव मात्र में निहित होता है, स्पष्ट रूप से अतिवादी कथन है। संयुक्त राष्ट्र घोषणा, संयुक्त राष्ट्र की स्थापना करने वाले

राज्यों की राजनीतिक प्रतिबद्धता पर आधारित है। प्रश्न यह है कि उन राज्यों की तत्कालीन सरकारों को क्या अधिकार था कि भविष्य में सदस्यता ग्रहण करने वाले राज्यों और कालान्तर में परिवर्तन की संभावना से युक्त शासन प्रणालियों की ओर से भी प्रतिबद्धता स्वीकार कर लें। संभवतः यह मानव स्थितियों के विषय में किसी तर्क अथवा सामान्य समझ के आग्रह पर आधारित रहा हो किन्तु वहीं यह दार्शनिक दुविधा पैदा होती है कि तथ्यों से कुछ मूल्य, विशेषकर बाध्य मूल्य, किस प्रकार निकाले जा सकते हैं? सभी सरकारें इस बात पर सहमत हो सकती हैं कि इस क्षेत्र में मानव जाति, गतिविधि की स्वतंत्रता का उपभोग करती लगती है या बिना सहमत हुए मान सकती हैं कि ऐसी स्वतंत्रता देना इन (सरकारों) के लिए लाभदायक है) संक्षेप में, घोषणा के संबंध में दार्शनिक तर्क अस्थिर है।

उपयोग का जहाँ तक संभव है, इस ओर ध्यान आकर्षित कराया गया है कि अनेक राज्यों में तानाशाही है और घोषणा में ऐसे कोई उपाय नहीं सुझाए गए कि मानवाधिकारों के उल्लंघन से उन राज्यों को कैसे रोका जाए। कहा जा सकता है कि घोषणा के प्रति अनुरोध अधिक से अधिक खोखली भंगिमा है या शीत युद्ध में हथियारों की तरह अनुपयोगी है। इसके अतिरिक्त इस घोषणा में मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वालों के लिए नूरेनबर्ग अभिकरण जैसे किसी अभिकरण के सामने पेश होने का प्रावधान है। किन्तु इसमें भी कठिनाई है क्योंकि घोषणा की धारा **11** में कहा गया है कि, 'किसी को भी ऐसे किसी कार्य या भूल के लिए दंडनीय अपराध का दोषी नहीं माना जाएगा जो (कार्य या भूल) उसके निष्पादन के समय किसी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दंडनीय अपराध नहीं था।'

2) दूसरी आपत्ति कानूनी है। बैंथेमाइट परंपरा के अनुयायियों का दावा है कि मानवाधिकारों पर जोर इसलिए दिया जाता है कि इन का अस्तित्व उसी प्रकार तथ्यपरक है जैसा कि कानूनी अधिकारों में आधारभूत अंतर है और यदि इस अंतर को मान्यता दी जाए तो मानवाधिकारों को नैतिक दावों से अधिक कुछ नहीं माना जा सकता।

3) मानवाधिकारों में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकार, जैसे, शिक्षा, कार्य, सामाजिक सुरक्षा, विश्राम एवं सुख सुविधा तथा रहन सहन का एक उपयुक्त स्तर आदि के अधिकार अभूतपूर्व भले ही न हों, किन्तु महत्वपूर्ण बन चुके हैं। किन्तु उनके द्वारा न केवल सामाजिक न्याय संबंधी संदेह जाग्रत हुए हैं वरन् उन्हें मानवाधिकार मानने पर भी प्रश्न उठने लगे हैं। **मॉरिस क्रैन्स्टन** ने आपत्ति उठाते हुए कहा है कि आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों की (मानवाधिकार के रूप में) कोई संगति नहीं है क्योंकि ये गरीब देशों के काल्पनिक आदर्शों से अधिक कुछ नहीं होते और इन्हें शामिल करने पर अन्य अधिकारों को भी काल्पनिक मानने की प्रवृत्ति बनने लगेगी। इसी प्रकार **ब्रायन बोरी** ने भी सामाजिक अधिकारों को शामिल करने पर प्रश्न उठाया है क्योंकि उनमें सापेक्षता होती है जिसके विषय में सदैव तर्क उठाए जा सकते हैं। 'रहन-सहन के उपयुक्त स्तर' के सादृश्य पर 'मुक्त भाषण की संयत मात्रा' भी कही जा सकती है किन्तु उसे 'अधिकारों की घोषणा' नहीं कहा जा सकता। अनेक अल्प विकसित एवं विकासशील देशों पर कुछ अच्छा कर दिखाने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं है। यह बेतुकी बात है कि लोगों से कहा जाए कि उन पर अधिकार तो हैं पर उन्हें पूरा करना संभव नहीं है जबकि इसी संसार में दूसरी ओर ऐसे बहुत लोग हैं जो उन अधिकारों का लंबे समय से उपभोग कर रहे हैं। अतः अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग मानक हो जाते हैं। सामाजिक आर्थिक अधिकारों का एक अन्य शंकास्पद लक्षण यह है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए उनका उचित प्रावधान करने का दायित्व किसी विशेष सरकार का होता है अर्थात् किसी उपलब्धि का अधिकार व्यक्ति के उस राज्य के नागरिक होने पर निर्भर होता है न कि मानव जाति के सदस्य होने पर। फिर मानवाधिकार घोषणा का प्रारूप तैयार करने वालों की मंशा कुछ भी रही हो क्या यह मानना तार्किक रूप से अविवेकपूर्ण नहीं है कि विश्व भर में मानव जाति का यह उत्तरदायित्व है कि वे एक दूसरे के आर्थिक कल्याण के कार्य करें।

4) अनेक समाजवादी एवं विकासशील देशों ने मानवाधिकार के वैश्विक लक्षण पर इस विचार से आपत्ति की कि इससे पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के फैलने की आशंका जाग्रत होती है। घोषणा में ऐसे अधिकारों की सूची गिनाई गई है जिनके मानवाधिकार होने की संगति एवं अभिप्रेरण को लेकर विकासशील देशों के मन में प्रश्न हैं। उनका कहना है कि पाश्चात्य देश

MAADHYAM IAS

अपनी मूल्य पद्धति को अन्य संस्कृतियों पर आरोपित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उदाहरण के लिए भाषण की स्वतंत्रता का पाश्चात्य विचार एक निरक्षर, बेरोज़गार और भूखे आदमी के लिए कोई संगति नहीं रखता। अतः किसी राज्य विशेष में रोज़गार, भोजन, घर, शिक्षा आदि नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं 'यद्यपि कुछ राज्यों ने सांस्कृतिक एवं नागरिक स्वतंत्रताओं में कटौती करने के लिए इसी बहाने का आश्रय लिया है। एक आलोचना यह भी है कि मानवाधिकार की पश्चिम में विकसित अवधारणा में, समुदायों, जैसे, वर्गों, राष्ट्रों, एवं जातियों के अधिकारों की उपेक्षा की गई है। उदारवादी लोकतंत्र ने वर्ग-शोषण, राष्ट्रीय आत्म निर्णय एवं जातीय भेदभाव की चिंताओं पर बहुत कम ध्यान दिया है। जो हो, यह आवश्यक नहीं है कि सांस्कृतिक मूल्य सदैव अत्यधिक जटिल ही हों। यदि संयुक्त राष्ट्र घोषणा में कहा गया है कि मनुष्यों के साथ उत्पीड़न, गतिरोध, अपमान तथा अत्याचार बुरे होते हैं तो यह सभी संस्कृतियों के विश्वाजनीन लक्षण के अनुरूप है।

हम सभ्यता के युग में रहते हैं जिसमें मानवाधिकारों को विश्व व्यापी साधनों के माध्यम से मान्यता मिली है। कुछ देशों में यह मान्यता राष्ट्रीय संविधानों या राष्ट्रीय आयोगों के माध्यम से प्रदान की गई है। किन्तु हमें अपने समय के इस विरोधाभास को नहीं भूलना चाहिए कि हर स्थान पर इन अधिकारों का उल्लंघन भी हो रहा है और उनकी उपेक्षा भी हो रही है। अधिकार रहित मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है। हर स्थान पर खून और आँसू; आंतक और उत्पीड़न के शिकार लोग दिखाई पड़ते हैं। मानव की अमानवीयता अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। सामाजिक फूट और राजनीतिक अस्थिरता; विभिन्न संस्थागत ढाँचों और अपर्याप्त संसाधनों से मिलकर संयुक्त राष्ट्र घोषणा की अपेक्षा - पूर्ति को असंभव बना देती हैं। फिर भी 1990 से अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में हुए कुछ परिवर्तनों ने यह आशा जाग्रत की है कि संयुक्त राष्ट्र घोषणा का लागू हो सकना असंभव नहीं है। **पहला** परिवर्तन तो यह है कि विश्व ने संचार एवं सूचना के क्षेत्र में बड़ी वैज्ञानिक क्रान्ति का अनुभव प्राप्त किया है। इसके कारण सूचनाओं, चित्रों एवं आँकड़ों का तत्काल प्रसारण संभव हुआ है। जन-संचार-माध्यमों के शुभागमन ने मानवाधिकार उल्लंघन के विषय में जन साधारण की जागरूकता में वृद्धि की है और मानवीय मुद्दों पर जन शक्ति के प्रयोग की संभावनाओं का सर्जन किया है। **दूसरे**, 1990 के बाद के वर्षों में विश्व आर्थिक पद्धति; उत्पादन एवं वितरण के अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा पूँजी एवं विश्व सूचना-अवसंरचना-तंत्र (जैसे इंटरनैट) की मुक्त गतिविधि के साथ परिचालित हुई है। ऐसी सुविधाएँ चीन, ईरान, तथा सऊदी अरब जैसे देशों में भी उपलब्ध हैं जिन्होंने परंपरागत रूप से मानवाधिकारों की अवधारणा को अग्राह्य माना था। **तीसरे**, विश्व स्तर पर ग़ैर सरकारी संगठनों की संख्या में असाधारण रूप से वृद्धि हुई हैं। इन संगठनों ने प्रभावशाली तंत्र का विकास किया है और इन्हें सूचना के अधिकृत साधनों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। ये संगठन उन सरकारों का भंडाफोड़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं जो मानवाधिकारों के विषय में या तो जुबानी जमा खर्च अधिक करती हैं या जो उनका उपयोग राजनीतिक प्रचारवाद के लिए करती है। आज मानवाधिकार आन्दोलन, विकसित एवं विकासशील; दोनों वर्गों के देशों में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यह सही है कि कुछ मामलों में उनके प्रति बोध के स्तर पर अंतर है।

बोध प्रश्न 7

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) मानवाधिकार आन्दोलन में ग़ैर सरकारी संगठनों की क्या भूमिका है?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) भारत में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?

....

....

....

....

3) मानवाधिकार आन्दोलन की आलोचना के मुख्य बिन्दुओं का विवरण कीजिए।

....

....

....

....

27.11 सारांश

इस इकाई में हमने मानवाधिकार विषय पर - अवधारणा एवं आन्दोलन - दोनों दृष्टियों से विस्तृत अध्ययन किया है। हमने देखा है कि विभिन्न देशों के संविधानों में अधिकारों की व्यवस्था होने के बावजूद, राज्यों के कानूनों से अलग सार्वभौमिक मानवाधिकारों की आवश्यकता; विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद; तीव्रता से अनुभव की गई थी क्योंकि उस युद्ध में मानवता के विरुद्ध कुछ (जघन्य) अपराध किए गए थे। इस दिशा में पहल 1948 के संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के द्वारा की गई थी जिस का अनुगमन यूरोपीय समझौते, संयुक्त राष्ट्र के 1966 के मानवाधिकार समझौतों, मानवाधिकारों संबंधी अफ्रीकी अधिकार पत्र, मानवाधिकारों पर अमेरिकी-राज्य संगठन-समझौते आदि के द्वारा किया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मानवाधिकार का मुद्दा विश्व व्यापी घटना के रूप में उभरा और उसने विकसित एवं विकासशील, दोनों वर्गों के देशों का ध्यान आकर्षित किया। जनसाधारण के आधारभूत मानवाधिकारों को समर्थन एवं संरक्षण प्रदान करने के लिए क्षेत्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय स्तर के अनेक ग़ैर सरकारी संगठन तथा प्रायः प्रत्येक राज्य में स्थानीय स्तर के अनेक संगठन अस्तित्व में आए। इन संगठनों ने जातीय अल्पसंख्यकों, शरणार्थियों, बच्चों, लिंग संबंधी, पूर्वग्रह परिपीड़ितों, बंधुआ मज़दूरों, मानसिक विकलांगों, बंदियों, अभियोगाधीनों आदि के अधिकारों को सुरक्षित करने में प्रशंसनीय कार्य किया है। ऐसा नहीं है कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप धरती पर से क्रूरता और अमानवीयता का अंत हो गया हो। बहुत लोगों पर आज भी जीवन के लिए अनिवार्य मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। किंतु मानवाधिकारों को पुष्ट रखना महत्वपूर्ण है। वे मानव-उत्पीड़न की प्रक्रिया को उलटने और व्यक्ति की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए हैं।

MAADHYAM IAS

27.12 शब्दावली

मानवाधिकार : मानवाधिकार ऐसे अधिकार हैं जिन्हें संरक्षित रखने और जिनका उपभोग करने का अधिकार हर मनुष्य को होता है। ऐसे अधिकारों में यह मौलिक सिद्धान्त अंतर्निहित होता है कि सभी पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को सम्मानजनक व्यवहार प्राप्त करने का अधिकार है। यह धारणा किसी न किसी रूप में सभी संस्कृतियों और सभी समाजों में विद्यमान होती है।

मानवाधिकार संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा : संयुक्त राष्ट्र ने 1948 में मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की थी जिसमें 'सभी लोगों तथा सभी राष्ट्रों की उपलब्धियों के समान मानक' की उद्घोषणा की गई थी। इसमें घोषित किया गया था कि सभी मानव 'समान प्रतिष्ठा तथा समान अधिकारों के साथ स्वतंत्र रूप में जन्में हैं। इस घोषणा में अधिकारों के दो वर्ग बताए गए - नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार तथा सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार।

मानवाधिकार आन्दोलन : मानवाधिकार आन्दोलन का अभिप्राय है 'व्यक्ति को, राज्य के मनमाने तथा अतिचारी कार्य से सुरक्षित रखने हेतु मानकों संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का समग्र निकाय। मानवाधिकार आन्दोलन, मूलतः, व्यक्ति के विरुद्ध राज्य की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने और उनका प्रतिरोध करने के लिए जाग्रत हुए थे। इस आन्दोलन ने केन्द्रीय अधिकारों की धारणा का विकास किया है जिन्हें 'पूर्ण' माना जाता है और जिनका उल्लंघन सर्वथा निषिद्ध माना जाता है। ये अधिकार हैं - उत्पीड़न, न्यायिक प्रक्रिया के बिना प्राणदंड, मनमाने ढंग से बंदी बनाने या बंदीगृह में रोके रखने, आदि से मुक्ति। अन्य अधिकार जिन्हें पूर्ण से कुछ कम माना जाता है, वे हैं - भाषण, सभा एवं साहचर्य की स्वतंत्रता तथा कानून की समुचित प्रक्रिया का अधिकार। ये अधिकार ही वे आधार शिलाएँ है जिन पर प्रमुख ग़ैर सरकारी संगठन टिके हुए हैं।

ग़ैर सरकारी संगठन : ये संगठन स्वयंसेवी (निजी) संघ हैं (जिन पर सरकारी नियंत्रण नहीं है) और मानवाधिकारों के समर्थन तथा संरक्षण के प्रति सक्रिय रूप से चिंतित रहते हैं।

भारत में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग : भारत में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग 1993 में स्थापित किया गया था जिसका उद्देश्य मानवाधिकारों को लागू कराना तथा सरकार द्वारा किए जाने वाले अतिचारों के आरोपों की स्वतंत्र रूप से जाँच करना था। सूचना देकर किसी जेल या अन्य संस्था का दौरा करने का, मानवाधिकारों को प्रभावी ढंग से लागू कराने के उपायों के निर्धारण, उपचारी उपायों के निर्धारण, मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रपत्रों का अध्ययन करने तथा उन्हें लागू करने के लिए सिफारिशें करने, मानवाधिकारों के क्षेत्र में अनुसंधान कर, मानवाधिकारों के संबंध में जानकारी प्रसारित करने और ग़ैर सरकारी संगठनों के प्रयासों को प्रोत्साहित करने के लिए उसे शक्तियाँ प्राप्त हैं।

27.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

J.L. Macfarlane, (1985) *The Theory and Precise of Human Rights*, Maurice Temple Smith, London.

MADHYAM IAS

Maurice Cranston, (1962), Human Rights *Today,* Ampersand London.

Abdulla Rahim (ed.) (1991), Essays on *International* Human Rights, Asian Vijaypur, New Delhi.

Chiranjivi J. Nirmal (2000) Human Rights in *India,* Historical, Social and Political Perspectives, Oxford.

David Solby (1987), Human Rights, Cambridge University **Press,** Cambridge.

Robert G. Patman (ed.) (2000), Universal Human Rights, Macmillan Press Ltd. London

Peter Schotrab, Adamantia Pollis, (1982), Towards a Human Rights Framework, Praeger, New York.

27.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो प्रत्येक मनुष्य को मनुष्य होने के नाते प्राप्त हैं चाहे वह किसी भी राज्य, जाति, समुदाय, धर्म या समाज से सम्बन्ध रखता हो। (विस्तार के लिए भाग 27.2 देखें)

2) लोकतांत्रिक अधिकार क़ानूनी अधिकार हैं जो कि राज्य द्वारा विधिक एवं संवैधानिक रूप से मान्य हैं। मानवाधिकारों पर मनुष्यों द्वारा दावा किया जाता है चाहे उन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो या नहीं। ये सार्वभौमिक होते हैं। (विस्तार के लिए भाग 27.2 देखें)

बोध प्रश्न 2

1) भाग 27.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) संयुक्त राष्ट्र आम सभा ने 10 जनवरी 1948 को 'मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' की उद्घोषणा की। इस घोषणा में 'सभी लोगों तथा सभी राष्ट्रों की उपलब्धियों के समान मानक' की उद्घोषणा की गई थी। यह मानव जाति में समानता और मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता के महत्व पर आधारित थी।

बोध प्रश्न 4

1) मानवाधिकारों को एक आन्दोलन के रूप में बनाने के लिए संगठनों, व्यक्तियों, राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों ने सामूहिक प्रयत्न किए। इस सामूहिक प्रयत्न ने मानवाधिकार को भूमंडलीय आन्दोलन बना दिया। (विस्तार के लिए भाग 27.5 देखें)

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 5

1) संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवाधिकारों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देने के लिए मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और कई दूसरे समझौतों के अपनाने के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग की स्थापना की। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसने कई संधि निकायों की स्थापना की।

बोध प्रश्न 6

1) उपभाग 27.7.1 देखें।

बोध प्रश्न 7

1) भाग 27.8 देखें।

2) भाग 27.9 देखें।

इकाई 28 भूमण्डलीकरणः पृष्ठभूमि एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
28.3 भूमण्डलीकरण की विशेषताएँ
28.3.1 आर्थिक भूमण्डलीकरण
28.3.2 संचार के क्षेत्र में भूमण्डलीकरण
28.3.3 भूमण्डलीकरण तथा पर्यटन
28.3.4 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा सामाजिक आन्दोलन के कारण भूमण्डलीकरण
28.3.5 राजनीतिक क्षेत्र में भूमण्डलीकरण
28.3.6 भूमण्डलीकरण का सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष
28.3.7 विश्व समस्याओं के कारण भूमण्डलीकरण
28.4 समकालीन आर्थिक भूमण्डलीकरण के परिमाण (आयाम)
28.4.1 व्यापार में वृद्धि
28.4.2 पूँजी निवेश में वृद्धि
28.4.3 श्रमिकों का आप्रवास
28.5 भूमण्डलीकरण की सीमाएँ
28.6 सारांश
28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई में इस बात का प्रयास किया गया है कि आपको भूमण्डलीकरण के अर्थ, उसकी प्रकृति एवं उसके महत्व से अवगत कराया जाए। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप इस योग्य होंगे कि:

- भूमण्डलीकरण के अर्थ की व्याख्या कर सकें;
- भूमण्डलीकरण के विकास का वर्णन कर सकें;
- भूमण्डलीकरण की विशेषताओं को सूचीबद्ध कर सकें; तथा
- भूमण्डलीकरण की सीमाओं को पहचान सकें।

28.1 प्रस्तावना

भूमण्डलीकरण शब्द का प्रचलन बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशाब्दियों में हुआ। यह एक ऐसा शब्द है जिसको आज के समय में अनउपेक्षणीय माना जाता है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य शोषण का रूप कह कर इसकी निंदा भी की जाती है। आलोचक कहते हैं कि भूमण्डलीकरण विकासशील देशों के शोषण का साधन है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे समस्त पृथ्वी को एक इकाई के रूप में देखा जाता है। इस प्रक्रिया से समस्त संसार को एक भूमण्डली ग्राम (Global Village) की संज्ञा दी जाती है। इसमें लोगों के मध्य सामाजिक और आर्थिक क्रियाकलाप का संचालन किया जाता है। विश्व जनसंख्या को भूमण्डलीय रूप में ढाला जाता है। विश्व को एक भूमण्डलीय समाज माना जाता है, जिसमें भूमण्डलीय मुद्दे तथा समस्याएँ होती हैं। इन को भूमण्डलीय प्रयासों तथा सहयोग से सुलझाया जाता है। इसके परिणामस्वरूप इस भावना का उदय हुआ है कि समस्त संसार एक ही स्थान है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में हुई क्रान्ति के फलस्वरूप विश्व के सभी लोगों को एक दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। इससे राज्य की संप्रभुता की अवधारणा का

MADHYAM IAS

आमूल परिवर्तन हुआ है। राज्य के लिए नागरिकों की गतिविधियों को नियंत्रित कर पाना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। **स्टीव स्मिथ** तथा **जॉन बेलिस** का कहना है कि, "भूमण्डलीकरण का अभिप्राय ऐसी प्रक्रिया से है जिसके द्वारा सामाजिक सम्बन्धों की दूरियाँ कम होकर, उनमें सीमाविहीन योग्यताएँ आती जा रही हैं, ताकि मानव जीवन समस्त विश्व को एक स्थल मानकर गतिविधियों का संचालन करने लगा है।" **मार्टिन ऐल्ब्रॉ** के अनुसार, "भूमण्डलीकरण उस प्रक्रिया को कह सकते हैं जिसने समस्त मानवजाति को एकल विश्व समाज, भूमण्डलीय समाज में समाहित कर लिया है।" अति कठोर आलोचना करने वाले मानते हैं, कि भूमण्डलीकरण की परिभाषा कुछ ऐसी है कि जिसे "हम तृतीय विश्व में शताब्दियों से उपनिवेशवाद कहते आए हैं।" (मार्टिन एहोर (Martin Ichor)। भूमण्डलीकरण की अवधारणा तथा प्रक्रिया को, विशेषकर इसके आर्थिक स्वरूप को, न केवल विकासशील देशों में, वरन् विकसित देशों में भी विवादास्पद माना जाता है। फिर भी इस नई व्यवस्था से बचने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता।

यहाँ पर 'भूमण्डलीकरण' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्दों में अंतर स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से हमारा अभिप्राय ऐसे विभिन्न राज्यों के मध्य सम्बन्धों से है, जिनकी स्पष्ट रूप से निर्धारित सीमाएँ होती हैं, तथा जो संप्रभु होते हैं, और जिनकी संप्रभुता का सम्मान किया जाता है। दूसरी ओर भूमण्डलीकरण **सीमाओं से परे** की व्यवस्था है, जिसमें राज्यों का नियंत्रण कम होता जाता है।

28.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भूमण्डलीकरण निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया है। यह तय करना कठिन है कि यह प्रक्रिया कब आरम्भ हुई थी। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कि सभ्यता के आरम्भ से ही भूमण्डलीकरण की शुरुआत मानते हैं। परन्तु अनेक लोग इस विचार से अधिक उत्साहित नहीं हैं। उनका विश्वास है कि भूमण्डलीकरण की उत्पत्ति एशिया और अफ्रीका में, यूरोपीय देशों के साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ आरम्भ हुई। ऐसा विशेषकर ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के साथ हुआ, जिसमें "कभी सूर्यास्त ही नहीं होता" था। कुछ अन्य लोगों के विचार हैं कि यातायात और संचार प्रौद्योगिकी सम्बन्धी क्रान्ति के साथ, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य अथवा बीसवीं शताब्दी में भूमण्डलीकरण प्रारम्भ हुआ। इस संबंध में अनेक तर्क वितर्क दिए जा सकते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि भूमण्डलीकरण प्रक्रिया का अनुभव **1970 के दशक** में ही किया गया। इससे पूर्व विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई क्रान्ति के द्वारा विश्व की जनता को एक दूसरे के निकट ला दिया गया था, जिसके कारण भूमण्डलीय दृष्टिकोण पनपने लगा था। अतः भूमण्डलीकरण के विकास के कुछ महत्वपूर्ण सीमा चिन्हों का उल्लेख किया जा सकता है। **सन् 1865 में अन्तर्राष्ट्रीय तार संघ** (International Telegraph Union) की स्थापना हुई थी, जिसे प्रथम **भूमण्डलीय नियंत्रक निकाय** कहा जा सकता है। **सन् 1930** में, लंदन के नौसैनिक सम्मेलन के उद्घाटन समारोह में **राजा जॉर्ज पंचम** के भाषण को एक ही साथ छह महाद्वीपों में रेडियो द्वारा प्रसारित किया गया। कुछ लोग दोनों विश्व युद्धों को भी इस आधार पर भूमण्डलीय प्रकृति का बताते हैं कि वे संसार के विभिन्न भागों मे लड़े गए थे। उनका प्रभाव निश्चय ही विश्वव्यापी था। द्वितीय विश्व युद्ध की घटनाओं, विशेषकर शीत युद्ध ने, जिसने सैनिक रूप से संसार को दो गुटों में विभाजित कर दिया, ने भी विश्वव्यापी प्रभाव छोड़ा था। इस प्रक्रिया में **सन् 1966** का विशेष महत्व है, क्योंकि पहली बार समस्त भूमंडल के चित्रों को समाचार पत्रों, पत्रिकाओं तथा टी.वी. पर प्रदर्शित किया गया। **सन् 1969** में बोइंग 747 (Boeing 747) का निर्माण किया गया जिसने विमानन को सस्ता और सुविधाजनक बना दिया।

MAADHYAM IAS

सन् 1976 में **उपग्रह टी.वी.** (Satellite Television) की स्थापना हुई। अस्सी के दशक में भूमण्डलीकरण की दृष्टि से दो महत्वपूर्ण क्रान्तियाँ हुईं। यह थी संसार भर में कहीं से भी सीधे नम्बर घुमाकर दूरभाष (ISD) पर बातचीत करने की सुविधा। दूसरे, अमरीकी आकाश में एक ओज़ोन छिद्र (Ozone hole) देखा गया जिसने विश्वव्यापी पर्यावरण संबंधी जागरूकता, तथा संसार भर मे पारिस्थितिक संकट उत्पन्न किया। लगभग उसी समय विश्वव्यापी आर्थिक और वित्तीय क्षेत्रों में उल्लेखनीय विकास हुए, क्योंकि अति आधुनिक कम्प्यूटरों तथा नई संचार प्रौद्योगिकी ने विश्व भर की दूरियाँ प्रायः समाप्त कर दीं। संचार-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उपग्रह के उदय तथा अन्य विकास

ने एक दूसरे के प्रति समस्त देशों की जनता की जिज्ञासा तथा जागरूकता को बढ़ाया। फिर भी विश्व दो वैचारिक गुटों (पश्चिमी पूँजीवादी गुट तथा पूर्वी पूँजीवादी गुट) में विभाजित था। साथ ही अनेक गुट-निरपेक्ष देश भी थे। सोवियत तथा अमरीकी गुटों में विभाजन ने विश्व को दो कृत्रिम भागों में विभाजित कर दिया था। ऐसी स्थिति में एक भूमण्डलीय समाज की स्थापना की कल्पना कर पाना भी कठिन था। परन्तु 1990 के दशक के आरम्भ में समाजवादी व्यवस्था वाले राज्यों के पतन तथा सोवियत संघ एवं यूगोस्लाविया के विघटन ने साम्यवाद को जैसे विदा कर दिया। इसके परिणामस्वरूप पूँजीवादी लोकतान्त्रिक देशों की विजय ने भूमण्डलीय विचारों को प्रोत्साहन देना भी आरम्भ कर दिया। पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने इसे उदारवाद एवं पाश्चात्य मूल्यों की विजय की संज्ञा दी। यही कारण है कि भूमण्डलीकरण को पूँजीवाद तथा पाश्चात्यवाद की प्रक्रिया का पर्याय कहा जाता है। एक विचार तो यह भी है कि यह अमरीकीवाद है।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) भूमण्डलीकरण के संबंध में दो विचार कौन-कौन से हैं?

....

....

....

....

....

2) भूमण्डलीकरण की परिभाषा दीजिए।

....

....

....

....

....

3) इस की पूर्ति कीजिएः 'अन्तर्राष्ट्रीय' एवं 'भूमण्डलीकरण' में अंतर है :

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

4) भूमण्डलीकरण के विकास का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

28.3 भूमण्डलीकरण की विशेषताएँ

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में अनेक प्रमुख कारक एवं घटनाक्रम शामिल हैं।

28.3.1 आर्थिक भूमण्डलीकरण

आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण सर्वाधिक चर्चित प्रक्रिया है, परन्तु साथ ही यह विवादास्पद भी है। हम इसको आर्थिक भूमण्डलीकरण भी कह सकते हैं। आर्थिक रूप से संसार एक इकाई बनता जा रहा है। एक देश की आर्थिक घटनाएँ अन्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भी प्रभावित करने लगी हैं। अनेक प्रमुख क्षेत्रों में आर्थिक प्रक्रियाएँ अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीयकृत होती जा रही हैं। यह प्रमुख क्षेत्र हैं: **संचार, उत्पादन, व्यापार, वित्त** एवं **अन्य आर्थिक सहयोग के मामले**। अब समस्त संसार में अभूतपूर्व रूप से व्यापार और वित्तीय आदान प्रदान होने लगा है। डॉलर, पाउन्ड, यूरो तथा येन जैसी मुद्राओं का चलन विश्वव्यापी हो गया है। डॉलर के विषय में तो यह कहा जाने लगा है कि जितने डॉलर अमेरिका में चलते हैं उससे अधिक शेष विश्व में प्रचलित हैं। इन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा जारी धन प्राप्ति में विशेष अधिगम (Special Drawing Rights – SDR) तथा यूरोपीय यूनियन द्वारा जारी मुद्रा का भी प्रमुख स्थान है। क्रेडिट कार्ड (Credit Cards) के रूप में 'प्लास्टिक मुद्रा' भी समस्त विश्व में स्वीकृत होती है। बैंकिंग व्यवस्था भी भूमण्डलीय हो गई है।

इन सबके अतिरिक्त विश्वव्यापी (भूमण्डलीय) कारखानों तथा भूमण्डलीय उत्पादों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। मोटर गाड़ियों, इलैक्ट्रॉनिक तथा कई अन्य क्षेत्रों में भूमण्डलीय कारखानें पाए जाते हैं। इनमें शोध/अनुसंधान कार्य से आरम्भ होकर उत्पादन के अनेक चरण कुछ भी एक ही देश तक सीमित न रहकर विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था का अंग बन गए हैं। कोका कोला तथा पैप्सी जैसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय उत्पाद विश्व भर में बिकते और उपयोग किए जाते हैं। अन्य अनेक क्षेत्रों में जहाँ भूमण्डलीय उत्पाद मिलते हैं वे हैं: डिब्बों में बंद खाद्य पदार्थ, बोतलों में पेय, सिगरेट, घर के प्रयोग के लिए पदार्थ, संगीत के रिकॉर्ड, मुद्रित प्रकाशन, संचार उपक्रम, कार्यालयों और अस्पतालों में प्रयोग किए जाने वाले उपकरण, शस्त्रास्त्र, यातायात के वाहन, तथा आवागमन सेवाएँ। संसार भर में कुछ प्रचलित शीघ्र उपलब्ध भोज (Fast Food) की कड़ियाँ हैं, मैक्डॉनल्ड, केन्टकी फ्राइड चिकिन, पिज़्ज़ा हट, इत्यादि। सिले सिलाए कपड़ों की कड़ियों में विश्वविख्यात हैं मार्क एण्ड स्पेन्सर, रीड एण्ड टेलर तथा ऐरो कमीज़ें।

बहुराष्ट्रीय निगमों के विकास से नई भूमण्डलीय शक्तियों का उदय हुआ है। उनकी शक्ति और प्रभाव का अनुमान इसी बात से लगाया जाता है कि संसार में फैले 20,000 बहुराष्ट्रीय निगम विश्व का लगभग एक-तिहाई उत्पादन करते हैं; विश्व व्यापार का 70 प्रतिशत उनके नियंत्रण में है; तथा प्रत्यक्ष पूँजी निवेश (FDI) का 80 प्रतिशत उनके द्वारा किया जाता है। उनमें से प्रत्येक का वार्षिक बजट अनेक नवोदित विकासशील देशों के बजट से भी अधिक है। इन देशों में तो बहुराष्ट्रीय निगमों को अपनी ओर आकर्षित करने की होड़ लगी है ताकि उनके द्वारा अधिकाधिक प्रत्यक्ष पूँजी निवेश किया जाए। बहुराष्ट्रीय निगम विश्व भर में कार्यरत् हैं। उनका आधार अवश्य एक देश में हो सकता है, परन्तु उनका उद्देश्य विदेशों में अधिक से अधिक लाभ कमाना है।

MAADHYAM IAS

आर्थिक भूमण्डलीकरण का यह अर्थ लगाया जाता है कि विभिन्न राष्ट्रीय (देशीय) अर्थव्यवस्थाएँ अपनी स्वायत्तता से हाथ धो बैठेंगी और एक विश्व-अर्थव्यवस्था का अंग बन जाएगी। यह व्यवस्था मुक्त व्यापार और मुक्त बाज़ार पर आधारित होगी। विकासशील देशों में इसे उदारीकरण एवं निजीकरण की संज्ञा दी गई है। उदारीकरण का अर्थ है कि राज्य अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बनाए अर्थात् उन सभी रुकावटों और बंधनों को हटा दे जो कि राष्ट्रीय उद्योगों के संरक्षण के लिये लगाए गए थे, ताकि अब उन्हें भूमण्डलीय-विश्व-अर्थव्यवस्था का सहभागी बनाया जा सके। निजीकरण का अर्थ है सार्वजनिक उद्यमों को राज्य के नियंत्रण से मुक्त करवा कर निजी उद्योगों (उद्यमों) में परिवर्तित कर दिया जाए। इसी प्रक्रिया के अधीन अब अनेक विकासशील देशों में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। अनेक देशों को मिलने वाली आर्थिक सहायता इस शर्त पर दी जा रही

है कि वे अपनी अर्थव्यवस्थाओं में उदारीकरण और निजीकरण को बढ़ावा देंगे। यह विकासशील देश बिना अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता के संकट में पड़ सकते हैं।

28.3.2 संचार के क्षेत्र में भूमण्डलीकरण

संचार व्यवस्था के क्षेत्र में भी भूमण्डलीकरण पाया जा रहा है। संचार के क्षेत्र में जो अंतरिक्ष एवं उपग्रह प्रौद्योगिकी, कम्प्यूटर व्यवस्था के नेटवर्क, फैक्स, ई-मेल, ई-वाणिज्य, तथा संचार के इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों ने बहुमुखी क्रान्ति को जन्म दिया है उसने विश्व को सीमा रहित एवं दूरी रहित रूप दे दिया है। आज हम विभिन्न माध्यमों से संसार के किसी भी भाग से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। एक देश की घटनाओं को विश्व के सभी भागों में देखा जा सकता है। सूचना का आदान-प्रदान आज जिस गति से हो रहा है उसने विश्व के समस्त जनसाधारण को इतना निकट ला दिया है जितना कभी भी नहीं था।

28.3.3 भूमण्डलीकरण तथा पर्यटन

पर्यटन के विकास ने भी भूमण्डलीकरण का विकास किया है। सन् 1969 में विशाल जैट विमानों के निर्माण और विश्वव्यापी उपयोग के साथ ही पर्यटकों का विश्व भ्रमण तेज़ी से बढ़ा है। अनेक पर्यटन-प्रोत्साहन संस्थाएँ कम मूल्य पर विमान यात्रा को बढ़ावा दे रही हैं। यहाँ तक कि किश्तों में किराए की भरपाई की व्यवस्था की जाती है।

आधुनिक युग की यह अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। विविध क्षेत्रों, धर्मों एवं जातियों के पर्यटक एक दूसरे के सम्पर्क में आकर एक दूसरे को समझने का प्रयास करते हैं। **करण सिंह** ने ठीक ही कहा था कि विश्व भ्रमण करने वाले पर्यटक भूमण्डलीय चेतना का ताना बाना बुनने का कार्य करते हैं।

28.3.4 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा सामाजिक आन्दोलन के कारण भूमण्डलीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक ऐसे संगठन और सामाजिक आन्दोलन उभरे हैं जिनका कार्यक्षेत्र भूमण्डलीय हैं। समाजवाद के, 1990 के दशक में, पतन के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र वास्तव में भूमण्डलीय, अथवा विश्वव्यापी, संस्था बन गया है, तथा वह अधिक प्रभावी कार्य कर रहा है। अब राष्ट्रों की सरकारें संयुक्त राष्ट्र की अवहेलना नहीं कर सकती हैं, और उन्हें संयुक्त राष्ट्र की संरचना के अंग के रूप में कार्य करना है। संसार-व्यापी कार्य करने वाली अन्य संस्थाओं में प्रमुख हैं ऐम्नैस्टी इंटरनेश्नल, तथा वर्ल्ड इन्टेलैक्चुअल प्रापर्टी संगठन। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) तथा विश्व व्यापार संगठन (WTO) अन्य प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। इनके अतिरिक्त, अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय ग़ैर-सरकारी संगठन हैं जिन्होंने जनमानस के विचारों में आमूल परिवर्तन करने की प्रमुख भूमिका निभाई है। पर्यावरण, नर-नारी समानता जैसे अनेक विषयों और मुद्दों का भी तेज़ी से विकास हुआ है। इसके परिणामस्वरूप अनेक आन्दोलनों का तेज़ी से विकास हुआ है जिनमें लिंग-संबंधी स्वतंत्रता आन्दोलन (Lesbian and gay movements), पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी समूह और मानव अधिकारों के लिए संघर्ष शामिल हैं।

28.3.5 राजनीतिक क्षेत्र में भूमण्डलीकरण

MAADHYAM IAS

भूमण्डलीकरण का एक राजनीतिक पक्ष भी है। यह उदार मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति है। ये लोकतंत्र एवं मानव अधिकारों का पक्षधर है। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात्, तथा पूर्व समाजवादी राज्यों में लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही, लोकतंत्र को समस्त संसार में शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मान लिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सहायता कार्यक्रम भी लोकतांत्रिक व्यवस्था से सम्बद्ध है। परन्तु भूमण्डलीकरण की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से राज्यों की संप्रभुता को कम कर दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के राज्यों का स्थान **वैस्टफैलिया की संधि** (1648) के अनुसार नियंत्रित होता था। इस संधि ने राज्यों की समानता को, आन्तरिक एवं बाह्य संप्रभुता को, तथा एक दूसरे राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति को मान्यता दी थी। चाहे सैद्धान्तिक रूप से वैस्टफैलिया व्यवस्था अब भी स्थापित है, फिर भी

विश्वव्यापी प्रवृत्तियों ने इसे निश्चित रूप से प्रभावित किया है। इस संबंध में **डेविड हैल्ड** ने निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किए हैं:

i) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ निरन्तर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी व्यवस्था और समाज का अंग बनती जा रही हैं। अपनी अर्थव्यवस्थाओं पर राज्यों का नियंत्रण कम हो गया है। विभिन्न देशों की सरकारों की आर्थिक और वाणिज्य नीतियों को अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय उत्पाद बाज़ार के उतार-चढ़ाव, तथा उत्पादन, वित्त एवं अन्य आर्थिक संसाधनों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण ने उनकी नीति-निर्धारण क्षमता को कम कर दिया है। भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था, मुक्त बाज़ार, तथा प्रतियोगिता पर बल देती है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय सरकारों, को उदारीकरण एवं निजीकरण के मार्ग अपनाने पड़े, तथा आर्थिक सहायता (subsidy) और अन्य कल्याणकारी उपायों को कम करना, या समाप्त करना पड़ा है।

ii) विश्व व्यापी पारस्परिक सम्बद्धता (inter-connectedness) के कारण उन राजनीतिक निकायों और उपकरणों में कमी आई है जो कि राष्ट्रीय सरकारों द्वारा प्रयोग में लाए जाते थे। सीमाओं का उदारीकरण हुआ है। दूसरी ओर, माल और सेवाओं, विचारों एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान में तेज़ी आई है। इन सबके परिणामस्वरूप उन नीतियों और संयंत्रों में भारी कमी आई जिनके द्वारा संप्रभु राज्य देश के अंदर और बाहर की गतिविधियों को नियंत्रित किया करते थे।

iii) बहुराष्ट्रीय शक्तियों के विकास के साथ ही राज्यों के नीतिगत विकल्पों में भी कमी हुई है। अतः सरकारों द्वारा अपने नागरिकों की गतिविधियों को प्रभावित करने के विकल्प भी कम हुए हैं। उदाहरण के लिए, सीमाओं के पार पूँजी के प्रवाह के कारण मुद्रा स्फीति के विरुद्ध उठाए जाने वाले उपाय भी प्रभावित हुए हैं। साथ ही विनिमय दरें तथा अन्य सरकारी नीतियाँ भी प्रभावित हुई हैं।

iv) ऐसी भूमण्डलीय व्यवस्था के संबंध में जिसने सभी देशों को निकट ला दिया राज्यों के अनेक पारम्परिक कार्य जैसे कि प्रतिरक्षा, संचार इत्यादि बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सम्पन्न नहीं किए जा सकते हैं।

v) इन सबके फलस्वरूप, राज्यों को अन्य देशों के साथ अपने राजनीतिक एकीकरण के स्तर को उठाना पड़ा, ताकि भूमण्डलीकरण से उत्पन्न किसी कुप्रभाव का सामना न करना पड़ें। उदाहरण के लिए, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व व्यापार संगठन को और शक्तिशाली बनाना पड़ रहा है।

vi) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और संगठनों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। उन्होंने ही भूमण्डलीय शासन के आधार निर्धारित किए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नौकरशाही का विकास भी हुआ है, तथा सरकारों को उनके तंत्र के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप राज्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्य, उनकी शक्ति और क्षमता को नया आयाम दिया गया है; उनको नए रूप में परिभाषित किया गया है।

vii) इसके अतिरिक्त, उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO), अमरीकी राज्यों के संगठन (OAS) इत्यादि अनेक क्षेत्रीय संगठनों ने सदस्य राज्यों को काफी प्रभावित किया है। गुटों की राजनीति ने राज्यों की स्वतंत्र नीति निर्धारण की प्रक्रिया को सीमित कर दिया है। **हैल्ड** (Held) का कहना है कि किसी भी देश की विदेश नीति विशेष को अपनाने, अपने रणनीतिक उद्देश्यों को निर्धारित करने, विभिन्न वैकल्पिक सैनिक प्रौद्योगिकियों में से चुनाव करने, तथा अपने ही देश में स्थित शस्त्र व्यवस्था को नियन्त्रित करने की स्वतंत्रता, नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शक्ति-सम्बन्धों की मर्यादाओं से सीमित होती जा रही है।

नाटो जैसे सैन्य गठबंधनों में उनके सदस्य राज्यों द्वारा अपने नेता, जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभुत्व को स्वीकार करना और उनके आदेशों का पालन करना अनिवार्य होता जा रहा है। इस व्यवस्था में अमेरिका के व्यापार एवं शस्त्रों की बिक्री को निश्चित रूप से बढ़ावा मिलता है। नाटो ही नहीं, सभी सैनिक तथा अन्य क्षेत्रीय गठबंधनों से, जैसा कि हैल्ड ने कहा है, राज्यों की स्वायत्तता ही नहीं, वरन् उनकी संप्रभुता भी सीमित होती है। यह संगठन अन्तः

MAADHYAM IAS

सरकारी निर्णय प्रक्रिया को बढ़ावा देती है। इस प्रक्रिया में अनौपचारिक और सशक्त व्यक्तिक राजनय भी पनपता है।

viii) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून भी राज्यों की संप्रभुता को कम करते हैं। इस प्रक्रिया का आधार, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हिटलर के जर्मन शासन के युद्ध-अपराधियों के विरुद्ध न्यूरमबर्ग न्यायाधिकरण में चलाए गए मुक़दमें को माना जा सकता है। इस मुक़दमें ने यह निर्धारित कर दिया कि राज्य के कानूनों के बुनियादी मूल्यों की स्वायत्तता को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के अधीन रहना होगा।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकृत मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (1948) तथा मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं की सुरक्षा सम्बंधी 1950 की यूरोपीय संधि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो अपने नागरिकों के प्रति राज्य की सत्ता को सीमित करते हैं। मानव अधिकार अत्यंत महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं; और अब कोई भी सरकार अपने नागरिकों के प्रति मनमाना व्यवहार नहीं कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय की स्थापना से अब मानवता के विरुद्ध अपराध करने वालों को दंडित किया जा सकेगा। पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा सरकारी कर्मचारियों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिनके अनुसार उन पर अन्य किसी देश के न्यायालय में मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता है। परन्तु मानव अधिकारों की अवहेलना के संदर्भ में, इन नियमों को चुनौती दी जा रही है। इस संबंध में एक अच्छा उदाहरण है चिली के पूर्व राष्ट्रपति **अगस्तो पिनोचट** (Augusto Pinochet) जिनके प्रत्यार्पण के लिए ब्रिटेन की एक अदालत में मुक़दमा चलाया गया। जब पूर्वी तैमूर में हिंसा और रक्तपात रोकने में इन्डोनेशिया की सेना विफल हो गई थी, तब उस देश की सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के सामने झुकना पड़ा और पूर्वी तैमूर की सुरक्षा के लिए विदेशी सैनिकों की तैनाती को स्वीकार करना पड़ा था। (अब तो पूर्वी तैमूर स्वतन्त्र देश बन गया है)। मानव अधिकारों की अवहेलना, अथवा जातिगत हिंसा के मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप से राज्यों की संप्रभुता सीमित होती जा रही है। बोस्निया (Bosnia) तथा कोसोवो (सर्बिया) के संकट यह स्पष्ट करते हैं कि जातीय एवं मानवता के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप किया गया।

परन्तु, इसका यह अर्थ भी नहीं है कि राज्यों की संप्रभुता का उन्मूलन ही हो गया है। अनेक अवसरों पर राज्यों ने सफलतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के सामने घुटने नहीं टेके। भारत ने तीव्र अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के बावजूद अपने परमाणु अस्त्रों को नष्ट नहीं किया। फिर भी कई प्रकार से संप्रभुता सीमित अवश्य हुई है।

सैनिक प्रौद्योगिकी और **युद्ध कौशल** के विकास के क्षेत्र में भी भूमण्डलीकरण को देखा जा सकता है। अनेक आधुनिक अस्त्रों को भूमण्डलीय कहा जा सकता है, जैसे कि अन्तर्महाद्वीपीय बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र (ICBM), दूर से पहचाने वाले गुप्तचरी उपग्रह (Remote Sensing Spy Satellites)। इन सबने विश्व को एक ही रणनीतिक क्षेत्र बना दिया है। युद्ध संबंधी प्रौद्योगिकी अति विकसित तथा कम्प्यूटर नियंत्रित हो गई है। खाड़ी युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया था।

28.3.6 भूमण्डलीकरण का सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष

भूमण्डलीकरण का सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष भी अनोखा है अंग्रेज़ी भाषा संसार के बड़े भाग में समझी और बोली जाती है। पाश्चात्य समाज, जो मूलरूप से मुक्त और छूट देने वाला (premissive) है वहाँ पर बाज़ार-आधारित समाज का तेज़ी से भूमण्डलीकरण हो रहा है। इस संबंध में टी.वी. एवं रेडियो (electronic media) बहुत महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। तेज़ी से विकसित होने वाली संस्कृति को जीन (jean) संस्कृति, रॉक संगीत की संस्कृति एवं हॉलीवुड की संस्कृति माना जाता है। संसार के अनेक नगर एक जैसे दिखने लगे हैं। इन सभी घटनाओं ने एक समान चेतना उत्पन्न करने में सहायता की है।

MADHYAM IAS

28.3.7 विश्व समस्याओं के कारण भूमण्डलीकरण

कुछ ऐसी विश्व समस्याएँ भी हैं जिनका मुक़ाबला विश्व-स्तर पर विचार करके ही किया जा सकता है। इनमें पारिस्थितिकी (ecological) तथा पर्यावरण संबंधी संकट भी शामिल हैं। कुछ अन्य समस्याएँ

हैं अस्त्र-शस्त्रों की तस्करी, नशीले पदार्थों की तस्करी तथा एड्स (HIV-AIDS) जैसे भयंकर रोग।

हम सब लोग जो इस पृथ्वी पर रहते हैं उनको पारिस्थितिकी और पर्यावरणीय संकट ने प्रभावित किया है। औद्योगिकीकरण के कारण, तथा मानव के लोभ के कारण भूमि, जल और वायु सभी प्रदूषण का शिकार हो रहे हैं। ओज़ोन की पर्त (Ozone layer) खाली (deplete) होती जा रही हैं। संसार भर में ओजोन के तत्व विनाश का बीजारोपण कर रहे हैं। जंगलों में कमी होती जा रही है, तथा महासागरों की सम्पदा का अधिकाधिक उपयोग भी कठिनाई उत्पन्न कर रहा है। मछलियों तथा अन्य समुद्री भोजन के शीघ्र समाप्त हो जाने की संभावना है। पृथ्वी में गर्मी बढ़ती जा रही है जिसके कारण अनेक द्वीपों और तटीय क्षेत्रों की सागर में डूब जाने की संभावना है। इस भूमण्डलीय ग्रीष्म (global warming) को यदि समय पर नियंत्रित नहीं किया गया तो समस्त मानवता का विनाश हो सकता है। **स्टॉकहोम** में आयोजित **संयुक्त राष्ट्र मानव पर्यावरण सम्मेलन** (1972) तथा **रियो का पर्यावरण विकास सम्मेलन** (1992) इसी चेतावनी के परिणाम थे। पर्यावरण की अवनति के गम्भीर खतरों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के लिए अन्य अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का भी आयोजन किया गया है। परमाणु अस्त्रों का प्रसार हो रहा है। कुछ समय पूर्व तक इन पर पाँच बड़ी शक्तियों - संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस तथा चीन - का एकाधिकार था। इस समूह में पहले भारत और फिर पाकिस्तान भी शामिल हो गए। इसरायल, अर्जेन्टीना तथा ब्राजील जैसे कुछ अन्य देशों के पास भी परमाणु अस्त्रों की क्षमता है। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् एक नई समस्या उत्पन्न हो गई, जब तीन नवोदित (पूर्व सोवियत) राज्यों - बेलेरूस, कज़ाकिस्तान एवं यूक्रेन - के पास भी परमाणु अस्त्र भंडार थे। सौभाग्य वश, इन तीनों राज्यों ने स्वयं को परमाणु अस्त्र विहीन कर लिया। इस बात की भी (दूरगामी) संभावना है कि जातीय समूहों एवं आतंकवादियों के हाथों में परमाणु अस्त्र आ सकते हैं। सन् 1986 में तत्कालीन सोवियत संघ के चैर्नोबिल (Chernobyl) परमाणु परिसर में एक शक्तिशाली विस्फ़ोट हो गया। इसके फलस्वरूप, वायु के प्रवाह के द्वारा अनेक देशों की जनता परमाणु धर्मीकरण से बुरी तरह प्रभावित हुई। आज आतंकवाद एक गंभीर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसा शक्तिशाली देश भी इस समस्या का शिकार हुए बिना नहीं रह सका। अलक़ायदा, जैशे मोहम्मद, इत्यादि आतंकवादी समूह निर्मम हत्या को अपना अस्त्र बना रहे हैं। न्यूयार्क कांड (11 सितम्बर 2001) तथा नई दिल्ली संसद भवन पर आतंकवादी प्रयास (13 दिसम्बर 2001) इसी प्रक्रिया के परिणाम थे। इसी प्रकार नशीली दवाओं का व्यापार भी भीषण रूप ले चुका है। आतंकवाद, अपराध तथा नशीली चीज़ों की तस्करी में गहरा सम्बन्ध है। अनेक आतंकवादी समूह नशीली चीज़ों की तस्करी के द्वारा अस्त्र खरीद कर आतंक फैलाते हैं। संयुक्त राष्ट्र के ड्रग (नशीली चीज़ों) नियंत्रण कार्यक्रम (UNDP) की रिपोर्टों के अनुसार, ब्रिटेन और अमेरिका में 20 से 50 प्रतिशत तक राशि नशीली चीज़ों के व्यापार में लगाई जाती है। इन चीजों (ड्रग्स) के कारण सामाजिक और पारिवारिक हिंसा भी फैलती है। अंतिम, यौन-क्रान्ति तथा असुरक्षित यौन संबंधों के कारण एड्स का विश्वव्यापी विस्तार हो रहा है। इस भयंकर रोग से करोड़ों व्यक्ति पीड़ित हैं।

यह कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे समस्त मानवता प्रभावित हुई है। किसी एक राज्य के द्वारा इनका समाधान नहीं किया जा सकता है। इनके समाधान के लिए विश्वव्यापी सहयोग की आवश्यकता है। इसके बिना समस्त मानवजाति संकटग्रस्त हो जाएगी। सौभाग्य वश, इनके प्रति विश्व भर में जागरूकता उत्पन्न हुई है, और भूमण्डलीकरण और भी सशक्त हुआ है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) आर्थिक क्षेत्र में भूमण्डलीकरण से आप क्या समझते हैं?

....

....

....
....
....

2) भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से राज्यों की संप्रभुता किस प्रकार सीमित हुई है?

....
....
....
....
....

3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून में क्या नए विकास हुए हैं?

....
....
....
....

4) भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के क्या सामाजिक-सांस्कृतिक परिणाम हुए हैं?

....
....
....
....
....

5) इनमें से कौन-सी एक समस्या विश्वव्यापी **नहीं** है?

i) पर्यावरण संकट

ii) आतंकवाद

iii) नशीली वस्तुओं की तस्करी

iv) एड्स

v) बंधुआ मज़दूरी।

6) निम्नलिखित को पूरा कीजिएः

सैनिक युद्ध प्रक्रिया में भूमण्डलीकरण के उदय का कारण है

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

28.4 समकालीन आर्थिक भूमण्डलीकरण के परिमाण (आयाम)

आधुनिक भूमण्डलीकरण बहुमुखी है। यह मात्र विश्व व्यापार नहीं है जिसका विस्तार हुआ है, परन्तु इसमें शेयर बाज़ार में पूंजी निवेश भी बढ़ा है, अल्पकालीन निवेश और विदेशों में श्रमिकों का आप्रवास भी बढ़ा है।

28.4.1 व्यापार की वृद्धि

केवल 1990 के दशक में ही, संसार के सकल (कुल) घरेलू उत्पाद (जी डी पी) की तुलना में, वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार में लगभग दो गुनी वृद्धि हुई। अर्थात् व्यापार में वृद्धि विश्व-उत्पाद से भी अधिक हुई। आँकड़ों के आधार पर यदि देखें तो, 1970 में विश्व-उत्पाद का केवल 28 प्रतिशत आयात-निर्यात व्यापार से सम्बद्ध था। परन्तु 1998 में सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का 45 प्रतिशत आयात-निर्यात होने लगा था। यह वृद्धि समस्त संसार में पाई गई - विकसित एवं विकासशील सभी देशों में। उदाहरण के लिए सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) के प्रतिशत के रूप में कम आय वाले देशों का व्यापार 1970 के 12 प्रतिशत से बढ़कर 1998 में 46 प्रतिशत हो गया था। वास्तव में मध्यम आय वाले देशों में प्रगति और भी अधिक एवं नाटकीय रही। इस अवधि में मध्यम आय वाले देशों में व्यापार में दो गुनी वृद्धि हुई। इसकी तुलना में, उच्च-आय वाले देशों में, चाहे कुछ व्यापार में वृद्धि अवश्य हुई, फिर भी वह मध्यम आय वाले देशों के स्तर को प्राप्त नहीं कर सकी। इन उच्च-आय वाले देशों में व्यापार की दर 1970 में 29 प्रतिशत से बढ़कर 1998 में 44 प्रतिशत ही हो पाई।

28.4.2 पूँजी निवेश में वृद्धि

आज पूँजी का जो प्रवाह है उसने अतीत की तुलना में आर्थिक भूमण्डलीकरण को गुणवत्ता की दृष्टि से अधिक प्रभावी बना दिया है। हाल के अनुमान के अनुसार प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Foreign Direct Investment) अभूतपूर्व स्तर पर एक खरब अमरीकी डालर तक पहुँच गया है। इस घटनाक्रम के तीन पक्ष हैं - (क) निवेशित पूँजी की राशि; (ख) इस निवेश का विस्तार अनेक देशों में तथा (ग) कुछ संगठन जो कि इस निवेश का नेतृत्व करते हैं।

1990-99 की अवधि में कुल निजी पूँजी निवेश, विकसित देशों में, दो गुणा से भी अधिक हो गया है - यह 9.9 प्रतिशत से बढ़कर 22.3 प्रतिशत हो गया। परन्तु, जहाँ तक विकासशील देशों का प्रश्न है पूँजी का प्रवाह (निवेश) इतना प्रभावी नहीं रहा। उधर कम-आय वाले देशों में तो पूँजी का प्रवाह सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) का मात्र 2 प्रतिशत ही हुआ।

इस संबंध में एक प्रमुख विशेषता यह रही कि बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों का विस्तार हुआ। एक अनुमान के अनुसार, संसार में लगभग 60,000 पंजीकृत कंपनियाँ हैं, जिनकी विदेशी संबंधित (Overseas affiliates companies) की संख्या लगभग 7 लाख है। कुछ कंपनियाँ (inter-firm networking) भी हैं जो समस्त संसार में फैली हुई हैं तथा अनेक आर्थिक से सम्बद्ध हैं। परिणामस्वरूप विश्व की अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगम एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे हैं।

MAADHYAM IAS

इन बहुराष्ट्रीय निगमों में चोटी के 100 ग़ैर-वित्तीय निगम केवल विकसित देशों में आधारित है। मूल रूप से अन्तर्राष्ट्रीय उत्पाद में उनकी प्रमुख भूमिका इलैक्ट्रॉनिक, बिजली उपकरणों, मोटर वाहनों, पैट्रोलियम, रसायन पदार्थों तथा दवाइयों के क्षेत्रों में है। साथ ही विश्व भर में अनेक छोटी कम्पनियों का उनके साथ विलय हुआ है, अथवा उन्होंने देशी कम्पनियों को खरीद लिया है। इसके फलस्वरूप इन निगमों की उस क्षमता में भरपूर वृद्धि हुई है जिसके द्वारा उन्होंने अन्तर्देशीय व्यापार को आत्मीय कर लिया है, तथा व्यापार, करों और सीमा शुल्क की राष्ट्रीय नीतियों को अधीनस्थ कर लिया है।

पूँजी निवेश के संदर्भ में, समकालीन भूण्डलीकरण प्रक्रिया की एक विशेषता यह रही है कि अल्प-कालीन पूँजी प्रवाह या विदेशी निवेश हुआ है। यह पोर्टफोलियो निवेश बहुत अधिक बढ़ा है क्योंकि अधिकांश देशों ने अपने व्यापार और बाज़ार को अनियंत्रित कर दिया है। नब्बे के दशक के मध्य (mid-1990s) तक इस प्रकार का निवेश लगभग 20 खरब अमरीकी डालर का हो गया था। इसमें, कम आय वाले देशों में यह निवेश सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 2 प्रतिशत, मध्य-आय वर्ग के देशों में 6.4 प्रतिशत, तथा उच्च-आय वर्ग के देशों में 22.4 प्रतिशत हुआ है।

28.4.3 श्रमिकों का आप्रवास

पूँजी प्रवाह के अतिरिक्त, लोगों का आप्रवास में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। एक अनुमान के अनुसार, सन् 1990 से प्रति वर्ष 20 से 30 लाख लोग विकसित देशों को जा रहे हैं। इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 13 करोड़ से अधिक लोग अपने मूल देशों के बाहर निवास कर रहे थे, और उनके आप्रवास की गति 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश ने, हाल के वर्षों में, विकसित देशों को किस प्रकार प्रभावित किया है?

....

....

....

....

....

28.5 भूमण्डलीकरण की सीमाएँ

किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व हमें भूमण्डलीकरण की सीमाओं को समझना आवश्यक होगा। **प्रथम**, भूमण्डलीकरण का वास्तविक अनुभव विश्व के कुछ ही भागों में हुआ है। यह कहना गलत होगा कि सभी लोगों के लिए विश्व की दूरियाँ समाप्त हो गई हैं। सत्य यह है कि अति आधुनिक कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी उत्तर के देशों में प्रचलित होने के साथ-साथ थोड़े ही विकासशील देशों में पाई जाती है और वह भी शहरी क्षेत्रों तक सीमित है। वास्तव में भूमण्डलीकरण ने शहर-वासियों, व्यावसायिक लोगों तथा युवा पीढ़ी को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया है। जैसा कि **जॉन आर्ट शेट** (Jan Aart Shatte) ने कहा है कि मुख्य बात यह है कि भूमण्डलीकरण का यह अर्थ नहीं है कि सभी स्थानों पर, सभी लोगों के लिए, एक ही मात्रा में कुछ सामान्य परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके विपरीत, समकालीन विश्व में अनेक घटनाएँ घटती हैं चाहे, दूरिया कितनी भी हों तथा देशों की सीमाओं की स्थिति कुछ भी हो। **द्वितीय**, राज्यों की संप्रभुता आज भी विद्यमान है चाहे वह उतनी प्रभावी नहीं रही है जितनी पहले थी। **तृतीय**, सांस्कृतिक विभिन्नता आज भी पूर्ववत् है, तथा अनेक देशों की सांस्कृतिक परम्पराओं ने कुछ पाश्चात्य प्रभावों, जैसे कि मानव संबंधों में पूरी छूट को खुशी से स्वीकार नहीं किया है। इसके फलस्वरूप हम आज संसार में, पाश्चात्यकरण के विरुद्ध, अनेक राष्ट्रीय, जातीय तथा धार्मिक आन्दोलनों को उभरता देख रहे हैं। **अंतिम**, भूमण्डलीकरण को कुछ आलोचक इस रूप में भी देखते हैं कि यह विकसित देशों (जो कि पूर्व औपनिवेशिक शक्तियाँ हैं) के द्वारा निर्धन एवं विकासशील देशों के शोषण का नया अवतार है। अतः, अनेक विकासशील देशों में भूमण्डलीकरण के विरुद्ध काफी रोष है, और वे इसका स्वेच्छा से स्वागत नहीं करते हैं।

MADHYAM IAS

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) भूमण्डलीकरण की सीमाओं का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित को ध्यानपूर्वक पढ़िए, तथा जो **सही नहीं है** उसकी पहचान कीजिए:

i) भूमण्डलीकरण सार्वभौमिक नहीं है।

ii) भूमण्डलीकरण के बावजूद सांस्कृतिक विभिन्नता आज भी पाई जाती है।

iii) भूमण्डलीकरण ने राज्यों की संप्रभुता को धक्का नहीं पहुँचाया है।

iv) भूमण्डलीकरण को पाश्चात्य शोषण का नया रूप माना जाता है।

28.6 सारांश

भूमण्डलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने संसार की दूरियाँ कम करके देशों की नज़दीकियाँ बढ़ा दी हैं। यह प्रक्रिया काफी समय से चल रही है। सन् 1970 से भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का अधिकाधिक अनुभव हो रहा है।

भूमण्डलीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

- आर्थिक रूप से संसार एक इकाई बनता जा रहा है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की स्वतंत्रता कम हो रही है, और वे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का भाग बनती जा रही हैं।
- भूमण्डलीय कारख़ाने तथा भूमण्डलीय (विश्वव्यापी) उत्पाद बड़ी मात्रा में उभरे हैं।
- भूमण्डलीकरण को संचार के क्षेत्र में विशेषकर पाया जाता है। आज संसार भर के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आ रहे हैं, तथा विचारों और सूचना का आदान प्रदान हो रहा है।
- संसार के विभिन्न भागों में यात्रा और भ्रमण के द्वारा भी लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आ रहे हैं।
- अनेक संगठन और आन्दोलन भी उभरे हैं जिन्होंने समस्त संसार को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया है।
- भूमण्डलीकरण का अभिप्राय है उदारवाद और लोकतंत्र की स्वीकृति।
- भूमण्डलीकरण ने राज्यों की संप्रभुता को सीमित किया है।
- भूमण्डलीकरण युद्धकला और सैनिक प्रौद्योगिकी में भी दिखाई देता है।
- भूमण्डलीकरण का एक अन्य कारक है एकल सामाजिक-सांस्कृतिक विश्व का विकास।
- भूमण्डलीकरण की आवश्यकता इसलिए अनुभव हुई क्योंकि सांसारिक समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं।

MAADHYAM IAS

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Baylis John and Smith Steve (Ed.) 1997, *The Globalisation of World Politics.* Oxford University Press, Oxford.

Held, David, 1995, *Political Theory and the Modern State,* **Polity** Press, Cambridge.
Melkote, Rama S. (Ed.), 2001, *Meaning of Globalisation,* **New** Delhi.

28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 28.1 देखें।
2) भाग 28.1 देखें।
3) 'अन्तर्राष्ट्रीय' संप्रभु राज्यों के मध्य संबंधों का नाम है, जबकि 'भूमण्डलीकरण' उनकी सीमाओं से परे है।
4) भाग 28.2 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) अनुभाग 28.3.1 देखें।
2) अनुभाग 28.3.5 देखें।
3) अनुभाग 28.3.5 देखें।
4) अनुभाग 28.3.5 देखें।
5) अनुभाग 28.3.6 देखें।
6) वे विश्वव्यापी अस्त्र जो संसार के विभिन्न भागों में उपलब्ध हैं।

बोध प्रश्न 3

1) अनुभाग 28.4.1 और 28.4.2 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) भूमण्डलीकरण एक समान सार्वभौमिक व्यवस्था नहीं है। इसने लोगों के एक सीमित वर्ग को प्रभावित किया है। फिर भी राज्य संप्रभु बने हुए हैं। पाश्चात्य संस्कृति और पाश्चात्य प्रभुत्व का विरोध किया जा रहा है।
2) iii)

MAADHYAM IAS

इकाई 29 विकासशील समाजों पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 विकासशील समाज
29.3 भूमण्डलीकरण
 29.3.1 प्राचीन एवं नवीन भूमण्डलीकरण
 29.3.2 नवीन भूमण्डलीकरण की स्वीकृति के तत्त्व (कारक)
29.4 विकासशील समाजों पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव
 29.4.1 भूमण्डलीकरण के सकारात्मक पक्ष
 29.4.2 भूमण्डलीकरण के नकारात्मक पक्ष
29.5 विकासशील देशों की परम आवश्यकताएँ
 29.5.1 ऋण का जाल
 29.5.2 उरूगुए वार्ता का प्रभाव
 29.5.3 अंतिम परिणाम
29.6 सारांश
29.7 शब्दावली
29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

भूमण्डलीकरण ऐसी व्यवस्था है जिसका उदय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में हुए विकास के कारण हुआ तथा उसका उपयोग उद्योग तथा वाणिज्य के क्षेत्र में हुआ है। इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः, विभिन्न देशों को इस नई वास्तविकता के अनुसार स्वयं को ढ़ालना होगा, ताकि वे इससे लाभ उठा सकें तथा इसके विपरीत प्रभाव से बच सकें। ऐसा करना विकासशील देशों के लिए और भी आवश्यक है, क्योंकि उनके पास ऐसी राजनीतिक-आर्थिक पृष्ठभूमि नहीं है जो कि भूमण्डलीकरण के प्रभाव को सहन कर सके। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य इस अति आवश्यकता पर बल देना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप इस योग्य होंगे किः

- भूमण्डलीकरण के अर्थ और उसकी अवधारणा को समझा सकें;
- इसकी विशेषताओं का वर्णन कर सकें;
- विकासशील समाजों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव की समीक्षा कर सकें; तथा
- भूमण्डलीकरण के नकारात्मक पक्ष की व्याख्या कर सकें।

MAADHYAM IAS

29.1 प्रस्तावना

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया चाहे 1970 के दशक में ही आरम्भ हो गई थी, फिर भी इसे वास्तविक गति 1990 के दशक में ही प्राप्त हुई। बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ (MNCs) सदा से इच्छुक थीं कि उन्हें विश्व के सभी बाजारों में स्वतंत्र प्रवेश मिल सकें, परन्तु विभिन्न देशों की सुरक्षात्मक नीतियों (protectionist policies) के चलते यह संभव नहीं हो सका था। वे अपनी शक्तिशाली सरकारों पर इस बात के लिए दबाव डाल रही थीं कि इन "अस्वाभाविक बंधनों" को दूर करवाएँ, ताकि उनकी पूँजी और सामान को स्वतंत्र प्रवेश मिल सकें। संसार के विभिन्न भागों में लोगों में उपभोक्तावाद का तेज़ी से उदय हुआ, जिसके कारण उनके प्रयास सफल होने लगे। इस घटना (उपभोक्तावाद

के विस्तार) का प्रमुख कारण केबल नेटवर्क के माध्यम से इलैक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों के विस्तार और इंटरनेट के विकास को माना जाता है। अतः, विदेशी वस्तुओं की बढ़ती माँग, तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक इत्यादि के दबाव के कारण अनेक विकासशील देशों को नई आर्थिक नीतियाँ अपनानी पड़ीं। इस इकाई में इसकी विस्तार से समीक्षा की जाएगी।

इस इकाई में दो मुख्य शब्दों का प्रयोग किया गया है - 'भूमण्डलीकरण' तथा 'विकासशील समाज'। हम पहले इन अवधाराओं को समझने का प्रयास करेंगे। उसके पश्चात् हम विकासशील देशों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव का विवेचन करेंगे।

29.2 विकासशील समाज

व्यापक दृष्टि से देखने पर तो सभी समाज विकासशील ही प्रतीत होते हैं। वास्तव में कोई भी समाज जड़ या स्थिर नहीं हो सकता; किसी भी समाज का विकास रोका नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर वह सम्पूर्ण समाज क्षयग्रस्त हो जाएगा। फिर भी कुछ समाज कम विकसित होने के कारण तेज़ी से विकास करके शेष देशों के विकास स्तर तक पहुँचना चाहते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अनेक देश विदेशी दासता से मुक्त होकर स्वतंत्र हो गए थे। अधिकांश पराधीन देशों के सामाजिक-आर्थिक परिवेश को औपनिवेशिक शासकों ने प्रायः नष्ट कर दिया था, जिससे उनका विकास रुक सा गया था। इसके परिणामस्वरूप, स्वतंत्रता के समय अधिकतर (पूर्व-पराधीन) देशों को भीषण आर्थिक संकट, निरक्षरता, भयंकर सामाजिक-सांस्कृतिक तनाव, राजनीतिक जागरूकता के अभाव, तथा विशिष्ट वर्ग एवं सामान्य वर्ग में गंभीर खाई का सामना करना पड़ा।

इन उत्तर-औपनिवेशिक देशों (समाजों) के समक्ष जो समस्याएँ थीं, वे थीं: आर्थिक प्रगति, न्याय, स्थायित्व सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्निर्माण, शिक्षा का प्रावधान, जागरूकता तथा नागरिकों की भागीदारी सुनिश्चित करना इत्यादि। इन समस्याओं का सामना करने के लिए विशेष उपायों (नीतियों, क्रियान्वयन एवं प्रशासन) की आवश्यकता थी, जिनका विकास सम्बद्ध समाज की परिस्थिति के अनुकूल ही किया जा सकता था। इन समान कठिनाइयों और समस्याओं के कारण ही सभी नवोदित देशों को 'तृतीय विश्व' अथवा "विकासशील" देशों या समाज, की संज्ञा दी गई।

इन सभी देशों को एक ही श्रेणी (विकासशील समाज) में रखने का एक कारण पाश्चात्य समाजशास्त्रियों का जाति-केन्द्रित उपागम अपनाना है। इन विद्वानों का विश्वास है, कि शायद औद्योगिक विकास के स्तर के आधार पर, पश्चिम के देश विकसित हैं; तथा उनमें भी संयुक्त राज्य अमेरिका एक आदर्श है; तथा यह भी कि अन्य सभी समाज विकासशील हैं, जिन्हें विकसित होना है। इस उपागम को अपनाने वाले निसंदेह विकास के अन्य परिमाणों की उपेक्षा कर रहे हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

MAADHYAM IAS

1) विकासशील समाज की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

2) विकासशील समाज की प्रमुख समस्याएँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

29.3 भूमण्डलीकरण

रॉबर्टसन (Robertson) ने भूमण्डलीकरण की परिभाषा करते हुए लिखा था कि यह ऐसी अवधारणा है जो संकेत करती है कि संसार (दब कर, सिमट कर) संक्षिप्त हो गया है, तथा समस्त संसार में नई चेतना को तीव्र गति प्राप्त हुई है। सामान्यतया भूमण्डलीकरण दो विविध प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति है:

क) भूमण्डलीकरण वह प्रक्रिया है जिसने संचार व्यवस्था को तत्कालिक बना दिया है, लोग सांसारिक परिप्रेक्ष्य में सोचने लगे हैं; तथा

ख) भूमण्डलीकरण बाज़ार की विचारधारा को विश्व व्यापार की समानान्तर व्यवस्थाओं से जोड़ता है।

दूसरे शब्दों में, भूमण्डलीकरण का अभिप्राय मात्र उस अर्थव्यवस्था से नहीं है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं के अस्वाभाविक बंधन नहीं लगने देता। यह अर्थ वैचारिक, विचारधारा-आधारित सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण से भी है जिसे आधुनिक संचार माध्यमों, कम्प्यूटर तथा उपग्रहों ने संभव बनाया है। वास्तव में इसे ही नवीन भूमण्डलीकरण कहते हैं जो कि प्राचीन भूमण्डलीकरण से भिन्न है। दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं।

29.3.1 प्राचीन एवं नवीन भूमण्डलीकरण

अनेक विद्वानों, जैसे कि **वोलरर्टीन** तथा **अमीन** इत्यादि, का मानना है कि भूमण्डलीकरण तो तभी आरम्भ हो गया था जब साम्राज्यवादी आक्रमणों तथा श्वेत उपनिवेशों के द्वारा पूँजीवाद का विस्तार हुआ। साम्राज्यवादी प्रक्रिया ने एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अनेक देशों को यूरोपीय राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व के अधीन कर दिया। इन देशों को विवश किया गया था कि वे अपने बाज़ारों के द्वारा विश्व को औद्योगिक पूँजी के निर्बाध निवेश के लिए खोल दें। इस काल को प्रायः भूमण्डलीकरण का विस्तारक चरण (widening phase) कहा जाता है। इस चरण में विश्व के आर्थिक एकीकरण का अर्थ केवल इतना था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और औपनिवेशिक शोषण को निकट रूप से सम्बद्धित दिया गया।

नए चरण में संचार के क्षेत्र में हुए नवीन विकास ने आर्थिक शक्तियों को बल प्रयोग का त्याग करने और उपनिवेशों के शोषण को समाप्त करने के लिए बाध्य कर दिया। इसके विपरीत विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, गैट (GATT) तथा विश्व व्यापार संगठन इत्यादि के द्वारा उन देशों पर दबाव डाला गया जो कि विकासशील देश थे, और जिनके पास पूँजी की अत्यधिक कमी थी। इन्हें बहु-राष्ट्रीय निगमों के हितों की रक्षा के लिए संरचनात्मक परिवर्तन करने पड़े।

MAADHYAM

नवीन भूमण्डलीकरण की एक अन्य विशेषता यह है कि (प्राचीन चरण के विपरीत) अब बहुराष्ट्रीय निगमों ने विकासशील देशों में अनेक उत्पादन इकाइयाँ स्थापित कर ली हैं, जिसके कारण प्रचुर मात्रा में पूँजी का प्रवाह विकासशील देशों की ओर हो रहा है। पूँजी निवेश के मार्ग में राष्ट्रीय सीमाएँ बाधक नहीं रह गई हैं।

एक **तीसरी विशेषता** यह है कि अब, नई व्यवस्था में, प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश में बहुत वृद्धि हुई है। यह निवेश विश्व उत्पाद तथा विश्व व्यापार से कहीं अधिक हो गया है।

अंतिम विशेषता यह है कि कम्प्यूटर की सहायता से चलायी जाने वाली संचार व्यवस्था ने पूँजी के

अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को इतना बढ़ा दिया है कि उसकी अपनी ही स्वतंत्र व्यवस्था हो गई है जो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से निश्चित रूप से सम्बद्ध नहीं है।

29.3.2 नवीन भूमण्डलीकरण की स्वीकृति के तत्त्व (कारक)

अधिक विकासशील देशों ने, जिन्होंने आर्थिक आत्म-निर्भरता तथा आयात प्रस्थापत्ति औद्योगिकीकरण का लक्ष्य अपने समक्ष रखा था, अब विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा प्रोत्साहित संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (Structural Adjustment Package – SAP) के अनुसार नई आर्थिक नीतियाँ अपना ली हैं।

इस नए कार्यक्रम (एस.ए.पी.) में विकासशील देशों द्वारा निर्यात-प्रोत्साहन पर बल दिया गया है ताकि वे ऋणों के जाल (debt trap) से निकल सकें, तथा आयात-प्रस्थापत्ति (import substitution), निर्धनता-निवारण तथा पुनःवितरण इत्यादि के उद्देश्यों पर चल सकें।

व्यवहार में, अधिकांश उत्तर औपनिवेशिक विकासशील देशों के पास, गम्भीर ऋण जाल के संकट में फंसे होने के कारण, और कोई विकल्प था ही नहीं। इन देशों में, औपनिवेशिक शासकों ने औद्योगिकीकरण को विकसित ही नहीं होने दिया था। इस वज़ह से आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची काफ़ी बड़ी थी। इसकी तुलना में, निर्यात की जाने वाली सूची बहुत छोटी थी। दूसरे शब्दों में, यह देश काफ़ी धन का व्यय आयात पर करते रहे थे, जो कि निर्यात से प्राप्त आय से बहुत अधिक था। इसका परिणाम यह हुआ कि इनमें से अधिकांश देशों को संतुलित भुगतान (balance of payment) के संकट का सामना करना पड़ा।

इन उत्तर-औपनिवेशिक देशों में, सरकारों का संचालन अधिनायकवादी अभिजन शासकों द्वारा किया गया। इनमें से अधिकतर अभिजन शासकों का कोई जनाधार नहीं था, अतः वे अपने राजनीतिक बचाव के लिए पाश्चात्य देशों पर निर्भर रहे। यह स्वाभाविक था कि उनकी आर्थिक नीतियों का संचालन उन पश्चिमी देशों के हितों के अनुसार किया गया जो शासक अभिजनवर्ग को समर्थन प्रदान करते रहे थे। अधिकतर विकासशील देशों के अधिकांश अभिजन (विशिष्ट वर्गीय) शासकों ने अपने आयात का भुगतान करने के लिए खुलकर ऋण लिए। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि इन देशों ने प्रायः जिन वस्तुओं का आयात किया उनका उपयोग विशिष्ट वर्गीय उपभोक्ताओं ने किया। सामान्य नागरिक उन वस्तुओं को ख़रीद ही नहीं सकते थे। फिर भी, आयातित वस्तुओं एवं ऋणों के भुगतान के लिए करों का भार तो सामान्य नागरिकों को ही सहना पड़ा।

एक अन्य तत्त्व यह भी था कि 1980 के दशक में विकासशील देश जिन कृषि उत्पादों का निर्यात करते थे उनकी विश्व व्यापी माँग में अचानक कमी हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक कोई ज़ोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं थे, इन देशों की साख को भारी धक्का लगा। पश्चिमी देशों ने विश्वव्यापी ब्याज दर में वृद्धि कर दी। साथ ही उन्होंने विकासशील देशों को दी जाने वाली सरकारी सहायता में भारी कटौती भी कर डाली।

इन सभी कारणों से अधिकतर विकासशील देश ऋण जाल में फंस गए। एक ऋण और उस पर ब्याज का भुगतान करने के लिए अन्य अनेक ऋण लेने पड़े। ऐसी स्थिति में, पाश्चात्य देशों के प्रभाव में आकर, विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने इस शर्त पर सहायता देने की पेशकश की कि यह विकासशील देश संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (एस.ए.पी.) स्वीकार करेंगे, तथा अपने द्वार निर्बाध विश्व व्यापार तथा वाणिज्य के लिए खोल देंगे।

MAADHYAM IAS

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के अधीन अपनाई गई नई आर्थिक नीतियों में बाधक नियमों (restrictive rules), उपनियमों तथा आंतरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश एवं सहयोग इत्यादि को कम करना, और निजी आर्थिक क्षेत्र को प्रोत्साहन देना तथा सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करना शामिल है।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) भूमण्डलीकरण का क्या अर्थ है? प्राचीन और नवीन भूमण्डलीकरण में अंतर स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

2) भूमण्डलीकृत अर्थव्यवस्था की माँग के अनुसार अधिकतर विकासशील देशों ने नई आर्थिक नीतियाँ क्यों अपनाईं?

....

....

....

....

....

3) संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (एस.ए.पी.) के औचित्य का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

29.4 विकासशील समाजों पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

अब हम भूमण्डलीकरण के वर्तमान चरण की समीक्षा करेंगे, जिसका उदय संसार के विभिन्न देशों में उदारीकरण एवं निजीकरण के कारण हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव के कारण, तथा सोवियत संघ एवं चीन इत्यादि द्वारा अपनाए गई समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित होकर अनेक देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को राज्य-नियंत्रित कर दिया था। परन्तु, 1970 के दशक के आरम्भ में पश्चिम के अनेक देशों ने क्रमशः राज्य के हस्तक्षेप को कम करके बाज़ार-नियंत्रित व्यवस्था को अधिक स्वतंत्रता प्रदान करनी आरम्भ कर दी। कुछ नियमों को तो उदारीकरण के नाम पर रद्द भी कर दिया गया। जो उद्योग पूर्ण या आंशिक रूप से सरकारी स्वामित्व में थे उनमें सरकारी भागीदारी कम की गई, उनमें विनिवेश प्रक्रिया आरम्भ की गई तथा राज्य के स्वामित्व को समाप्त कर उनका निजीकरण किया गया। उदारीकरण का एक अन्य पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वाणिज्य से सम्बद्ध है। इसका अर्थ हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बनावटी सीमाओं एवं सीमा शुल्क व्यवस्था को समाप्त किया गया। दूसरे शब्दों में, यह प्रयास किया गया कि संसार के सभी भागों में बाज़ार-आधारित शक्तियों को पूरी छूट प्रदान की जाए।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अनेक देशों ने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की। उनमें से अधिकतर देशों में औपनिवेशिक शासकों ने औद्योगिकीकरण होने ही

MAADHYAM IAS

नहीं दिया था। इसलिए, उनके लिए यह संभव ही नहीं था कि वे अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में विकसित देशों के साथ मुक़ाबला कर सकें। इसी शंका के कारण कि विकसित पाश्चात्य देशों की कम्पनियाँ उन पर हावी हो जाएगी, अनेक विकासशील देशों ने सुरक्षात्मक नीतियाँ अपनाई ताकि बहु-राष्ट्रीय निगमों के विरुद्ध वे अपने घरेलू उद्यमों की रक्षा कर सकें।

भारत सहित अनेक देशों ने ऐसी विशेष नीतियाँ, तथा नियम और विनियम बनाए ताकि बड़े व्यापारियों और उनके प्रतिष्ठानों से छोटे उद्यमों (कुटीर उद्योगों) की रक्षा की जा सके। विदेशी मुद्रा नियमन अधिनियम (FERA), एकाधिकार तथा सीमित व्यापार व्यवहार अधिनियम, हर चीज़ के लिए लाईसेंस की आवश्यकता, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, सहभागिता के लिए सरकारी अनुमति की आवश्यकता, इत्यादि ऐसे कानून और नियम बनाए गए जिनका उद्देश्य "बाहर वालों" से भारतीय उद्यमियों की रक्षा करना था। साथ ही यह भी था कि छोटे भारतीय उद्यमियों की बड़े औद्योगिक घरानों से रक्षा की जा सकें।

भूमण्डलीकरण का आधार सार्वभौमिकता का सिद्धान्त है, न कि सुरक्षावाद का। यह पूँजीवाद के तर्क पर आधारित है जो कि मुक्त बाज़ार, मुक्त मुक़ाबले तथा सर्वाधिक बलवान की विजय (survival of the fittest) के सिद्धान्त पर बल देता है। पूँजीवाद व्यवस्था को जिन चीज़ों से विशेष बल मिला है उनमें प्रमुख हैं कम्प्यूटर का विकास, संचार माध्यमों एवं उपग्रह इत्यादि की प्रगति ने विश्व के विभिन्न भागों को एक दूसरे के साथ जोड़ दिया है। संसार के प्रत्येक भाग में बैठे लोगों को टी.वी. के माध्यम से सभी उत्पादों, विशेषकर उपभोक्ता वस्तुओं से आसानी से अवगत कराया जा सकता है। भारत में टी.वी. के माध्यम से खरीदारी की नई व्यवस्था जैसे स्काई शॉपिंग और इंटरनेट के द्वारा घर बैठे किसी भी वस्तु को मंगाया जा सकता है। बाज़ारों में विदेशी माल भरा पड़ा है, क्योंकि इन वस्तुओं का लोभ और उनकी माँग निरंतर बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में, उपरोक्त सभी कारणों से उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

विभिन्न विकासशील देशों की अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं, उनकी क्षमता और संसाधनों में भिन्नता है, उनके सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक परिवेश में भी भिन्नता है। इसीलिए उन सब पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव एक समान नहीं पड़ा है। कुछ देशों पर इसका प्रभाव सकारात्मक अधिक है, नकारात्मक कम, जबकि कुछ अन्य देशों की स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। यह विभिन्न देशों की इस सामर्थ्य पर भी निर्भर करता है कि वे अपने समाज को किस प्रकार भूमण्डलीकरण की वास्तविकता से जोड़ सकें हैं।

भूमण्डलीकरण एक वास्तविकता है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती है। इसीलिए अब इस विषय पर कोई विवाद नहीं रह गया कि यह वांछनीय है, या नहीं। अब तो समीक्षा इस बात की हो रही है कि भूमण्डलीकरण को किस प्रकार विकासशील देशों के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है, और कैसे इसके दोषों को कम किया जा सकता है। यद्यपि अधिकांश विकासशील देश अभी तक संरचनात्मक परिवर्तन नहीं कर पाए हैं, और इसी कारण उन्हें भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, फिर भी यह सोचना ग़लत होगा कि भूमण्डलीकरण से कोई लाभ नहीं हुआ है। हम यहाँ तीन क्षेत्रों में भूमण्डलीकरण के प्रभाव की समीक्षा करेंगे। वे हैं: अर्थव्यवस्था, समाज एवं संस्कृति, तथा शिक्षा। हम पहले इन तीनों क्षेत्रों में सकारात्मक पक्ष का अध्ययन करेंगे, और उसके बाद नकारात्मक पक्ष का।

MAADHYAM IAS

29.4.1 भूमण्डलीकरण के सकारात्मक पक्ष

अब हम एक-एक करके अर्थव्यवस्था, समाज एवं संस्कृति और शिक्षा पर भूमण्डलीकरण के सकारात्मक पक्ष की समीक्षा करेंगे।

अर्थव्यवस्था

अधिकांश विकासशील देशों ने जो आर्थिक नीतियाँ अपनाई थीं उनका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, ख़ासकर निर्धन वर्ग को। धनवान और निर्धन वर्ग के मध्य खाई बढ़ती गई है। प्रतियोगिता के अभाव

में, बड़े व्यापारी और उत्पादक साधारण उत्पादों को ऊँचे मूल्य पर बेचते रहे हैं।

दूसरे शब्दों में उपभोक्ताओं को वे वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती थीं जो कि अन्य देशों में कम मूल्य पर उपलब्ध थीं। बड़े उद्योगपतियों तथा बड़े आंतरिक व्यापारी घरानों के एकाधिकार के कारण साधारण व्यक्ति को विशेष लाभ प्राप्त नहीं हो सका। इसका एक उदाहरण भारत का टेलीविज़न उद्योग है।

उदारीकरण से पूर्व भारतीय टी.वी. सैटों के उत्पादक, बिना अति आधुनिक उपकरणों और प्रौद्योगिकी के, अपने एकाधिकार के कारण, साधारण स्तर के टी.वी. बहुत ऊँचे मूल्य पर बेचते थे। जब आधुनिक प्रौद्योगिकी से निर्मित विदेशी टेलीविज़न सेट भारतीय बाज़ारों में आ गए, तब भारतीय उत्पादकों ने भी उपभोक्ता के हितों का ध्यान रखना शुरू किया और नवीनतम विशेषताओं वाले टी.वी. सस्ते मूल्य पर उपलब्ध होने लगे। अन्य अनेक वस्तुओं के क्षेत्रों में भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के कारण गुणवत्ता बढ़ने के साथ-साथ मूल्य भी कम होने लगे। यह भूमण्डलीकरण का एक प्रमुख सकारात्मक पक्ष माना जाता है।

आर्थिक दृष्टि से भूमण्डलीकरण का एक अन्य सकारात्मक पक्ष यह भी है कि आयात की गई उपभोक्ता वस्तुओं को कर-व्यवस्था में शामिल किया गया। इससे पूर्व, विदेशी वस्तुओं के प्रलोभन और माँग के कारण अनेक वस्तुओं की चोरी से तस्करी होती थी। तस्करित वस्तुओं पर निश्चय ही कर लगाने की व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी। अब आयात सरकार के हस्तक्षेप के बिना होता है, और औपचारिक रूप से आयात करके जो विदेशी वस्तुओं को बेचते हैं उन्हें सरकारी कोष में कर देना पड़ता है। इस व्यवस्था से तस्करी कम हुई, मूल्य कम हुए और सरकारी कोष में आय में वृद्धि हुई।

तीसरा सकारात्मक पक्ष निर्यात के क्षेत्र में है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर रुकावटों के समाप्त हो जाने से अच्छी वस्तुओं के स्थानीय उत्पादकों को अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रवेश प्राप्त हो सका है।

राजनीति, समाज एवं संस्कृति

विकसित सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था को परिसीमन करने सम्बन्धी विवाद निरंतर चलता जा रहा है। विद्वानों का एक वर्ग "आदर्श व्यवस्था" की बात करता है जिसमें अति उपयोगी एवं वांछनीय सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक विशेषताएँ होगी। इन विद्वानों का कहना है कि सभी देशों को ऐसी आदर्श व्यवस्था की विशेषताएँ अपनाने के प्रयास करने चाहिए। उनका यह भी सुझाव है कि आधुनिकीकरण से पूर्व की विशेषताओं के अनुसार आचरण करने की छूट होनी चाहिए।

विद्वानों का एक तीसरा वर्ग भी है जिसका तर्क है कि चाहे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विकसित "आदर्श व्यवस्था" जाति-केन्द्रित है जोकि विकासशील देशों को स्वीकार्य नहीं है, फिर भी वे पुराने क़बीलावाद और सती, बलिदान इत्यादि जैसी अमानवीय परम्पराओं के भी विरुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी है कि समानता, स्वतंत्रता, न्याय इत्यादि को किसी भी अच्छी व्यवस्था का आधार माना जाना चाहिए।

MAADHYAM IAS

संक्षेप में, चाहे विद्वानों में किसी "आदर्श व्यवस्था" पर सहमति न भी हो पाए, फिर भी वे सब इससे सहमत हैं कि किसी भी सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का आधार समानता, स्वतंत्रता तथा न्याय होना चाहिए। वे इस पर भी सहमत हैं कि दमनात्मक एवं अमानवीय और बर्बर प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं का पूर्ण त्याग कर देना चाहिए। यहाँ पर हम भूमण्डलीकरण के सकारात्मक पक्ष के दर्शन कर सकते हैं। संचार माध्यमों के अभूतपूर्व विकास के कारण संसार में कहीं भी घटनाओं की समस्त जनता को जानकारी प्राप्त हो सकती है। विश्व समाज की प्रतिक्रिया भी समस्त संसार को ज्ञात हो जाती है। मानव अधिकारों की अवहेलना के मामलों तथा जातीय-सफ़ाई (Ethnic-cleansing) जैसी घटनाओं को छिपाया या दबाया नहीं जा सकता है। अनेक मामलों में विश्व समाज के दबाव के कारण अन्याय का तुरंत निवारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त, दक्षिण अफ्रीका तथा नामीबिया जैसे देशों की (पूर्व) दमन की गतिविधियों को उदार समाज में परिवर्तित करने का श्रेय भी भूमण्डलीकरण को जाता है।

शिक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, तथा इसी के द्वारा लोग अपने पर्यावरण में आवश्यक सुधार और परिवर्तन कर सकते हैं।

अनेक कारणों से, विभिन्न देशों की शिक्षा व्यवस्थाओं के द्वारा विकसित ज्ञान और क्षमता का स्तर सभी देशों में एक समान नहीं है। अनेक देशों में शिक्षा नवीनतम ज्ञान उपलब्ध कराती है तथा मानस का विकास संभव बनाती है, जबकि कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ आज भी प्राचीन, रूढ़िवादी शिक्षा व्यवस्था पाई जाती है।

भूमण्डलीकरण के द्वारा घिसी पिटी शिक्षा व्यवस्था को आधुनिक रूप दिया जा सकेगा। किसी भी समाज के विकास के लिए तात्कालिक घटनाओं का ज्ञान, तथा प्रौद्योगिकी, तथ्यों, आविष्कारों, खोजों तथा मानव प्रयासों की जानकारी अति आवश्यक है। बंधनों और रुकावटों को दूर कर दिए जाने के कारण अब विकसित देशों के विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थान विकासशील देशों में अपनी शाखाओं अथवा भागीदारी के द्वारा अपने ज्ञान को प्रसारित कर पा रहे हैं।

29.4.2 भूमण्डलीकरण के नकारात्मक पक्ष

अब हम विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था, संस्कृति तथा शिक्षा पर भूमण्डलीकरण के नकारात्मक प्रभाव का विवेचन करेंगे।

अर्थव्यवस्था

अधिकांश विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं को औपनिवेशिक शोषण के कारण हानि सहनी पड़ी थी। स्वतंत्रता के पश्चात् इनके समाज का विकास और सुधार करने के प्रयास किए गए। इस कार्य में आयोजित प्रौद्योगिकी तथा स्थानीय कौशल के सहयोग से कार्य किया गया। इनमें से कुछ देशों में स्थानीय प्रौद्योगिकी को विकसित करने के प्रयास किए जा रहे थे ताकि वे विकसित देशों के साथ सफल प्रतियोगिता कर सकें। परन्तु विकसित देशों की स्थिति तक पहुँचने के लिए 40-45 वर्ष का समय भी बहुत कम था। इसलिए, स्थानीय उद्यमियों की सुरक्षा के लिए कुछ विशेष सुरक्षात्मक उपाय किए गए, ताकि बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों के साथ उनकी असमान प्रतियोगिता न हो।

बंधनों तथा सुरक्षात्मक उपायों को भूमण्डलीकरण के नाम पर तोड़ना यह सिद्ध करता है कि कमज़ोर स्थानीय उद्यमी शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रहार से बचने का सहारा तलाश कर रहे थे। बहुराष्ट्रीय निगमों के पास संसार के विभिन्न भागों से कमाया हुआ लाभ के धन का इतना विशाल भंडार है कि वे बड़ी आसानी से स्थानीय उत्पादकों को एक किनारे कर सकते हैं। अकाई तथा आइवा कम्पनियों का उदाहरण हमारे सामने हैं जिनकी सफलता के कारण अनेक भारतीय टी.वी. उत्पादक कारख़ाने बंद हो गए। एक अन्य उदाहरण यह भी है कि बहु राष्ट्रीय कोका कोला तथा पेप्सी ने अधिकांश भारतीय शीतल पेय कम्पनियों को बंद करवा दिया।

कुछ विद्वानों का यह तर्क है कि भूमण्डलीकरण का अर्थ तो यह है कि सभी को आसानी से कच्चा माल, श्रमिक तथा बाज़ार प्राप्त हो जाएँ। सैद्धान्तिक रूप से तो यह सुविधा विश्व के सभी उद्यमियों को प्राप्त है। परन्तु, व्यवहार में बड़ी बहु-राष्ट्रीय कम्पनियाँ, जिनके पास आधुनिक प्रौद्योगिकी है तथा जिन्हें अपने शक्तिशाली राज्यों का समर्थन प्राप्त होता रहा है, उन्हें ही सर्वाधिक लाभ हुआ है। ये कम्पनियाँ विभिन्न विकासशील देशों से कच्चा माल सस्ते मूल्य पर प्राप्त कर लेती हैं, वहीं से कम पारिश्रमिक पर उन्हें मज़दूर मिल जाते हैं, और उन्हीं देशों में वे अपना उत्पाद एवं सेवाएँ बेचते हैं। इस प्रकार उन्हें भारी लाभ प्राप्त होता है। विभिन्न विकासशील देशों द्वारा अपनाई गई नई आर्थिक नीतियों के कारण कठोर नियमों में छूट दी गई, और अब यह कम्पनियाँ अपना मुनाफा भी स्वदेश ले जा सकती हैं। इसके फलस्वरूप, अनेक विकासशील देशों को आज भी, औपनिवेशिक युग की भांति, अपना धन बाहर जाता दिखाई देता है, और उन्हें अपनी ही पूँजी से वंचित रहना पड़ता है।

MAADHYAM IAS

भूमण्डलीकरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता है उद्यमों का निजीकरण, क्योंकि सामान्यतया सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम आर्थिक तर्कवाद (economic rationalism) के अनुसार कार्य नहीं करते। भारत सहित, अनेक विकासशील देशों में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम स्थापित करने के उद्देश्य थे:

क) रक्षा-संबंधी उत्पाद के विषय में गोपनीयता रखना;

ख) अवसंरचनात्मक सुविधाएँ जुटाना; तथा

ग) जनसाधारण के लिए, लाभ की चिंता किए बिना, सेवाएँ उपलब्ध करवाना।

उसके पश्चात्, पता नहीं क्यों, नीति निर्धारकों ने अनेक अन्य क्षेत्रों में भी सार्वजनिक उद्यम स्थापित कर लिए। इनमें अनेक उपभोक्ता क्षेत्र के उद्यम भी थे। इन ग़ैर-अंतरतम (non-core), ग़ैर-सेवा क्षेत्रों में या तो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम स्थापित नहीं किए जाने चाहिए थे, या फिर उनको इतना मुनाफ़ा कमाना चाहिए था कि वे ग़ैर-मुनाफ़ा सेवा क्षेत्रों की भी भरपाई कर पाते दुर्भाग्यवश इनमें से अधिकतर उद्यम राज्य पर आर्थिक भार बन गए। इन नुकसान में जाने वाली कम्पनियों के कारण जनसाधारण का यह मत बन गया कि सार्वजनिक क्षेत्र बेकार है, तथा इसे समाप्त कर देना चाहिए। परन्तु, हाल के कुछ वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र की यह आलोचना और भी तीखी हो गई, क्योंकि भूमण्डलीकरण के अनेक समर्थकों को यह विश्वास हो गया कि सार्वजनिक क्षेत्र तथा भूमण्डलीकरण का कोई मेल ही नहीं है।

अतः, सार्वजनिक क्षेत्रों में सरकार की भागीदारी का विनिवेश इस तर्क के आधार पर अधिक हुआ कि भूमण्डलीकरण के लिए ऐसा करना आवश्यक था, न कि इसलिए कि सार्वजनिक क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से उपयोगी थे ही नहीं। इस तर्क के समर्थक यह कहते हैं कि भारत में अधिकांश विनिवेश जिन सार्वजनिक उद्यमों में हुआ वे तो लगभग सभी मुनाफ़ा कमाने वाले थे।

वास्तव में, सार्वजनिक क्षेत्र में प्रतिष्ठान स्थापित करने के मूल कारण आज भी उपस्थित हैं। पीड़ित जनसमूह को आज भी सेवा भावना की आवश्यकता है, न कि मुनाफे के मंतव्य की। कुछ लोगों का कहना है कि यदि सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ प्रतिष्ठान राज्य के ख़ज़ाने पर बोझ बन गए हैं और ठीक से कार्य नहीं कर रहे हैं, तो फिर सभी सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों को समाप्त क्यों किया जाए। अधिकांश विकासशील देशों में लोगों की बहुसंख्या समस्त बुनियादी सेवाओं के लिए मूल्य नहीं दे सकती हैं। अतः, सम्पूर्ण निजीकरण उनको बुरी तरह प्रभावित करेगा। जो फ़ीस सरकारी स्कूलों में देनी होती है, अथवा जो व्यय सरकारी अस्पतालों में करना पड़ता है वह निजी स्कूलों तथा अस्पतालों में किए जाने वाले व्यय से कहीं कम है। इसलिए निर्धन जनसाधारण के लिए निजीकरण अत्यंत कष्टदायक सिद्ध होगा।

समाज और संस्कृति

प्रत्येक समाज के कुछ अपने नैतिक मूल्य होते हैं, कुछ परम्पराएं और परिपाटियाँ होती हैं। चाहे नए और सकारात्मक परिवर्तन का स्वागत सदा ही किया जाता है, विकल्प चयन करने का अधिकार सामान्यतया जनता के पास होना चाहिए। आज के भूमण्डलीकरण के युग में रेडियो और टी.वी. जैसे माध्यमों से विकासशील देशों की जनता विज्ञापनों से इतनी प्रभावित कर दी जाती है कि उसके पास कोई विकल्प ही नहीं बचता। केबल टी.वी. तथा इंटरनेट के माध्यम से बहु-राष्ट्रीय कम्पनियाँ उपभोक्तावाद और पाश्चात्य मूल्यों का असीमित प्रचार कर रही हैं। इसके कारण समन्वय की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। विकासशील देशों की जनसंख्या के बड़े भाग के पास तो सामान्य सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हैं, फिर जिन ऐश-आराम की वस्तुओं का प्रचार किया जाता है उनको वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इसके कारण निराशा फैलती है, समायोजन (adjustment) की समस्या उत्पन्न होती है, तथा जीवन में भौतिकवाद का प्रसार होता है।

MAADHYAM IAS

अनेक शोधकर्त्ता इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि विकासशील देशों की जनता, विशेषकर बच्चे तथा युवा वर्ग जल्दी से अमीर हो जाना चाहते हैं ताकि वे सभी सुविधाएँ प्राप्त कर सकें। कोक और पेप्सी के लिए युवा वर्ग की लालसा, या पाश्चात्य कपड़ों, विदेशी कारों, घड़ियों तथा प्रसाधन के

पदार्थों के खरीदने की इच्छा और उनके लिए होड़ सब कुछ संचार माध्यमों के द्वारा किए गए विज्ञापनों का प्रभाव है। कुछ समय पूर्व तक, या तो लोगों को इनके विषय में ज्ञान ही नहीं था, या फिर वे खुले बाज़ार में उपलब्ध नहीं थीं। आज, भूमण्डलीकरण के कारण जनसाधारण को इन सब का ज्ञान हो गया है, तथा यह उत्पादित वस्तुएँ खुले बाज़ार में उपलब्ध हैं। जब आप किसी अन्य व्यक्ति/व्यक्तियों को इन वस्तुओं का उपयोग करते देखते हैं तो आपके मन में भी इनकी इच्छा जागृत होती है कि आप भी उनको प्राप्त करें और उपयोग करें। विकासशील देशों में बढ़ती अपराध की प्रवृत्ति का एक कारण यह भी हो सकता है।

शिक्षा

शिक्षा पर भूमण्डलीकरण का सबसे अधिक नकारात्मक प्रभाव यह है कि शिक्षा का तेज़ी से वाणिज्यकरण हुआ है, तथा ऐसे पाठ्यक्रमों पर बल दिया जा रहा है जिनका संबंध बाज़ार से है। सामाजिक विज्ञानों तथा मानविकी विषयों के प्रति झुकाव तेज़ी से कम होने से समाज पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा है। यह ठीक है कि शिक्षा का एक उद्देश्य छात्रों को आमदनी के साधन जुटाने में समर्थ बनाना होता है, फिर भी यह और भी अधिक आवश्यक है कि छात्रों के दृष्टिकोण का और उनका मानसिक विकास हो, उनके व्यक्तित्व का विकास हो, ताकि वे जागरूक और सक्षम नागरिक बन सकें।

आज के भूमण्डलीकरण के युग में बाज़ार की माँग के कारण, तथा पश्चिमी शिक्षा संस्थाओं और उद्योगों के प्रचार के कारण, अनेक विकासशील देशों में शिक्षा एक-आयामी होती जा रही है। शिक्षा संस्थाएँ उन पाठ्यक्रमों पर निरंतर बल दे रही हैं जो बाज़ार के लिए उपयोगी कौशल प्रदान कर सकें। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, पारम्परिक एवं नैतिक शिक्षा की अनदेखी हो रही है, और इस प्रकार की शिक्षा को पुरानी, अप्रचलित तथा असंगत कहा जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योंकि इन सभी विषयों की शिक्षा मानव के पूर्ण व्यक्तित्व को निखारती है।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) विकासशील समाज (देशों) पर भूमण्डलीकरण के सकारात्मक प्रभाव का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

2) विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

3) भूमण्डलीकृत विश्व के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों का विवेचन कीजिए। इन चुनौतियों का प्रभावी रूप से सामना किस प्रकार किया जा सकता है?

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

29.5 विकासशील देशों की परम आवश्यकताएँ

भूमण्डलीकरण की समकालीन प्रक्रिया में विकासशील देशों को विवशतावश अपनी व्यवस्थाओं को विश्व व्यवस्था के साथ एकीकृत करना पड़ा है। ऐसा करने के अनेक कारण, या आवश्यकताएँ या विवशताएँ थी।

29.5.1 ऋण का जाल

अनेक विकासशील देश आज विदेशी पूँजी पर निर्भर हैं। ऐसा विशेषकर शेयर बाज़ार के संदर्भ में होता है। इनमें से कुछ देश ऐसे भी हैं जिनकी ऋण की स्थिति काफ़ी दयनीय है। उदाहरण के लिए कम आय वाले देशों का विदेशी ऋण लगभग 70 अरब अमरीकी डालर तक पहुँच गया है। मध्यम वर्ग के विकासशील देशों का विदेशी ऋण अनुमानतः 1700 अरब अमरीकी डालर का होगा। इस द्विविधा की स्थिति में, भारत सहित अनेक विकासशील देशों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहायता लेनी पड़ी ताकि वे विदेशी ऋणों को (अदा कर) संतुलित कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) से दिए जाने वाले ऋण के साथ कुछ शर्ते होती हैं, जिन्हें बशर्ते नियम (conditionality clause) कहते हैं। इनमें संरचनात्मक समायोजन, व्यापार में उदारीकरण, तथा शेयर बाज़ार को नियमन से मुक्त करना शामिल है। इन परिस्थितियों में अनेक विकासशील देशों ने एकतरफा आर्थिक नीतियाँ अपनाईं जिनके कारण उन्हें विश्व अर्थव्यवस्था के साथ स्वयं को एकीकृत करने के लिए विवश होना पड़ा।

इसके अतिरिक्त, सोवियत संघ के विघटन के पश्चात्, पूर्वी यूरोप के देशों, तथा कुछ अन्य देशों जिनके सोवियत संघ के साथ संबंध थे, जिनमें भारत भी शामिल था, उनको अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक से सहायता लेकर संरचनात्मक समायोजन करने पड़े। इसके फलस्वरूप इन देशों को मुद्रा कोष (IMF) की शर्तो (conditionality clauses) को मानना पड़ा। उसके द्वारा भी इनका विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण हुआ।

इस प्रकार एक ऋण को उतारने के लिए दूसरा ऋण, और फिर उसको उतारने के लिए तीसरा ऋण लेने की प्रक्रिया से यह देश ऋणों के जाल में फंस गए।

29.5.2 उरूगुए वार्ता का प्रभाव

जबसे 1947 में व्यापार एवं सीमा शुल्क संबंधी सामान्य समझौता (General Agreement on Trade and Tariff–GATT) लागू हुआ, तब से समय-समय पर सदस्य देशों ने विभिन्न विषयों पर आपसी वार्ताएँ कीं। ऐसा वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के संबंध में हुआ। गैट ने विकसित और विकासशील दोनों ही प्रकार के देशों को एक ऐसा मंच प्रदान किया, जहाँ वे उन समस्याओं पर विचार कर सकें जिनका सामना उन्हें विदेशी व्यापार में करना पड़ता था। लम्बे समय से विकासशील देश गैट (GATT) व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में सशंकित रहे, वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में विशेष आचरण की अपेक्षा करते थे। इन परिस्थितियों में व्यापार एवं विकास संबंधी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन अपनी सामूहिक वार्ता के माध्यम से वरीयता की सामान्य व्यवस्था (Generalized System of Preferences – GSP) को विकासशील देशों के लिए उपलब्ध कराने में सफल रहा। इसके अनुसार विकासशील देशों को कुछ चुने हुए उत्पाद निर्यात वरीयता के आधार पर करवाने की व्यवस्था की गईं। परन्तु यह वरीयता की सामान्य व्यवस्था भी संतोषजनक नहीं थी, क्योंकि अनेक ऐसी वस्तुएँ जिनमें विकासशील देशों की रुचि थी उनको इस व्यवस्था की उत्पादों की सूची

MAADHYAM IAS

में शामिल नहीं किया गया। परन्तु, आगे चलकर गैट (GATT) ने यह सुनिश्चित कर दिया कि विकसित देश एकतरफ़ा तौर पर विकासशील देशों के लिए रियायती दरों पर निर्यात कर सकें।

केवल व्यापार की समस्या ही दुविधापूर्ण नहीं थी। विकसित देशों द्वारा किया जाने वाला प्रत्यक्ष निवेश भी विकासशील देशों के हितों के विरुद्ध था। इससे विकासशील देशों के प्राकृतिक संसाधनों के संदर्भ में संप्रभुता सीमित होती थी। यह भी है कि प्रौद्योगिकी हस्तांतरण अपेक्षा के अनुसार नहीं हुआ, तथा मूल्यों के हस्तांतरण की प्रक्रिया से विकासशील देशों के संसाधन ही प्रायः समाप्त हो गए। इन परिस्थितियों में, संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन ने बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए आचरण संहिता तैयार करवाई। परन्तु जब विकसित देशों ने इस संहिता का विरोध किया तब आगे कोई प्रगति ही नहीं हो सकी।

जब विकासशील देशों ने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) के लिए दबाव बढ़ाना शुरू किया, तब संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में विकसित देशों ने दो मूल उद्देश्यों के लिए गंभीर प्रयास प्रारम्भ किए। उनका संबंध, विकासशील देशों के लिए कार्यसूची (Agenda) में मौलिक परिवर्तन करवाना था, तथा उसके पश्चात् विकासशील देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण अधिक सरलता से कर सकते थे।

इन परिस्थितियों में, अपने घरेलू कानूनों के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह माँग की कि गैट के अन्तर्गत होने वाली बातचीत में सेवाओं, पूँजी निवेश तथा बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों को भी शामिल किया जाए। विकासशील देश निम्नलिखित आधार पर इनके विरुद्ध थेः

1) उनका तर्क था कि सेवाओं को बहुराष्ट्रीय व्यापार वार्ता के अधीन नहीं लाना चाहिए क्योंकि गैट तो केवल निर्मित वस्तुओं के व्यापार एवं सीमाशुल्क के विषयों पर विचार के लिए बनाया गया था। इसके विचारक्षेत्र में व्यापार संबंधी कोटा और शुल्क ही आते थे। सेवाएँ बहुत प्रकार की होती हैं, तथा वे गैट की परिधि से बाहर थीं इसलिए उन पर विचार हो ही नहीं सकता था।

2) उनका यह भी विचार था कि बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों (अर्थात् आविष्कार की गई दवाओं इत्यादि पर पेटेंट प्राप्त करने के अधिकारों) पर विश्व बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को विचार करना चाहिए। यह गैट के अधिकार क्षेत्र में नहीं आना चाहिए। यही नहीं, विकासशील देशों का यह विचार भी था कि पेटेंट के विषय पर उन्हें अपनी राष्ट्रीय विधायन निर्मित करने चाहिए थे। उसके बाद ही उन पर अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर विचार किया जाना चाहिए।

3) पूँजी निवेश के संबंध में विकासशील देशों ने इस बात पर बल दिया कि गैट में इस पर विचार किए जाने से पूर्व इस विषय पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास किया जाना चाहिए।

विकासशील देशों की आपत्तियों के बावजूद, इन सभी विषयों को उरूगुए वार्ता की कार्यसूची में आने से नहीं रोका जा सका। हाँ कुछ समय के लिए विचार-विमर्श स्थगित मात्र किया जा सके। इस (विकासशील देशों की) विफलता के लिए दो तत्व उत्तरदायी थे। **एक**, यह कि सभी विकासशील देश एक सांझी रणनीति नहीं अपना सके। तथा **दो**, यह कि कुछ विकासशील देश, अपने विदेशी ऋणों के संदर्भ में, संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव में कार्य कर रहे थे।

29.5.3 अंतिम परिणाम

MAADHYAM IAS

विकासशील देशों के विरोध के बावजूद उरूगुए वार्ता में कुछ ऐसे मुद्दे उठाए गए जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का रूप ही बदल दिया। सेवा, पूँजी निवेश तथा बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार (पेटेंट) जैसे विषयों पर बातचीत आरम्भ की गई। गैट की इन विषयों पर विचार करने की क्षमता संबंधी कानूनी और तकनीकी आपत्तियों को सुलझा लिया गया। उदाहरण के लिए, सेवाओं के विषय में यह तय किया गया कि उन पर अलग से विचार किया जाएगा। परन्तु, पूँजी निवेश एवं पेटेंट के विषय व्यापार से संबंधित होने के कारण, उन पर गैट में विचार किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, कृषि को दिए जाने वाले अनुदान के विषय पर भी गैट वार्ता में विचार हो सकता था। अतः उरूगुए वार्ता (Uruguay Round) में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों को नई दिशा प्राप्त हुई।

इसका मूल निर्धारक तत्व विकसित देशों द्वारा भूमण्डलीकरण की शक्तियों का समर्थन करना था। जिस समय उरूगुए वार्ता समाप्त होने वाली थी, सोवियत संघ के विघटन ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण की आशा समाप्त कर दी जो कि विकासशील देशों के परिप्रेक्ष्य में तैयार की जा सकती थी। रूस तथा पूर्वी यूरोप के अन्य देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की मुख्य धारा में शामिल हो जाने से, तथा स्वयं को विश्व व्यापार व्यवस्था में एकीकृत करने के प्रयासों से, ऐसी किसी भी विश्व अर्थव्यवस्था के विकास की संभावना समाप्त कर दी जो विकासशील देशों के हितों के अनुसार हो सकती थी।

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उरूगुए वार्ता के अंत में विकासशील देश अपने उद्देश्य प्राप्त करने में कहाँ तक सफल रहे?

....

....

....

....

....

29.6 सारांश

भूमण्डलीकरण ऐसी वास्तविकता है जिसके प्रति उदासीनता व्यक्त नहीं की जा सकती है। इसके विकासशील देशों के लिए सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव हुए। इसके सकारात्मक प्रभावों से तो लाभ उठाना ही चाहिए, नकारात्मक पक्षों पर सावधानी से विचार करके उसके दुष्प्रभावों को कम करना होगा। इस कार्य में शिक्षा प्रणालियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों की, अपने राष्ट्रीय हितों और आवश्यकताओं के अनुकूल, निर्मित करने में विकासशील देशों की भूमिका अत्यंत सीमित हो गई है। न केवल विकासशील देशों को भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा, अब उनके पास अपनी स्वतंत्र आर्थिक नीतियाँ विकसित करने का विकल्प भी नहीं बचा है।

29.7 शब्दावली

अनुकूलनीय (Adaptability)	: जो आसानी से समायोजित हो सके।
तात्कालिक (instateneous)	: तुरन्त, बिना कोई समय बर्बाद किए।
नैतिक गुण (virtues)	: अच्छे नैतिक मूल्य या गुण।
सिकुड़ना (सकुचना) (Shrinking)	: आकार में छोटा हो जाना।
पूर्व दिशा (Oriental)	: संसार के पूर्व दिशा में स्थित देशों की परम्पराएँ।

MAADHYAM IAS

29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

J. John and Anuradha Chenoy (Eds.) *Labour, Environment and Globalisation, Centre for Education and Communication,* New Delhi, *1996*

Jain Currie and Janice Ncwson (Eds.) *Universities and Globalisation: Critical Perspectives,* Sage : Thousand Oaks, 1998.

C.P. Bhambhri, *"Globalisation and Social Science"*, Economic and Political Weekly, Bombay, June 6, 1998.

Biplab Dasgupta, *"SAP Issues and Conditionalities: A Global Review*, Economic and Political Weekly, Bombay, May 17, 1997.

29.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 29.2 देखें।

2) भाग 29.2 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 29.3 तथा अनुभाग 29.3.1 देखें।

2) अनुभाग 29.3.2 देखें।

3) अनुभाग 29.3.2 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) अनुभाग 29.4.1 देखें।

2) अनुभाग 29.4.1 देखें।

3) अनुभाग 29.4.2 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) अनुभाग 29.5.2 देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 30 भूमण्डलीकरण तथा विकासशील देशों की अनुक्रिया

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 कम विकसित देशों की नीतिगत चिंता
30.3 आंतरिक नीति अनुक्रिया (प्रतिवाद)
30.4 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहल
30.4.1 सेवा क्षेत्र
30.4.2 बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार
30.4.3 पूँजी निवेश संबंधी उपाय
30.4.4 विवाद समाधान व्यवस्था
30.4.5 विश्व व्यापार संगठन की स्थापना
30.5 विश्व व्यापार संगठन तथा अल्प-विकसित देश
30.5.1 कृषि
30.5.2 कपड़ा उद्योग तथा परिधान
30.5.3 औद्योगिक सामान पर सीमा शुल्क
30.5.4 सेवाएँ
30.5.5 बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार
30.5.6 व्यापार संबंधी पूँजी निवेश
30.6 नीति संबंधी संरचना की आवश्यकता
30.7 सारांश
30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
30.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात्, आप इस योग्य होंगे किः

- आप भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का, जिस रूप में वह अब चल रही है, वर्णन कर सकें;
- विकासशील देशों पर भूमण्डलीकरण के विविध प्रभावों की समीक्षा कर सकें; तथा
- संसार भर में विकासशील देशों की सामान्य एवं विशिष्ट अनुक्रिया का मूल्यांकन कर सकें।

30.1 प्रस्तावना

MAADHYAM IAS

इस इकाई में यह प्रयास किया गया है कि भूमण्डलीकरण के अर्थ और महत्व पर बल दिया जाए। इस बात की भी समीक्षा की गई है कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है। इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि विकासशील देशों में इसके प्रति क्या प्रतिक्रिया रही है। यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि भूमण्डलीकरण की चुनौतियों का सामना करने के लिए क्या नीति बना रहे हैं।

कुछ लेखकों का यह दावा है कि भूमण्डलीकरण की आधुनिक प्रक्रिया चलती आ रही ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही भाग है। फिर भी, वर्तमान प्रक्रिया राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण पर अधिक बल देती है। इस पर विश्वव्यापी बल दिया जा रहा है कि उनके उत्पाद और वित्तीय साधनों का सांझा उपयोग किया जाए। इन नीतियों के पीछे विकसित देशों के वे प्रयत्न हैं जो उन्होंने संसार भर में व्यापार के उदारीकरण तथा प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश के लिए किए हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों और संस्थाओं के निरंतर बदलते रूप का प्रतीक भी है। इनमें सबसे प्रमुख स्थान बहुराष्ट्रीय निगमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व व्यापार संगठन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय और व्यापार

संस्थाओं का है। साथ ही, आधुनिक भूमण्डलीकरण की गति का प्रतीक विभिन्न देशों के बीच बढ़ते वस्तुओं के आदान प्रदान तथा सेवाओं तथा पूँजी की सांझी प्रगति का है।

30.2 कम विकसित देशों की नीतिगत चिन्ता

समकालीन भूमण्डलीकरण प्रक्रिया का प्रभाव सभी राष्ट्रों की आन्तरिक एवं विदेश नीतियों पर एक समान नहीं पड़ा है। इसके फलस्वरूप विभिन्न देशों में, तथा देशों के अंदर विभिन्न वर्गों में आर्थिक विषमताएँ बढ़ी हैं। अल्प विकसित देशों में आय का विभाजन अधिक असमान (विषम) हुआ है, क्योंकि श्रमिकों की माँगों में परिवर्तन होता रहा है। यही नहीं, विभिन्न देश भी, प्रौद्योगिकी के विकास के कारण, वर्गों में बट गए हैं। प्रौद्योगिकी, जो कि विकास का मुख्य तत्त्व है, मुख्य रूप से औद्योगिक रूप से विकसित देशों में केन्द्रित है। साथ ही शेयर बाज़ार में होने वाले उतार चढ़ाव के कारण, अल्प विकसित देशों को, अन्य की अपेक्षा, अधिक वित्तीय संकटों का सामना करना पड़ा है।

ऐसी स्थिति में अल्प विकसित देशों की नीतिगत चिंताएँ इस बात से प्रेरित होती हैं कि उनके, तथा औद्योगिक रूप से विकसित देशों के मध्य निरंतर संरचनात्मक खाई बढ़ रही है। यहाँ तक कि कम विकसित देश ऐसा मानते हैं कि भूमण्डलीकरण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं, जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व व्यापार संगठन के द्वारा प्रभावित होता है। इन संस्थाओं के माध्यम से विकसित देश, व्यापार और पूँजी निवेश जैसे क्षेत्रों में, अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करने में कम विकसित देशों के हितों का बलिदान देते रहते हैं। कुछ अल्प (कम) विकसित देशों का विश्वास है कि समकालीन भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप अनेक देशों में संरचनात्मक निर्धनता बढ़ी है। साथ ही, आर्थिक भूमण्डलीकरण के दबाव में अनेक विकासशील देशों को विदेशी ऋण लेना पड़ता है, जिसके कारण वास्तविक आर्थिक विकास मन्द होता जाता है।

बोध प्रश्न 1

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) आर्थिक भूमण्डलीकरण का क्या अभिप्राय है?

....

....

....

....

....

2) समकालीन भूमण्डलीकरण प्रक्रिया के प्रति अल्प विकसित देशों की मुख्य नीतिगत चिन्ताएँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

30.3 आन्तरिक नीति अनुक्रिया (प्रतिवाद)

समकालीन आर्थिक भूमण्डलीकरण के विपरीत प्रभाव के चलते, तथा बाधाओं को ध्यान में रखते

हुए जिनका सामना विकासशील देशों को करना पड़ता है, अनेक अल्प विकसित देश ऐसी नीतियां निर्धारित कर रहे हैं जिसका उद्देश्य भूमण्डलीकरण की वर्तमान प्रक्रिया में शामिल होना कम, परन्तु उसका प्रभावी सामना करना अधिक है। अतः, अनेक देशों की नीतियों का उद्देश्य या तो इस प्रभाव को नया रूप देना, या भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को इस प्रकार मोड़ना है कि उसके परिणाम उनके हित में हों। नीतियों का आधार भी यही है कि उनके द्वारा उठाए जाने वाले उपाय कम विकसित देशों के लिए उपयोगी हों, तथा उन्हें उनका सकारात्मक लाभ प्राप्त हो सके। साथ ही यह भी कि इसके विपरीत प्रभाव से बचा जा सके।

अनेक विकासशील, या अल्प-विकसित देशों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) ऐसी सामान्य नीतियाँ बनाई हैं जिनसे सुधार कार्यक्रम चलते रहें, उनमें बाधा न आए। ऐसा विशेषकर व्यापार के उदारीकरण के संदर्भ में आवश्यक है। साथ ही वे यह भी प्रयास करते हैं कि निर्धनता जैसी समस्याओं को सुलझाने में सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध रह सके।

आर्थिक भूमण्डलीकरण के विपरीत प्रभावों के संदर्भ में, अनेक विकासशील देश इस बात का प्रयास कर रहे हैं कि जहाँ तक संभव हो, परिस्थिति को सुधारा जाए, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्तीय संस्थाएँ उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इन देशों में, भारत सबसे प्रमुख है जिसने विश्व व्यापार संगठन (WTO) पर पुनर्विचार करने की पहल की है। जिन विषयों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है वे हैं बुद्धिजीवी सम्पत्ति अधिकार, कृषि क्षेत्र में मिलने वाले अनुदान, सामान से विदेशी बाज़ार भर देने के विरुद्ध (anti-dumping) उठाए गए क़दम तथा कुछ ऐसे ही अन्य उपाय। एक अन्य समस्या यह भी है कि विकासशील देश अपने उत्पाद की बिक्री के लिए विकसित देशों के बाज़ारों में स्थान प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात् वे विकसित देशों में ग्राहकों की तलाश में हैं। सामूहिक रूप से उनकी माँगें सीमा शुल्क में कमी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपना विस्तार, तथा कुछ अन्य ऐसी रुकावटों को दूर करवाने की हैं जिनका संबंध सीमा शुल्क से नहीं है। इस संदर्भ में, इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि विकासशील यूरोपीय संघ के देशों में निर्यात करने के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ चाहते हैं।

ऊपर जिन मुद्दों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः व्यापार से संबंधित विषय हैं। इनमें विकासशील देश प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश से सम्बद्ध माँगें भी कर रहे हैं। इस संबंध में वे निर्धन देश जो ऋण के भार से दबे हुए हैं यह प्रयास कर रहे हैं कि उनके विदेशी ऋण के भार को कम किया जा सके। वे विशेष रूप से ऋणों में ऐसे उपायों की माँग कर रहे हैं, जिनमें उनकी निर्धनता कम हो सकें और आंतरिक अर्थव्यवस्था में कठिनाइयाँ कम हो सकें। द्वितीय, वे यह भी प्रयास कर रहे हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए निजी प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश में वृद्धि हो सके। साथ ही अपनी वित्तीय संस्थाओं में सुधार करके, अपनी साख सशक्त बना कर वे प्रत्यक्ष निजी निवेश करने वालों के संभावित ख़तरों (**risk** perceptions) को दूर कर सकें।

बोध प्रश्न 2

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

MAADHYAM IAS

1) भूमण्डलीकरण के संबंध में अल्प विकसित देशों की सामान्य धारणा क्या है?

....

....

....

....

....

2) भूमण्डलीकरण के आधुनिक परिवेश में, व्यापार और पूँजी निवेश के विषय में, अल्प विकसित देश क्या माँग कर रहे हैं?

....

....

....

....

....

30.4 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहल

यह जानते हुए भी कि आर्थिक भूमण्डलीकरण के आरम्भिक परिणाम कटु होंगे, कम विकसित देशों ने गैट (General Agreement on Tsadc and Tariffs – GATT) की उरूगुए (Uruguay) वार्ता में भाग लिया। उनके दो उद्देश्य थे - पहला यह कि सूती कपड़े के निर्यात तथा कृषि-सम्बन्धी अनुदान जैसे पुराने अनिर्णनीत विषयों पर विचार और निर्णय किया जाए; तथा दूसरा यह कि बाज़ारों को विदेशी माल से भर देने के विरुद्ध नियमों (anti-dumping rules) को समाप्त किया जाए। वे इसके लिए तत्पर नहीं थे कि सेवा क्षेत्र जैसे नए विषयों पर, तथा विदेशी प्रत्यक्ष पूँजी निवेश पर लगे प्रतिबंधों को दूर किया जाए तथा पेटेंट कानून की पुनःरचना की जाए। उनका विश्वास था कि यह सभी आर्थिक क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप था।

इसीलिए उन्होंने नए क्षेत्रों जैसे कि सेवा क्षेत्र, पूँजी निवेश तथा बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार (Intellectual Property Right) के विरुद्ध एक सांझा मोर्चा तैयार किया। परन्तु उनके प्रयासों का विकसित देशों ने जम कर विरोध किया। अंततः विकासशील देशों को सेवा क्षेत्र, पूँजी निवेश तथा बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार की जो उपलब्धियाँ हुईं वे इस प्रकार थीः

30.4.1 सेवा क्षेत्र

उरूगुए वार्ता के अंत में यह निश्चय किया गया कि सेवा क्षेत्र का उदारीकरण करना होगा, परन्तु यह बहुपक्षीय आधार पर होगा, और इसे लागू करने के लिए बाध्यकारी नियम बनाए जाएँगे जो कि व्यापार और सेवा क्षेत्रों को नियमित करेंगे। इनमें अति अनुकूल (पक्षधर) राष्ट्र व्यवहार, कानूनों और उपनियमों की पारदर्शिता, जो लाईसेंस प्रभावी थे उनकी मान्यता, तथा विवादों का निपटारा शामिल थे। परन्तु, विकासशील देशों के प्रयासों के फलस्वरूप सेवा क्षेत्र के नियमों में अनेक अपवाद किए गए। फिर भी अल्प विकसित देशों को, कुछ सेवा क्षेत्रों जैसे विज्ञापन, निर्माण तथा इंजीनियरिंग में उदारीकरण स्वीकार करना ही पड़ा।

30.4.2 बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार

जहाँ तक बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार का प्रश्न है, उरूगुए वार्ता में यह तय किया गया कि इन अधिकारों को विश्व बौद्धिक सम्पत्ति संगठन (World Intellectual Property Organisation) नामक एक कानूनी संस्था द्वारा संरक्षित किया जाए। इस संगठन द्वारा प्रस्तावित संरक्षण को अपर्याप्त पाते हुए विकासशील देशों ने एक सशक्त पहल की ताकि इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए और भी अधिक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित हो सके। अंततः उरूगुए वार्ता के क्षेत्र का विस्तार करके विशेषाधिकारों की अवधि बढ़ा दी गई, तथा उसके भौगोलिक अधिकार क्षेत्र को भी विस्तृत किया गया।

MAADHYAM IAS

30.4.3 पूँजी निवेश संबंधी उपाय

पूँजी निवेश संबंधी उपायों को व्यापार संबंधित पूँजी निवेश उपाय (Trade Related Investment Measures) में शामिल किया गया। इनमें यह व्यापक व्यवस्था की गई कि, स्थानीय संतुष्टि की आवश्यकता (Local Content requirements), निर्यात संबंधी दायित्व, तथा कुछ प्रकार के कच्चे माल, या उसके उपकरणों के आयात पर प्रतिबंध जैसे प्रावधान किए जाएँ। साथ ही, यह कि वर्तमान उपायों की सूचना निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकरण को दी जाएगी। यह भी कि विकसित

देशों के उन उपायों को धीरे-धीरे दो वर्ष में समाप्त कर दिया जाएगा, तथा अल्प विकसित देश उन्हें 5 वर्ष में समाप्त कर देंगे। इस व्यवस्था में केवल तभी ढ़ील दी जा सकती थी जब सम्बद्ध देश के समक्ष भुगताल संतुलन (balance of payment) की समस्या हो।

30.4.4 विवाद समाधान व्यवस्था

अल्प विकसित देशों की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि उरूगुए वार्ता में यह तय पाया कि एक एकीकृत विवाद समाधान संस्थान की स्थापना की गई। अब इस संस्थान के स्थापित होने से विवादों के समाधान की प्रक्रिया के विभिन्न चरणों के लिए निश्चित समय सीमा तय कर दी गई है। परन्तु, यह अल्प विकसित देशों के हित में नहीं है कि समाधान सम्बन्धी समूह की रिपोर्ट को तभी ठुकराया जा सकता है जब इसके लिए आम सहमति बन गई हो। दूसरी ओर, यह अल्प विकसित देशों के हित में है कि विवाद समाधान संस्थान की रिपोर्ट को स्वीकार करने के लिए कोई आम सहमति आवश्यक नही है। इस प्रकार, यह विश्वास किया जाता है कि यह नई प्रक्रिया उन छोटे देशों के हित में है जो बड़े देशों के विरुद्ध शिकायतें पेश करते हैं।

30.4.5 विश्व व्यापार संगठन की स्थापना

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना उस विस्तृत बहुपक्षीय समझौते का भाग है जो कि उरूगुए वार्ता में निर्धारित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य 1994 के गैट (GATT) समझौते के निर्णयों का क्रियान्वयन तथा प्रशासन सरल बनाना है। व्यवहार में यह व्यापार और सीमाशुल्क के सामान्य समझौते (गैट) को स्थायित्व प्रदान करता है। विश्व व्यापार संगठन की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं: (1) जो देश विश्व व्यापार संगठन के सदस्य बनना चाहते हैं वे उन सभी समझौतों को सामूहिक रूप से स्वीकार करें जिन्हें वार्ता ने मंजूरी दी है, जिनमें व्यापार एवं सेवा संबंधी समझौते, बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार तथा व्यापार में निवेश सम्बन्धी उपाय शामिल हैं; तथा (2) विश्व व्यापार संगठन के सदस्य विवाद समाधान सम्बन्धी एकीकृत व्यवस्था से बाध्य होंगे, जिनमें सामान (goods), सेवाएँ तथा प्रौद्योगिकी शामिल हैं।

बोध प्रश्न 3

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उरूगुए वार्ता के फलस्वरूप किए गए प्रमुख निर्णय स्पष्ट कीजिए, तथा इस पर प्रकाश डालिए कि यह किस प्रकार अल्प विकसित देशों के हितों के अनुकूल हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) विश्व व्यापार संगठन के मुख्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

30.5 विश्व व्यापार संगठन तथा अल्प-विकसित देश

अधिकांश विकासशील देशों ने विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है, चाहे उन्होंने ऐसा संकोच के साथ ही किया हो। इनमें से अनेक देशों में अब भी यह विवाद चल रहा है कि क्या इस संगठन के सदस्य बनकर उन्होंने अपने राष्ट्रीय हित में कार्य किया है, या नहीं। यह मुख्य प्रश्न है कि विश्व व्यापार संगठन व्यवस्था के विकासशील देशों के लिए लाभ और हानि क्या हैं। कुछ सामान्य मुद्दों को उजागर किया गया है। वे हैं:

30.5.1 कृषि

कृषि के क्षेत्र में, विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से, कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने के कारण विकासशील देश प्रसन्न हैं। कृषि क्षेत्र में सफलता तथा औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों एवं क्षेत्रों के सहायता कार्यक्रमों से विकासशील देशों को विशेष लाभ होने की संभावना है। यह विकसित देश और क्षेत्र हैं संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान तथा यूरोपीय संघ। विकासशील देशों को कृषि निर्यात तथा उनकी कृषि व्यवस्थाओं को तुलनात्मक मुक़ाबलों के कारण लाभ हो सकता है। परन्तु, विश्व व्यापार संगठन के वे निर्णय जो कृषि के क्षेत्र में अनुदान (subsidy) कम करने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को क्रमशः समाप्त करने, तथा कृषि आयात को आवश्यक रूप से बाज़ार में पहुँचाने से सम्बद्ध हैं कुछ शंका उत्पन्न करते हैं।

30.5.2 कपड़ा उद्योग तथा परिधान

उन विकासशील देशों को जिन्हें कपड़ा उत्पाद एवं परिधान के क्षेत्र में लाभ की स्थिति प्राप्त है, उन्हें बहु-तन्तु (रेशा) समझौते (multi-fibre agreement) से लाभ हुआ है। परन्तु, एक चिंता का कारण भी है क्योंकि बहु-तन्तु समझौते (MFA) के साथ वह व्यवस्था भी सम्बद्ध है जिसे "संक्रमणात्मक चयनशील सुरक्षा-उपाय"(transitional selective safeguards) कहते हैं। परन्तु इसकी विस्तृत व्यवहार शैली की अभी तक व्याख्या नहीं की गई है। इसके फलस्वरूप, विकासशील देशों द्वारा किए जाने वाले कपड़े के निर्यात में कटौती करनी पड़ सकती है। साथ ही औद्योगिक रूप से विकसित देशों ने पहले से ही विदेशी सामान से अपने बाज़ारों को भर देने के विरुद्ध कानून (anti-dumping laws) बना रखे हैं। वे इनका प्रयोग विकासशील देशों से कपड़े के निर्यात के विरुद्ध कर सकते हैं।

30.5.3 औद्योगिक सामान पर सीमा शुल्क

औद्योगिक सामान पर सीमा शुल्क में कटौती की संभावना काफ़ी बढ़ गई है। फिर भी उससे होने वाले लाभ पर्याप्त नहीं होंगे, क्योंकि आयात किए गए सामान पर शुल्क पहले ही काफ़ी कम हैं। साथ ही इन कटौतियों का प्रभाव विकासशील देशों के कम महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर ही पड़ने की संभावना है।

30.5.4 सेवाएँ

सेवा के क्षेत्रों में, चाहे विकासशील देशों की आवश्यकताएँ और अपेक्षाएँ कुछ भी हों, उन्होंने अभी तक कुशल (निपुण) एवं अकुशल (अनिपुण) दोनों ही प्रकार के श्रमिकों के निर्यात के विषय पर उपयोगी नियम नहीं बनाए हैं। इस संबंध में वार्ता अभी भी आरंभिक दौर में है। हाँ, यह अवश्य है कि सेवा क्षेत्र के अनेक ऐसे पहलू हैं जिन पर उदारीकरण वार्ता अभी प्रारम्भ ही नहीं हुई है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

30.5.5 बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार

बौद्धिक सम्पत्ति (intellectual property) एक ऐसा क्षेत्र है जिसके विषय में बनाए गए नए और कठोर कानूनों के कारण अल्पविकसित देशों की कठिनाइयाँ बढ़ सकती हैं। भारत सहित अनेक देशों द्वारा किए गए प्रयास अभी तक सफल नहीं हुए हैं। उदाहरण के लिए कुछ क्षेत्रों, जैसे रसायन

और औषधि उत्पाद, बायोटेक्नोलॉजी, बीजों की श्रेष्ठ और सुधार की गई किस्मों, नई प्रकार के उर्वरक के विकास, तथा कीटनाशक दवाओं के संदर्भ में विकासशील देशों को शोध परिश्रमिक (royalty) देना पड़ सकता है, जिसे शोध करने वाले विकसित देश प्राप्त कर लेंगे। विकासशील देशों ने कुछ उचित शंकाएँ भी व्यक्त की हैं। वे हैं: उचित मूल्य पर आवश्यक प्रौद्योगिकी का उपलब्ध न होना, उनकी अपनी प्रौद्योगिक क्षमता को विकसित देशों द्वारा बाधित कर देना, तथा बहराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा सीमित वाणिज्य व्यवहार (restrictive business practice) को अपनाना निश्चय ही उचित शंकाएँ हैं। इन सभी विषयों पर विकासशील देशों को विश्व व्यापार संगठन के मंच पर निश्चित नीतियाँ अपनानी पड़ेंगी।

30.5.6 व्यापार संबंधी पूँजी निवेश

व्यापार संबंधी पूँजी निवेश एक अन्य विषय है जिस पर अल्प विकसित देशों को स्पष्ट नीति अपनानी होगी। इसके अभाव, व्यापार-सम्बन्धी निवेश की वर्तमान नीति के चलते, अल्प-विकसित देशों के लिए यह लगभग असंभव हो जाएगा कि वे अपने उद्देश्यों और अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार विदेशी पूँजी निवेश को नियमित कर सकें। इसके अतिरिक्त, उनके घरेलू पूँजी क्षेत्र को भी शक्तिहीन होना पड़ सकता है, तथा उनकी अपनी प्रौद्योगिक क्षमता पर भी कुप्रभाव पड़ सकता है।

बोध प्रश्न 4

नोटः क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) विश्व व्यापार संगठन की परिधि में कार्य कर रहे विकासशील देशों के लाभ और उनकी हानियों (कठिनाइयों) की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

30.6 नीति संबंधी संरचना की आवश्यकता

सारी परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अल्प-विकसित (विकासशील) देशों की अनुक्रिया कुछ उचित शंकाओं पर आधारित है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है इन देशों ने स्वयं को भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से अलग नहीं रखा है, वरन् प्रभावी रूप से उसके साथ सम्बद्ध किया है। घरेलू स्तर पर उनकी नीतियों का आधार है कि अनेक कमियों तथा कठिनाइयों के बावजूद वे भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के साथ स्वयं को जोड़ना चाहते हैं ताकि उन्हें इससे लाभ प्राप्त हो सके। साथ ही उनका यह भी प्रयास है कि भूमण्डलीकरण के विपरीत प्रभाव से, जितना हो सके, बचा जाए। इन उद्देश्यों के लिए विकासशील देश ऐसी नीतियों का निर्धारण कर रहे हैं जिनसे संरचनात्मक सुधारों अथवा व्यापार के उदारीकरण के द्वारा, वे विश्व व्यापार संगठन की परिधि में कार्य करते हुए, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को अपने हितों के अनुसार ढाल सकें। इन बातों को ध्यान में रखते हुए विकासशील देशों ने कुछ सामान्य रणनीतियाँ निर्धारित की हैं। विभिन्न विषयों, जैसे सेवा क्षेत्र, व्यापार सम्बन्धी पूँजी निवेश उपाय (TRIMS), औद्योगिक सामान पर सीमा शुल्क इत्यादि पर अल्प विकसित देशों ने विश्व व्यापार संगठन की बैठकों में अपने सांझे और संतुलित विचार प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि इस बातचीत के परिणाम अभी तक उत्साहवर्द्धक नहीं रहे हैं, फिर भी विभिन्न सम्मेलनों में भाग लेने के कारण विकासशील देश एक दूसरे के काफ़ी निकट आ गए हैं। उनकी अनुक्रिया एक समान मानी जा सकती है। यह अवश्य है कि विकासशील देशों

MAADHYAM IAS

का कार्य कठिन है। फिर भी विश्व व्यापार संगठन के नियमों के अधीन विकासशील देश अपने हितों के लिए नया मार्ग तलाश कर रहे हैं।

30.7 साराश

इस पाठ में इस बात की समीक्षा की गई है कि विकासशील देशों पर भूमण्डलीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है, तथा यह देखा गया है कि संसार भर में उनकी क्या प्रतिक्रिया रही है। इस बात पर बल दिया गया है कि यह अध्ययन किया जाए कि विकासशील देश भूमण्डलीकरण की चुनौती का सामना करने के लिए क्या नीतियाँ अपना रहे हैं।

ऐसी आम धारण है कि भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप न केवल देशों के अंदर विभिन्न वर्गों में आय की असमानता बढ़ी है, बल्कि विभिन्न देशों के मध्य भी असमानता में वृद्धि हुई है। इसके कारण विभिन्न देशों का ध्रुवीकरण (polarisation) हुआ है, क्योंकि समकालीन आर्थिक भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका प्रौद्योगिकी की रही है। यह संसाधन विकसित देशों के पास होने के कारण उन देशों का पृथक वर्ग बन गया है, जबकि विकासशील देश दूसरे ध्रुव में माने जा सकते हैं। अतः इस परिवेश में विकसित और विकासशील देशों के मध्य संरचनात्मक विभाजन हुआ है, और उसी के अनुसार विकासशील देशों ने अपनी नीतियाँ अपनाई हैं। यहाँ तक कि विकासशील देशों का यह मानना है कि भूमण्डलीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) तथा विश्व व्यापार संगठन (WTO) का अंकुश है, तथा स्वयं यह संस्थाएँ विकसित देशों के हितों की अनदेखी करके कार्य करती हैं। इन संस्थाओं पर विकसित देशों का पूरा प्रभाव है। कुछ विकासशील देशों का तो यह भी विश्वास है कि समकालीन भूमण्डलीकरण से उनकी निर्धनता बढ़ी है। चाहे यह चिंता मूल रूप से व्यापारिक विषयों से सम्बद्ध है, फिर भी अल्प-विकसित देश प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश सम्बन्धी मुद्दे उठा रहे हैं।

अंतिम समीक्षा से यह प्रतीत होता है कि अल्प-विकसित देशों की उपलब्धियाँ पर्याप्त नहीं हैं। अब अधिकांश विकासशील देशों ने विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्था को अपना लिया है, चाहे उन्होंने ऐसा संकोचवश किया है, उत्साह से नहीं। फिर भी विकासशील देश ऐसा बहुपक्षीय मंच तैयार करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिसके द्वारा आर्थिक भूमण्डलीकरण के विपरीत प्रभाव को कम किया जा सके, तथा उनके हितों की अभिवृद्धि हो सके। इस प्रयास में विकासशील देशों ने एक सामान्य रणनीति तय की है। फिर भी उनके समक्ष चुनौतियाँ अब भी गंभीर हैं।

30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

B. Ramesh Babu (Ed.), *Changing Global Political/Ideological Context and Afro-Asia: Strategies for Development* (New Delhi: South Asian Publishers, 1996).

Harry Magdoff, *Globalisation:* To *What End*? (New York: Monthly Review, 1992)

Hartmut Elsenhans, "*Myth of Globalisation and Necessity of Development Politics*", International Studies (New Delhi), 1996, Vol.33, No.3, pp.255-71.

Robin Broad and John Cavanagh, "Don't Neglect the Impoverish South" *Foreign Policy* (New York), Winter 1995-96, No.101, pp.20-43.

MAADHYAM IAS

30.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 30.2 देखें।

2) भाग 30.2 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 30.3 देखें।

2) भाग 30.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 30.4 देखें।

2) अनुभाग 30.4.5 देखें।

3) अनुभाग 30.4.2 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 30.5 (अनुभाग 30.5.1 से 30.5.5) देखें।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream